ऋग्वेद-भाष्यम्

[सप्तम मण्डलम्, द्वितीयो भागः]
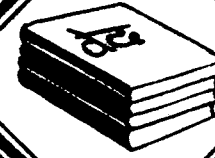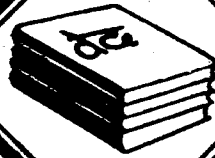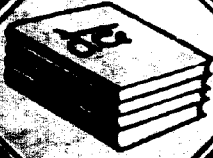
* ओ३म् *

ऋग्वेदभाष्यम्

श्रीमदार्य्यमुनिना निर्मितम्

संस्कृतार्य्यभाषाभ्यां समन्वितम्

सप्तममण्डलस्य एकषष्टितमस्य सूक्तस्य
तृतीयमन्त्रादारभ्य चतुरुत्तरशततम
सूक्तपर्य्यन्तम्

अजयमेरु नगरे वैदिक यन्त्रालये मुद्रितम्

प्रथमावृत्तिः ११०० | सम्वत् २०४६ वि० | मूल्य ६० रुपये

प्रकाशकीय निवेदन

सभा ने महर्षि के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिये चारों वेदों के भाष्य को पूरा कराकर प्रकाशित करने का संकल्प किया है। इस प्रसंग में स्वामी दयानन्दजी महाराज द्वारा किये भाष्य से आगे के शेष भाग का श्री पं. आर्यमुनिजी का भाष्य जो अब अप्राप्य हो गया था, प्रकाशित करने का निश्चय किया। प्रभु की कृपा से यह सप्तम मण्डल वेदप्रेमी पाठकों की सेवा में समर्पित है।

आर्यमुनिजी का यह भाष्य परिस्थितिवश दो भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में भाष्य की विस्तृत भूमिका और वेदभाष्य के मात्र सोलह पृष्ठ थे। प्रकाशन के समय मन्त्र भाग तो स्वामी सत्यप्रकाशजी के प्रयत्न से प्राप्त हो गया था परन्तु भूमिका भाग की प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी थी। यह प्रति श्री धर्मवीरजी को मथुरा के आचार्य श्री प्रेमभिक्षुजी के पास उपलब्ध हुई और उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए आचार्यजी ने यह प्रति सभा को सुलभ कराई जिससे यह ग्रन्थ समग्र रूप से पाठकों के सम्मुख आ सका इसके लिये मैं सभा की ओर से सभी महानु-भावों का धन्यवाद करता हूँ।

इससे पूर्व सभा ने आर्ष शैली के मर्मज्ञ वैदिक विद्वान् स्वामी ब्रह्ममुनिजी से दशवें मण्डल का भाष्य कराकर दो भागों में प्रकाशित किया। जिससे बहुत बड़ी न्यूनता दूर हो सकी है।

इसी शृंखला में अष्टम नवम मण्डल के भाष्य को पुनः जनता के लिये सुलभ कराने का सभा का प्रयास है। मेरा विश्वास है आर्य जनता के सहयोग और आशीर्वाद से हम इस ऋषि कार्य को करने में सफल हो सकेंगे।

गजानन्द आर्य

मन्त्री

परोपकारिणी सभा, अजमेर

ओ३म्

वेदप्रस्तावना की विषयसूची

ऋग्वेदभाष्य की विषयसूची

अथ सप्तम अध्याय की विषयसूची

उपसंहार की विषयसूची

प्रस्तावना

नानाभाववती विभूतिजननी ब्राह्मी प्रमारूपिणी ।
सत्यज्ञानवहा तमोविनशना ब्रह्मैकवेद्या शिवा ।।
आर्षी तत्वविवेचिकातिगहना वेदैकरूपागिरा ।
येनादौ प्रकटीकृता भगवती तस्मै नमो ब्रह्मणे ।।१।।

वेद विषय ऐसा अगाध सागर है कि जिससे आजकल तैरना दुस्तर ही नहीं किन्तु असम्भवता की कोटि को प्राप्त हो रहा है, कोई कहता है कि वेदों में अनीश्वरवाद है, कोई कहता है नाना ईश्वर है, कोई कहता है सर्वात्मवाद है और कोई कहता है कि वेदों में अनात्मवाद है, कहाँ तक लिखें वेदवाद गणना को अगण्य समझकर लेखनी भी झिझकती है।

सच तो यह है कि वेदों का विषय अभी तक ऐसे अन्धकार से आवृत्त है जैसे सृष्टिकाल में महत्तत्त्वादिकों का आदिकारण प्रकृति अन्धकार से आवृत्त थी अर्थात् उस समय सद् असद् रूप से प्रकृति का कथन नहीं किया जा सकता था, एवं वेद-विषय अज्ञान से वेद आदि सृष्टि के समान अज्ञानावृत्त हैं इसलिए इनमें नाना प्रकार के संशय उत्पन्न होते हैं, जिस समय गुरुपरम्परा से वेदों का पठन पाठन भारतवर्ष में प्रचलित था उस समय नानाविध संशयापन्न स्थाणु पुरुष के समान वेदविषयक अन्यथा ज्ञान का गन्ध भी न था, अस्तु—

हमारे विचार में वेदों में अनीश्वरवाद नहीं, यदि वेदों में अनीश्वरवाद होता तो **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** यजु० ४० । १ = यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है, इत्यादि वाक्य वेदों में कदापि न पाये जाते, इससे सिद्ध है कि वेदों में ईश्वरवाद सुप्रसिद्ध है।

अब रही यह बात कि वेदों में एक ईश्वरवाद है व नाना ईश्वरवाद है? इस विषय में पुष्ट प्रमाण यह मिलता है कि—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुतविश्वतस्पात ।
संबाहुभ्यां धमतिसंपतत्रैर्द्यावाभूमींजनयन्देव एकः ।। यजु० १।७।१६।

सर्वद्रष्टा, सर्वक्रिय, सर्वशक्तिमान् परमात्मा पृथिवी से लेकर द्युलोक पर्य्यन्त सब लोकलोकान्तरों को रचता हुआ एकमेवाद्वितीय है अर्थात् वही जगत की उत्पत्ति

स्थिति का कारण है दूसरा नहीं इसका नाम परमात्मा का एकत्व है, या यों कहो कि इसी को सजातीय विजातीय भेदशून्य कहते हैं अर्थात् न उस जैसा कोई अन्य है न उससे अधिक वा न्यून अन्य कोई उसके काम में हस्तक्षेप करने वाला है और न उसमें हस्तपादादिकों द्वारा स्वगत भेद है, किन्तु वह सब प्रकार के भेदों से रहित, अभेद अच्छेद्य, अनन्त तथा अव्रण है, जैसा कि **'सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूःस्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः' यजु०** ४०।८ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि वह सर्वत्र परिपूर्ण और भौतिक शरीरादि साधनों से रहित होकर सर्वज्ञाता है अर्थात् किसी भी लौकिक साधन की अपेक्षा न करता हुआ सर्व सृष्टि का उत्पादक है, एवं **"न द्वितीयो न तृतीय एकवृदेक एव" अथर्व** १३।४।४ निश्चय करके वह 'एकः'=एक है, द्वितीय, तृतीय नहीं, इस प्रकार वेदों में सहस्रों मन्त्र पाये जाते हैं जिनमें एकता पर बल देकर स्पष्टतया बोधन किया है कि ईश्वर एक है, फिर कैसे कहा जाता है कि, वेदों में नाना ईश्वरवाद है ।

इसी भाव को उपनिषत्कार ऋषियों ने स्पष्टतया वर्णन किया है कि **'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'** छान्दोग्य प्रपाठक ६।८।७—हे सौम्य ! वह परमात्मा सदा से एक और एक रस चला आता है उसमें कोई भी विकार नहीं होता, इसी के आगे **'एकमेवाद्वितीयम्'** कथन किया है अर्थात् अद्वितीय कथन करके फिर भी **'एव'** शब्दपर बल दिया है, कि वह=एक ही है दूसरा नहीं, इस वाक्य से मायाकृत भेद मानने वाले वेदान्ती, या यों कहो कि स्वा. शंकराचार्य्यजी के अनुयायी प्रकृति तथा जीव दोनों का निषेध करके एक मात्र ब्रह्मकी सत्ता को सिद्ध करते हैं परन्तु वास्तव में एक ब्रह्मवाद का तात्पर्य्य ब्रह्मको एक सिद्ध करने में है, अन्य पदार्थों के निषेध में नहीं, क्योंकि **'एव'** शब्द ने ब्रह्म जैसे अन्य ब्रह्म का निषेध किया है, अन्य वस्तुओं का नहीं, इसी अभिप्राय से **'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः'** इत्यादि वाक्यों में यह कथन किया है कि एक दिव्यशक्ति सम्पन्न परमात्मा ही सब तत्त्वों में व्यापक हो रहा है, व्याप्य व्यापक भाव के मानने से स्पष्ट सिद्ध है कि अद्वैतवाद के अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई वस्तु ही नहीं, किन्तु यह अर्थ कि ब्रह्म एक है जिसका वर्णन वेद भगवान् स्पष्टतया इस प्रकार करते हैं कि--

'न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते, अथर्व० १६ **'न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते'** १७ **'नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते'** १८ **'स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणिति यच्चन'** १९ **'तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वृदेव एव'** २० **'सर्वे अस्मिन देवा एक वृतो भवन्ति'** २१=**अथर्व** १३।४।४=सब लोकलोकान्तरों के **'देव'**= दिव्यशक्ति सम्पन्न पदार्थ उसी सर्वाधार परमात्मा के आधार पर स्थित हैं, इत्यादि सैकड़ों मन्त्र परमात्मा को एक सिद्ध करते हैं अनेक नहीं, और इसी परमात्मा के एकत्व को ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन किया है कि—

न यस्य द्यावा पृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवोरजसो अन्तमानशुः ।
नोतस्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्च कृषे विश्वमानुषक् ।।

ऋग्० १ सू० ५२

यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिसके अन्त को प्राप्त नहीं होता वह अकेला ही इस निखिल ब्रह्माण्ड का नियन्ता है, **'एकः विश्वेषां भुवत् देवो देवानाम् महिऽत्वा' ऋक्० १।६८**=सब देवों से बड़ा एक देव है जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चला रहा है, और **'ज्योतिषां ज्योतिरेकम्' यजु० ४।१** जो सर्व ज्योतियों का प्रकाशक ज्योति स्वरूप है, **'अनेजदेकम् यजु० ४०।४**=वह अचल कूटस्थ नित्य एक परमात्मा है, **'अनिमिष एकवीरः' साम० २०।७।२ 'यो देवेष्वधि देव एक आसीत्० यजु० २७।२६।** निमेषादिकों से रहित एक अद्वितीय अपने कार्य्य में दक्ष है, अधिक क्या **'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा । धर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः, साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। श्वेताश्व० ६।११** इत्यादि उपनिषद्वाक्य भी उसके एकत्व को ही वर्णन करते हैं कि एक ही देव है जो सब चराचर ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रहा है, वही सब प्राणी मात्र का नियन्ता और वही सबका अध्यक्ष होकर भी निर्गुण है । अर्थात् भौतिक पदार्थों के समान रूप रसादि गुणों का आधार नहीं, किन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप है, इसी अभिप्राय से उपनिषत्कार **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' २।१** इत्यादि वाक्यों में उसको ज्ञान स्वरूप वर्णन करते हैं, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म वैदिकों का उपास्य देव है अन्य नहीं, और इसी का सम्पूर्ण वेदों में वर्णन है जैसा कि **'सर्वेवेदायत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' कठ० २।१५** सब वेद उसी के यश का गान करते, उसी की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण तप किये जाते, उसी की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण किया जाता, वही सब ब्रह्माण्डों में परिपूर्ण हो रहा है और वही एक मात्र हमारा उपास्यदेव है ।।

कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि वह आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में एक होने से यह जीवरूप आत्मा भी उससे भिन्न, नहीं क्योंकि **'अततीत्यात्मा'**=जो निरन्तर=सब प्रकार के व्यवधानों से रहित होकर सर्वत्र गमन करे, उसको **'आत्मा'** कहते हैं, उसमें द्वैत भाव कदापि नहीं हो सकता, जैसे उपाधि भेद से महाकाश विभिन्नता को प्राप्त हो रहा है इसी प्रकार एक आत्मा ही को जीवरूप जानना चाहिए, क्योंकि निराकार पदार्थ में नानात्व नहीं हो सकता, जैसे निराकार आकाश में नानात्व नहीं ? इसका उत्तर यह है कि परमात्मा और जीवात्मा दो पदार्थ हैं, वेद में जहाँ **'आत्मा'** शब्द उपास्य के लिए आया है वहां परमात्मा का ग्रहण है और जहाँ उपासक के अभिप्राय से आया है वहां जीवात्मा का ग्रहण जानना चाहिए, जैसा कि **'आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम्' ऋग्० १।१६३।६** =हे परमात्मन् ! मैं आप के सूर्य्य पर्यन्त आत्मा=सर्व व्यापक स्वरूप के अति

समीप होने से मन द्वारा अनुभव करता हूँ, यहाँ अनुभव का विषय परमात्मा और अनुभव करने वाला जीवात्मा है ।

और जो कई एक लोग यह कहते हैं कि वेद में **'जीव'** शब्द कहीं नहीं आया ? यह उनके अनभ्यास का फल है, वेदाभ्यास करने से ज्ञात होता है कि वेद के अनेक स्थलों में **'जीव'** शब्द आया है, जैसा कि **'शतं जीव शरदो वर्धमानः' 'शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्' ऋग्. १०/१६२**—हे जीवात्मन् ! तू वृद्धि को प्राप्त होता हुआ सौ वर्ष जीवन धारण कर, जीव प्राणधारणे, धातुसे **'जीव'** शब्द बना है, जिसका अर्थ यह है कि जो प्राणों को धारण करे उसका नाम **'जीवात्मा'** है, इस प्रकार शरीरी आत्मा का नाम जीवात्मा जानना चाहिये, यदि यहाँ कोई यह शंका करे कि पूर्वोक्त वाक्य में तो जीव धातुका रूप है **'जीव'** शब्द नहीं ? इसका उत्तर यह है कि **'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना स योनिः' ऋग्. १।१६४।३०**—मृत मनुष्य का जीव प्राकृत भावों के साथ अन्य योनि को प्राप्त होता है, यहां जीव का वर्णन स्पष्ट है, इसी प्रकार **'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः'** इस वाक्य में ईश्वर का वर्णन स्पष्ट है **अथर्व १० । ८ । ४ । १** इत्यादि वाक्यों में जीव तथा ब्रह्म शब्द पृथक्-पृथक् पाये जाने से वेदों में जीव ब्रह्म का भेद सिद्ध है ।

और जो कई एक लोग यह शंका करते हैं कि वेदों में एकात्मवाद पाया जाता है अर्थात् एक ही आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, जैसा कि **'आत्मैवेदं सर्वम्' छान्दो. ७ । १५ । २**—**'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' मुण्ड. २ । २ । ११ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' छान्दो. ३ । १४ । १**—यह सब आत्मा ही है, यह जो कुछ दीख रहा है सब ब्रह्म ही है, निश्चित रूप से यह सब ब्रह्म ही है, इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में जिस प्रकार एकात्मा का वर्णन है इसी प्रकार वेदों में भी ऐसा ही पाया जाता है, जैसा कि **'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं, 'उतामृतत्वस्येशानोयदन्नेनातिरोहति' यजु. ३१ । २**—यह सब पुरुष ही है, जो कुछ हो चुका वा होगा वह सब पुरुष ही है, देव तथा मनुष्य यह सब ब्रह्म से भिन्न नहीं, अर्थात् ब्रह्म ही है, इत्यादि अनेक वेद वाक्यों का प्रमाण देकर एकात्मवाद की सिद्धि की जाती है, जिसका उत्तर यह है कि उक्त वाक्य एकात्मवाद को सिद्ध नहीं करते, किन्तु आत्मा के भाव विषयक एकत्व को सिद्ध करते हैं, जैसा कि **'आत्मैवेदं सर्वम्'** यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् के छवें प्रपाठक का है जिसके उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ में यह लिखा है कि उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु को यह सन्देह था कि आत्मा क्या है, इसके उत्तर में जीवात्मा के अस्तित्व को बोधन करते हुए ऋषि उसको यों समझाते हैं कि हे श्वेतकेतो ! आत्मा होने से मरता नहीं यहां जीव को अमर्त्य इसलिये कहा है कि वह मरता नहीं, और यही भाव **'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' छान्दो. ६।११।३** में यों वर्णन किया है कि जीव से रहित हुआ शरीर मृत समझा जाता है, जीव कभी नहीं मरता, और स्मृति—स्मरण करना, मेधा—समझना तथा धृति—धारण करना, यह सब आत्मा के भाव हैं, इसी प्रकार **'पुरुष एवेदं सर्वम्' यजु.**

३१।२—पुरुष—परमात्मा ही इस सब का अधिकरण है अन्य नहीं, इस भाव को उक्त यजुर्वेद का मन्त्र प्रतिपादन करता है, सम्पूर्ण संसार में एक ही आत्मा है इस भाव को नहीं, यदि सामानाधिकरण मानकर यह अर्थ किये जायं कि 'यह पुरुष ही सब कुछ है' तब भी यह वाक्य पुरुष की सर्वात्मता—सबका एक आत्मा होना, या यों कहो कि सबका स्वामी होना, इस भाव को बोधन करता है परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं, इस भाव को नहीं करता क्योंकि **'स्वधया तदेकम्' ऋग्. ८।७।१७।२ 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' ऋग्. २।३।१७।२० 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः' अथर्व. १०।८।४।१ 'स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रतम्' अथर्व.१०।८।४।३ 'सोऽर्य्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः' अथर्व. १३।४।४।१४ 'सोऽग्निः स उ सूर्य्यः स उ एव महा यमः' अथर्व.** ६।१३।४।४ इत्यादि मन्त्रों में सर्वात्मवाद परमात्मा के सूर्यादि नामों के अभिप्राय से है सब पदार्थों का स्वरूप होने के अभिप्राय से नहीं, और इसी प्रकार **'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा' यजु.** ३२।१ इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म की शक्तियों को वर्णन करने के अभिप्राय से अग्नि आदि नाम आये हैं, जैसा कि **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' तै.** २।१ में सत्यादि तीनों नाम एकही ब्रह्म के प्रतिपादक हैं इसी प्रकार अग्नि आदि समझने चाहिये, रूप नहीं।

जो लोग वेद के आशय को न समझ कर उक्त प्रकार के सर्वात्मवाद को सर्वरूपब्रह्मवाद समझ लेते हैं कि ब्रह्म ही सब रूपों को धारण कर रहा है, जैसे एक ही जल हिम, नाले, नदी, समुद्र, फेन तथा तरंग आदि सर्वरूप हो रहा है, यह उनकी भूल है जल के समान ब्रह्म सब रूपों को धारण नहीं करता, जैसा कि **'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' अथर्व. १०।४।८** इत्यादि मन्त्र ब्रह्म में पुरुष अथवा स्त्री भाव वर्णन नहीं करते किन्तु उसको अनन्त शक्तिसम्पन्न बोधन करते हैं, एवं **'राष्ट्रीसङ्गमनीवसूनाम्' ऋग्. ८।७।११** इत्यादि मन्त्र भी ब्रह्मरूपशक्ति की सर्वरूपता उसके गुणों के भाव से वर्णन करते हैं, और इसी अभिप्राय से **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' छान्दो. ३।१४।१** इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में भी वर्णन किया है कि सब पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय उसी से होती है, इसलिये उसको सर्वाधिकरण=सब का आश्रय होने से सर्व रूप कहा गया है, क्योंकि सब पदार्थ उसी की सत्ता से उत्पन्न होते, उसी की सत्ता से कार्य्यरूप में स्थित रहते और अन्त में प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं, और यही अर्थ **'सर्वशक्तिमान्'** के जानने चाहिये, यहां **'सर्व'** शब्द अनन्त=बहुत के अभिप्राय से आया है, सब पदार्थों के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि जड़ पदार्थ उससे भिन्न हैं, यदि **'सर्व'** शब्द का यहां संकोच न किया जाय तो जड़ भी ब्रह्म ही मानना पड़ेगा और ऐसा मानना शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि **'अक्षरात् परतः परः' मुण्ड. २।१।२ 'ज्ञाज्ञौ द्वावजानीशौ'**—इत्यादि वाक्यों में प्रकृति तथा जीव से परमात्मा को पृथक् सिद्ध किया है फिर सर्वशक्तिमद्ब्रह्म के अर्थ सर्ववस्तुगत शक्तिमत् के कैसे हो सकते हैं, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' छान्दो. ३।१४।१ ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' मुण्ड.** ३।२।९ **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' मुण्ड. २।२।११**

इत्यादि वाक्य शमविधि = मन को एक मात्र ब्रह्मचिन्तन में लगाने के अभिप्राय से ब्रह्मकेसामानाधिकरण्य में प्रयुक्त हुए हैं, यही मानना उपयुक्त है ।

और जो कई एक अल्पश्रुत यह कहते हैं कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस वाक्य में शमविधि मानने से वाक्यगतलक्षणा होगी, सो वाक्य में लक्षणा होती नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यदि वाक्य में लक्षणा न मानी जाय तो **'द्विरेफ'** इस वाक्य की भ्रमर में लक्षणा कैसे ? प्रकृत यह है कि ब्रह्मदर्शी पुरुष को ब्रह्माकारवृत्तिकाल में कोई अन्य पदार्थ प्रतीत नहीं होता किन्तु एक मात्र चिद्घन ब्रह्म की ही प्रतीति होती है, ऐसी अवस्था में ऋषि यह कहते हैं कि **'पश्चाद्ब्रह्म पुरस्ताद्ब्रह्म अधस्ताद्ब्रह्म' मुण्ड. २।२।११** पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही है, **'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** उस काल में ब्रह्म से भिन्न अन्य कोई पदार्थ ज्ञेय नहीं समझा जाता और **'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्.'** ९।४।२४ = ब्रह्म ही अर्पण = स्रुवा, वही हवि, वही अग्नि और ब्रह्मही हवन करने वाला, इत्यादि उस काल में ध्येय पदार्थ का ही ध्यान होता है अन्य का नहीं, इस अभिप्राय से भी सर्वात्मवाद का कथन किया है, जिसका आशय यह है कि लोग जिसको सर्वात्मवाद, एक ब्रह्मवाद अथवा अद्वैतवाद कहते हैं, वह परमात्मा के ऐश्वर्य्य को बोधन करता है ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का निषेध नहीं करता, भेद केवल इतना है कि आजकल के नवीन अद्वैतवादी यह अर्थ करते हैं कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं, इसलिये वह **'अद्वैत'** है और वैदिक लोग **'अद्वैत'** के यह अर्थ करते हैं कि उस जैसा अन्य कोई नहीं अर्थात् वह सर्वोपरि है,और अद्वैत पद के यह दोनों ही अर्थ हो सकते हैं, **'न द्वैतं यस्मिन् तद् अद्वैतं ब्रह्म'** यह अद्वैत पद का समास है, अब विचारणीय यह है कि द्वैत से संसार लेना अथवा अन्य ईश्वर लेना चाहिये, प्रकरणानुकूल तो यही है कि जब ईश्वर का प्रकरण चल रहा है तो ईश्वर ही लेना चाहिये अर्थात् उसके समान अन्य ईश्वर न होने से ब्रह्म **'अद्वैत'** कहाता है जैसा कि हम पीछे भी लिख आये हैं कि **'न द्वितीयो न तृतीयो चतुर्थो नाप्युच्यते'** = ईश्वर दो तीन चार नहीं अर्थात् ईश्वर एक है नाना नहीं ।

यदि **'न द्वैतं भेदो यस्मिन् तद् अद्वैतं ब्रह्म'** यह अर्थ किये जाँय तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब ईश्वर से भिन्न दूसरा है ही नहीं तो यह किसने कहा कि जिसमें दूसरी वस्तु न हो एक अपना आप हो उसको अद्वैत कहते हैं अर्थात् कौन किसको कहता और कौन सुनता है ? या यों कहो कि जिन पदार्थों के विधि निषेध बतलाये जाते हैं वह इस प्रकार नाना सिद्ध हो जाते हैं ? इसका उत्तर नवीन वेदान्ती यह देते हैं कि यह सब कल्पना किया हुआ है वास्तव में न कोई कहता और न कोई सुनता है, ऐसा मानने से विना नवीन वेदान्तियों का अद्वैत वाद कदापि सिद्ध नहीं हो सकता, इतना ही नहीं किन्तु वेद तथा गुरु आदि सब को रज्जुसर्प के समान कल्पित न माना जाय तो इनका काम कदापि नहीं चल सकता और सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वकर्ता, न्यायकारी, दयालु, सर्वेश्वर, जगद्धाता तथा

निर्माता आदि ईश्वर के गुण भी कल्पित ही मानने पड़ते हैं, क्योंकि उससे कोई भिन्न हो तो सर्व व्यापक बने, एवं जब सब ही नहीं तो सर्वाधार कैसे ? इस फिलासफी की लहर **'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः' यजु० ४०।२** इत्यादि वेदों के मन्त्र रूप द्रुमों की भी ध्वंसिनी है, क्योंकि जब सब प्राणी वस्त्वन्तर उससे भिन्न ही नहीं तो फिर उनमें आत्मत्व की भावना कैसे करें, इसी अभिप्राय से अद्वैतविद्याचार्य्य ने यह लिखा है कि **'सर्वव्यापकतामिथ्या सर्वात्मेति शासनात्'**=जब सब एक ही आत्मा है, तो फिर सर्वव्यापकता क्या ? इसलिये **'अतति नैरन्तर्येण सर्वत्र व्याप्नोतीति आत्मा'** जो सर्वत्र व्यापक हो, उसका नाम आत्मा है, ये अर्थ भी इनके मत में नहीं घट सकते, यदि यह कहा जाय कि **आत्मैवाभूत्'** इस वाक्य में ब्रह्म का आत्मा सब भूतों को कहा गया है, फिर वह ब्रह्म से भिन्न कैसे ? इसका उत्तर यह है कि **'आत्मा ते वातो रजः' ऋग्० ५।६।९**=हे परमात्मन् ! यह वायु तुम्हारा आत्मा है, जो **रज**=परमाणुओं को प्रेरणा करता है, यहाँ वायु को ईश्वर का आत्मा कहा है, तो क्या वायु ईश्वर से भिन्न नहीं, अथवा ईश्वर का शरीर है, किन्तु वायु परमात्मा का स्वत्व=स्वकीय पदार्थ होने से उसको यहाँ आत्मा कहा है, इससे सिद्ध है कि सर्वात्मवाद के अर्थ परमात्मैश्वर्य्य के हैं, सब कुछ परमात्मा हो जाने के नहीं।

इसी प्रकार कई एक लोग वेदों पर नाना देववाद की आशङ्का करते हैं कि वेदों में अग्नि, वरुण, अर्यमा, तथा इन्द्रादि नाना देवों की पूजा पाई जाती है, एक ईश्वर की उपासना वैदिक समय में न थी ? इस प्रश्न का उत्तर हम एक प्रकार से तो प्रथम ही दे आये हैं कि जब सृष्टि उत्पत्ति प्रकरण, **ऋग्० ८।७।१७** में सब भाष्यकारों ने निराकार परमात्मा को इस सूक्त का देवता माना है तो फिर कैसे कहा जाता है कि वेदों में एक ईश्वरवाद नहीं किन्तु नाना देववाद है, हाँ यदि वादी यह कहे कि कहीं-कहीं एक ईश्वरवाद है, पर प्रायः नाना देववाद ही है, जैसा कि **'शन्नोमित्रःशंवरुणः शन्नोभवत्वर्य्यमा शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः' यजुः ३६।९**—इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि (**मित्रः**) सूर्य्य देवता (**वरुणः**) वरुण देवता, (**अर्य्यमा**) इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु आदि सब देवता हमारे लिये कल्याण-कारी हों। इसका उत्तर यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियों के अभिप्राय से उसके भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसे कि **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस वाक्य में सत्य, ज्ञान, और अनन्त, यह भिन्न स्वरूप नहीं, किन्तु तीनों ब्रह्म की शक्ति के नाम हैं, इसी प्रकार मित्रादि नामों को जानना चाहिये। अर्थात् जो शक्ति सब में मैत्रीभाव उत्पन्न करती है उसका नाम **'मित्र'** सबको वश में रखने वाली शक्ति का नाम **'वरुण'** अर्थात् **'वृणुते सर्वमिति वरुणः'**=जो सबको स्वाधीन रखे उसका नाम **'वरुण'** है, इसी अभिप्राय से वेद में वरुण को राजा कहा गया है, न्यायकारी को **'अर्य्यमा'** कहते हैं, और **'इन्द्र'** शब्द तो अनेक स्थानों में ईश्वर वाचक आया है **'इन्दतीति इन्द्रः'**—जो परमेश्वर्य्यवान् हो उसका नाम **'इन्द्र'** है, इसी अभिप्राय से वेद में कहा है कि **'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते' ऋग्० मं ६।४७ सू०**=इन्द्र अपनी

प्रकृति रूप शक्ति से कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों को प्राप्त होता अर्थात् अनेक ब्रह्माण्डों की रचना करता है। सम्पूर्ण संसार के स्वामी का नाम **'बृहस्पति'** तथा सर्वव्यापक परमात्मा का नाम **'विष्णु'** है, **'वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः'** = जो सब में व्यापक हो उसको **'विष्णु'** कहते हैं, जैसा कि **'तद्विष्णोः परमं पद ᳘ सदापश्यन्ति सूरयः' यजु०** **६।५ 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्' यजु० ५।१५** इत्यादि मन्त्रों में विष्णु परमात्मा का नाम स्पष्ट है और संसार रचना में जिसकी अनन्तशक्ति हो उसका नाम **'उरुक्रम'** है, अर्थात् सर्वप्रिय, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, परमैश्वर्य्यसम्पन्न, सर्वोपरिविराजमान, सर्वनियन्ता और सम्पूर्ण संसार का रचयिता परमात्मा **(नः)** हमारे लिये **(शं)** कल्याणकारी हो। यह मन्त्र के स्पष्ट अर्थ हैं, जिसमें नाना देव पूजा का गन्ध भी नहीं पाया जाता।

और जो नाना देववादी **'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षंब्रह्मासि०' तैत्त० १।१** इस उपनिषद् वाक्य के अर्थ करते हैं कि ब्रह्म को नमस्कार है और वायु देवता को नमस्कार है, निश्चय करके वायु देवता ही ब्रह्म है, यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि यह अर्थ मानने से श्लोक की परस्पर सङ्गति टूट जाती है, और दोष यह है, कि इनके मत में वायु कोई विग्रह वाला देवता नहीं माना गया, जिसकी किसी देवालय में पूजा की जाती हो, जैसे कि वादी सूर्य्य का अभिमानी देवता मानकर सूर्य्य को प्रतीक—मूर्त्तरूप से उपासना करते हैं, इस प्रकार वायु के अभिमानी देवता की सर्वथा अप्रसिद्धि होने से यहाँ वायु देवता कदापि नहीं माना जा सकता, वास्तव में इसके अर्थ यह हैं कि **'वायो'** = हे गतिशील ब्रह्म! आपको नमस्कार है, आप ही वास्तव में प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं, आप हमारी रक्षा करें, हमारे मत में दोष इसलिये नहीं कि **'वाति सर्वत्र प्राप्नोतीति वायुः परमात्मा'** = जो सर्वत्र प्राप्त अथवा गतिशील हो उसका नाम यहाँ **'वायु'** है, इस प्रकार वायु के अर्थ परमात्मा के जानने चाहिये, क्योंकि वायु शब्द से प्राणादि सब गतिशील पदार्थों का ग्रहण है, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने लिखा है कि **'प्राणस्तथानुगमात्' ब्र० सू० १।१।२८** = प्राणनाम परमात्मा का है प्रसंग पाये जाने से महर्षि व्यास का यह कथन निर्मूल नहीं, क्योंकि इसका प्रमाण वेद में पाया जाता है, जैसा कि **प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे' अथर्व० ११।२।४** = उस सर्व प्राणमय परमात्मा को हमारा नमस्कार हो, जिसके वश में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि जो लोग अथर्ववेद के दशकाण्ड से ऊपर के दश काण्डों को अशुद्ध कथन करते हैं, यह उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि सर्वोपरि आध्यात्मिक विद्या का वर्णन उत्तर के दश काण्डों में ही है, जैसा कि **'न द्वितीयो न तृतीयः'** इत्यादि पीछे वर्णन कर आये हैं, अस्तु।

अल्पश्रुत लोगों की चर्चा छोड़कर अब हम नानादेववादियों के मत की वेद में निर्मूलता सिद्ध करते हुए यह दिखाते हैं कि यदि वेद भिन्न भिन्न देवों का प्रतिपादक होता तो **'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा' यजु० ३२।१ 'स धाता स विधाता**

स वायुर्नभ उच्छ्रृतम् । सोऽर्य्यमा स वरुणः स रुद्रः' अथर्व० १३।४।४।३ **'स महादेव'** **अथर्व० १३।४।४।४** ! इत्यादि मन्त्रों में एकात्मवाद सिद्ध न किया जाता, क्या कोई कह सकता है कि अग्नि, जल, चांद, तथा सूर्य्य, यह सब एक ही हैं, जब मूर्त्तिमान होने से इनका भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है तो फिर इनमें एकता कैसे ? यदि यह कहा जाय कि इनका मुख्यसामानाधिकरण्य नहीं किन्तु बाधसामानाधिकरण्य है, अर्थात् यह सब रूप मिलकर एक ही हो जाता है, या यों कहो कि सबका उपादान कारण एक होने से यह सब कार्य्य भी एक ही है, जैसे मृण्मयकार्य्य उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न है, पर वास्तव में एक है ? इसका उत्तर यह है कि **'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'** **अथर्व० का १०।८।२०** इस मन्त्र के अर्थ उपादानकारण की एकता से एकता के नहीं किन्तु शक्तियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी शक्तिमत् एक होने से एक ही परमात्मा को सर्वरूप—सर्वशक्तिरूप कहा गया है, इसी प्रकार **'तदेवाग्नि'** इत्यादि वाक्य शक्तियों के भिन्न भिन्न होने पर भी शक्तिमत् एक होने के अभिप्राय से उसको एक कथन करते हैं, जैसा कि **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** **तै० २।१** इस वाक्य में सत्यादि शक्तियें भिन्न-भिन्न होने पर भी शक्तिमत् एक हैं, इसी प्रकार **'तदेवाग्नि'** इत्यादि वाक्य भी एक ही ब्रह्म के प्रतिवादक हैं इसमें कोई विरोध नहीं । यही रीति वेद में सर्वत्र समझनी चाहिये, और जहाँ-जहाँ अग्नि, वरुण, इन्द्र तथा सूर्यादि नाम उपास्यदेव के अभिप्राय से आये हैं वहाँ सर्वत्र दैवीशक्तियों के आशय से जानने चाहिये भिन्न-भिन्न जड़ देवताओं की उपासना के अभिप्राय से नहीं, जैसा कि **'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये'** **यजु० ३६।१२** इस मन्त्र में **'आपः'** शब्द सर्वव्यापक ब्रह्मशक्ति के अभिप्राय से आया है, अर्थात् नानादेवों की उपासना करना वेद का लक्ष्य नहीं, किन्तु उपास्य देव एक ही है, नानादेव=दिव्य शक्तियें उसमें लाई जा सकती हैं, जैसे इन्द्र, वरुण तथा विद्युतादि नाम उसकी शक्तियों के अभिप्राय से भी आते हैं, जैसा कि **'इयमिन्द्रंवरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना'** **ऋग्० ७।८५** इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि हे सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न इन्द्र! और वरुण=सब के वरणीय परमात्मन् ! आप हमारे पुत्र पौत्रादि ऐश्वर्य को बढ़ायें ताकि हम ऐश्वर्य सम्पन्न हों और आपके उपासनारूप यज्ञों में सम्मिलित होकर अपने जीवन को पवित्र करें । इत्यादि स्थलों में इन्द्र वरुण, आदि परमात्मा के नाम हैं, और प्राकृत शक्तियों में भी आते हैं, जैसा कि पीछे लिख आये हैं अर्थात् पूर्वोक्त नाम दोनों प्रकार की शक्तियों में आने के कारण अल्पश्रुतों को यह भ्रम हो जाता है कि यह नाम देवताओं के हैं, वास्तव में बात यह है कि जिस प्रकार **'ईश्वर'** नाम, प्रभु तथा राजा आदियों में भी आता है और सर्वशक्तिमद्ब्रह्म में भी प्रयुक्त होता है, और दृष्टान्त इसमें यह है कि जिसको वैदिक साहित्यवेत्ता भली भांति जानते हैं कि ब्रह्म नाम वेद का भी है और ब्रह्म बड़े के अर्थ में भी आता है, परन्तु मुख्यतया सर्वशक्तिमद्ब्रह्म के लिये ही प्रयुक्त होता है, इसी प्रकार इन्द्र, वरुण, आदि नामों को जानना चाहिये, यह वैदिक सिद्धान्त यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखा जाता । वास्तव में ब्राह्मण, उपनिषद् तथा गीता आदि आध्यात्मिक विद्याप्रधान

सभी ग्रन्थों में उपर्युक्त नामों की इसी प्रकार व्यवस्था की गई है, इन्द्र को इन्द्रपुरी का देवता तथा वरुण को जलों का देवताविशेष मानना पौराणिकभाव है, जिसका वैदिक समय में गन्ध भी न था, जैसा कि वेदादि सच्छास्त्रों में भली प्रकार वर्णन किया है कि—

'स धाता स विधाता' अथर्व. १३।४।३ **'सोऽर्य्यमा स रुद्रः स महादेवः'** अथर्व. १३।४।४ **'सोऽग्निः स उ सूर्य्यः स उ एव महायमः'** अथर्व. १३।४।५ **'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः'** श्वेता. ६।११ **'एकधैवानु द्रष्टव्यम्'** बृहदा. ४।४।२० **'स्वधया तदेकम्'** ऋग्. ८।७।१७ **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** यजु. ३१।१८ **'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्'** ऋग्. २।३।२२ **'एतमेके वदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम्'** मनु. १२।१२३ **'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'** कठ. ४।११ = एक ही ब्रह्म शक्ति के अनन्त नाम हैं अर्थात् अग्नि, मित्र, वरुण, अर्य्यमा, धाता, विधाता, आदि सब नाम उसके गुणों के अभिप्राय से वर्णन किये गये हैं, जैसा कि **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** ऋग् २।३।२२।४६ इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट वर्णन किया है कि एकही ब्रह्म को विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इसी का अनुकरण करते हुए पूर्वोक्त श्लोक में मनुजी स्पष्ट लिखते हैं कि अग्नि, प्रजापति, तथा प्राण, आदि सब ब्रह्म के नाम हैं, अधिक क्या ब्रह्मा, शिव, तथा विष्णु, आदि जो आजकल मूर्त्तिमान् देवविशेष माने जाते हैं, यह वास्तव में ब्रह्म के नाम थे, जो इस अवैदिक समय में पुरुषविशेष माने गये,वास्तव में वही परमात्मा ब्रह्मा, वही शिव, और वही रुद्र, है, इसी अभिप्राय से कैवल्योपनिषद् में लिखा है कि **'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा'** = वही परमात्मा ब्रह्मा, वही शिव, वही इन्द्र, वही अक्षर, ब्रह्म, सर्वोपरि विराजमान, वही विष्णु, वही प्राण, वही कालाग्नि और वही चन्द्रमा है। यह वाक्य सर्वात्मवाद के अभिप्राय से नहीं किन्तु ब्रह्मप्रतिपादक भिन्न-भिन्न नामों के अभिप्राय से हैं।

यदि यह कहा जाय कि जब यह सब ब्रह्म के नाम हैं तो फिर **'ब्रह्मा देवानां पदवी'** साम. ३।३।१ इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मा को देवविशेष क्यों माना गया है, अर्थात् कहीं चारों वेदों के वेत्ता पुरुषविशेष का नाम ब्रह्मा, और कहीं ईश्वर का नाम ब्रह्मा, ऐसी अव्यवस्था क्यों ? इसका उत्तर यह है कि कहीं ब्रह्म प्रकृति का नाम है, कहीं जीव का, कहीं बृहत् का, और कहीं अक्षर ब्रह्म परमात्मा का वाचक ब्रह्म शब्द है, इसमें कोई दोष नहीं। इसकी मीमांसा महर्षि व्यास ने इस प्रकार लिखी है कि **'स्याच्चैकस्य ब्रह्म शब्दवत्'** ब्र. सू. २।३।५। **'ब्रह्म'** शब्द की नांई एक शब्द एक वाक्य में भी भिन्न अर्थों के अभिप्राय से आजाता है, और इसी भाव को तैत्त. ३।२ में इस प्रकार वर्णन किया है कि **'तपसा ब्रह्म विज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति'** = ब्रह्म ईश्वर का मुख्य नाम और तप का ब्रह्म नाम गौण है, इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, आदि ईश्वर के मुख्य नाम और अन्य देवों के गौण हैं, अर्थात् किसी गुण विशेष से

उनको भी ब्रह्मा वा विष्णु कहा गया हो, जैसा कि **'इदं विष्णुर्विचक्रमे'** **यजु. ५।१५।** यहां विष्णु नाम ईश्वर का है और गौणवृत्ति से किसी पुरुष का नाम भी विष्णु रख लिया जाता है, जैसे आजकल लोक में कहते हैं कि वहां विराट सभा हुई, तो क्या जिस विराट का वर्णन पुरुष सूक्त में है उस जैसी व्यापक सभा हुई, कदापि नहीं, किन्तु मनुष्य संख्या के अधिक होने से यहां सभा को विराट सभा कहा गया है, यही रीति गौण मुख्य में सर्वत्र जाननी चाहिये।

प्रकृत यह है कि ईश्वर के अनन्त नाम होने से वैदिक समय में मुख्यतया अग्नि आदि शब्द ईश्वर में बोले जाते थे, पुनः गौणवृत्ति से भौतिक पदार्थों का नाम भी अग्नि पड़ गया, पर जो लोग इस व्यवस्था में ननु नच करते हैं उनसे पूछना चाहिये कि **'विष्णुसहस्रनाम'** में जो विष्णु का सहस्र नाम माना गया है उनमें अग्नि आदि नामों से सहस्र संख्या क्यों पूर्ण की गई है! ज्ञात होता है कि कहीं वैदिक और कहीं पौराणिक नाम मिलाकर सहस्र नाम पूर्ण किया गया है, अन्यथा उसकी पूर्ति दुष्कर थी। यही व्यवस्था **'शिवसहस्रनाम'** की है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि नाम गुणों से पड़ते हैं, जैसे अग्रणी होने से ईश्वर का नाम अग्नि पड़ा है जैसा कि **'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति'** **निरुक्त. ७।१४**=सबसे अधिक गतिशील का नाम अग्नि है, ज्ञान, गमन, प्राप्ति, यह तीन अर्थ गति के प्रसिद्ध हैं, सर्वोपरि ज्ञानी, सर्वत्र गतिशील तथा सर्वत्र प्राप्त परमात्मा से भिन्न अन्य कोई नहीं, इसलिये मुख्यतया अग्नि नाम परमात्मा का है, इसी हेतु से **'अग्निमीडे पुरोहितम्'** **ऋग्. १।१।१** सर्वोपरि हितकारी=जिसके समान लोक परलोक में अन्य कोई हितकारी नहीं, ऐसे परमात्मा की मैं स्तुति करता हूँ, यहां जीव का स्तुतिकर्त्ता होना उपलक्षण भाव से है, वास्तव में ईश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुषो! तुम सबसे प्रथम सबके अग्रणी परमात्मा की स्तुति करो, इस प्रकार विधिवादरूप वेद=आज्ञा रूप में ईश्वर से प्रकट हुआ। प्रकृत यह है कि अग्नि आदि शब्द परमात्मा के बोधक होने से वेदों में नानादेववाद नहीं।

और जो **'अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमा देवता'** **यजु. १४।२०** इत्यादि वाक्य सूर्यादिकों को भी देव प्रतिपादन करते हैं, वह ईश्वर भाव से, ईश्वर भाव से तो एकमात्र परमात्मा का ही वर्णन करते हैं, जैसा कि **'एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः'** **यजु. ३२।४** **'य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम'** **ऋग्. ८।७।३** **'स रुद्रः स महादेवः'** **अथर्व. १३।४।४** इत्यादि मन्त्रों में जो **'देव'** शब्द आया है, वह ईश्वर का ही प्रतिपादक जानना चाहिये, क्योंकि परमात्मा देव एक है, और अन्य सूर्य्यादि दिव्य पदार्थ नाना हैं, इस प्रकार के नानात्व से ईश्वर की एकता में कोई दोष नहीं आता, इससे सिद्ध है कि वेदों में जड़वाद=जड़ोपासना नहीं।

जो लोग वेदों में जड़ोपासना मानते हैं, उनकी अत्यन्त भूल है अथवा जो यह कहते हैं कि मूर्त्तिपूजा विषयक अनेक मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं, उनसे प्रथम यही

पूछना चाहिये कि जब '**मूर्त्ति**' शब्द ही वेदों में नहीं, तो फिर उसको ईश्वर समझ-कर उसकी उपासना करने की तो कथा ही क्या ! अस्तु—इस विषय में कई एक वादी यह कहते हैं कि वेदों में मूर्त्ति शब्द न हो, परन्तु प्रतिमा शब्द तो वेदों के अनेक स्थलों में पाया जाता है, जैसाकि '**सहस्रस्य प्रतिमासि' यजु. १५।६५। 'न तस्य प्रतिमा' यजु. ३२।३** इत्यादि स्थलों में जब प्रतिमा शब्द स्पष्ट है तो फिर मूर्तिपूजा वेदों में कैसे नहीं ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि प्रतिमा शब्द वेदों में है, परन्तु प्रतिमा पूजन के अभिप्राय से नहीं आया प्रत्युत निषेध के अभिप्राय से आया है, इससे भिन्न जहां-जहां प्रतिमा शब्द आया है, वह ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं किन्तु यज्ञ वा विद्वान् आदि के सम्बन्ध में आया है, जैसाकि '**सहस्रस्य प्रतिमासि' यजु. १५।६५।** विद्वान् को संसार की प्रतिमा, वा प्रमा, निरूपण किया गया है कि यदि संसार का ज्ञान उपलब्ध करना चाहो तो विद्वान् से करो, क्योंकि विद्वान् संसार की प्रमा=बुद्धि, वा, ज्ञान, होता है या यों कहो कि प्रतिमा होता है, यहां प्रतिमा के अर्थ (प्रमा) साधन के हैं मूर्ति के नहीं, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि '**प्रतिमीयते परिमीयते यया सा प्रतिमा**'=जिससे किसी पदार्थ को जाना जाय वा किसी पदार्थ का परिमाण किया जाय उसको '**प्रतिमा**' कहते हैं, प्रतिमा और प्रमा यह दोनों ही यहां प्रकारान्तर से ज्ञान के वाचक हैं, इसलिये यहां प्रतिमा शब्द मूर्ति को सिद्ध नहीं करता। और '**कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानम्' ऋग्. १०।१३२।** इस मन्त्र में प्रमा तथा प्रतिमा शब्द यज्ञ को प्रमा और प्रतिमा को निरूपण करते हैं कि यज्ञ का परिमाण, ज्ञान तथा निदान, क्या है, इस विषय में यहां '**प्रतिमा**' शब्द आया है, मूर्ति के अभिप्राय से नहीं, अधिक क्या जहां-जहां वेदों में प्रतिमा शब्द आया है, वहां ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं आया ईश्वर के सम्बन्ध में केवल '**न तस्य प्रतिमास्ति**' इस मन्त्र में आया हुआ शब्द ही है, यहां '**प्रतिमीयते अनयेति प्रतिमा**' अर्थ तो यही घटते हैं परन्तु प्रतिमा शब्द के अर्थ यहां प्रतिनिधि वा प्रतिकृति के हैं, कि उसका कोई प्रतिनिधि वा उसकी कोई प्रतिकृति=मूर्ति नहीं ।।

और जो लोग यहां प्रतिमा के अर्थ तोल (माप) करके यह सिद्ध करते हैं कि परमात्मा का न कोई तोल है न माप है और न उसके कोई सदृश है, इस अभिप्राय से यहां प्रतिमा का निषेध है, मूर्ति का नहीं ? उनसे यह पूछना चाहिये कि जब उसके कोई सदृश ही नहीं तो उसकी मूर्ति कैसे ? क्योंकि जिसका तोल नाप वा लम्बाई चौड़ाई होती है उसी की मूर्ति होती है, यहां प्रतिमा के अर्थ तुल्य वा सदृश करने से भी ईश्वर में मूर्तित्व का निषेध ही आता है, इस प्रकार विचार करने से वेद में प्रतिमापूजन का स्पष्टतया निषेध पाया जाता है, विधि नहीं ।

प्रकृत यह है कि वैदिक समय में लोग याज्ञिक थे, मूर्तिपूजक न थे, और यज्ञों में भी परमात्मा का ही पूजन होता था, किसी देवी देवता का नहीं, पुनः वैदिक समयानन्तर ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में भी मूर्तिपूजन न था, और जो '**द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्त्तञ्च' बृ. २।३।१** इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो

रूप में वर्णन किये हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि यहां ब्रह्म के स्वरूपभूत दो रूपों का वर्णन नहीं, किन्तु वायु तथा आकाश को अमूर्त रूप और पृथिवी, अग्नि तथा जल को मूर्तरूप कथन किया है। अधिक क्या यह मूर्त शब्द का व्यवहार ब्राह्मण ग्रन्थों में हुआ है संहिता के समय में न था, वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा मनु के समय तक भी ईश्वर की मूर्ति बनाने का कहीं वर्णन नहीं पाया जाता किन्तु माता, पिता, तथा आचार्यादिकों की मूर्ति का वर्णन मनु में स्पष्ट है। जैसा कि **'आचार्य्यः ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः' मनु**. इत्यादि वाक्यों में माता, पिता तथा आचार्य्यादिकों को मूर्तिमान् माना है निराकार ईश्वर को नहीं।

शास्त्र के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वैदिक समय में पृथिव्यादि मूर्त्त पदार्थ केवल ब्रह्मज्ञान के प्रत्यायक=बोधक माने जाते थे। जैसा कि **'यस्य भूमि प्रमा' अथर्व० १०।१३।७।३२** इत्यादि मन्त्रों में पृथिवी को उसके प्रमा=ज्ञान का साधन माना है **'प्रमीयते अनयेति प्रमा'**=जिससे जाना जाय उसका नाम **'प्रमा'** है, इसी प्रकार **'प्रतिमीयते अनयेति प्रतिमा'**=जिससे जाना जाय उसका नाम **'प्रतिमा'** है यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि मूर्त्तिपूजक भी तो मूर्त्ति को ईश्वर=ज्ञान का साधन ही मानते हैं, साक्षात् मूर्त्तिको ईश्वर नहीं मानते ? फिर प्रतीकोपासना तथा मूर्त्तिपूजा में क्या भेद ? इसका उत्तर यह है कि, प्रथम तो मूर्त्तिपूजक ईश्वर और मूर्त्ति का तादात्म्यसम्बन्ध मानते हैं कि वह मूर्त्ति ही ईश्वर का रूप है। दूसरी बात यह है कि प्रतीकोपासक किसी प्रतीक को लक्ष्य करके परमात्मोपासन नहीं करते थे, किन्तु **'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' छान्दो० ३।१८।१ 'आकाशो ब्रह्मेति' छान्दो० 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' छान्दो० ३।१९।१** मन, सूर्य्य तथा आकाशादि विस्तृत पदार्थों में व्यापक ब्रह्म की ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते थे, वह मन तथा सूर्यादिकों को ब्रह्म कदापि नहीं समझते थे, इसी अभिप्राय से वेद में स्पष्ट लिखा है कि **'न तस्य प्रतिमास्ति' यजु० ३२।२ 'न प्रतीके नहि सः' ब्र० सू० ४।१४ 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' ब्र० सू० ४।१।५।** इत्यादि प्रतीकोपासना के निषेधक वाक्यों से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीकोपासना के अर्थ प्रतीक की उपासना के नहीं किन्तु प्रतीक में व्यापक ब्रह्मोपासना के हैं। अर्थात् ईश्वर रचित सूर्य्य चन्द्रमादि पदार्थों को देखकर ईश्वर-भक्त जो ईश्वर का ज्ञान लाभ करते थे, उसी का नाम प्रतीकोपासना था, किसी जड़ पदार्थ की उपासना प्रतीकोपासन से नहीं की जाती थी। इसी अभिप्राय से महर्षि-व्यास ने **'रचनाऽनुपपत्तेश्च' ब्र० सू० २।२।१** इस सूत्र में कहा है कि यह रचना ईश्वर के बिना कदापि नहीं हो सकती, अर्थात् ईश्वर की सत्ता को बोधन करने के लिए इस रचना से बढ़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं, यही भाव प्रतीकोपासना का है।

जो लोग मूर्त्तिपूजा तथा प्रतीकोपासना को एक मानकर वेदमन्त्रों के मिथ्या अर्थ करके मूर्त्तिपूजा वेदों से सिद्ध करते हैं उनकी परम भूल है, वे लोग **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद्' ऋग्० ८।३।१६।३।** इस मन्त्र को पुष्ट प्रमाण मानते हैं

कि इसमें (**पुरुष**) परमात्मा के सिर पैर आदि सब अंगों का वर्णन होने से उसकी मूर्त्ति हो सकती है और उस मूर्त्ति की पूजा का विधान वेद करता है। इसका उत्तर यह है कि यदि उक्त मन्त्र का वाच्यार्थ ठीक माना जाय अर्थात् ज्यों के त्यों सहस्र सिर ही अर्थ किये जाय तो '**सहस्र शृंगो वृषभो यः समुद्रात् उदाचरत्**' **ऋग्० मं० ७।५५।७** इस मन्त्र से यह निकलना चाहिए कि सहस्र=हज़ार सिरवाला बैल समुद्र से निकला, न बैल समुद्र में पैदा होते और ना ही किसी बैल के हज़ार सींग हो सकते हैं। इस मुख्यार्थ बाधका तात्पर्य्य यह है कि '**वृषभ**' के अर्थ यहाँ सूर्य्य के हैं, जैसा कि '**वृषभो वर्षतायाम्**' **निरु.** ४।८।९ = जिसके द्वारा वृष्टि हो उसका नाम यहाँ '**वृषभ**' है, और सूर्य्य से वृष्टि होना प्रसिद्ध है, जैसा कि '**आदित्याज्जायते वृष्टिः**' **मनु०** इत्यादि धर्मशास्त्र भी सूर्य्य से वृष्टि का होना विधान करता है। और समुद्र के अर्थ यहाँ अन्तरिक्ष के हैं। जैसाकि '**समुद्रवन्त्यस्मादापः इति समुद्रः**' इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि अनन्त किरणों वाला सूर्य्य जब आकाश से उदय होता अर्थात् प्रथम ही जब दृष्टिगत होता है तब पृथिवी के भ्रमण के कारण उसका जो भाग ऊँचा प्रतीत होता है वह आकाश देश से उदय माना जाता है। अस्तु, जैसे ये अर्थ वेद की अपूर्वता सिद्ध करते हैं इसी प्रकार '**सहस्रशीर्षा**' **ऋग्० ८।३।१६।३** मन्त्र के ठीक अर्थ यह हैं, कि यह विराट्पुरुष जिसके सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र और सहस्रों पादादि अवयव हैं, उस पुरुष के मेधावी विप्र=ब्राह्मण मुख सदृश, क्षत्रिय, भुजदण्ड के समान, वैश्य उरु, और शूद्र पैरों के समान हैं। यह अलंकार विराट्पुरुष का वर्णन करता है, किसी पुरुषविशेष का नहीं, क्योंकि इसी प्रकरण में, '**ततो विराट् अजायत**' ३१।५ इत्यादि वाक्य पड़े हैं, जो विराट् का स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं, पर उस विराट् की कोई एक मूर्त्ति नहीं हो सकती। किन्तु समष्टिरूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उसकी मूर्त्ति है, अन्य युक्ति यह है कि इस सूक्त का देवता परमात्मरूप-पूर्णपुरुष माना गया है, जिसको सायणादि भाष्यकार भी '**पुरुषान्न परंकिंचित्साकाष्टा सा परागतिः**' **कठ० ३।११** यह वाक्य उद्धृत करके लिखते हैं कि उससे परे कुछ नहीं अर्थात् वही सर्वोपरि एक मात्र पूर्णपुरुष सब से परे है। फिर ऐसे पूर्णपुरुष की मूर्त्ति कैसे कल्पना की जा सकती है। जिसको '**अकायमव्रणम्**' **यजु० ४०।८** '**अशरीरं शरीरेषु**' **कठ० २।१२** '**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**' **कठ० ३।१५** '**दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः**' **मुण्ड० २।१।२** '**न तस्य प्रतिमास्ति**' **यजु० ३२।३** इत्यादि वेदोपनिषद्वाक्य निराकार वर्णन करते हैं, उसकी सहस्र शिरों वाली प्रतिमा नहीं हो सकती। वास्तव में बात यह है कि इस सूक्त में रूपकालंकार से परमात्मा का वर्णन किया गया है, अर्थात् असंख्यात रूपों की तुलना देकर परमात्मरूप वर्णन किया है, इसी का नाम रूपक है, जैसाकि पीछे रूपकालंकार से सूर्य्य की किरणों को शृंगों का रूपक वर्णन कर आये हैं। एवं यहाँ भी विराट्पुरुष को असंख्यात शिर आदि अवयवों वाला सिद्ध किया गया है। अर्थात् वह अनन्त शक्ति सम्पन्न है, या यों कहो कि '**सहस्राणि असंख्यातानि शीर्षाणि यस्मिन् स सहस्रशीर्षा**' = जिसमें असंख्यात सिर हों उसका नाम '**सहस्रशीर्षा**' है, इस सूक्त से साकार की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि

यह तो अलंकार से शिरादि अवयवों का वर्णन करता है मुख्यतया नहीं। यदि इस सूक्त को मुख्यतया साकार का बोधक माना जाय तो वेद में परस्पर विरोध आता है, वह इस प्रकार है कि **'चन्द्रमा मनसोजातः, यजु. ३१।१२ 'मुखादग्निरजायत'** **यजु. ३१।१२** इन वाक्यों में चन्द्रमा की मन से, और अग्नि की मुख से उत्पत्ति मानी है। और आपके मतानुसार **'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः' यजु० ३२।१** इस मन्त्र में अग्नि तथा चन्द्रमा को उसका स्वरूप कथन किया है, यह परस्पर में विरोध क्यों ? इसका उत्तर वैदिकसिद्धान्त में तो स्पष्ट है कि वास्तव में न उसका मुख और ना ही मन है, किन्तु उसके मननरूप सामर्थ्य से आह्लादक=ज्योतिरूप चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। और मुखवत् तेजस्वी सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुई। और **'तदेवाग्नि'** इस मन्त्र में अग्नि आदि शब्दों से भौतिकाग्नि तथा भौतिक चन्द्रमा का ग्रहण नहीं किन्तु इन नामों से ईश्वर का ग्रहण है, इसलिए कोई विरोध नहीं। और यह विरोध ईश्वर को निराकार मानने से ही हट सकता है अन्यथा नहीं।

यहाँ कई एक लोग यह आशंका करते हैं कि वेद में ईश्वरविषयक कहीं भी निराकार शब्द नहीं आया ? ठीक है, यदि निराकार शब्द वेद में होता तो परमाणु तथा जीवात्मा में अतिव्याप्ति जाती, क्योंकि वे भी निराकार हैं। अर्थात् जो निराकार हो वह परमात्मा होता है, यह दोष आता, इस कारण वेद में निराकार शब्द नहीं, परन्तु परमात्मा के आकार मूर्त्तत्वधर्म का निषेध करने के लिए वेद में **'अकाय'** शब्द आया है, जैसा कि **'शुक्रमकायमव्रणम्' यजु० ४०।८** इत्यादि मन्त्रों में उसको **'अकाय'** वर्णन किया है, काय शरीर और अकाय के अर्थ शरीर रहित के हैं, अकाय कथन करने से ईश्वर जीवात्मा से भी भिन्न हो जाता है। क्योंकि जीवात्मा शरीर वाला है, इसी अभिप्राय से **'अशरीरं शरीरेषु' कठ० ७।८।२२** कथन किया है कि वह शरीरधारियों में अशरीरी है, अतएव सिद्ध है कि वेद ईश्वर को अकाय कथन करता है, अकाय तथा निराकार यह पर्य्याय शब्द हैं।

और जिन लोगों का यह कथन है कि लोक में कोई पदार्थ ही निराकार नहीं, उनको जानना चाहिए कि परमाणु, आकाश विद्युत्, जीवात्मा, आकर्षण, तथा विकर्षण, आदि सब शक्तियें निराकार हैं, भेद केवल इतना है कि परमाणुओं में अन्य कोई आकार=अवयव न होने से उन्हें निराकार कथन किया है परन्तु वे स्वयं मूर्त्तपदार्थ हैं। और एक ही पदार्थ होने से उनका भीतर बाहर नहीं कहा जा सकता। और ना ही उनका विभागान्तर हो सकता है, इसलिए वे निराकार हैं। अर्थात् परमाणु इस प्रकार की आकृति नहीं जो दो पदार्थों से बनी हुई हो। और जिसके आगे विभाग किये जा सकें इसी अभिप्राय से **'आकाशव्यतिभेदात्' न्याय० ४।२।१८।** इत्यादि सूत्रों के उनके आकार का निषेध किया है, वास्तव में जीवात्मा निराकार है जो मूर्त्तपदार्थ नहीं, आकार, अवयव, तथा मूर्त्त, यह सब पर्याय शब्द हैं। और परमात्मा तथा जीवात्मा में मूर्त्तधर्म न होने से उक्त दोनों अमूर्त्त माने गये हैं।

और जो **मूर्त्तञ्चैवामूर्तञ्च'** बृहदा० २।३।६ अर्थात् **'नेतिनेति'** बृहदा० २।३।६। इत्यादि स्थलों में प्रथम मूर्त्त, अमूर्त्त दो रूप कहकर फिर दूसरे वाक्य में निषेध किया है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि वह ब्रह्म स्वयं मूर्त्तामूर्त्त दोनों प्रकार के भूतों का स्वामी होने से उसको उभयरूप कहा है वास्तव में उसका निजरूप अमूर्त्त है। और जो **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखः विश्वतो बाहु'** ऋग्० ८।३।१६।३ इस मन्त्र में परमात्मा को साकार रूप से वर्णन किया है, वह सर्वशक्तिमत्व के अभिप्राय से जानना चाहिए, जिसका आशय यह है कि उस की चक्षुरूपसामर्थ्य परिच्छिन्न नहीं, वह ज्ञानरूप होने से सब ओर चक्षु तथा मुखादि अवयवों वाला कहा जाता है, वस्तुतः नहीं। इसी अभिप्राय से **'सर्वतः पाणीपादं तत्सर्वतोक्षि शिरोमुखं। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति'** गी० १३।१४ यहां परमात्मा का सर्व सामर्थ्य वर्णन करके फिर कहा है कि वह सबको भीतर लेकर अर्थात् सबमें व्यापक होकर **'तिष्ठति'** = रहता है, जब वह सर्वव्यापक है तो फिर साकार कैसे? क्योंकि सर्व-व्यापकपदार्थ साकार नहीं हो सकता। इसी प्रकार **'स भूमिं सर्वतोवृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'** ऋग्० ८।४।१७ इस मन्त्र में भी वर्णन किया है कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्तर्गत करके अर्थात् पांच सूक्ष्मभूत और पांच स्थूल भूतों को अपने स्वरूप में व्याप्य बनाकर उनसे आगे विराजमान है, इसी भाव को **'तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्ति सूरयः'** ऋग्० १।२।७।२० इस मन्त्र में यों वर्णन किया है कि द्युलोक में चक्षु के सामर्थ्यसमान परमात्मा निराकार है, अर्थात् जिस प्रकार चक्षुओं का सामर्थ्य निराकार होकर भी व्यापक है, इसी प्रकार परमात्मा निराकाररूप से सर्वत्र व्यापक है॥

और जो कई एक वेदतत्वानभिज्ञ पुरुष यहां चक्षु के अर्थ सूर्य्य करते हैं वे अत्यन्त भूलते हैं, क्योंकि अन्वय यह होता है कि **'दिवि आततं चक्षुरिव सूरयः पश्यन्ति'** = आकाश में फैले हुए चक्षु के समान योगीजन उस को देखते हैं, जो लोग यहां चक्षु के अर्थ सूर्य्य करते हैं, उनको प्रथम तो यह समझना चाहिये कि सूर्य पक्ष में **"पश्यन्ति"** का कर्त्ता जड़ सूर्य्य मानना पड़ेगा, जो सर्वथा अयुक्त है। क्योंकि जड़ होने से सूर्य देख नहीं सकता, यदि यह कहा जाय कि चक्षु भी तो जड़ है? इसका उत्तर यह है कि जीवात्मा के साथ मिलकर, चक्षु में देखने का प्रयोग होता है। जैसाकि **'येन चक्षूंषि पश्यति'** केन० १।६ = इत्यादि वाक्यों में वर्णन किया है, परन्तु संस्कृत साहित्य मात्र में **'सूर्य्यः पश्यति'** यह प्रयोग जड़ सूर्य्य के लिये कहीं भी नहीं आता, इससे सिद्ध है कि **'चक्षुराततम्'** के अर्थ विस्तृत नेत्र के हैं, सूर्य्य के नहीं।

प्रकृत यह है कि यदि वेद ब्रह्मको मूर्त्तामूर्त्त उभय रूप कथन करता तो एक ही पुरुषसूक्त में **'त्रिपादस्यामृतं दिवि'** यजु० ३१।३ **'मुखादग्निरजायत'** यजु० ३१।१२ = इस प्रकार परस्पर विरुद्धार्थप्रतिपादक वाक्य न मिलते, हमारे विचार में उक्त मन्त्रों में विरोध इसलिये नहीं, कि उसके मुख रूप सामर्थ्य से अग्नि की उत्पत्ति

मानी है, साकार मुख से नहीं, इसी प्रकरण **'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्' यजु० ३१।११।**=वेदवेत्ताब्राह्मण को मुख कहा है, अर्थात् परमात्मा की विभूति में उसको मुख्य वर्णन किया है, अवयवरूप मुख नहीं। यदि अविचार से ब्रह्म के दोनों ही रूप मानलें तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कौनसा सत्य और कौनसा झूठा रूप है? यदि यह कहो कि दोनों ही सत्य हैं तो यह सर्वथा युक्ति शून्य है, क्या कोई कह सकता है कि एकही पदार्थ एकभी है और नाना भी है, एवं एकही पदार्थ मूर्त्त भी है और अमूर्त्त भी है। जैसा **'स्थाणु पुरुषः'** कहने से या तो स्थाणु=ठूंठ ही सत्य होता है, वा पुरुष, दोनों परस्पर विरुद्ध ज्ञान सत्य नहीं निकलते, इसी प्रकार या तो मूर्त्तभाव ही सत्य मानना पड़ेगा वा अमूर्त्त ही, दोनों में से एक ही सत्य हो सकता है, दोनों कदापि नहीं। दोनों रूपों को ठीक मानने वाले बाधसामानाधिकरण्य रज्जुसर्प के समान कल्पित मानकर अमूर्त्त रूप को ही सत्य मानते हैं, उनका कथन है कि यह सब पदार्थ स्वप्नसृष्टि के समान अविद्यारूप दोष से भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे नेत्रगत दोषवाला पुरुष एक चांद के दो चांद देखता है, पर वास्तव में चांद एक ही होता है, एवं यह ब्रह्म एक ही है, अविद्या से जगद्रूप बनकर नाना भावों में दीख रहा है, यह कथन ब्रह्म में अविद्या वा माया मानने वालों के मत में ठीक हो सकता है पर यहां तो वैदिक सिद्धान्त का विचार है कि वेदों में दोनों रूप कैसे ठीक हो सकते हैं। क्योंकि वेदों में इस सृष्टि को स्वप्न के समान कल्पित नहीं माना, किन्तु **'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी' अथर्व० ६।९।८९।** इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है कि यह सृष्टि सत्य तथा दृढ़ है, फिर कल्पित की तो कथा ही क्या, अतएव वैदिकधर्म में रज्जुसर्प के समान बाधसामानाधिकरण्य नहीं। और नाहीं मिट्टी तथा घट के समान मुख्यसामानाधिकरण्य माना जा सकता है, इसलिये **'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्'** और **'मुखादग्निरजायत'** इत्यादि मन्त्रों की व्यवस्था अवश्य करनी पड़ेगी। और वह इस प्रकार है कि मुखादि अवयवों का वर्णन रूपकालंकार से है, मुख्य नहीं। अन्यथा ब्राह्मण मुख और उससे इस भौतिकाग्नि का उत्पन्न होना किसकी समझ में आ सकता है, यदि यह कहा जाय कि अग्नि के अर्थ यहां तेज के हैं, और ब्राह्मण के मुख से जो ओजस्विनी तथा तेजस्विनी वाक् निकलती है, उसी को **'मुखादग्निरजायत'** कहा है? इसका उत्तर यह है कि यह भी तो एक अलंकार ही मानना पड़ा, अर्थात् जब अग्नि के मुख्य अर्थ छोड़कर तेज के अर्थ लिये तो फिर मुख के अर्थ मुख्य मानने में क्या आपत्ति थी? और अन्य युक्ति यह है कि अग्नि के साथ जब इस चांद की उत्पत्ति का कथन है, तो अग्नि भौतिक ही हो सकती है अन्य नहीं। अस्तु, विशेष युक्तिवाद से क्या, मुख्य प्रसंग यह है कि वेद ईश्वर की मूर्ति वर्णन नहीं करता वह उसको सर्वथा अमूर्त्त ही कथन करता है॥

और जो कई एक वेदधर्मानभिज्ञ लोगों ने यह लिखा है कि **'एह्यश्मानमातिष्ठ अश्माभवतु ते तनुः' अथर्व०** २।१३।४।=हे परमात्मन्! तुम इस पत्थर की मूर्ति में आओ, तुम्हारा शरीर भी पत्थर का बन जाय, यहां ईश्वर के शरीर को पत्थर

का बनाने के लिये प्रार्थना करना मिथ्या और अज्ञानी जनों की वंचनामात्र है, क्योंकि आज तक किसी ने भी इस मन्त्र से ईश्वर को पत्थर बनाने का यत्न नहीं किया, जब लोगों में आधुनिक मूर्तिपूजा के मण्डन की प्रबल लहर उठी, तब यह अनर्थ किये गये, वास्तव में इसके अर्थ ये हैं कि—

ईश्वर ब्रह्मचारी को उपदेश करता है कि हे ब्रह्मचारिन् ! तू इस पत्थर की शिला पर दृढ़ता पूर्वक पांव रख, तेरा शरीर इस पत्थर के समान दृढ़ हो, इसका नाम अश्मारोहण का कृत्य भी है, जो विवाहादिकों में किया जाता है, वहां भी दृढ़ता का तात्पर्य्य है, अर्थात् वर वधू से कहता है कि तू अपने संकल्प में इस पत्थर के समान दृढ़ हो, यह तात्पर्य्य है । ईश्वर को पाषाण में आवाहन करने का तात्पर्य्य कदापि नहीं ।

इसी प्रकार वेद के सहस्रों मन्त्र आजकल मूर्तिपूजा की सिद्धि में लगाये जाते हैं, उनमें से कतिपय मन्त्रों की प्रतीकें देकर यहां दिक्प्रदर्शन किया जाता है कि उनका आशय मूर्तिपूजन में नहीं, जैसा कि **'दृतेदृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'** यजु० ३६।१८ **'दृते दृँह मा ज्योक्तेः संदृशि जीव्यासम्'** यजु० ३६।१९ **'पावको अस्मभ्यं शिवोभव'** यजु० ३६।२० **'अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवेदिवे'** ऋग्० १।१।३ **'चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत'** यजु० ३१।१२ इत्यादि प्रमाण देकर कई एक लोग मूर्तिपूजा सिद्ध करते हुए यह युक्ति देते हैं कि उक्त प्रमाणों में परमात्मा के मन तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का वर्णन स्पष्ट पाये जाने से वह मूर्त्तिमान् है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त मन्त्र में मन के अर्थ भौतिक मन के नहीं, किन्तु परमात्मा के मननरूप सामर्थ्य के हैं । **'मन्यते ज्ञायते अनेनेति मनः'**= जिस सामर्थ्य से मनन किया जाय अथवा जानाजाय उसका नाम **'मन'** है, या यों कहो कि यहां परमात्मा के आत्मभूतसामर्थ्य को मन कहा है, एवं **'चष्टे चक्षते येन तच्चक्षुः'**=जिससे किसी पदार्थ का कथन वा प्रकाश किया जाय, उसका नाम **'चक्षु'** है अर्थात् परमात्मा के प्रकाशरूप सामर्थ्य को यहां चक्षुरूप से वर्णन किया है, जिसका अर्थ यह हुआ कि उसके प्रकाशरूप सामर्थ्य से सूर्य्य, और मननरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा, उत्पन्न हुआ । यदि वादी हठ से मन आदिकों को आकार वाले अवयव मानें तो **'मुखादग्निरजायत'** मुख से अग्नि उत्पन्न हुई, और **'तदेवाग्निस्तदादित्यः'** अग्नि उसका स्वरूप तथा वही सूर्य्य है, यहां अग्नि को ब्रह्म का स्वरूप कथन करने से परस्पर विरोध स्पष्ट है, इससे सिद्ध है कि मुखादिक अवयव नहीं, किन्तु ब्रह्म की आत्मभूत सामर्थ्य के नाम हैं । इसी प्रकार **'दृतेदृँह'** इस मन्त्र में ईश्वर से दृढ़ता की प्रार्थना की गई है, कि हे जगदीश्वर ! आप हम में दृढ़ता प्रदान करें ताकि हम सबको मित्रता की दृष्टि से देखें, यहां 'दृति' के अर्थ अज्ञान विदारक परमात्मा के हैं, किसी मूर्त्तपदार्थ के नहीं, जो लोग इसके अर्थ महावीर की मूर्ति के करते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि वीररस प्रधान योद्धा पुरुष से मैत्री की प्रार्थना का क्या काम ? यह तो ऐसा ही असंगत है जैसे कोई विवाह में अन्त्येष्टि को कर्माङ्ग बनाकर

कीर्तन करे। दूसरी बात यह है कि इस मन्त्र से प्रथम शान्ति की प्रार्थना आ चुकी है इससे भी सिद्ध है कि यह शम विधि का प्रकरण है मूर्तिपूजा वा युद्ध का नहीं। इस प्रकार **'पावकोअस्मभ्य ॐ शिवोभव'** **यजु०** ३६।१० यहां भी **'पुनातीति पावकः'**=जो पवित्र करे उसका नाम **'पावक'** परमात्मा है, परन्तु आधुनिक कोष वा टीकाकारों ने इसके मुख्यार्थ को न समझ कर यहां अग्नि के ही अर्थ किये हैं, इसी प्रकार वैश्वानर के अर्थ भी भौतिकाग्नि ही कर दिये हैं वास्तव में **'विश्वेषां सर्वेषां नरः स्वामीति वैश्वानरः'** जो सम्पूर्ण विश्व का स्वामी हो उसको **'वैश्वानर'** कहते हैं। और **'नयतीति नरः'** जो सबको नियम में चलावे उसका नाम **'नर'** है, यहां परमात्म विषयक उच्च अर्थों को छोड़-कर अग्नि अर्थ करना सर्वथा असंगत है, इसी प्रकार शतपथ में भी **'एषोग्निर्वैश्वा-नरः' श.** १०।६।१=सर्वोपरि परमात्मा का नाम **'वैश्वानर'** है, यही अर्थ किये हैं। और इसी अभिप्राय से महर्षि व्यास ने भी कहा है कि **'वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात्' ब्र. सू.** १।२।२४=परमात्मवाची शब्द पाये जाने से वैश्वानर परमात्मा का नाम है। और **'वैश्वानरंकेतुमन्हामकृण्वन्' ऋग्.** ८।४।१२=इस मन्त्र में भी वैश्वानर परमात्मा का नाम आया है, इत्यादि नाम जो मुख्यतया परमात्मा का बोधन कराने वाले थे उनको आधुनिक कोष वा टीकाकारों ने गिराकर केवल भौतिकाग्नि आदि पदार्थों के बोधक रख दिया है जो सर्वथा असंगत है। और इसका फल यह हुआ कि **'अग्निनारयिमश्नवत्' ऋग्.** १।१।३ इत्यादि मन्त्रों में लोगों को यह भ्रान्ति होने लगी कि यहां अग्नि नाम केवल भौतिकाग्नि का ही है, ईश्वर का नहीं, **'अङ्गति गच्छतीत्यग्निः'** जो सर्वत्र गतिशील हो उसका नाम **'अग्नि'** है, क्या कोई कह सकता है कि भौतिकाग्नि सर्वत्र गतिशील है, हां यत्किञ्चित् गति देखकर इसका भी नाम अग्नि पड़ गया, परन्तु मुख्य नाम परमात्मा का ही है। इसी अभिप्राय से निरुक्तकार लिखते हैं कि **'अग्निः कस्मादग्रणी' निरु.** ७।१४।१४ **अग्रणी**=मुख्य होने से अग्नि नाम परमात्मा का है, प्रकृत यह है कि पूर्वोक्तप्रतीक जिनको वादीलोग मूर्तिपूजा की सिद्धि में देते हैं उनमें कहीं भी मूर्ति का नाम नहीं। और नाही कहीं मूर्ति शब्द ही वेद में आया है जैसा कि हम पूर्व लिख आये हैं। यहां यह दिखलाना शेष है कि मूर्तिपूजा को सिद्ध करने वाला वेद में कोई मन्त्र नहीं और जो, **'प्रजापतिश्चरति गर्भे'** यजु. ३१।१९ **'इन्द्र स्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता' ऋग्०** ४।७।३१।८। **'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिराषड्-भिर्हूयमानः' ऋग्०** २।६।२२।४ **'नमो हिरण्य बाहवे' यजु०** १६।१७ इत्यादि मन्त्र मूर्तिपूजा की सिद्धि में प्रमाण दिये जाते हैं वे केवल अन्यथा भाष्य करके मूर्तिपूजा के साधक माने गये हैं वास्तव में नहीं, वह इस प्रकार कि **'प्रजापति'** इस मन्त्र के अर्थों में जो ईश्वर का गर्भवास में आना कथन किया गया है वह सर्वथा असंगत है, क्योंकि इससे प्रथम **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** यह मन्त्र है जिसके अर्थ से स्पष्ट सिद्ध है कि जिसके ज्ञान द्वारा पुरुष मृत्यु को उल्लङ्घन कर जाता अर्थात् जन्म मरणादि दुःखों से रहित हो जाता है वह परमात्मा है, इसी प्रसङ्ग में यह प्रतिपादन

किया है कि जिसके ज्ञान से मृत्यु का दुःख मिट जाता है वह परमात्मा कहां है ? इस प्रश्न का उत्तर **'प्रजापतिश्चरतिगर्भे'** इस मन्त्र में दिया गया है कि वह प्रजापति परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण अर्थात् प्रत्येक पदार्थ के भीतर विद्यमान है **'गर्भे'** शब्द के अर्थ यहां हिरण्यगर्भ के समान सब के भीतर स्थित के हैं। इसी अभिप्राय से **'अन्तरजायमानः'** कथन किया है कि वह सब पदार्थों के भीतर रहकर भी उत्पन्न न होता हुआ विविध प्रकार से प्रकाशमान हो रहा है, जिसके **'योनिं'**=कारणत्वधर्म को **'धीरा'**=विज्ञानी लोग ही समझते हैं अन्य नहीं।

जो लोग उक्त मन्त्र में **'योनि'** शब्द के अर्थ जन्म के करते हैं, वे शास्त्र की अर्थ शैली से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, क्योंकि यहां योनि नाम कारण का है, जैसा कि **'योनिष्टे इन्द्र निषदे अकारि' ऋग्० १।७।१८।१** इस मन्त्र में **'योनि'** शब्द कारण का बोधक है, इसी प्रकार **'योनिश्चेह गीयते' ब्र० सू. १।४।२७** इस सूत्र में वर्णन किया है कि ब्रह्म इस संसार की योनि=कारण है, फिर उक्त मन्त्र से ईश्वर का जन्म सिद्ध करना सर्वथा असङ्गत है। अस्तु, इसका विशेष विचार ईश्वर जन्म=अवतारविषय में करेंगे, यहां यह दिखलाना आवश्यक है कि उपर्युक्त मन्त्र साकार का प्रतिपादक नहीं, किन्तु निराकार का वर्णन करता है, जैसा कि **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' यजु. १३।४** इस मन्त्र में प्रतिपादन किया है कि **'हिरण्य'** सूर्यादिज्योति जिसके **'गर्भ'** आभ्यन्तर हों उसका नाम **'हिरण्यगर्भ'** है, सो सूर्य्य चन्द्रमादि सम्पूर्ण ज्योतियें परमात्मा के स्वरूप में स्थिर होने से एकमात्र वही सबका अधिकरण=आश्रय है, जैसा कि **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' ऋग्. १०।१९०।३** इत्यादि मन्त्रों में धाता=धारण करने वाले परमात्मा को ही सब ज्योतिर्मय पदार्थों का निर्माता कथन किया गया है, इसी प्रकार उक्त मन्त्र में जानना चाहिये। अधिक क्या, यूरोपदेशीय विद्वानों ने भी हिरण्यगर्भ के अर्थ न समझकर मनमाने यह अर्थ किये हैं कि जिसके पेट से सुवर्ण निकले उसका नाम हिरण्यगर्भ है, उन्होंने यह तो निश्चित रीति से समझ लिया कि हिरण्य नाम सुवर्ण का है, परन्तु **'ज्योतिर्वैहिरण्यम्'** इस **(शतपथ)** के प्रमाणानुसार सूर्य्यादि ज्योतिर्मय पदार्थों का नाम **'हिरण्य'** है, यह नहीं समझे अस्तु, विदेशीय विद्वानों की भूल का कारण तो हमारे शास्त्रों का अनभ्यास है परन्तु भारतीय भाई भी **'प्रजापतिश्चरति गर्भे'** का अर्थ ईश्वर का गर्भ में आना करते हैं, जिसका एकमात्र कारण यही है कि वेद के महत्त्व को न समझकर अथवा साकार सिद्धि के प्रवाह में पड़कर विवश हुए उन्होंने ऐसा किया, अन्यथा कब सम्भव था कि **'हिरण्यगर्भ जनयामास पूर्वम्'** जिसने पूर्व ब्रह्मादि देवों को उत्पन्न किया उसी को गर्भवास के दुःख का भागी बनाते ? परन्तु वेद भगवान् जिसको अजर, अमर, तथा अजन्मा कहते हैं उस परमात्मा को गर्भ में वास करने वाला कौन कह सकता है।

और जो वेदमर्मानभिज्ञ कई एक ग्रन्थकारों ने हिरण्यगर्भ ब्रह्मा का नाम लिखा है जिसको अद्वैतवादी अपरब्रह्म भी कहते हैं यह भी ठीक नहीं क्योंकि उस

हिरण्यगर्भ के उत्पन्न करने वाले को उपनिषदों के कर्त्ता ऋषियों ने ईश्वर माना है, और इसी अभिप्राय से वेद में प्रथम यह आशंका करके कि **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** मैं किस देवकी उपासना करूं ? इसका उत्तर मन्त्र के पूर्वार्द्ध में यह दिया है कि **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** = जो स्वयं प्रकाश-स्वरूप, जिसने सूर्य्य चन्द्रमादि ज्योतियों को उत्पन्न किया और जो सम्पूर्ण जगत् का एक ही स्वामी था, उसी की तुम लोग उपासना करो। इस मन्त्र के अर्थ को हम वेद के महत्त्व विषय में प्रकाशित करेंगे। यहां मुख्य प्रसंग यह है कि **'प्रजापतिश्चरतिगर्भे'** इस मन्त्र से मूर्तिपूजन सिद्ध नहीं होता। और दूसरी प्रतीक में जो **'इन्द्र स्थविरस्य बाहू'** कथन किया है इसका तात्पर्य्य यह है कि, हे परमात्मन् ! आपका बाहुबल स्थविरस्य = वृद्ध अथवा निर्बल मनुष्यों के लिये एकमात्र शरण है, यहां केवल **'बाहु'** शब्द से ही मूर्तिपूजा सिद्ध की गई है, इस मन्त्र में अन्य कोई अवलम्ब नहीं परन्तु बाहु के अर्थ यहां बल के और वह बल कई प्रकार का लिया जा सकता है, जैसाकि **'बाहुभ्यां धमति' ऋग्.'** इस मन्त्र में सब टीकाकारों ने उत्पत्ति तथा स्थिति करने का हेतुरूप बल लिया है, और **'बाहु'** शब्द के स्थूल भुजा किसी ने भी अर्थ नहीं किये। एवं यहां भी बाहु के अर्थ शक्ति के हैं स्थूल भुजाओं के नहीं इसका शब्दार्थ भी इस प्रकार है कि **'वहति अनेनेति बाहुः'** = जिसके पदार्था-न्तर में क्रिया उत्पन्न की जाय उस शक्ति का नाम **'बाहु'** है अथवा **'बाधते इति बाहुः'** जो अन्य पदार्थ के मर्दन करने में कर्तृ रूप से कार्य्य करे उसका नाम **'बाहु'** है, अधिक क्या सर्वत्र बाहुके अर्थ बल के प्रसिद्ध हैं, और ईश्वर विषय में तो आध्या-त्मिक शक्ति के अभिप्राय से आता है शारीरिकशक्ति के अभिप्राय से नहीं।

और जो **'आ द्वाभ्यां हरिभ्याम्'** इस प्रतीक द्वारा **'हरि'** शब्द से साकार की सिद्धि की जाती है वह सर्वथा निष्फल है, क्योंकि हरि नाम शक्ति का है, जैसा कि **"युक्ताह्यस्य हरयः शतादश" ऋग्.** ६।४७।१८ इस मन्त्र में यह वर्णन किया गया है कि **'हरयः'** = अनन्तशक्तिसम्पन्न होने से वह परमात्मा सर्वशक्तिमान् है, हरि नाम शक्ति का इस प्रकार है कि **'हरति इति हरिः'** जो प्रतिद्वन्द्वी बलों को हरण करे, या यों कहो कि जो अविद्यादि क्लेशों का हरण करने वाला हो उसका नाम **'हरि'** है, इसी अभिप्राय से सूर्य्य की किरणों का नाम भी हरि है, क्योंकि वे भी अन्धकार का हरण करती हैं। और निरुक्त में **'हरी इन्द्रस्य, रोहितोऽग्नेः निरु. २।२८ 'इन्द्र'** = ईश्वर की शक्ति तथा अग्नि की ज्वाला का नाम **'हरि'** है, क्योंकि अग्नि की ज्वाला अंधकार का हरण करती है।

और चतुर्थ प्रतीक जो मूर्तिपूजा की सिद्धि में यह दी गई है कि **'नमो हिरण्य-बाहवे'** यहां राजधर्म का प्रकरण है अर्थात् **'हिरण्य'** = ज्योतिर्मय विशाल भुजाओं वाले क्षत्रिय सेनाधीश का इस मन्त्र में सत्कार कथन किया गया है, इससे ईश्वर की मूर्ति सिद्ध नहीं हो सकती। और यों तो सम्पूर्ण वेद ही साकार वर्णन से भरा पड़ा है, क्योंकि वेद में इस ब्रह्माण्डगत प्रायः सभी पदार्थों का वर्णन है, इससे मूर्तिपूजा की

सिद्धि का क्या सम्बन्ध ? देखना तो यह है कि जिन मन्त्रों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है उनसे मूर्तिपूजा सिद्ध होती है वा नहीं ? इसलिये हम मुख्यतया **'न तस्य प्रतिमास्ति' यजु**. ३२।३ इत्यादि मन्त्रों में प्रतिपादित ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

कई एक टीकाकार लिखते हैं कि उक्त मन्त्र **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' यजु०** १३।४ **'मामाहिंसी जनिता' यजु**. १२।१०२ **'यस्मान्नजातः" यजु०** ८।३६ इन तीन मन्त्रों का समुच्चय है। प्रथम तो यह बात युक्ति विरुद्ध है कि कोई वेदमन्त्र अन्य मन्त्रों की प्रतीकें = टुकड़े मिलाकर बनाया गया हो, क्योंकि ऐसी रचना तब की जाती है जब उस ग्रन्थ का बनाने वाला समर्थ न होकर अन्य स्थलों की प्रतीकों-द्वारा उन स्थलों के भावों को बोधन करना चाहता हो, जो उन स्थलों में नहीं किये गये परन्तु यह वेद में नहीं हो सकता। क्योंकि वेद परमात्मा की रचना होने से उसमें यह दोष नहीं आ सकता। परमात्मा स्वयं समर्थ है, इसलिए वह अन्य स्थलों की प्रतीकें धरकर रचना नहीं करता, और प्रमाणरूप से प्रतीकों का संग्रह इसलिए नहीं करता कि उसका कथन स्वयं प्रमाणरूप है, फिर अन्य प्रतीकों के प्रमाण देने से क्या तात्पर्य्य ! इसलिए **"न तस्य"** मन्त्र में उक्त तीनों मन्त्रों की प्रतीकें मानना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है, और महीधरादि टीकाकारों ने उक्त मन्त्रों को प्रतीकें लिखा है, वह इसलिए ठीक नहीं कि यदि किसी मन्त्र में किसी वाक्य वा पद के एक जैसा आ जाने से वह अन्य मन्त्र की प्रतीक मानी जाय तो असल मन्त्र कोई भी न रहेगा, सब अन्य स्थलों की प्रतीकें ही माननी पड़ेंगी, इसलिए यह कथन ठीक नहीं।

अब हम इस विचार को छोड़कर मन्त्र के अर्थ पर दृष्टि देते हैं जिसमें यह कथन किया है कि, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा = प्रतिनिधि = प्रतिकृति = मूर्ति नहीं जिसका नाम और बड़ा यश इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है, और हिरण्यगर्भ = सूर्य्यचन्द्रमादि सब ज्योतियें जिसके भीतर हैं, ऐसे सर्वशक्तिमान् परमात्मा से **"मा मा हिंसी"** अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। इस अर्थ को समाप्त करते हुए अंत में परमात्मा के अमूर्त्त होने का यह नियम दिखलाया है कि **"यस्मान्न जात इत्येषः"** जिसलिए वह उत्पन्न नहीं हुआ, और यह नियम सार्वभौम है, अर्थात् यह नियम किसी अवस्था में भी नहीं टूट सकता, क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसी की मूर्ति होती है और जो उत्पन्न नहीं होता वह मूर्तिमान् नहीं, यह नियम जीवात्मा, परमात्मा तथा परमाणु इन तीनों में समान पाया जाता है, जीव उत्पन्न नहीं होता इसलिए अमूर्त्त है, परमाणु उत्पन्न न होने के कारण अमूर्त्त = निराकार हैं, और इसी प्रकार परमात्मा भी निराकार है, जिसमें कोई आकार न हो उसको **"निराकार"** कहते हैं, अतएव परमात्मा में आकार का सर्वथा अभाव होने से उसकी कोई मूर्ति नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से **"न मध्ये परिजग्रभत्" यजु०** ३२।२ इस मन्त्र में यह वर्णन किया है कि उसको ऊपर, नीचे

अथवा मध्य में कोई पकड़ नहीं सकता अर्थात् वह आंखों से देखा नहीं जा सकता, इसी अभिप्राय: से उपनिषत्कार ऋषियों ने यह वर्णन किया है कि **"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा"** मुण्ड० ३।१।८ **"नै व वाचा व मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"** कठ० ६।१२ **"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्"** मुण्ड १।१।६ **"अव्यक्तोऽक्षर:"** गी० ८।२१= जिस परमात्मा को इन्द्रियागोचर कथन किया गया है उसी का **"न तस्य प्रतिमा"** इस मन्त्र में वर्णन है। यदि कोई यह कहे कि यह तो निषेध ही हुआ, तो परमात्मा का स्वरूप निषेध=अभाव रूप है? इसका उत्तर यह है कि जब उपर्युक्त मन्त्र में उस परमात्मा को सूर्यादि ज्योतियों का नियन्ता माना गया है, और जिसका यश सम्पूर्ण संसार में फैल रहा है वह अभावरूप कैसे हो सकता है, उसमें केवल प्राकृत-धर्मों का अभाव कथन किया है, जैसा कि **"तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास"** ऋग्० ८।७।१७।२ **"पुरुषान्न परं किंचित्"** कठ० ३।११ **"यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित्"** श्वेता० ३।९ **"न तस्य कश्चित् पतिरस्तिलोके"** श्वेता० ६।९ इत्यादि अनेक स्थलों में विशेषरूप से वर्णन किया है कि उससे बड़ा कोई नहीं, न उससे भिन्न इस ब्रह्माण्ड का कोई पति है। कहां तक कहें उसके महत्त्व को **"परो दिवा पर एता पृथिव्या"** ऋग्० ८।३।१७।५। **"एतावानस्य महिमा अतो जायांश्च पूरुष:"** ऋग्० ८।४।१७।३। **"ज्यायान् दिवो ज्यायानाकाशात्"** शत० १०।६।३।२ **"स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु"** यजु० ३२।८ **"नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्"** मुण्ड० १।१।६। **तदन्तरस्य "सर्वस्यतदुसर्वस्यास्यबाह्यतः"** यजु० ४०।५ **"सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरेसर्पिरिवार्पितम्"** श्वेता० १।१६ **"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"** श्वे० ३।९ इत्यादि वेदोपनिषद् वाक्यों द्वारा सहस्रों स्थानों में परमात्मा के विशाल भावों का विशद-रूप से वर्णन किया गया है। यही नहीं किन्तु **"अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्"** ऋग्० ८।१।५।१ **"अहं दधामि द्रविणं हविष्मते"** ऋग्० ८।७।१२।२ इत्यादि वेद मन्त्रों में परमात्मा स्वयं कथन करते हैं कि मैं ही कर्मानुसार सबको भोग देता और मैं ही ऐश्वर्य्यादि पदार्थों का विभाग करता हूँ, इस प्रकार जो सबका अधिष्ठाता, सर्वनिर्माता तथा सर्वस्वामी परमात्मा है जिसको वेद **"युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा"** ऋग्० ४।४।२५ इत्यादि मन्त्रों में एक मात्र उपास्य कथन करता और जिसको उपनिषदों के ज्ञानप्रधान वाक्य **"एकधैवानुद्रष्टव्यम्"** बृह० ४।४।२० **"एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः"** श्वेता० ६।११ एकरस, निर्विकार वर्णन करते हैं वह सदैव अजन्मा है ।।

कई एक लोगों का यह कथन है कि परमात्मा सर्वव्यापक होने के कारण प्रत्येक पदार्थ के रूप को प्राप्त हो जाता है, और इसी का नाम अवतार है जैसा कि **"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"** ऋग्० ६।४७।१८ **"प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः"** ऋग्० १।१५४।२ **"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्"** सा० उत्तरा० १८।२।१ **"ब्राह्मणो जज्ञे दशशीर्षो दशास्यः"** अथर्व० ४।६।२ **भद्रोभद्रयासचमान आगात्"** साम० उत्त० १५।२।४ इत्यादि प्रमाणों से अवतारवाद की सिद्धि स्पष्ट पाई जाती है?

इसका उत्तर यह है कि **"रूपं रूपं प्रति"** यह मन्त्र जो अवतारवाद की सिद्धि में दिया गया है सो ठीक नहीं, क्योंकि यह मन्त्र ईश्वर की सर्वव्यापकता सिद्ध करता है कि ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि **"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव"** कठ० ५।१० = यथा = जैसे एकही वायु लोकलोकान्तरों में प्रविष्ट हुआ रूप-२ में तदाकार हो जाता है इसी प्रकार **"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"** कठ० ५।१० = सबभूतों का अंतर्यामी एक परमात्मा रूप रूप प्रति तदाकार प्रतीत होता है और उनके बाहर भी है। यहां प्रतिरूप के अर्थ अनुगत भाव के हैं, अर्थात् परमात्मा सब पदार्थों में एकरस व्यापक है, इसी भाव का वर्णन उक्त मन्त्र में किया गया है, अवतारवाद का इसमें गन्ध भी नहीं। इसी अभिप्राय से **"युक्ताह्यस्य हरयः शतादश"** ऋग्० इस मन्त्र में वर्णन किया है कि वह परमात्मा अनन्तशक्तिसम्पन्न होने के कारण सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, फिर उसका विशेषरूप से उतरकर अवतार धारण करना युक्तियुक्त नहीं।

और जो **"मृगो न भीमः"** इस मन्त्र से विष्णु = व्यापक ईश्वर का अवतार सिद्ध किया जाता है, यह कथन भी वैदिकसिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि इस मन्त्र में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का गमनागमन एकमात्र विष्णुरूप परमात्मा के अधीन वर्णन किया है, जैसाकि **"विष्णु"** शब्द की व्युत्पत्ति से भी स्पष्ट है कि **"व्याप्नोति चराचरं यः स विष्णुः"** = जो चराचर में व्यापक हो उसका नाम **"विष्णु"** है, भला इस मन्त्र में अवतार का क्या प्रकरण ?

और जो **"इदं विष्णुर्विचक्रमे"** इस मन्त्र से अवतारवाद सिद्ध किया जाता है सो भी ठीक नहीं, यों तो इस मन्त्र को किसी ने सूर्य्य के वर्णन में लगाया है और किसी ने निराकार ईश्वर के अवतार धारण करने में लगाया है पर यह मन्त्र वास्तव में निराकार ईश्वर के महत्त्व को वर्णन करता है, वह इस प्रकार कि इस मन्त्र के पूर्व की ऋचा में यह लिखा है कि **"पृथिव्याः सप्त धामभिः"** मं० १।५।२२। = पृथिव्यादि लोकलोकान्तरों में परमात्मा हमारी रक्षा करे, जब इस मन्त्र में परमात्मा का वर्णन है तो फिर इससे अवतार सिद्ध करना सर्वथा भूल है।

इस मन्त्र से केवल सायणाचार्य्य ही अवतारवाद निकालते हैं जैसा कि उन्होंने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है कि **"विष्णुस्त्रिविक्रमावतारधारी"** जिसने त्रिविक्रमावतार धारण किया उसका नाम **"विष्णु"** है, उक्त मन्त्र से यह अर्थ निकालना वेद के आशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जब वेद में **"अवतार"** शब्द ही नहीं तो फिर अवतारवाद निकालना सर्वथा खैंच करना है, इसी अभिप्राय को लेकर सत्यव्रतसामाश्रमी अपने बनाये हुए ऐतरेयालोचन में लिखते हैं कि **"वेदे अवतारशब्दस्याप्यदर्शनात्"** वेद के अवतारवाद की तो कथा ही क्या **"अवतार"** शब्द भी नहीं पाया जाता। अस्तु, मुख्य प्रसंग यह है कि इस सम्पूर्ण सूक्त में **"विष्णु"** व्यापक परमात्मा का वर्णन है अवतार का नहीं, और जो इस मन्त्र के **"पद"** शब्द पर यह बल दिया जाता है कि इसमें पादविन्यास = तीन प्रकार से पैर

रखने का वर्णन है ? इसका उत्तर यह है कि **"पद्यत इति पदम्"** = जो प्राप्त हो उसका नाम **"पद"** है, सो परमात्मा को यह प्रकृति सदैव प्राप्त होने से यहाँ प्रकृति का नाम ही पद है। और उसको परमात्मा ने द्युलोक, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष, इन तीन प्रकार से रक्खा अर्थात् तीन विभागों में विभक्त किया, यह आशय है। तीन प्रकार से पाँव धरने का वर्णन नहीं। इस मन्त्र से निरुक्तकार ने भी अवतारवाद नहीं निकाला किन्तु यह लिखा है कि **"विष्णुर्विशतेर्वाव्यश्नुतेर्वा"** निरु० १२।१९ जो सर्वव्यापक हो अथवा सबको स्वाधीन रखे उसका नाम **"विष्णु"** है, अर्थात् विष्णु के अर्थ सर्वव्यापक किये हैं अवतार नहीं। यद्यपि सायणाचार्य्य ने इस मन्त्र से अवतारवाद सिद्ध किया है परन्तु वह भी इस निरुक्त के प्रमाण से स्वयं अवतारवाद का खण्डन करते हैं। अधिक क्या यह अवतारवाद बहुत नूतन समय का है, वेद में इसका बीज मिलना असंभव है क्योंकि प्राचीन काल में कोई आचार्य्य वेदों से अवतारवाद सिद्ध नहीं करता था, केवल सायणाचार्य्य ने पौराणिक विष्णु को लक्ष्य रखकर इस मन्त्र की व्याख्या की है जो सर्वथा असङ्गत है।

और जो कई एक टीकाकर **'भद्रो भद्रया सचमानः'** इस मन्त्र में आये हुए **'राममस्थात्'** पद से रामावतार सिद्ध करते हैं उनकी यह कल्पना सायणाचार्य्य से भी अर्वाचीन काल की है, क्योंकि सायणाचार्य्य ने **'राम'** शब्द का अर्थ रात्रि का अन्धकार किया है, और **'भद्र'** शब्द से यज्ञकुण्ड की अग्नि का ग्रहण करके यह लिखा है कि **'रामंकृष्णंशार्वरं तमः अभ्यस्थात् सायं होमकाले अभिभूय तिष्ठति'** = सायंकाल की होमाग्नि राम = रात्रि के अन्धकार को तिरस्कृत करके स्थिर होती है; इससे सिद्ध है कि यहाँ **'राम'** शब्द से रामावतार का ग्रहण नहीं॥

वैदिक सिद्धान्त के अनुसन्धान करने से ज्ञात होता है कि जो वेद में राम तथा कृष्णादि शब्द आते हैं उनसे वैदिक समय में अवतारवाद सिद्ध नहीं किया जाता था; किन्तु वे अन्धकार वा कालेपन के बोधक होते थे किसी अन्य पदार्थ के नहीं, और इसीलिए उनका उल्लेख भी वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता, और ना ही किसी ब्राह्मण ग्रन्थ में पाया जाता है, किन्तु अमरकोषादि आधुनिक ग्रन्थों में इनकी निरुक्ति पाई जाती है। अधिक क्या इन शब्दों से अवतारवाद निकालना सर्वथा भूल है; और वैदिक सिद्धान्त से विरुद्ध होने के कारण ग्राह्य नहीं।

और जो **'ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षः' अथर्व०** ४।६।२।१ इस मन्त्र से पूर्ण ब्रह्म का अवतार सिद्ध किया जाता है वह भी अर्थाभास के आधार पर है वास्तव में नहीं, क्योंकि यह मन्त्र अलङ्कार से **'ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत्' यजु०** ३१।११ इस मन्त्र के समान विद्वान् ब्राह्मण को दशानन वा दश शिरों वाला कथन करता है किसी अवतार विशेष को नहीं। अन्य युक्ति यह है कि वेद में जहाँ-जहाँ सहस्र शब्द पुरुष वा किसी अलङ्कार विशेष के लिए आता है वहाँ सर्वत्र असंख्यात के अर्थ देता है, जैसाकि **'सहस्रशीर्षा पुरुषः' यजु०** ३१।१ **'सहस्रशृङ्गोवृषभः' ऋग्० मं०** ७।५५।७ **'युक्ताह्यस्य हरयो शतादश' ऋग्०** ४।७।३३।१८ इत्यादि मन्त्रों में सहस्र के अर्थ जब

शक्तियों का वर्णन करते हैं तो फिर **'दशशीर्षोदशास्यः'** इस मन्त्र में शक्ति के अर्थ क्यों न लिए जायँ ? इस प्रकार मीमांसा करने से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म वा ब्राह्मण यहाँ कोई व्यक्ति विशेष पुरुष अथवा अवतार नहीं किन्तु इस मन्त्र में सर्व-शक्ति सम्पन्न परमात्मा का वर्णन किया गया है ।।

और जिन लोगों ने उक्त मन्त्र के ये अर्थ किये हैं कि प्रथम एक व्यक्ति विशेष ब्राह्मण उत्पन्न हुआ उसने विषको नीरस उत्पन्न किया, यह भाव प्रकृति नियम से विरुद्ध है, क्योंकि सब विष, रसरहित नहीं, और नाही किसी ऐसे ब्राह्मण का सद्भाव माना गया है, जिसने सबसे प्रथम सोम को पीकर विष को रसरहित किया हो, किन्तु यहाँ ब्राह्मण से तात्पर्य्य ब्रह्म का है, क्योंकि **'ब्रह्म एव ब्राह्मणः'** यहाँ स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने से ब्रह्म के अर्थ में ही ब्राह्मण शब्द आया है किसी पुरुष विशेष के लिए नहीं ।

और **'जज्ञे'** शब्द का प्रयोग **'सजातो स जनिष्यमाणः' यजु०** ३२।४ के समान यहाँ जनि धातु का प्रयोग उपचार से है, मुख्य नहीं । इसी प्रकार **'कृष्णंतएमरुशतः' ऋग्.** ४।७।१ **'वराहेण पृथिवी संविदाना' अथर्व.** १२।१।३ **'मृगो न भीमः'** १।१५४।४ इन मंत्रों से कृष्णावतार, वराहावतार तथा नृसिंहावतार सिद्ध किये जाते हैं, सो ठीक नहीं, क्योंकि **'कृष्णंतएम'** इस मन्त्र में यज्ञमण्डप को हवन की ज्वालाओं से स्वभा-वोक्ति अलंकार द्वारा कालेपन से विभूषित कथन किया गया है, और **'वराह'** शब्द के अर्थ निरुक्त में मेघ के किये हैं, जैसा कि **'वराहो मेघो भवति' निरु०** ५।४।२१= वराह मेघ हैं, इसी अभिप्राय से **'पदावराहो अभ्येति रेभन्' ऋग्०** ७।४।१२ इस मन्त्र में यह कथन किया है कि वराह=मेघ शब्द करता हुआ अपने पदों का विन्यास करता है, इसी प्रकार वराह, कृष्ण, तथा नृसिंहादि नाम वैदिक समय में अवतारों के न थे । इसी भाव को निम्नलिखित मन्त्र में यों वर्णन किया है कि **"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्या-दिद्घृतेन पृथिवी व्युद्यते' ऋग्०** १।१६५।४७=जब कृष्ण=काले वर्ण के मेघ पर सूर्य्य की किरणें पड़ती हैं, तब पृथिवी जल से पूर्ण हो जाती है, इस मन्त्र में वृष्टिविद्या का वर्णन है, जैसा कि **'आदित्याज्जायते वृष्टिः' मनु०** इस श्लोक में भी वर्णन किया है कि आदित्य से वृष्टि होती है, और निरुक्तकार ने भी उक्त मन्त्र को उद्धृत करके कृष्ण शब्द के अर्थ मेघ ही किये हैं । अधिक क्या ? ऋग्वेद में जहाँ-जहाँ कृष्ण शब्द आया है वहाँ सर्वत्र कालेवर्ण के अभिप्राय से आया है, कृष्णावतार के लिए नहीं ।

इसी प्रकार यजु, साम, तथा अथर्व, वेद में भी **'कृष्ण'** शब्द काले वर्ण के लिए ही आया है, जैसा कि **'कृष्णग्रीवा अग्ने' यजु०** २४।१४ **'कृष्णोऽस्याखरे' यजु०** २।२ **'कृष्णां यदेनीम्' साम०** ३।७।२ **'कृष्णं नियानं हर' अथर्व०** १३।३।२ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है । अधिक क्या, वेद के किसी स्थल में भी **'कृष्ण'** शब्द ईश्वर के अवतार का बोधक नहीं और नाहीं सायणादि भाष्यकारों ने इसके अर्थ ईश्वरावतार के किये हैं । और यही व्यवस्था राम, परशुराम तथा नृसिंहादि नामों की जाननी

चाहिए। ये नाम भी वेद में ईश्वरावतारविषय में कहीं नहीं आये, फिर कृष्णादि अवतारों को वैदिक मानना सर्वथा भूल है। हाँ सायणाचार्य्य ने केवल **'विष्णु'** शब्द के अर्थ एक दो स्थलों में वामनावतार के किये हैं; सो वह पौराणिक भाव है जिसको हम पीछे भले प्रकार स्पष्ट कर आये हैं, अन्य किसी भाष्यकार ने वेदों में अवतार वाद की चर्चा नहीं की। और जो यह कहा जाता है कि **'हंसः शुचिषत्' यजु० १०।२४** इस मन्त्र में मत्स्य, कूर्मादि अवतारों की सिद्धि स्पष्ट है, क्योंकि इसमें **'अब्जा'** पद पड़ा है जिसके अर्थ जल में उत्पन्न होने वाले के हैं? इसका उत्तर यह है कि इस मन्त्र में उक्त अवतारों का गन्ध भी नहीं, किन्तु इसमें परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन किये जाने से जल स्थलादि सब स्थानों के नाम आये हैं, अर्थात् **'अब्जा'** पद का अर्थ जल में व्यापक परमात्मा के हैं, मत्स्यादिकों की उत्पत्ति के नहीं। महीधर ने इस मन्त्र को सूर्य्य के वर्णन में लगाया है, क्योंकि इसका देवता सूर्य्य है, और **ऋग्० ४।४१** में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए सायणाचार्य्य ने भी इससे सूर्य्यदेवता का वर्णन किया है। स्वा० शङ्कराचार्य्यजी **कठ० ५।२** के भाष्य में इससे सर्वव्यापक ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। और महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने इस मन्त्र के भाष्य में सर्वव्यापक परमात्मा का ऐश्वर्य्य वर्णन किया है, अर्थात् जो सब पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का कर्त्ता पवित्रापवित्र सब पदार्थों में एकरस तथा व्योमवत् सर्वत्र परिपूर्ण और जो जल स्थल सबमें व्यापक हो वह परमात्मा है। और परमात्मा का नाम हंस प्रकार है कि **'हन्तीति हंसः'** जो अविद्या का हनन करे उसका नाम **'हंस'** है। और आगे जाकर अन्तरिक्षादि सब स्थलों में उसकी सर्वव्यापकता सिद्ध की है, जिससे स्पष्ट सिद्ध है कि पूर्वोक्त मन्त्र परमात्मा के महत्त्व को वर्णन करता है, जल जीवों को अवतार सिद्ध नहीं करता। कहाँ तक लिखें इन नाना देववादी तथा अवतारवादियों ने ऐसे-ऐसे उच्चादर्श वाले मन्त्रों को भी उच्च भाव से गिराकर जल जन्तुओं के बोधक बना दिया है। और—

कालिको नामसर्पः नवनागसहस्रबलः।
यमुनाह्रदेहसो जातो यो नारायणवाहनः॥

ऐसे कपोल कल्पित श्लोकों को **'ऋक्परिशिष्ट'** कहकर ऋग्वेद में सम्मिलित करने का यत्न किया है। जिससे अर्थ ये हैं कि काली नामक नाग जो नव सहस्र हाथियों का बल वाला था वह यमुना के कुण्ड में **'नारायणवाहनः'** नारायण = कृष्ण का वाहन हुआ। जो भाव संहिता में नहीं उसको वेद वचन बनाने का परिशिष्ट-वादियों ने अच्छा उपाय सोचा है कि अपनी मन घड़न्त बनाकर उसका नाम वेद का परिशिष्ट रख दिया जाय। भला इस परिशिष्ट का उच्चादर्श वाले वेद से क्या सम्बन्ध? इसका विशेष विचार वेदपुनरुक्तिउद्धार विषय में करेंगे, यहाँ प्रकृत यह है कि अवतारवादियों ने कृष्ण का उक्त नाग को नाथना तथा मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, वामन, राम और परशुराम आदि अवतारों को वेद मूलक सिद्ध करने की अत्यन्त चेष्टा की है, परन्तु वेद में ईश्वर विषय में इनका नाम तक नहीं मिलता,

अवतार होने की तो कथा ही क्या । इससे सिद्ध है कि अवतारवाद इनका मनमाना सिद्धान्त है वेदमूलक नहीं ।

जिस प्रकार अवतारवाद वेद मूलक नहीं इसी प्रकार मृतकश्राद्धवाद का भी वेद में नाम तक नहीं, केवल पितृ वा यम आदि शब्द वेद में आ जाने से यह लोग मृतकश्राद्ध की सिद्धि करते हैं, अब यह विवेचन करना है कि **'पितर'** शब्द से क्या तात्पर्य्य ? अर्थात् **'पितर'** शब्द से जीवित मातापितादि का ग्रहण करना उचित है वा मृतकों का ? हमारे विचार में **'पितर'** शब्द जीवित मातापितादि के लिए प्रयुक्त होता है मृतकों के लिए नहीं, जैसाकि **ऋतज्ञास्तेनोऽवन्तु पितरो हवेषु' ऋग्० म० १०।१५।१ इदंपितृभ्यो नमोऽस्त्वद्यये पूर्वासो य उ परास ईयुः' ऋग्० १०।१५।२ 'उपहूता पितरः सोम्यासः' ऋग्० १०।१५।५ 'पितृभिः संविदानः' ऋग्० १०।१४।४ दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः' अथर्व० ३।२७।९ 'द्वेसृती अश्रृण्वं पितृणामहं देवानां मर्त्यानाम्' यजु० १९।४७ 'पितृणामहं देवानामुत-मर्त्यानाम्' ऋग्० १०।८८।१५** इत्यादि मन्त्रों में **'पितर'** शब्द मृतकों के अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ किन्तु कहीं ईश्वर, कहीं विद्वान्, कहीं सोम्यस्वभाव वाले ऋत्विक् और कहीं यजमानों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो लोग उक्त मन्त्रों में आये हुए **'पितृ'** शब्द के अर्थ मृतपितरों के करते हैं वे वेदाशय से सर्वथा अनभिज्ञ हैं ।

और जो **'द्वेसृती अशृण्वं पितृणाम्' ऋग्० ८।४।१२।१५** इस मन्त्र के यह अर्थ करते हैं कि मनुष्यों में ज्ञानी तथा कर्मी दो प्रकार की गतियें हैं उनमें से पितरशब्द कर्मियों के ही लिये आता है ज्ञानियों के लिये नहीं, उनका यह कथन सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि मन्त्र में प्रथम पितृणां देवानां कहकर फिर मर्त्यानां कथन किया है, जिससे स्पष्ट है कि पितृणां के अर्थ यहां विद्वानों के हैं, अर्थात् एक साधारण संसारी लोगों का और दूसरा ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का मार्ग है, या यों कहो कि एक देवयान और दूसरा पितृयान = पिता पितामह का मार्ग है जिसमें चलकर यशलाभ होता है, इससे सिद्ध है कि **'पितृ'** शब्द यहां मृतक के अर्थों में नहीं आया किन्तु दोनों प्रकार के जीवित मनुष्यों के लिये आया है, यह बात सर्वथा निर्विवाद है, फिर कैसे कहा जाता है कि पितरशब्द मृतक के लिये ही आता है और जो **'दक्षिणादिगिन्द्रोऽधिपति'** इस मन्त्र से परमात्मा को अधिपति मानकर ज्ञानी लोगों को इषुओं के समान मानते हैं उनके मत में पितर शब्द मृतक का वाचक कैसे हो सकता है ? अधिक क्या **'पितर'** शब्द को मृतक का वाचक मानना ऐसा ही असङ्गत है, जैसे **'काली कराली च मनोजवा च' मुण्डक० १।२।४** इस वाक्य से काली देवी की पूजा सिद्ध करते हैं उन बुद्धिमानों को यह तो सोचना चाहिये कि इस उपनिषद्वाक्य से पूर्व जब दर्शपौर्ण-मासादि यज्ञों का वर्णन है तो फिर यहां काली देवी का क्या प्रकरण ? यहां काली, कराली के अर्थ अग्नि की ज्वालाओं के हैं, जो अपने करालरूप से अविद्या राक्षसी का भक्षण करती हैं, वा यों कहो कि नाना प्रकार की अशुद्धियें तथा विषैले कीटों को भक्षण करती हैं, इस आशय को न समझकर जैसे हवन की ज्वालाओं को काली बना लिया इसी प्रकार वेदाशय को न समझकर विज्ञानी तथा सर्वरक्षक पितरों को

मृतपितर मान लिया, जो सर्वथा असंगत है, और **'प्रेहि प्रेहि पथिभिः' ऋग्० १०।१४।७** इस वाक्य से मृतपितरों का बुलाना मुख्य रखकर **'स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम्'** इस वाक्य के ये अर्थ किये हैं कि स्वधा=मृतकों का अन्न खाते हुए यमपुरी में यमदेव तथा वरुण देव को देखो, यहाँ इतना भी नहीं सोचा कि मृतकों का अन्न जीवितों से पृथक् नहीं होता, यदि ऐसा ही माना जाय कि मृतकों का अन्न वास्तव में पृथक् ही होता है तो आधुनिक श्राद्धवादी यहां के अन्न से मृत-पितरों के निमित्त भोजन क्यों कराते हैं ? इस तर्क को छोड़कर **'स्वधयातदेकम्' ऋग्० ८।७।१७** इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है कि **'स्वधा'** शब्द से साधारण अन्न का ग्रहण है, कई स्थलों में अमृत का ग्रहण है और कहीं प्रकृति का नाम भी स्वधा है परन्तु मृतकों के अन्न का नाम कहीं भी स्वधा नहीं, केवल आधुनिक कोषों के कर्त्ताओं ने मृतक श्राद्धों में उक्त शब्द का प्रयोग देखकर मृत अन्न का नाम स्वधा रख दिया, परन्तु प्रश्न करने पर कोई भी यह नहीं बतला सकता कि वह मृतकों का परम प्रिय अन्न कौनसा है, जिसका नाम स्वधा है। अस्तु, मुख्य प्रसंग यह है कि **'प्रेहि प्रेहि पथिभिः' ऋग्० १०।१४।७** इस मन्त्र में जीवित पितरों को बुलाया जाता है, अथवा मृतकों को ? यदि यह कहा जाय कि मृतकों को बुलाया जाता है तो **'अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः' ऋग्० १०।१।१४।६** इस मन्त्र में यह क्यों कथन किया गया है कि **(अंगिरस)** प्राणविद्या=योग विद्या जानने वाले **(नवग्वा)** नूतन भावों वाले अर्थात् सदैव उत्साही **(अथर्वाणः)** ज्ञानी अथवा अथर्ववेद वेत्ता **(भृगवः)** परिपक्वबुद्धि वाले **(सोम्यासः)** सौम्यस्वभाव सम्पन्न **(नः)** अपने **(पितरः)** पितरों की सुमति में हम लोग चलें, क्या कोई कह सकता है कि यहां **'पितर'** शब्द के अर्थ मृत पितादि के हैं, कदापि नहीं, क्योंकि इस मन्त्र के अर्थ करते हुए सायणाचार्य्य ने भी **'नवग्वाः'** के अर्थ नवीन पितर और **'सोम्यास'** के अर्थ सोमपान करने योग्य पितरों के किये हैं, इससे सिद्ध है कि यहां जीवित पितरों का ग्रहण है मृतकों का नहीं, क्योंकि सोमपान करने योग्य जीवित पितर ही होते हैं मृतक नहीं।

जब हम इस मन्त्र के अर्थों पर दृष्टि डालकर मृतकश्राद्धप्रिय लोगों के साहस की ओर देखते हैं तो सहसा कहना पड़ता है कि मृतकश्राद्ध के विषय में आजकल भयंकर अनर्थ हो रहा है, साक्षर हो अथवा निरक्षर, जो उठता है वह मृतक श्राद्ध पर कोई न कोई नूतन सन्दर्भ रचना कर ही डालता है, और उसको पितरों के अर्थ मृतकपितर तथा यम के अर्थ मृतपुरी का राजा ही सूझता है, अधिक क्या वैदिक पितृसूक्तों को लेकर अर्थों के अनर्थ करके इस जीते जागते भारत को मृतप्राय बना देने की चेष्टा की जाती है, अन्यथा कब सम्भव था कि भारतवासी जीवित पितरों को छोड़कर अपने भविष्य को केवल मुर्दों के अर्पण करते। जबकि परमात्मा ने अपनी परमकरुणा से केवल यह उपदेश किया है कि हे मनुष्यो! तुम अपने ब्रह्मज्ञानी, विद्वान्, शूरवीर, धार्मिक, सुशील और ज्ञानी तथा विज्ञानी पितरों से उपदेश ग्रहण करो, और उनको अपने सभा समाजों में सत्कारपूर्वक उत्तमोत्तम

यानों द्वारा बुलाकर उपदेश सुनो, इस भाव को आग्रह तथा अज्ञान से भुलाकर भारत में कुछ और की और ही रचना बन गई, कोई मृतपितरों से मुरादें मांगने लगा और कोई भूत, प्रेत, पिशाचों से अपने मनोरथों को पूर्ण करने लगा, और वेद के उत्तम अर्थ को भुला दिया, देखो पितरों के विषय में वेद का क्या उत्तम उपदेश था, इस विषय में हम उन्हीं दो मन्त्रों को उद्धृत करते हैं जिनको मृतक श्राद्धवादी मुर्दों के श्राद्ध कर्म के लिये साभिमान उद्धृत किया करते हैं—

अंगिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम: ।।
ऋग्० १०।१४। ६

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् यथेह पुरुषोऽसत् ।।
यजु० २।३३

यद्यपि प्रथम मन्त्र के भाव को हम पूर्व भी प्रकाशित कर आये हैं तथापि यहां इसके आद्योपान्त अर्थ करने की आवश्यकता पड़ी इसलिये पुनः उद्धृत किया जाता है (**अंगिरसः**) प्राणविद्या के वेत्ता (**नवग्वा**) सदैव उत्साह से नवीन विज्ञानों के उत्पादक (**अथर्वाणः**) ब्रह्मज्ञानी (**भृगवः**) परिपक्व बुद्धिसम्पन्न (**सोम्यासः**) सुशील (**तेषां वयं सुमतौ स्यामः**) उक्त गुणसम्पन्न पितरों की (**सुमति**) सम्मति में हम सदैव वर्तें और सदैव शुभचिन्तक रहें ।

दूसरे मन्त्र के अर्थ ये हैं कि (**पितर**) आचार्य्य वा अध्यापकलोग विद्यागर्भ में ब्रह्मचारी को धारण करें अर्थात् जिस प्रकार गर्भ से सुन्दर कुमार उत्पन्न होता है, इसी प्रकार विद्यागर्भ वाले आचार्य्य से पुष्पमालाओं के धारण करने वाले स्नातक उत्पन्न हों ।

यहां कई एक लोग यह आशङ्का करते हैं कि यदि पितर के अर्थ जीवित पितरों के माने जायँ तो अर्थ यह होंगे कि, हे पितः ! तुम गर्भाधान करो और यह अनिष्ट तथा अश्लील अर्थ होंगे ? इसका उत्तर यह है कि गर्भ शब्द के अर्थ यहां स्त्री के गर्भ के नहीं किन्तु विद्यारूप गर्भ के हैं, यदि गर्भ शब्द से ही अनिष्ट उत्पन्न हो तो '**हिरण्यगर्भः**' से भी अनिष्ट अर्थ निकलने चाहिये, अस्तु—

वादी को जीवित पितरों के अर्थों पर आक्षेप करते हुए '**गणानांत्वा**' के अर्थों पर ध्यान डाल लेना चाहिये था कि जब महीधरादि आचार्य्य घोड़े से गर्भाधान कराने के अर्थ करते हैं, तो पितर विज्ञानी यदि विद्यारूप गर्भ को धारण करके उसमें ज्ञानरूप पुत्र उत्पन्न करते हैं तो क्या अनर्थ वा अश्लील हुआ और बात यह है कि पितर शब्द में माता भी सम्मिलित है तो क्या माता पुत्रों के लिये गर्भ धारण नहीं करती ? मुख्य प्रसंग यह है कि '**आधत्तपितरोगर्भम्**' यहां किन पितरों से प्रार्थना है ? वादी के मत में यह प्रार्थना मृतपितरों से की गई है, कि हे मृतपितरो ! तुम

आकर गर्भाधान करो, क्या यह अर्थ लज्जाजनक नहीं, जब लड़का इस निमित्त से मृत पितरों को बुलाता है, और स्वयं गर्भाधान के अनुष्ठान में लगा हुआ असमर्थ है, क्या यह लज्जाजनक अर्थ मृतपितरों के मानने से हट जाते हैं कदापि नहीं।

वस्तुतः बात यह है कि यहां गर्भ के अर्थ वह नहीं जिसको महीधर ने अश्व और महिषी अर्थात् पटरानी के अर्थों में विनियुक्त किया है, गर्भ के अर्थ गृभि धातु से विद्याग्रहण के हैं, जो हम प्रथम लिख आये हैं, विशेषद्रष्टव्य यह है कि जब सायणाचार्य्य ने **'गणानांत्वा'** ऋग्० २।२३ में इस मन्त्र के अर्थ घोड़े के नहीं किये तो फिर महीधर को यह दिव्यदृष्टि कहाँ से हुई, जो ऐसे अपूर्व अर्थ सूझ गये जिनमें मृतपितरवादी के मत में अश्लीलता अर्थात् लज्जा की गन्ध भी नहीं अस्तु, हम यहां महीधर के अर्थों के आभासमात्र दिखलाने के लिए पूरा मन्त्र उद्धृत करके दिखलाते हैं कि, महीधर इसमें क्या कहता है—

'गणानां त्वा गणपतिँ हवामहेप्रियाणांत्वा प्रियपतिँ हवामहे निधीनां त्वा निधीपतिँ हवामहे वसोमम। आहमजानिगर्भधमात्वमजासि गर्भधम्॥

—यजु० २३।१९

हे अश्व! हम आपका आह्वान करते हैं आप गणपति=सबके पालक हैं और आप सब प्रियतमों में प्रिय हो तथा निधि=धनों के पति हो, हे वसुरूप अश्व! तुम मेरे पति बनो, कथन करके महिषी=यजमान की स्त्री अश्व के समीप सोती है, फिर उससे गर्भाधान की प्रार्थना करती है, इससे आगे और भी लज्जाकर वाक्य हैं जिनको लिखते हुए लेखनी अटकती है। अस्तु हमारा यहां अश्लील वा लज्जाकर वाक्यों को उद्धृत कर दिखलाने वा महीधर भाष्य से अरुचि कराने में तात्पर्य्य नहीं किन्तु, विचार योग्य बात यह है कि महीधर ने **"गणपति"** शब्द के अर्थ घोड़ा कैसे किये? जब (**बृहस्पति,**) (**ब्रह्मणस्पति**) तथा (**निधिपति**) इत्यादि अनेक शब्द पाये जाते हैं जिनमें जिसके अन्त में पति शब्द हो वही शब्दार्थ होता है, या यों कहो कि समस्त शब्द के अर्थ बहुतों का पति वा बड़ों का पति **"बृहस्पति"** कहाता है, एवं ब्रह्म=वेद वा समस्त संसार का पति (**ब्रह्मणस्पति**) इस नियम के अनुसार गणों के पति का नाम गणपति हो सकता था, फिर अकस्मात् इस शब्द के अर्थ घोड़ा कैसे? इस तर्क को छोड़कर अब हम वेद से वेदार्थ का विचार करते हैं, **"गणानांत्वा गणपतिँ हवामहे"** ऋग्० २३।१९ में यह वाक्य ज्यों का त्यों है, यहाँ सायणाचार्य्य ने **"गणपति"** का अर्थ देवादिगणों का पति किया है अश्व नहीं किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं कि हम सब गणों के पति परमात्मा की उपासना करते हैं, जो (**प्रिय**) सर्वोपरि प्रिय मोक्षादि सुखों का स्वामी है, तथा जो विद्यादि निधियों का स्वामी है (**वसो**) हे सर्वाधार परमात्मन्! आप प्रकृतिरूप बीज को अपने स्वरूप में धारण करने वाले हैं, आपके गर्भ में ही परमाण्वादि अनन्त पदार्थ गर्भगत जीवों के समान निवास कर रहे हैं।

हे सर्वाधार परमात्मन् ! मैं आपको ही जानूं और एकमात्र आपकी ही उपासना करूं ।

इस अर्थ के साथ **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'** इस मन्त्र के अर्थ का भी मिलान हो जाता है, क्योंकि यहां सब वस्तुओं को धारण करने वाले का नाम हिरण्यगर्भ है, किसी अश्व वा अन्य पशु पक्षी का नाम गर्भधारण करने वाला वा निमित्तकारण रूप से अन्यों में गर्भधारण कराने वाला नहीं । इसी अभिप्राय से **'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' गी० १४।३** इत्यादि स्थलों में गर्भधारण कराने वाला एकमात्र परमात्मा ही माना गया है अन्य नहीं और जब इस सूक्त का देवता ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति=सब प्रकृत्यादि बृहत् पदार्थों का पति परमात्मा है तथा यजुर्वेद में भी इस सूक्त का देवता परमात्मा है, और इस सूक्त का **'हिरण्यगर्भ'** प्रथम मन्त्र है जिसका प्रमाण ऊपर लिख आये हैं, और **'गणानांत्वा'** इसी सूक्त का उन्नीसवां मन्त्र है तो फिर इसमें अश्व से गर्भधारण कराने की प्रार्थना का क्या तात्पर्य ? ।

इसका कारण यह प्रतीत होता है कि जब घोरवाममार्ग का समय अपनी युवावस्था पर पहुँचा हुआ था, उस समय मन्त्रों के देवतानुकूल अर्थ किसको सूझते थे, और यह मीमांसा कौन करता था कि इसके उपक्रम=आदि के **'हिरण्यगर्भ'** मन्त्र पड़ा है और अन्त में **'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणि परिता बभूव' यजु० २३।६५** मन्त्र है, जिसके अर्थ ये हैं कि हे परमात्मन् ! इस संसार को एकदेश में स्थिर करके विराजमान आपसे भिन्न अन्य कोई न था, ऐसे आध्यात्मिक अर्थ के प्रतिपादक सूक्त को मृत अश्व में लगाकर उससे गर्भधारण की प्रार्थना करना उसी घोर समय का प्रभाव है । यद्यपि सायणाचार्य्य ने इस अनर्थ का अनुकरण नहीं किया तथापि वेदों के आध्यात्मिक अर्थों पर पूर्णतया दृष्टि नहीं डाली, इसी कारण नाना देवों तथा जड़ देवताओं की पूजा का विधान अनेक स्थलों में करते हैं और बहुत से स्थलों में वेद को महीधर के समान अश्लीलता प्रधान वाक्यों का भाण्डार सिद्ध कर जाते हैं, अर्थात् लज्जाकर बातों को वेद मन्त्रों के अर्थों में भर देते हैं, जिसका वारण हम **'लज्जाकर दोषोद्धार'** प्रकरण में करेंगे, यहाँ इतना ही कहते हैं कि वेदविषयक अज्ञान निशा में सायणादि भाष्यकार भी उडुगण ही रहे और प्रौढ़ प्रकाश नहीं डाल सके, इस स्थल में स्मरण रखने योग्य यह श्लोक है—

सायणाद्युडुमध्येवै, कोऽस्ति कुमुदबान्धवः ।
प्रश्नस्यास्योत्तरे नान्यो दयानन्दं विना भुवि ।।१।।

जब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सायणादिभाष्यकार भी वेदविषय में अन्धकारावृत रात्रि में तारागण के समान ही रहे, तो इस निशा का प्रकाशक चन्द्रमा कौन है ? इस प्रश्न पर उत्तर यही मिलता है कि इस समय में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती को छोड़कर इस निशा में चन्द्रमा के समान प्रकाश किसी ने भी नहीं डाला, अस्तु—

मुख्य प्रसंग यह है कि **'आधत्तपितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्'** इस मन्त्र को लक्ष्य रखकर वादी का आक्षेप करना व्यर्थ है, मन्त्र के स्पष्ट अर्थ ये हैं कि, हे विज्ञानी विद्वानो ! तुम इस ब्रह्मचारी कुमार को विद्यारूप गर्भ में धारण करके दशोदिक्व्यापिनी कीर्ति वाला बनाओ । अर्थात् फूलों की मालाओं के योग्य बनाओ, इसी अभिप्राय से **'कुमारं पुष्करस्रजम्'** यह कथन किया है, भला यहां मृतपितरों से गर्भाधान की प्रार्थना का क्या प्रकरण ? इसी प्रकार मृतक श्राद्धवादी लोग मन्त्र संग्रह करके मृतपितरों के श्राद्ध में लिख देते हैं जिनका कुछ भी उपयोग मृतकश्राद्ध में नहीं होता, जैसाकि **'स्वधापितृभ्यो'** अथर्व० १८।४ **'स्वधापितृभ्योऽन्तरिक्षसद्भ्यः'** **अथर्व १८।४।४।८९ 'स्वधापितृभ्यो दिविसद्भ्यः'** ८० इत्यादि प्रतीकों से मृतकश्राद्ध की सिद्धि की जाती है परन्तु इनमें मृतक का नाम तक नहीं, इनके अर्थ इस प्रकार हैं—(१) जो पितर पृथिवी पर हैं उनके लिये स्वधा=अन्नादि प्रदान करो (२) जो अन्तरिक्ष में हैं उनको भी दो (३) जो द्युलोक में हैं उनके लिये भी स्वधा प्रदान करो, अर्थात् विज्ञानी पितर जो जल स्थल आदि सर्वत्र अव्याहतगति होकर विचरते हैं उनके लिये स्वधा=अमृतभाव का परमात्मा ने उपदेश किया है यहां मृतकों का क्या प्रकरण ? क्या मृतक भी इसी पृथिवी पर घूमते हैं ? मृतपितरवादियों के मत में वह तो पितृलोक में रहते हैं पृथिवी पर नहीं, फिर इस स्थल में उनका पृथिवी स्थान क्यों कथन किया गया ? इस से स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण मृतपितरों का नहीं किन्तु जीवित पितरों का है, जो कलाकौशलवेत्ता विज्ञानी विद्वान् सर्वत्र विचरते हैं, यह हम पीछे भी लिख आये हैं कि स्वधा के अर्थ निघण्टु में अन्न तथा जल के हैं, और अन्तरिक्षगत विज्ञानियों के लिये अन्न जल की अत्यन्त आवश्यकता है, इसलिये यहां इस अपूर्व अर्थ का परमात्मा ने विधान किया है ।

इतना ही नहीं, हम यहां इस सम्पूर्ण पितृसूक्त को उद्धृत करके इसके अपूर्व अर्थ दिखलाते हैं **'य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः'** अथर्व० १८।४।४।८७ **'ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः । तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दति'** **अथर्व० १८।४।५७ 'पितृलोकंगमयञ्जातवेदाः' अथर्व० १८।४।६४ 'प्रपितृणां जानाति य एव वेद' अथर्व० पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि' अथर्व० 'यमोराजानु-मन्यताम्' अथर्व० 'तां वै यमस्व राज्ये अक्षतामुपजीवसि' अथर्व० 'नमो वः पितरो घोरं तस्मै नमो वः पितरः यच्छिवं तस्मै' अथर्व०** । इन मन्त्रों का भाव इस प्रकार है कि (१) जो विज्ञानी पितर जीवित हैं हम उनकी सेवा में प्रवृत्त हों (२) जो यानों द्वारा नभोमण्डल में विचरते हैं उनका हम सत्कार करें, अर्थात् शिल्पविद्यावेत्ता कर्मी लोगों का हमें सत्कार करना योग्य है ताकि विद्यावृद्धि द्वारा देश में कल्याण उत्पन्न हो ।

और जो इस प्रसंग में मृतपितरों का वर्णन है वह उन पितरों के युद्धादिकों में मरे हुए शरीरों के भाव से है, वह उपचार है, जैसे लोक में कहा जाता है कि अमुक पुरुष का पिता मर गया, वस्तुतः शरीर के मृत हो जाने से पिता का प्रयोग यहां

शरीर में किया गया है, इसी प्रकार यहां मृतक पितरों के शरीरों के भाव से इनमें पितृ शब्द का प्रयोग है सो उपचार से जानना चाहिये मुख्य नहीं।

इसी अभिप्राय से **'अग्निदग्धा अनग्नि दग्धा'** इत्यादि मन्त्रों का उल्लेख वेद में पाया जाता है कि, जल, स्थल, अग्नि, अनग्नि सर्वत्र मृतक शरीरों का संस्कार करने योग्य है, अर्थात् उनके पश्चात् हवनादि द्वारा **'भस्मान्तँशरीरम्' यजु० ४०।१५** इत्यादि मन्त्रों से उनका संस्कार किया जाय, इस विषय को उक्त पितृसूक्त में निरूपण किया गया है, यहां के भोजन से स्वर्ग में मृतपितरों को तृप्त करने का वर्णन कदापि नहीं, क्योंकि वैदिकधर्म में मृतपितरों का कोई लोकविशेष नहीं माना गया, किन्तु मुक्त जीवों को छोड़कर प्रत्येक जीव का पुनर्जन्म माना गया है, फिर पितरों का लोक विशेष कहां रहा ? ॥

और जो **'स यदि पितृलोककामो भवति, सङ्कल्पादेवस्य पितरः समुपतिष्ठन्ते'** इत्यादि वाक्यों में कथन किया है वह लोकविशेष के अभिप्राय से नहीं, किन्तु कर्मी लोगों के प्राप्ति के अभिप्राय से है, क्योंकि **'लोक्यते येन स लोकः'** जिससे अवलोकन किया जाय उस अवस्था वा शरीर का नाम लोक है, इस आशय से उपनिषदों में ब्रह्मलोक का कथन है और इसी बात को **'सप्तलोकान् हिनस्ति' मुण्ड०** यह उपनिषद्वाक्य सिद्ध करता है कि जो पुरुष वैदिककर्म नहीं करते वे सात कुल वा सप्त इन्द्रियों के गोलक अथवा अन्य ज्ञान सम्बन्धी साधनों को नाश कर देते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि लोक नाम अवस्था वा शरीर का भी है ॥

जो लोग लोकविशेष की सिद्धि में यह प्रमाण देते हैं कि **'अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् । नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्'** अथर्व० ४-३४-२—स्वर्ग लोक में अस्थिओं वाला शरीर नहीं जाता और पवन से शुद्ध किया हुआ शरीर जाता है और उनके (**शिश्न**) अर्थात् गुप्तेन्द्रियको वहां (**जातवेदाः**) अग्नि नहीं जलाता, इसलिये (**स्वर्गेलोके**) स्वर्ग लोक में इनको (**बहुस्त्रैणं**) बहुतसा स्त्रियों का झुण्ड मिलता है, वेद विरोधी लोग इस मन्त्र के पूर्वोक्त अर्थ करते हैं, उक्त मन्त्रों के ये अर्थ हैं कि, जो लोग पवनेन (**शुद्धाः**) प्राणायाम द्वारा अपने मन तथा शरीर को पवित्र कर लेते हैं, वे उस शरीर को प्राप्त होते हैं जिसमें कामाग्नि उन पुरुषों के इन्द्रियों को नहीं तपाती।

इस मन्त्र में वेदमर्म्मानभिज्ञ वादी वेद का तात्पर्य नहीं समझे, और (**बहुस्त्रैणं**) (**शिश्नं**) अर्थात् गुह्येन्द्रिय का विशेषण है, इसको न समझ कर स्त्रियों के समूह में लगा दिया, देखो पाठ यह था कि (**नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः**) जिस के अर्थ ये हैं कि, स्वर्गीय पुरुषों के इन्द्रिय को (**जातवेदाः**) प्रत्येक पुरुष में साधारण रूप से रहने वाला, जातवेद अग्नि अर्थात् कामरूप अग्नि उनमें दाह उत्पन्न नहीं करता, निरुक्त में जातवेद के अर्थ इस प्रकार हैं कि **'जाते जाते विद्यते इति जातवेदाः'** जो साधारण हो, इस से स्पष्ट सिद्ध है कि यहां इन्द्रियों के जलाने वाली भौतिकाग्नि का ग्रहण नहीं और न ही यहाँ लोकविशेष का वर्णन है, किन्तु, मुक्तपुरुष की अवस्था

का वर्णन है । जिसको वादी ने अन्यथा वर्णन करके प्राकृत कामीपुरुष के वर्णन में लगा दिया, वास्तव में इस प्रकरण में अधियज्ञ पुरुष का वर्णन है, इसीलिये इससे प्रथम मन्त्र में, **'ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठम्'** यह पाठ है, जिससे स्पष्ट पाया जाता है कि इसमें विराट्स्वरूप का वर्णन है, किसी लोकविशेष का नहीं, बहुत क्या, वादी यदि गीता के अधियज्ञप्रकरण को भी पढ़ लेता तो ऐसे अनर्थ कदापि न करता कि, स्वर्ग के लोग स्वर्ग पहुँच कर स्त्रैणभाव को प्राप्त होते हैं, गीता में अधियज्ञ के अर्थ सर्वयज्ञों में अधिकृत परमात्मस्वरूप के हैं, जैसा कि **अधियज्ञोऽहमेवास्मि देहे देहभृतांवर' गी० ८-४**—और वेद में **'मा शिश्न देवा अपि गुर्ऋतंनः' ऋग्० मं० ७। सू ३२-५**— में शिश्नेंद्रिय में लम्पट पुरुष से यज्ञादि कर्म्म कराने का भी निषेध लिखा है, जब वेद यहां तक पवित्रता का वर्णन करता है कि इन्द्रियारामी पुरुष को इस लोक में भी यज्ञादि कर्मों का अधिकार नहीं, तो फिर स्वर्ग में स्त्रैण होने की क्या कथा । इसलिये उक्त मन्त्र के अर्थ ये हैं कि इस स्वर्गीय पुरुष के इन्द्रियों को काम के भाव पीड़ा नहीं देते, यह हम प्रथम वर्णन कर आए हैं, कि स्वर्ग कोई लोकविशेष नहीं, किन्तु एक अवस्थाविशेष का नाम यहां स्वर्ग है । जैसे कि यजु० १२ । ५४ । में **'लोकं पृण'** इस मन्त्र में अवस्था को पवित्र करना कथन किया गया है, और महीधर ने भी यहां लोक शब्द के अर्थ दशा के लिये हैं, एवं अन्य वेदों में भी लोक शब्द आता है जो एक अवस्था का वर्णन करता किसी लोकविशेष का नहीं । एवं उपनिषदों में लोक शब्द इस प्रकार आया है—**'तेब्रह्मलोकेषुपरान्तकाले परामृतात् मुच्यन्ति सर्वे' कै०।६।**—यहां लोक के अर्थ ब्रह्मरूप लोक के हैं **'स्वर्गे लोके न भयं किञ्च नास्ति न तत्र त्वन्नजरया बिभेति । उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्ग लोके' कठ० १।१२**—स्वर्ग की अवस्था में कोई भय नहीं होता, न वहां जरा न मृत्यु, बहुत क्या उस अवस्था में सब कामनाओं का प्रतिषेध कथन किया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि स्वर्ग कोई भोग विलास के लिये स्थान विशेष नहीं, अथवा यह समझना चाहिये कि मुक्ति का नाम ही स्वर्ग है, क्योंकि वेद में अमृत तथा स्वर्ग यह दोनों शब्द मुक्ति को कथन करते हैं, किसी लोकविशेष को नहीं । इससे स्पष्ट सिद्ध हुआ कि पितृलोक की सिद्धि के लिये स्वर्ग लोक का प्रमाण देना सर्वथा साहस मात्र है अस्तु ।

मुख्य प्रसङ्ग यहां वेदों की पवित्रता का है कि वेद सर्वथा निष्कलङ्क हैं, इन में अपवित्रता का गन्ध भी नहीं, जो लोग **'नैषांशिश्नं प्रदहति जातवेदाः'** इत्यादि वेद वाक्यों के अन्यथा अर्थ करके वेदों से जनता की अश्रद्धा कराते हैं वे घोर पाप के भागी हैं, और जो यह कहा जाता है कि अथर्ववेद में ऐसे ऐसे मन्त्र हैं जिन से वाजीकरणादि अश्लीलता प्रधान अर्थ सिद्ध होते हैं, जैसा कि **'आवृषायस्व श्वसिहि वर्धयस्व प्रथयस्व च । यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि' अथर्व० ६।१०१।१** वादी इसके ऐसे घृणित अर्थ करता है कि तू अपने श्वास को फैलादे जिससे तेरे गुप्तेन्द्रिय की वृद्धि हो, और फिर उससे तू स्त्रियों को जीत, वास्तव में यह मन्त्र

प्राणायाम का है इसके ये अर्थ हैं कि हे योगी पुरुष ! तू अपने प्राणों को खेंच जिससे तुम्हारा तेज बढ़े इस संयम से तू स्त्री को उज्जहि त्याग देगा, यहां उज्जहि यह 'ओहाक् त्यागे' इस धातु का प्रयोग है जिसके अर्थ त्याग के हैं ग्रहण नहीं, फिर पूर्वोक्त घृणित अर्थ कैसे ठीक हो सकते हैं, और जो वेद का अश्लीलता दोष प्रधान सिद्ध करने के लिये द्वितीय यह मन्त्र प्रमाण दिया जाता है—

'आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिवधन्वनि ।
क्रमस्वर्शइव रोहितमनवग्लायता सदा ।।

—अथर्व० ६।१०।३

कि मैं तुम्हारे गुप्तेन्द्रिय को वीरपुरुष के आकर्षित किये बाण के समान चढ़ाता हूँ, तुम उससे बैल के समान ग्लानिरहित होकर स्त्रियों पर आक्रमण करो ।

सच तो यह है कि इन अर्थों को लिखते हुए अत्यन्त लज्जा उत्पन्न होती है, परन्तु निन्दित अर्थों का दिखलाना यहां अत्यन्त आवश्यक है इसलिये लिखे हैं, वास्तव में इसके ये अर्थ हैं, कि हे वीर पुरुष ! तू भीरुता छोड़कर अति बलिष्ठ वृषभ के समान अपने शत्रुओं पर आक्रमण कर, और मैं तुम्हारे वीर रस प्रधान बल को धनुष की इज्या के समान तानता हूँ क्या कोई कह सकता है कि इसमें अंश मात्र भी अश्लीलता पाई जाती है ? मालूम यह होता है कि वादी ने **(शेप)** और **(पस)** इन शब्दों से भूल की है **(शेप)** के अर्थ वादी प्रजा उत्पादक इन्द्रिय के ही समझा है, अन्य किसी वस्तु के नहीं, यही वादी की भारी भूल है । क्योंकि **(शेप)** के अर्थ प्रकाश के भी हैं, जैसा कि **(शिपिविष्टः)** इस वाक्य में स्पष्ट है कि, **(शिपिविष्टः)** नाम विष्णु का है, यहां शिपि व शेप तेज रूप किरणों का नाम है, उन किरणों से जो व्याप्त हो उसका नाम **(शिपिविष्टः)** है, इस प्रकार यह नाम सूर्य्य तथा सर्वव्यापक परमात्मा का भी है, इसमें निरुक्त का निम्नलिखित प्रमाण है, **'शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति शेप इव निविष्टोऽस्मि' निरुक्त० ५-८**—कि मैं तेजपुञ्ज के समान तेजरूप शक्ति से व्याप्त हूँ, इन प्रमाणों से शेप के अर्थ ऐश्वर्य्यरूप तेज के स्पष्ट हैं, और इसी प्रकार—**'यस्यामुशन्तः प्रहरामशेपम्'** इस विवाह विषयक मन्त्र के भी अर्थ स्पष्ट हो गये कि, हे भार्य्ये मैं तुममें अपना प्रकाश डालता हूँ, वेद के ऐसे ऐसे उत्तम अर्थों को अल्पश्रुतों ने बिगाड़ कर वेद को गालियों का प्रधान भाण्डागार बना दिया । हमारा उन वेदानभिज्ञों पर उतना रोष नहीं, जितना दर्शनादि शास्त्रों के पढ़े हुए उन पुरुषों पर है, जिन्होंने जान बूझकर वेद में **(शेप)** शब्द के अर्थ निन्दित कर के वेदों को निन्दनीय बना दिया है । कई एक शुनःशेप प्रकरण में इस **(शेप)** शब्द के अर्थ कुत्ते के मूत्रेन्द्रिय के करते हैं, कई एक शेप के अर्थ लिङ्गेन्द्रिय के करके फिर विष्णु के मुख को उसकी उपमा देते हैं, ऐसे कुशाग्रबुद्धियों की कथा को छोड़कर अब हम **(पसः)** शब्द का विचार करते हैं क्योंकि इसका भी कई एक आधुनिक लोग महानिन्दनीय अर्थ करके वेदों को निन्दित करते हैं । **(पसस्)** शब्द के ऐश्वर्य्य के भी हैं और स्पर्श के भी हैं । पर

इन दोनों में उक्त अथर्ववेद के मन्त्र में ऐश्वर्य्य के अर्थ योग्यता के अनुसार उपयुक्त प्रतीत होते हैं, किसी इन्द्रियविशेष के नहीं, क्योंकि इन्द्रिय का यहाँ कोई प्रकरण नहीं ।

सार यह है कि वेद में योग्यता का त्याग कदापि नहीं करना चाहिये, इस बात की सिद्धि के लिये निरुक्त का निम्नलिखित प्रमाण है कि—

'प्रत्यक्षकृताश्चमन्त्रा भूयिष्टा अल्पशः आध्यात्मिकाः' निरु० ७।३।१—वेद में सबसे अधिक भाग प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है ऐसा बहुत कम है जो अन्तरात्मा सम्बन्धी है, अर्थात् अप्रत्यक्ष है, इस प्रमाणतुला से तोलने पर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि **'नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः' अथर्व ४।३४।२** इसके यदि वादी के किये हुए गन्दे अर्थ ही माने जाय कि स्वर्ग में जाने वालों के शिश्नेन्द्रिय को अग्नि नहीं जलाता तो क्या यह मिथ्या प्रलाप नहीं ? क्योंकि अस्थि, चर्म्ममय सब वस्तुओं को अग्नि जलाता प्रत्यक्ष देखा जाता है । यह तो ऐसा ही मिथ्यावाद है, जैसे कई एक केवल विश्वास वादी यह कहते हैं कि, पुरुष के पृष्ठभाग की अस्थि नहीं गलती उससे प्रलयावस्था में फिर पुरुष घास के समान हरे भरे हो जायेंगे ।

क्या इस बात को कोई प्रकृति नियम मण्डन कर सकता है कदापि नहीं, इसी प्रकार वादी का उक्त मन्त्र को घृणितार्थों में लगाना मिथ्या है ।

और जो लोग मिथ्यार्थ करके वेदों में भूत-पिशाच सिद्ध करते हैं उनकी भी यही गति है, वे लोग भी प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ करके जनता को सन्देह सागर में निमग्न करते हैं, क्योंकि भूत-प्रेत-पिशाच यह मनुष्ययोनि के ही भेद हैं कोई अलौकिक वा परोक्ष योनि नहीं, इस बात को यहां हम उन सूक्तों को उद्धृत करके भलीभांति दर्शाते हैं जिनसे आजकल के कई एक वादी भूत, प्रेत, पिशाचादिकों की वेदों से सिद्धि करके वेदों के उच्चाशय को कलङ्कित करते हैं ।।

भूतयोनिसूक्त का उत्तर

"भूत" शब्द के अर्थ मरकर किसी अलौकिक योनि को धारण करने वाले जीव के नहीं किन्तु इसके साधारण अर्थ प्राणीमात्र के हैं, जैसाकि **'पादोऽस्यविश्वा-भूतानि०' यजु० ३१।३** इस वेदवाक्य में स्पष्ट है कि सब प्राणीमात्र परमात्मा के एक देश में हैं, इसी प्रकार कहीं-कहीं प्रसिद्ध पदार्थ का नाम भी भूत आया है, जैसा कि—**'तेन भूतेन हविषायमाप्यायतां पुनः' अथर्व० ६।८।७८**=इस प्रसिद्ध यज्ञ के साधन सत्यसामग्री से यजमान वृद्धि को प्राप्त हो, इस वाक्य में भूत प्रसिद्ध आहवनीय पदार्थों का कथन करता है, **'नमोऽस्तु भूतेभ्यः नक्तञ्चरेभ्यः' यजु०** इस वेदवाक्य में भूत उन मनुष्यों को कथन किया है जो रात्री में विचरते वा काम करते हैं, इसी प्रकार जहां कहीं भूत शब्द आया है, वह वेद में सर्वत्र प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुओं के लिये आया है अलौकिक भूतयोनि के लिये नहीं, अस्तु-भूतयोनि की सिद्धि में वादी लोग अथर्ववेद के निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उतवत्सपः ।।

—अथर्व ८।३।६

इसके अर्थ वादी यह करता है कि हे वधू ! तेरे जन्म समय में तेरी माता ने जिन दुर्नाम अलीश, वत्सप इन नाम वाले भूतों को मन्त्रमार्जन से दूर किया है वह इस गर्भावस्था में तेरे पास न आवें, यह अर्थ वादी ने वेदबाह्य ग्रन्थों से लेकर एकत्रित किया है, इसीलिये नीचे यह लिखा है कि इस मन्त्र से सर्षप को अभिमन्त्रित करके गर्भिणी स्त्री के हाथ में बांधे, यहां न कहीं सर्षप का नाम और न कहीं भूत का नाम है ।

मन्त्र के सीधे अर्थ यह है कि (**यौ**) जिनको (**ते**) तुम्हारी माता ने (**उन्ममार्ज**) नाश किया था (**जातायास्तव**) तुम्हारे उत्पन्न होने पर (**दुर्णामा**) बुरे नामों वाले (**तत्र**) तुम्हारी प्रजोत्पत्ति समय में (**मागृधत्**) मत इच्छा करें (**वत्सपः**) जो सन्तान को (**अलिंशः**) भ्रमर की तरह चिपटने वाले कीटविशेष हैं वह तुम्हारे गर्भ समय में मत पीड़ा दें ।

यहां **'वसतीति वत्सः'** इस व्युत्पत्ति से वत्स नाम सन्तान का है और वत्सप नाम सन्तान के विघात करने वाले रोगविशेष का है, इसी प्रकार 'अलिंश' भ्रमर के समान चिपटने वाले रोग का नाम है, इस प्रकार गर्भिणी स्त्री के सन्तान को नाश करने वाले यहां कीटविशेषों का वर्णन है, यहां भूतों की क्या कथा ।।

मन्त्र दूसरा—

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ।।२।।

—अथर्व० ८।३।६

इसके भूतवादी ने यह अर्थ किये हैं कि (**पलाल**) **'अनुपलाल'** **'शर्कु'** **'कोक'** **'पलीजक'** **'आश्रेष'** **'वव्रिवासा'** **'ऋक्षग्रीव'** और **'प्रमीलि'** इन नामों वाले भूतों को हे गौर सर्षप ! तू दूर कर ।

वास्तव में मन्त्र के यह अर्थ हैं कि (**पलतीति पलालः**) जो शीघ्र चलने वाले कीट हैं (**अनुपलालः**) जो उनसे भी सूक्ष्म हैं (**शर्कुम्**) जो बाण के समान वेधन करने वाले कीट हैं और (**कोक**) चक्रवाक के समान आकार वाले क्षुद्रकीट हैं (**मलिम्लुच**) जो अत्यन्त मलीन हैं (**पलीजक**) जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं (**आश्रेषम्**) जो चिपटने वाले हैं (**वव्रिवाससम्**) जो सूक्ष्मरूप को धारण किये हुए हैं (**ऋक्षग्रीवं**) जो रीछ की ग्रीवास्थ रोमों के समान अनन्त सूक्ष्म अङ्गोपाङ्गों के सहित हैं, इन सब कीटों को हे परमात्मन् ! नाश करो अथवा इन विघातक कीटों की विद्या को जानकर मैं इनका नाश करूं ।।

यहां तो कीटविशेषों का वर्णन है जो मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न करते हैं, यहां अभिमन्त्रित सर्षप का क्या प्रकरण ? और इससे पूर्व **'स्वस्तिदा विशांपति वृत्रहाविमृधो वशी'** अथर्व० ३।६।२२=जो परमात्मा मङ्गल के देनेवाला, सबका पति, अज्ञान का नाश करनेवाला (**विमृधः**) शान्तस्वरूप (**वशी**) सबका नियन्ता है वह हमारी रक्षा करे, इस प्रकरण में तो परमात्मा से शान्ति की प्रार्थना है और उसी से त्रिविध तापों की निवृत्ति के लिये शारीरिक रोगों की निवृत्ति की प्रार्थना की गई है, यहां भूत-प्रेत-पिशाच और मन्त्र फूँककर संस्कृत की हुई सरसों का यहां कोई प्रकरण नहीं ।।

मन्त्र तीसरा—

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उततुण्डिकः ।
आरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ।।

—अथर्व० ८।३।६

जो कृष्णवर्ण बड़े-बड़े केश वाले प्राणहारी स्तंबज तथा विकृतमुख भूत हैं (**आरायान्**) दुर्भग उन भूतों को हम इसके उपस्थ और नितंब देश से दूर करते हैं ।

इस मन्त्र में भी भूतवादी ने अलौकिक योनि भूतों का ग्रहण किया है, पर यह नहीं सोचा कि जब इसमें काले केशों का वर्णन है और विकृतमुख का वर्णन है तो इसमें भूतों की क्या कथा ? यहां तो असुरों का वर्णन है जो एक मनुष्ययोनि का भेद है, इनके लिये राक्षस, असुर, पिशाच ये पर्य्याय शब्द हैं, यहां भूतों का कोई प्रकरण नहीं, अर्थ इस मन्त्र के इस प्रकार हैं :—

(**यः**) जो (**कृष्णः**) काले (**केशी**) केशों वाले (**असुरः**) असुर हैं (**स्तंबजः**) जो वृक्ष गुल्मादिकों के समान प्राकृत हैं (**उत**) अथवा (**तुण्डिकः**) विकृतमुख हैं (**आरायान्**) ये सब दुर्भग हैं इन सबको (**अस्याः**) इस स्त्री के (**मुष्काभ्याम्**) अवयवसंघात से और (**भंससा**) स्त्री के स्वरूप की प्रभा से हम (**उपहन्मसि**) दूर देश में ही नाश करें ।

उक्त मन्त्र में परमात्मा यह उपदेश करते हैं कि स्त्रीधर्म्म की रक्षा करने वाले पुरुषो ! तुम दुष्टाचारी पुरुषों को जो आसुरी भाव से स्त्रियों पर आक्रमण करते हैं उनको अपने विक्रम से नाश करो, इसमें भूतों की क्या कथा ।।

मन्त्र चौथा—

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ।।

—अथर्व० ८।३।६

जो भूत माया से भाई और पिता बनकर स्वप्न में तेरे पास आते हैं (**बजः**) गौरसर्षप उनको तेरे से दूर करे ।

यहां भी भूतवादी ने भूत और गौरसर्षप का ऊपर से अध्याहार किया है वास्तव में अर्थ यह है कि जो राक्षस स्वप्न में आकर (**निपद्यते**) प्राप्त होता है (**भ्राताभूत्वा**) भाई बनकर (**पिते वच**) अथवा पिता बनकर (**स्वप्ने**) स्वप्नावस्था में अर्थात् सोने के समय में माया से स्त्रियों को छलना चाहता है अथवा (**तिरीटिनः**) छिपे हुए (**क्लीबरूपान्**) क्लीबरूप को धारण करके (**तामितः**) उनको (**बजः**) हे सर्वशक्ति-सम्पन्न परमात्मन् ! नाश करो ।

मन्त्र पांचवां—

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ।।

—अथर्व० ८।३।६

(**यः**) जो कीट (**इमांस्त्रियम्**) इस स्त्री को (**मृतवत्साम्**) निःसन्तान (**कृणोति**) कर देता है (**अवतोकाम्**) अथवा वन्ध्या कर देता है (**तम्**) उस कीट को (**ओषधे**) हे औषधि ! (त्वंनाशय) तुम नाश करो और (**अस्याः**) इस स्त्री के (**कमलमञ्जिवम्**) गर्भस्थ कमल को सुव्यक्त करो ।

इस मन्त्र से स्पष्ट हो गया कि यहां कीटों का वर्णन है किसी भूत-प्रेत का नहीं, क्योंकि जब यहां स्त्री के वन्ध्या होने का वर्णन है और औषधि का वर्णन है तो फिर रोग विशेषों के उत्पन्न करने वाले कीटों के होने में क्या सन्देह है ।

और जो यहां औषधि का संबोधन किया है वह उपचार से है मुख्य नहीं, वास्तव में यह प्रार्थना ईश्वर से है, क्योंकि इस सूक्त से पूर्व के सूक्तों से भी ईश्वर का वर्णन है और आगे सूक्त में ६ में भी "**इन्द्ररक्षांसि नाशय**" यह वाक्य स्पष्ट है कि हे इन्द्र ! तू राक्षसों का नाश कर, राक्षस शब्द के अर्थ यह हैं कि "**रक्षन्ति येभ्यस्ते राक्षसाः**" = जिनसे रक्षा की जाती है वह राक्षस हैं, इस प्रकार कीटों का नाम भी राक्षस है, अस्तु—

इस प्रकरण में दुर्गन्धि से उत्पन्न होने वाले और (**भेषज**) औषधि से नाश किये जाने वाले क्षुद्र कीटों का वर्णन स्पष्ट है, इसलिये इन सूक्तों से भूत की सिद्धि करना सर्वथा मिथ्या है ।।

बहुत क्या चारों संहिताओं के किसी मन्त्र में भी जीवित प्राणियों को छोड़कर मृतक वा भूतयोनि के लिये भूत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि वेदों में आधुनिक ग्रन्थों के समान भूतवाद नहीं ।।

इसी प्रकार जिन मन्त्रों से वेदविरोधी लोग पिशाचवादी निकालते हैं वह भी पिशाच किसी योनिविशेष का वर्णन नहीं करते किन्तु राक्षसों के समान अनाचारी

पुरुषों का नाम ही पिशाच है, पिशाच शब्द के अर्थ ये हैं **"पिशितमश्नातीति पिशाचः"**=जो प्राकृत पुरुषों के समान भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे और अनाचारी हो उसको "पिशाच" कहते हैं, इसी अभिप्राय से वेद में यह कहा है कि—

"य आमं मांसमदन्ति पौरुषे यं च ये क्रविः ।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ।।"

—अथर्व० ६।३।६।२३

अर्थ—जो कच्चा मांस खा जाते हैं और मनुष्य का मांस खाते हैं और **(गर्भान्खादन्ति)** जो सगर्भ जीवों को खा जाते हैं और जो **(केशवाः)** विकराल रूप धारी हैं उनको पिशाच कहते हैं, हे परमात्मन् ! ऐसे पुरुषों को प्रजा की रक्षा के लिये हम नाश करें ।।

इसी प्रकार **"मा नो रक्षो अभिनट्" अथर्व० ८।२४ इत्यादि** मन्त्रों में यह कथन किया है कि हमको राक्षस जाति के लोग मत प्राप्त हों ।।

इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच यह मनुष्य योनि के भेद विशेष हैं कोई अलौकिक योनि नहीं, इसी अभिप्राय से कथन किया है कि **"विजानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवः" ऋग्० १।४।१०**=वेदानुयायी सदाचारी पुरुषों को आर्य्य कहते हैं और अनाचारी प्राकृत पुरुषों को अनार्य्य वा दस्यु कहते हैं, इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने से प्रतीत होता है कि वेदों में प्रकृति नियम विरुद्ध वा अश्लील कोई बात नहीं ।

जो लोग वेदों में उक्त प्रकार की शङ्कायें करते हैं वा वेदों में प्रक्षिप्त वा परिशिष्ट मानते हैं वे वैदिक साहित्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जिन लोगों ने अथर्व के अन्तिम दश काण्डों को प्रक्षिप्त माना है उन्होंने इतना भी नहीं सोचा कि जिनमें लोग भूतसूक्त और पिशाच सूक्त निकालते हैं उन काण्डों का नाम शुद्ध वेद और जिनमें **"ब्रह्मचर्य्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत" अथर्व० ११।३।५ "प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे" अथर्व० ११।२।४।१**=सबको चेष्टा देने वाले परमात्मा के ये सब लोकलोकान्तर वशीभूत हैं, इत्यादि ब्रह्मचर्य्यव्रत और एक ईश्वरवाद के प्रतिपादक मन्त्र जिस भाग में हैं वह भाग अशुद्ध कैसे ? ऐसी उच्छृंखलता का कारण केवल वेदों का अनभ्यास है ।।

वेदार्थ की शैली को जो पुरुष नहीं जानते वे नानाप्रकार की असंबद्ध कल्पनायें वेद में करते हैं, वेदार्थ की शैली यह है कि वेदों में कोई नाम केवल रूढि नहीं किन्तु वेदों में यौगिक वा योगरूढ शब्द हैं, इसीलिये वेद के देवता इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि ईश्वर के विधायक हैं, इस बात को हम पूर्व भलीभांति वर्णन कर आये हैं इसलिये यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं ।

वेद मनुष्य जन्म के धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों प्रकार के फलों को विशदरूप से वर्णन करता है, चारो वर्णों के धर्म्म वेद में वर्णन किये गये हैं और स्मृतिकारों

ने वेद के आधार पर ही वर्णाश्रम के धर्म्मों को वर्णन किया है, अर्थ का वर्णन तो वेद में यहाँ तक स्पष्ट है कि सातवें मण्डल में लिखा है कि हे परमात्मन् ! हमको मिट्टी के घर मत दे किन्तु हमको ऐसा ऐश्वर्य्य दे कि हम ऐश्वर्य्य सम्पन्न होकर गृहों को स्वर्ण से भूषित बनायें ।

काम का वर्णन अर्थात् सन्ततिप्रद सांसारिक कामनाओं का वर्णन **"गृभ्णामि ते हस्तं सौभगत्वाय"** इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है, शेष रहा मोक्ष का निरूपण उसका वर्णन वेद में इस प्रकार है कि **"त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्"** यजु० ३।६० = हे परमात्मन् ! आप उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण हैं और सब प्रकार के ऐश्वर्य्य और पुष्टिप्रद पदार्थों के देने वाले हैं, आप हमको इस संसार के बन्धन से इस प्रकार पृथक् कीजिये जिस प्रकार उर्वारुक् = पका हुआ खरबूजा लता से दूर होता हुआ किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त नहीं होता अर्थात् नाही उस फल में कोई विकार उत्पन्न होता और न उसके बन्धनरूप लता में कोई विकृति होती है, इस प्रकार हम परिपक्व अवस्था को प्राप्त होकर इस संसार से पृथक् हों, उस समय न हमारे सम्बन्धियों को कोई वेदना अर्थात् पीड़ा हो और न हमको कोई कष्ट हो, परन्तु हम अमृतपद मुक्ति से कभी पृथक् न हों अर्थात् मुक्तिपद को हम अवश्य प्राप्त हों, यहाँ अमृतपद से मुक्ति का कथन किया है कि हे परमेश्वर ! आप हमको मृत्यु से बचावें, और अपने अमृतस्वरूप से कदापि पृथक् न करें ।।

(त्र्यंबकं यजामहे) यह मन्त्र यजु० ३।६० की संख्या में है, यहाँ यह मुक्ति के प्रकरण में पढ़ा गया है, क्योंकि इससे पूर्व मन्त्र में **"यथा नः श्रेयसस्करत्"** = जिस प्रकार परमात्मा हमें मुक्ति प्रदान करे वैसा ही हमें करना चाहिये, इस वाक्य से स्पष्ट सिद्ध है कि यह प्रकरण मुक्ति का है, और यह मन्त्र ऋग्० मं० ७ सू० ५९ में आया है वहाँ भी इसके मुक्ति के अर्थ हैं, जो लोग त्र्यंबक के अर्थ नेत्रों के करते हैं वह ठीक नहीं करते, क्योंकि अमृत का तीन नेत्रों के साथ संबन्ध नहीं, त्र्यंबक के अर्थ ये हैं कि **"तिस्रः अम्बाः शक्तयो यस्य स त्र्यंबकः"** = जिस परमात्मा में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करना ये तीनों शक्ति स्वाभाविक हैं उसका नाम "त्र्यंबक" है, और उस परमात्मा का स्वरूप अमृत है अर्थात् परमात्मा मुक्त-स्वरूप है, उसके स्वरूप के साक्षात्कार का नाम ही मुक्ति है, या यों कहो कि **"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे"** मु० २।२।८ = उस परावर ब्रह्म के देखने पर अर्थात् जिसके गर्भ में कारण प्रकृति तथा कार्य्य जगत् है उसके ध्यानगत हो जाने का नाम यहां दर्शन है, यह दर्शन केवल ज्ञान नहीं किन्तु दर्शनात्मक क्रिया और उस क्रिया का फल ज्ञान; इस प्रकार कर्म्म और ज्ञान मुक्ति की सिद्धि में दोनों हेतु हैं ।।

जो लोग यह कहते हैं कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है उनके मत का पोषक वेदों में एक भी प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि **"यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये

धामन्नध्यैरयन्त" यजु० ३२।१० इस वेदवाक्य में **"अध्यैरयन्त"** यह शब्द कर्म को सिद्ध करता है कि जिसमें विद्वान् लोग अमृत को भोगते हुए चेष्टा करते हैं वह परमात्मा है, उक्त वेद का मन्त्र भी मुक्ति अवस्था को क्रियात्मक सिद्ध करता है, इसी प्रकार **"उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश" यजु० ३२।११** इसमें भी मुक्तपुरुष अपने मन से अथवा अपनी सामर्थ्य से अर्थात् ज्ञानात्मक क्रिया से **(आत्मानमभिसंविवेश)** परमात्मा में प्रवेश करता है, इससे भी मुक्ति अवस्था में कर्म की प्रधानता पाई जाती है ज्ञान की नहीं ।।

"य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः" ऋग्० २।३।१८।१३ इससे जो लोग मुक्ति को ज्ञानसाध्य वर्णन करते हैं उनको यह सोचना चाहिये कि **"आनशुः"** जब यह क्रिया का रूप है जो ऐसा जानते हैं वे मुक्ति के सुख को भोगते हैं, इस प्रकार मुक्ति भोग-मात्र सिद्ध हुई फिर ज्ञानसाध्य कैसे ? इतना ही नहीं इससे पूर्व मन्त्र में **"पिप्पलम्"** कर्म का कथन स्पष्ट है, जैसाकि **"पिप्पलं स्वादु अत्ति" ऋग्० २।३।१७** जिस प्रकार इस मन्त्र में पिप्पल शब्द कर्म का कथन करता है उसी प्रकार इस प्रकरण में भी कर्म का कथन है ज्ञान का नहीं ।।

जो लोग यह कहते हैं कि **"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति" यजु० ३१।१८ "तमेव विद्वान्नविभायमृत्योः" अथर्व १०।४।८।४४** यह ज्ञान की सिद्धि में प्रमाण है यहाँ विदित्वा भी क्रिया है **"मृत्यु अत्येति"** भी क्रिया है, फिर मुक्ति कर्मरूप साधन से रहित कैसे ? और जो तीसरा अथर्व वेद का प्रमाण दिया गया है इसमें निष्कामवादी ने सम्पूर्ण मन्त्र को उद्धृत नहीं किया, सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

अकामो धीरा अमृतः स्वयंभूरसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विदित्वा न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।।

इस मन्त्र में **"रसेन तृप्त"** पद पड़ा है । जिससे ब्रह्मानन्द का भोगना स्पष्ट सिद्ध होता है, और भोग बिना क्रिया के सिद्ध नहीं हो सकता, इससे सिद्ध है कि मुक्ति कर्मजन्य है ।।

यदि यह कहा जाय कि **'तृप्त'** यहां ब्रह्म को कहा गया है जीव को नहीं तो ज्ञानसाध्य मुक्ति मानने वाले के मत में जीव तृप्त होगा तभी तो मुक्त होगा, इस प्रकार से भी तृप्ति कर्मजन्य ही सिद्ध हुई ज्ञानजन्य नहीं, और उपनिषदों के प्रमाणों से तो मुक्ति का कर्मजन्य होना वादी के दिये हुए प्रमाणों से ही सिद्ध हो जाता है, जैसेकि **'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'** तै० २।१ इसमें स्पष्ट है कि ब्रह्म के साथ मिलकर ब्रह्मानन्द के भोगने का नाम मुक्ति है, इसलिये **'ज्ञानान्मुक्तिः'** सांख्य ३।१३ इत्यादि कथन ज्ञान को भी मुक्ति का साधन कहता है, केवल ज्ञान मुक्ति को सिद्ध नहीं करता । अस्तु,—

'त्र्यम्बकं यजामहे' यजुः ३।६० जब इस मन्त्र में त्र्यम्बक का यजन करना अर्थात् निराकार ब्रह्म की उपासना करने को मुक्ति का साक्षात् साधन माना गया है, फिर कैसे कहा जा सकता है कि मुक्ति कर्म्मजन्य नहीं, मुक्ति को कर्मजन्य न मानने वाले वादी मुक्ति को केवल ज्ञानजन्य मानने में यह सुविधा देखते हैं कि कर्मजन्य वस्तु अनित्य होती है, इसलिये वे मुक्ति को केवल ज्ञानजन्य सिद्ध करते हैं, पर वे यह नहीं विचारते कि ज्ञानजन्य मानने पर भी मुक्ति का जन्म तो वैसा ही रहा, यदि यह कहा जाय कि उसमें जन्यत्व कुछ नहीं किन्तु मुक्ति नित्यप्राप्त की प्राप्ति है, जिस प्रकार अपने आप में दशमपुरुष के नष्ट होते की भ्रान्ति वाले पुरुष को **'दशमस्त्वमसि'**=दशवां तू है, इस उपदेश से नित्यप्राप्त की प्राप्ति होती है, ऐसे ही नित्यमुक्त को मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस प्रकार अमुक्ति की भ्रान्ति दूर करना ही मुक्ति है, ऐसे भ्रान्तिवादियों के मत में तो येनकेन प्रकार से स्वरूपभूत मुक्ति नित्य सिद्ध हो भी सकती है परन्तु जो ब्रह्मानन्द के उपभोग का नाम मुक्ति कथन करते हैं उनके मत में मुक्ति नित्य कैसे ? क्योंकि भोग तो एक अवस्था है स्वरूप नहीं, और जो यह युक्ति दी जाती है कि **'ब्रह्मानन्द'** ब्रह्मरूप होने से नित्य है और ब्रह्मानन्द का अनुभव जीव का स्वरूप होने से नित्य है, इस प्रकार भोगरूपमुक्ति भी नित्य सिद्ध हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो जीव का ब्रह्मविषयक अनुभव भी नित्य नहीं, क्योंकि यदि जीव का ब्रह्मविषयक अनुभव नित्य होता तो मुक्ति सदा कहनी चाहिये थी फिर बीच में अमुक्ति कैसे हो गई ? ।।

यदि यह कहें कि अज्ञान से बीच में अमुक्ति हो गई पहले नित्यमुक्त ही था तो यह भी एक प्रकार से मुक्ति से पुनरावृत्ति ही माननी पड़ी अर्थात् कभी मुक्ति कभी अमुक्ति इस प्रकार यह प्रवाह अनादि काल से चला आता है, और अनन्त काल तक रहेगा फिर मुक्ति नित्य कैसे ? ।।

इस प्रकार नित्यप्राप्त की प्राप्ति मानने वालों के मत में भी मुक्ति नित्य सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म पहले मुक्त था और वही नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्म अविद्या से बन्धन में आ गया इसी का नाम तो मुक्ति से पुनरावृत्ति है।

कई एक लोग यह कथन करते हैं कि कृष्णजी मुक्ति को नित्य सिद्ध करते हैं और प्रमाण यह देते हैं कि **'आ ब्रह्मभुवनाल्लोका पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** गी० ८।१५=हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए लोगों की तो पुनरावृत्ति हो जाती है पर मुझे जो प्राप्त हुए हैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती, यदि इस श्लोक के वादीकृत अर्थ भी मान लिये जायं तब भी तो ब्रह्मलोक को प्राप्त मुक्त पुरुषों की पुनरावृत्ति हुई, क्योंकि **'अनावृत्तिःशब्दादनावृत्तिः शब्दात्'** वेदा. सू. ४।४।२२ इस सूत्र में भी **'एवंवर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते नच पुनरावर्त्तते नच पुनरावर्त्तते'** छां० ८।१५।१ सम्पूर्ण आयु जो यज्ञादिकर्म करते रहते हैं वे ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर फिर नहीं आते, फिर नहीं आते, इस विषयवाक्य से

मुक्ति का नाम ही ब्रह्मलोक है और उससे उक्त वाक्य द्वारा कृष्णजी ने पुनरावृत्ति सिद्ध कर दी। अस्तु—

यदि नित्यमुक्तिवादी से यह पूछा जाय कि कृष्णजी अवतार धारण से प्रथम मुक्त थे अथवा बद्ध ? यदि मुक्त थे तो जन्म लेने से एक प्रकार से पुनरावृत्ति हुई और यदि बद्ध थे तो उनकी प्राप्ति से **'पुनर्जन्म न विद्यते'** कैसे ? क्योंकि पुनर्जन्म तो उनका भी हो गया। 'सबसे प्रबल युक्ति मुक्ति के एक प्रकार की अवस्था होने में यह है कि मुक्ति एक प्रकार का ब्रह्मानन्द का उपभोग है, और भोग वा फल कभी नित्य नहीं हो सकता, इसी अभिप्राय से महर्षि व्यासजी ने कहा है कि **'भोगमात्र साम्य-लिङ्गाच्च'** वेदा० सू० ४।४।२१ = मुक्ति में आनन्द भोगने मात्र में जीव ब्रह्म की समता पाई जाती है तो जब मुक्ति एक अवस्था अर्थात् भोगरूप अवस्था है तो नित्य कैसे ? ॥

इससे भी प्रबल युक्ति यह है कि जब ईश्वर के ज्ञान में जीव सब गिने हुए हैं तो उनमें से यदि एक-एक भी मुक्त होता जाता तो काल की अनन्तता के कारण सब के मुक्त हो जाने पर सृष्टि की रचना का काम समाप्त हो जाना चाहिए था, इससे सिद्ध होता है कि मुक्ति नित्य नहीं, और जीवों के गिने हुए होने में वेद का यह प्रमाण है कि **'सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि'** ॥ अथर्व ४।४।१६। ५ = जो पृथ्वी लोक तथा द्युलोक के मध्य में है उन सबको परमात्मा जानता है और जो उससे परे लोक लोकान्तरों में है उनको भी जानता है, मनुष्यों के निमेष उन्मेष भी उसके ज्ञान में है, जैसेकि धन का स्वामी अपने धन की संख्या को जानता है इस प्रकार ईश्वर जीवों की संख्या को जानता है, एवं उक्त मन्त्र में जीवों की संख्या जानना स्पष्ट है।

जीवों की गणना में ईश्वर को अज्ञानी मानने वाला वादी इस मन्त्र पर यह कहता है कि **'जनानां'** के अर्थ इस मन्त्र में मनुष्य के ही हैं प्राणी मात्र के नहीं, इसलिए ईश्वर मनुष्य संख्या को जानता है जीवमात्र की संख्या को नहीं, इस विषय में वादी ने निम्नलिखित मन्त्रों के प्रमाण दिये है :—

'यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्य्यत' अथर्व० १८।३।३।१३ **'यंरक्षन्ति प्रचेतसो वरुणो मित्रो अर्य्यमा। नू चित् स दभ्यते जनः'** ऋग्० १।३।२२।१ **'मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः'** ऋग्० १।६।११।१ **'नाना हि त्वा हवमाना जना इमे'** ऋग्. १।७।१४।५ **'पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्'** ऋग्० ८।१। १३।४ **'दाधार क्षेममोको न रण्वो यवो न पक्वो जेता जनानाम्'** ऋग्० ८।१।१३।४ **'एते त इन्द्र ! जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्य्यं। अन्तर्हि ख्यो जनानाम्'** ऋग्. १।६।२।९ **'इन्द्रियाणि शतक्रतो ! या ते जनेषु पञ्चसु'** ऋग्० ३।२।२२।९ **'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यो ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय**

च' यजु० २३।२ 'ये के चात्महनो जनाः'' यजु० ४०।३ 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' कठ० ६।१७ 'यशो जने असानि स्वाहा' तै० १।४ 'एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' श्वे० ४।१७ 'न त्वं नेमे जनाधिपाः' गीता २।१२ 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन'' गी० ७।१६ 'तेऽहोरात्रविदो जनाः' गी० ८।१७ 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मब्रह्मविदोजनाः 'गीता० ८।२४ 'अनन्याश्चिन्तयन्तोमां ये जनाः पर्युपासते' गीता० ९।२२ 'प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः' गी० १६।७ 'प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः' गी० १७।४ 'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः' गी० १७।५ धनं पृथिव्यां पशवश्च गोष्ठे भार्य्यागृहद्वारि जनाः स्मशाने देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।। इति ।

परन्तु यहां वादी को आग्रहवश यह स्मरण नहीं आया कि मैं वेदान्त वृत्ति पृ० ३२६ पर स्वयं इस वेद मन्त्र का प्रमाण लिख आया हूँ कि **'अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। ऋग्० ७।२।१०।२०** इस मन्त्र में जन शब्द के अर्थ प्राण के हैं, फिर **'संख्याता अस्यनिमिषो जनानां'** यहाँ प्राणीमात्र का ग्रहण कैसे नहीं ।।

यदि वादी यहां साधारण बुद्धि को भी काम में लाता तो इस भूल में कदापि न पड़ता कि जन शब्द से ईश्वर केवल मनुष्यों का ही ज्ञाता है अन्य प्राणी मात्र का नहीं ।।

यह इस मोल तोल की भूल है जैसे कोई कहे कि इस दधि को कौओं से बचाना, तो क्या यहाँ उपदेष्टा का यह तात्पर्य्य है कि यदि कुत्ते आवें तो वे भले ही खा जायं उन्हें मत हटाना, ज्यों का त्यों ऐसा ही यहाँ नित्यमुक्तिवादी ने किया जो यह लिखा कि ईश्वर के ज्ञान में केवल मनुष्य है अन्य प्राणी ईश्वर के ज्ञान में संख्यात नहीं, और किसी अन्य आचार्य्य तथा संस्कृतवेत्ता की तनिक लज्जा भी नित्यमुक्तिवादी को न थी तो जिसको स्वयं सर्वत्र डंके की चोट से सर्ववेदभाष्यकार लिखते हैं उनकी लज्जा तो अवश्य करनी थी सायणाचार्य्य ने **'संख्याता अस्यनिमिषोजनानाम्'** इस अथर्व मन्त्र के भाष्य में उपलक्षण मानकर परमात्मा को प्राणीमात्र की संख्या का ज्ञाता सिद्ध किया है । अस्तु—

अन्य युक्ति जीवों की गणना का ईश्वर को ज्ञाता न होने में यह दी है कि **'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनं । उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्' यजु० ३।६०** इसमें मुक्ति से न लौटना लिखा है अर्थात् **'माऽमृतात्'** के ये अर्थ हैं कि हमको परमात्मा अमृत पद से पृथक् न करे, इसके अर्थ तो ये हैं कि परमात्मा हमको मुक्ति पद से पृथक् न रक्खे अर्थात् मुक्ति के आनन्द से वञ्चित न करे, मुक्ति से न लौटना यहाँ किस पद के अर्थ हैं ।।

विचार योग्य यहाँ यह बात है कि जब **'संख्याता अस्यनिमिषोजनानाम्'** यह मन्त्र ईश्वर को जीवों की संख्या का ज्ञाता बतलाता है तो फिर **'त्र्यम्बकं यजामहे'**

इस मन्त्र ने उसे अज्ञानी कैसे बना दिया। क्या वेद का एक मन्त्र उत्सर्गापवाद न्याय से एक दूसरे का बाधक हो जाता है ! कदापि नहीं, यह वादी की सर्वथा भूल है, इसलिए जीवों की संख्या जब **'संख्याता अस्यनिमिषोजनानाम्'** इस अथर्व मन्त्र ने सिद्ध कर दी तो वही प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा कि यदि एक-एक करके भी जीव मुक्त होते जायं तो एक दिन सब के समाप्त हो जाने से सृष्टि का उच्छेद हो जाना चाहिये अर्थात् सृष्टि का प्रवाह न चलेगा, इसका उत्तर तभी आ सकता है जब ईश्वर के ज्ञान में जीवों की गणना न आई हो परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। तथा वेदविरोधियों का वेद विरुद्धवाद है।

यहां यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि मुक्ति की अनावृत्ति मानने वाला वादी तथा वेदों में पुनरुक्ति मानने वाला यह मन्तव्य रखता है कि जो मन्त्र ऋग्वेद में आ चुके हैं वह यदि यजुर्वेद में आये हैं तो किसी ने पीछे से मिला दिये, पर यहाँ वादी उस बात को भूल गया कि **'त्र्यम्बकं यजामहे'** इस मन्त्र को **'अस्ति तावद् यजुषो ममन्त्रवर्णाः त्र्यम्बकं यजामहे'** यह लिख कर सिद्ध किया कि यह यजुर्वेद का मन्त्र है, और यह मन्त्र ऋग्वेद मं० ७। सूक्त ५९ में आया है।

हमारे मत में तो यह पुनरुक्ति नहीं किन्तु मुक्ति के विषय में ईश्वर की उदारता की युक्ति है जो अन्य वेदों में भी मुक्ति का उक्त मन्त्र से वर्णन किया।

इस पुनरुक्ति की मुक्ति करते हुए हम इतना ही यहां लिखना पर्याप्त समझते हैं कि जब **'द्वासुपर्णा सयुजासखाया'** ऋ० २।३।१७।२० **'वेदाहमेतंपुरुषंमहान्तम्'** यजु० ३१।१८ **'सहस्रशीर्षापुरुषः'** यजु० ३१।१ **'अहंराष्ट्रीसंगमनीजनानां** ऋ० ८।७।११।३ **'इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते'** ऋ० ४।७।३३।१८ इत्यादि मन्त्र सैकड़ों स्थानों में लिखकर वादी लोग अपने-अपने ग्रन्थों को पुनरुक्ति का भाण्डार बनाते हैं तो फिर ईश्वर के अनन्तज्ञान भाण्डार वेद को पुनरुक्त कैसे कहा जाता है ? ।।

कई एक लोग इसके उत्तर में यह कहा करते हैं कि जीवों की रचना का दृष्टान्त देकर ईश्वर की रचना निर्दोष कैसे ? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर विज्ञान में दोष निकालने वाले जीवों की रचना को इसलिये दृष्टान्त रक्खा जाता है कि वे ईश्वर को भी रास्ता बतलाते हैं कि तुम लिखो तो इस प्रकार लिखो कि जिसमें एक भी अक्षर तथा पद वा वाक्य दुबारा न आवे और हम द्विरावृत्ति करें तो भले ही करें इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि हम अल्पज्ञ हैं, ऐसे बुद्धि सागरों से यह पूछना चाहिये कि वेद ईश्वर ने तुम्हारे लिए बनाया है या अपने लिए, यदि तुम्हारे लिए बनाया है तो फिर तुमको बार-बार समझाया तो क्या अनर्थ किया, यह तो तुम्हारी अल्पज्ञता मिटाने के लिए एक उत्तमता की गई, क्योंकि तुम बार-बार भूलने वाले थे, इसलिये ईश्वर ने तुम्हें बार-बार उपदेश दिया, इसी कारण पुरुषसूक्त चारों वेदों में समान है, इसका नाम पुनरुक्ति नहीं किन्तु अभ्यास वा दृढ़ता के लिए उपदेश है, अस्तु, मुख्य प्रसङ्ग यह है कि जीवों की संख्या होने से

मुक्ति नित्य सिद्ध नहीं हो सकती और जो लिखा है कि **'भागो जीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते'** **श्वे० ५।१०** उक्त वाक्य से जो लोग **'अनन्त्याय कल्पते'** के अर्थ जीवों की अनन्त संख्या के कर लेते हैं वे लोग अर्थाभास करके लोगों की बुद्धि मे विभ्रम उत्पन्न करते हैं, क्योंकि अनन्त्य शब्द के अर्थ यहाँ संख्या प्रयुक्त अनन्त के नहीं किन्तु ब्रह्म विषयक आनन्त्य के हैं अर्थात् ब्रह्म आनन्त्य=सीमारहित है, सीमा रहित ब्रह्म की प्राप्ति का नाम **'आनन्त्याय कल्पते'** हैं, जैसे **'ब्रह्मभूयाय कल्पते'** **'अमृतत्वाय कल्पते'** यहाँ ब्रह्मप्राप्ति के अर्थ किये जाते हैं इसी प्रकार मुक्त पुरुष को ब्रह्म प्राप्ति के अभिप्राय से कथन किया गया है, और वह ब्रह्मप्राप्ति **'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः । वे० सू० ८।८।५** इत्यादि सूत्रों के अनुसार **'तस्य सर्वेषु-लोकेषु कामचारो भवति'** **छा० ७।२५।२**=मुक्तपुरुष ब्रह्म के समान लोक लोकान्तरों में स्वेच्छाचारी होता है, **'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते'** **छां० ८।१२।३** इत्यादि वाक्यों से प्रतिपादित जो स्वरूप निष्पत्ति है और सत्यसंकल्प आदि ब्रह्मभाव प्राप्तिरूप भाव को यहाँ आनन्त्य शब्द कथन करता है, संख्यारहित आनन्त्य को नहीं ।।

इसलिए जीव की संख्या ईश्वर के ज्ञान में अनन्त नहीं, क्योंकि संख्या कभी अनन्त नहीं होती, और जो **'असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्'** **यजु० १६।५४** इस मन्त्र का प्रमाण देकर कई एक अर्थाभास करने वालों में अग्रगण्य यह सिद्ध करते हैं कि जीव ईश्वर की दृष्टि में असंख्यात थे इसलिए ईश्वर ने असंख्याताः पढ़ा है ।

इसका उत्तर यह है कि यहाँ असंख्यात शब्द बहुतों के अभिप्राय से आया है और इसलिए आगे सहस्राणि यह कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया कि यहाँ बहुत का अभिप्राय है संख्यारहित का नहीं, क्या कोई कह सकता है कि "सहस्रों मनुष्य हैं" ऐसा कथन करने पर उनकी संख्या की नहीं जा सकती ! यदि कोई हठात् ऐसा माने तो उसे **'सहस्रशीर्षाः' पुरुषः' यजु० ३१।१** इन मन्त्रों के अर्थों पर दृष्टि डाल लेनी चाहिये । और वादी को तो यहां ननु नच करने का अवकाश ही नहीं, क्योंकि **'संख्याता अस्य निमिषो जनानां'** **अथर्व० ४।४।१०** इस मन्त्र में वह मनुष्यों की संख्या को संख्यात मान आया है फिर सहस्र शब्द असंख्यात का वाचक कैसे ?।।

और जो **'मृत्योर्मुक्षीयमामृतात्'** **यजु० ३।६०** इसके ये अर्थ किये जाते हैं कि मुक्त पुरुष को संसार की प्राप्ति न हो, यह सर्वथा मन्त्र के आशय से विरुद्ध हैं, क्योंकि मन्त्र में आ अमृतात् पाठ है अर्थात् यहाँ मर्यादा में आङ् है और इसीलिये मर्यादार्थक आङ् के योग में ही यहाँ पञ्चमी है जिसके अर्थ ये होते हैं कि मुक्ति-पर्यन्त मुक्तपुरुष को संसार प्राप्ति नहीं होती ।।

तात्पर्य्य यह है कि यहां मुक्ति तक की मर्य्यादा स्थिर रक्खी गई है, जैसे कि कोई यह कहे कि **'आपाटलिपुत्राद्वृष्टोदेवः'** इसके अर्थ ये हैं कि पटने तक वर्षा हुई जिसमें पटना बीच ही है, इसी प्रकार यहाँ मुक्तपुरुष की आवृत्ति में उक्त मन्त्र प्रमाण है, केवल यह वेदमन्त्र ही नहीं किन्तु **'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले**

परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे' कै० ६=ब्रह्मलोक में परान्तकाल तक निवास करते हुए मुक्तपुरुष फिर पुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं, इससे उक्त सिद्धान्त और दृढ़ हो जाता है कि मुक्तपुरुषों की पुनरावृत्ति होती है ।

जो कई एक लोग उक्त वाक्य में यह आपत्ति देते हैं कि यह वाक्य प्रामाणिक दश उपनिषदों का नहीं, इसलिए मन्तव्य नहीं, इसका उत्तर यह है कि **'वालाग्रशत-भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते'** श्वे० ५।१० यह वाक्य भी तो प्रामाणिक दश उपनिषदों से बाहर है फिर इसका प्रमाण जीव की अणुता और अनन्तता मुक्ति में कैसे ? ।।

और जो यह कहा जाता है कि **'स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा । स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् । ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये' कै ११** इसमें मृत्युमत्येति जो लिखा है इसका यह तात्पर्य निकालते हैं कि मृत्यु के अतिक्रमण के अर्थ सदा की मुक्ति के किये जायं तभी अत्येति यह चरितार्थ होता है, यह कहना उनका सर्वथा साहसमात्र है क्योंकि अत्यन्त—दुःख इससे यह नहीं पाया जाता कि फिर इस दुःख का अन्त नहीं होगा, अस्तु, लौकिक वाक्यों के प्रमाण से क्या । **'वेदाहमेतं पुरुषंमहान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। यजु० ३१।१८** इस वेद मन्त्र के साथ मिलान करने से उक्त उपनिषद्वाक्य के यही अर्थ स्पष्ट होते हैं कि मुक्तपुरुष मृत्यु का अतिक्रमण करता है वह अतिक्रमण सावधिक है वा निर-वधिक ! यदि निरवधिक माना जाय तो ब्रह्म के ऐश्वर्य्य और मुक्तपुरुष के ऐश्वर्य्य में कोई भेद नहीं रहता और मुक्तपुरुष के ऐश्वर्य्य का भेद वेद में स्पष्ट वर्णन किया गया है, जैसा कि **'सनोमह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृश्येयं मातरञ्च' ऋग्० १।२४।२** इसमें स्पष्ट है कि मुक्तपुरुष फिर जन्म को धारण करते हैं और माता पिता के दर्शन करता है ।

इस मन्त्र के साथ पूर्वोक्त कैवल्य वाक्य की और यजुर्वेद वाक्य की संगति करने से स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तपुरुष का ऐश्वर्य्य सावधिक है निरवधिक नहीं ।।

और जो कई लोग **'अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः । यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्' ऋग्० ८।७।११।५** इस मन्त्र को प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि जिनको ईश्वर चाहता है उन्हीं का पुन-र्जन्म होता है अन्यों का नहीं, ऐसा मानने पर तो वैदिकधर्म्म की न्यायरूपी लता पर कुठाराघात होता है, क्योंकि ईश्वर किसी को बिना कारण ऊँच-नीच नहीं बनाता, इसलिये **'यं कामये'** के अर्थ यहां कर्म्मानुसार कामना के हैं, अतएव यह मन्त्र पुनर्जन्म के विषय का है मुक्तपुरुष के विषय का नहीं, और इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि इससे पूर्व मन्त्र में **'मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्'' ऋग्० १०।१२५।४** अन्न का भोक्ता होना, देखना, प्राणन करना, श्रवण करना इत्यादि सब इन्द्रियों का कथन है जिससे कर्म्माधीन इन्द्रियों की

प्राप्ति स्पष्ट सिद्ध होती है, और वेद के इस आशय को **'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' ब्र० सू०** २।३।४२ में महर्षि व्यास ने स्पष्ट किया है कि यदि बिना ही कारण किसी को ऊँच किसी को नीच माना जाय तो विधि-निषेध सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं, और **'यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वाः' अथर्व०** १३।३।३।३ इत्यादि वेद-वाक्यों से स्पष्ट सिद्ध है कि ईश्वर कर्म्माधीन ही फल देता है, अन्यथा नहीं ।।

इसलिए जिसको चाहे उसको मुक्तिरूपी सिंहासन से नीचे पटक दे और जिसको न चाहे उसको सदा के लिए मुक्त रखे, ऐसा अन्धकार ईश्वर के यहाँ नहीं, इसलिए वैदिक सिद्धान्त यही है कि सब मुक्तपुरुषों का ऐश्वर्य्य सावधिक है किसी-किसी का नहीं ।।

जो कई एक लोग **अश्वो वोह्ला सुखं रथं हसनामुपमन्त्रिणः । शेपो रोमण्वन्तौ भेदौ वारिन्मण्डूक इच्छतीन्द्रायेन्दोपरिस्रव" ऋग्०** ७।५।२५।४ इस मन्त्र में शेप के अर्थ पुरुष के गुप्तेन्द्रिय के करके मुक्ति तथा वेद को कलङ्कित करते हैं, उनका उत्तर यह है कि इस मन्त्र में शेप के अर्थ प्रकाश वा आह्लाद के हैं, सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ यह हैं कि हे **(इन्दो)** चित्तवृत्ते ! तू **(इन्द्राय)** इन्द्र परमात्मा के लिए **(परिस्रव)** समर्पित हो जा, जिस प्रकार घोड़ा अपने रथादि यानों को लक्ष्यप्राप्ति के लिये अपने आपको समर्पण कर देता है और राजमन्त्री लोग शुभनीति वा साहित्य के लिए आत्मसमर्पण कर देते हैं **(शेप)** आत्मा का आह्लाद रोमों को हर्षित करने में आत्मसमर्पण कर देता है अर्थात् प्रसन्नता से पुरुष के रोम उत्थित हो जाते हैं, एवं तू परमात्मा में लिप्त हो जा, भला यहाँ **(शेप)** लिङ्गेन्द्रिय के **(स्रवण)** प्रवाह का क्या सम्बन्ध ? ज्ञात होता है कि वादी के हृदय पर सायणादि भाष्यकारों की ऐसी छाप लगी हुई है कि उसे मुक्ति में भी **शेपहर्षण** ही सूझता है अन्य नहीं ।।

सायणाचार्य्य ने उक्त मन्त्र के ये अर्थ किये हैं कि हे **सोम** ! तू इन्द्र देवता के लिये इस प्रकार परिस्रवित हो जिस प्रकार घोड़ा रथ के लिये और मन्त्री तथा उपमन्त्री उपहास तथा लज्जाकर बातों के लिए और **(शेप)** मनुष्य का गुप्तेन्द्रिय रोमवाली वस्तुओं के भेद के लिए तैयार रहता है, यहां तो सायणाचार्य्य भी महीधरभाष्य की लज्जाजनक बातों का उल्लङ्घन कर गये, अस्तु—

एक सायणाचार्य क्या प्रायः सब भाष्यकारों की ऐसी ही दशा है जो वेदों के ऐसे-ऐसे निन्दित अर्थ करके ईश्वरीय वाणी को निन्दित बना रहे हैं, और उनके अनुयायी "शुनः शेप" के भी अर्थ कुत्ते का गुप्तेन्द्रिय ही करते हैं वस्तुतः इसके अर्थ **'शुनः वायुः, वायुरिव शेपोगतिर्यस्य स शुनः शेपः'**=वायु के समान जिस विद्वान् की गति हो उसका नाम "शुनः शेप" है, इस प्रकार इसके अर्थ विद्वान् के थे क्योंकि यहां प्रकरण जीव का था, और बद्ध मुक्त का कथन पाये जाने से यहाँ मुक्तपुरुष

की प्रार्थना है जिसके शेष सम्बन्धि निन्दित अर्थ करके वेद को भी इसी अर्थ में लगाकर निन्दित कर दिया है ।।

इसी प्रकार वेदार्थ को बिगाड़कर कई एक लोगों ने वेदों की निन्दा की है जो अत्यन्त निन्दनीय है, कारण इसका यह है कि वेदों के उच्च भाव से गिरकर भारतीय लोगों ने जब से अधोमार्ग अवलंबन किये हैं, तब से यही व्यवस्था चली आती है, किसी ने गायत्रीमंत्र को जड़ सूर्य की उपासनापरक सिद्ध किया है और किसी ने **'उदुत्यंजातवेदसं' यजु० ७।४१** इस मन्त्र का जड़ सूर्योपासना में विनियोग किया है ।।

कहाँ तक लिखें विनियोग की प्रथा जब से चली है तब से अर्थों का अनर्थ करके वेदार्थ को कदर्थित कर दिया है और **'शन्नोदेवीरभिष्टये' यजु० ३६।१२** इत्यादि ईश्वर-विधायक मन्त्रों का भी जल स्थल में विनियोग किया है, बहुत क्या पत्र-पुष्प-पलाशादि पूजा में ही सम्पूर्ण वेद विनियुक्त कर दिया है वास्तव में वेद के महत्त्व को नहीं समझा ।।

वेद का महत्त्व

वेद **'हिरण्यगर्भः समवर्त्ततारग्रे' यजु० २५।१०** इत्यादि मन्त्रों द्वारा ईश्वर के महत्त्व को वर्णन करता है कि ईश्वर कोटानुकोटि सूर्यादि पदार्थों को गर्भ में धारण करके स्थिर है अर्थात् **'ज्योतिर्वैहिरण्यम्'** इस शतपथ के प्रमाण से सिद्ध है कि प्रकाशमान सूर्य्य मण्डल का अधिष्ठाता तथा विधाता एकमात्र ईश्वर ही है अन्य कोई नहीं ।।

इसी आशय से वेद में कहा है कि **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' ऋग्० १०।१९०**=सूर्य तथा चन्द्रमा को विधाता परमात्मा ने रचा है, वेद के इस आशय को न समझकर कई एक लोगों ने **'हिरण्यगर्भः' यजु० २५।१०** इस मन्त्र के अर्थ यह किये हैं कि जिसके गर्भ में सुवर्ण हो उसका नाम हिरण्यगर्भ है, इससे आशय यह निकाला जाता है कि जब स्वर्णादिक धातु ज्ञात हुए उससे पश्चात् वेद की रचना की गई है ।।

इस प्रकार की असंबद्ध कल्पनाओं से विभूषित करने वालों ने वेदार्थ को दूषित कर दिया ।।

वास्तव में उक्त मन्त्र के अर्थ यह थे कि जो सम्पूर्ण पदार्थों का धारण करने वाला परमात्मा है उसी की उपासना करनी उचित है अन्य की नहीं, इस स्थल में हम वेदार्थ का महत्त्व दिखलाने के लिए इस सूक्त के कतिपय मन्त्रों को उद्धृत करते हैं :—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

यजु० २५।११

जो परमात्मा इस सम्पूर्ण जगत् का स्वामी है, और प्राणन तथा निमेषादि क्रिया सब उसी की कृपा से होती हैं उस सुखस्वरूप परमात्मा की उपासना करें ।।

अथवा इस मन्त्र के यह भी अर्थ हैं कि **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'**=हम किस देव की उपासना करें, इसके उत्तर में यह कहा है कि, जो सूर्यादि प्रकाशक पदार्थों का स्वामी है और जिसकी सत्ता से प्राणी प्राणन और उन्मेष निमेषादि क्रियाओं को करते हैं वही उपासना योग्य, सर्वोपरि विराजमान सबका स्वामी है ।।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

यजु० २५।१२

जिस परमात्मा के महत्त्व को हिमालयादि पदार्थ वर्णन करते और अन्तरिक्षादि पदार्थ जिसकी उच्चता की साक्षी देते हैं और ये विशाल दिशोपदिशायें जिसकी भुजाओं के समान हैं वही परमत्मा जीवों का उपास्यदेव है ।।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

यजु० २५।१३

जो परमात्मा आत्मा के साधनरूप मनोविज्ञानादि इन्द्रियों का दाता, जो आत्मिकबल का देने वाला और जिसके आशीर्वाद से सम्पूर्ण प्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्त होते हैं तथा बड़े से बड़े विद्वान् जिसकी शरण को आकर प्राप्त होते हैं वही सबका उपास्य देव है अन्य नहीं ।।

आनो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ।।

यजु० २५।१४

उस परमात्मा की कृपा से हमारे लिये यज्ञ कल्याणकारी तथा हिंसारहित हों और विद्वान् लोग हमारी प्रतिदिन रक्षा करें ।।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभिनो निवर्त्तताम् ।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमावयं देवा न आयुः पतिरन्तु जीवसे ।।

यजु० २५।१५

हमारे सुखपूर्वक जीवन के लिए हम में सुमति उत्पन्न हो और हम लोग विद्वानों की सङ्गति को प्राप्त होकर दीर्घायु को प्राप्त हों ।

इत्यादि अनेक मन्त्र उनके महत्त्व को वर्णन करते है, जो लोग वेदों के अर्थों को अन्यथा करके उनको प्राकृत मनुष्यों के भावों के सदृश वर्णन करते हैं वे वेदार्थ की शैली को नहीं जानते ।।

वेद नाम उस ज्ञान का है जो ज्ञान ऋक्, यजु, साम तथा अथर्वरूप में परमात्मा से प्रकट हुआ है, इस बात को **'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' ऋग्० १०।९०।९** = वह पूर्ण परमात्मा जो सबका एक मात्र पूजनीय देव है उससे ऋचः = ऋग्वेद, सामानि = सामवेद, छन्दांसि = अथर्ववेद और यजुः = यजुर्वेद, जज्ञिरे = प्रकट हुए ।।

वैदिकों का यह परम सिद्धान्त है कि वेद एक ही समय में परमात्मा से प्रकट हुए, इसकी सिद्धि में पुष्ट प्रमाण यह है कि ऋग्वेद में चारों वेदों का नाम है, इसी प्रकार अन्य वेदों में भी ऋग्वेद का नाम है, इससे सिद्ध है कि वेद एक ही समय में प्रकट हुए हैं भिन्न-भिन्न समय में नहीं, अस्तु ।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि चारों वेद ईश्वरीय हैं अर्थात् ईश्वर रचित हैं, ब्रह्मा वा शिव, भरद्वाज, वशिष्ट वा किसी अन्य किसी ऋषि रचित नहीं, क्योंकि **'तस्माद्यज्ञात्' यजु० ३१।७** इस मन्त्र से यह स्पष्ट हो चुका है कि यजनीय = पूजनीय ईश्वर से वेद प्रकट हुए, यज्ञ नाम उक्त मंत्र में परमात्मा का है, इसमें प्रमाण यह है कि **'इन्द्रंमित्रं वरुणमग्निम्' ऋग्वे० १।१६४।४६** इस मंत्र के उत्तरार्द्ध में यह पाठ है कि **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** = परमात्मा को बुद्धिमान लोग यज्ञादि नामों द्वारा अनेक प्रकार से कथन करते हैं ।।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञ नाम यहां ईश्वर का निर्विवाद है, रही यह बात कि चारों वेदों का ईश्वर से प्रकट होना कहीं अन्यत्र प्रसिद्ध है वा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरसः' बृहदा० ४।५।११** यहाँ चारों वेदों का ईश्वर द्वारा प्रकट होना स्पष्ट है, अन्यत्र भी ब्राह्मण तथा उपनिषदों में ऐसा ही पाया जाता है, जैसा कि **'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः' मुण्ड० १।१।५** = ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये चारों वेद हैं, इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी पाया जाता है कि **'ऋग्यजुः सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः' नृ० ता० १।२** इस प्रकार चारों वेद एक ही समय में परमात्मा ने प्रकट किए, यह बात ऋग्वेद के प्रमाण तथा उपनिषदों के प्रमाण से ही सिद्ध नहीं किन्तु **'यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखम्" अथर्व० १०।७।२०** इसमें भी स्पष्ट है कि ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व ये चारों वेद परमात्मा से ही उत्पन्न हुए, इनकी उत्पत्ति का प्रकार यह है कि परमात्मा ने आदिसृष्टि में अग्नि नामक ऋषि को ऋग्वेद दिया, वायु नाम वाले को यजुर्वेद, आदित्य नाम वाले ऋषि को सामवेद, एवं अङ्गिराऋषि को अथर्व वेद दिया ।।

और **'त्रयोवेदा अजायन्त अग्नेः ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः' शतप० ११।५।८** इस वाक्य में तीनों का नाम प्रसिद्ध है, और शतपथ के पूर्वोक्त वाक्य में चारों वेदों का नाम है, यहाँ विरोध इसलिये नहीं कि यज्ञोपयोगी = कर्मकाण्ड के उपयोगी विशेषकर ये तीनों वेद ही हैं, इसलिये यहाँ तीनों का नाम है, यज्ञ के

इसी आशय को लेकर मनु से **'अग्निर्वायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्** मनु० १।२३ इस वाक्य में विशेषकर यज्ञोपयोगी वेदों का वर्णन किया है, इसके आशय को न समझकर जो कई एक लोग तीन वेदों की आशङ्का कर बैठते हैं कि वेद तीन ही हैं चतुर्थ अथर्ववेद का कहीं नाम नहीं, वह अत्यन्त भूल में हैं, क्योंकि **'ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्'** छा० ७।१।२ इस वाक्य में चारों वेदों का नाम स्पष्ट है, फिर तीन की शङ्का करना सर्वथा निर्मूल है, अस्तु ! इतना ही नहीं किन्तु ऋग्० मं० १ सू० ४३ मं० ९ में "सामवेद" यहाँ "वेद" शब्द भी वेद के लिए स्पष्ट आया है।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि चारों वेद परमात्मा ने ऋषियों के द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस फलचतुष्टय की सिद्धि के लिये प्रगट किये, इनमें मनुष्य जन्म के चारों फलों का भलीभांति वर्णन है, कई एक लोग यह कहते हैं कि इनमें पुनरुक्ति वा अत्युक्ति अथवा लज्जाकर बातों का वर्णन है, वे वेदार्थ की शैली को नहीं जानते ।।

पुनरुक्ति वह कहलाती है जो वाक्य निरर्थक बार-बार आये ! सो वेद में ऐसा नहीं सब मन्त्र तथा वाक्य प्रयोजन के लिए पुनः आये हैं, निरर्थक नहीं, इस प्रकार ब्राह्मणों में कई एक ब्राह्मण अभ्यास के लिये अथवा उपसंहार के लिए पुनः पुनः आये हैं, इसी प्रकार वेदों में भी दृढ़ता के लिये अथवा पूर्वोक्तार्थ को अन्त में फिर स्मरण करने के लिए मन्त्रों का अभ्यास है पुनरुक्ति नहीं, यही शैली दर्शन, उपनिषद् तथा अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट है जो वेद से ली गई प्रतीत होती है, इस विषय को हम **'वेदमर्य्यादा'** में विस्तारपूर्वक लिख आये हैं, इसलिये यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं, यहाँ वेदार्थ की शैली दिखलाने की अधिक आवश्यकता है, क्योंकि इसके न समझने से वेद में नानाप्रकार की शंङ्कायें उत्पन्न होती हैं ।।

वेदार्थ की शैली यह है कि वेद में केवल रूढि कोई शब्द नहीं किन्तु यौगिक और योगरूढ़ दो प्रकार के शब्द ही पाये जाते हैं, जो वेद में ऋषि, मुनि, विश्वामित्र, भारद्वाज और वशिष्ट आदि नाम आते हैं वे सब यौगिक हैं अर्थात् "ऋषिर्गतौ" से ज्ञानार्थ में ऋषतीति ऋषिः, और "मनु अवबोधने से "मुनि" शब्द सिद्ध होता है, इसके अर्थ मननशील पुरुष के हैं, जिसके प्रयोग ऋग् मं० १० सूक्त १३९ में बहुधा देखे जाते हैं, जैसा कि **'वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः'** ऋग्० १०।१३६।५ **'मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः'** ऋग्० १०।१३६।४ **'मुनयो वातरशनाः पिशगा वसते मला'** ऋग्० ।१०।१३६।२ इत्यादि स्थलों में मननशील का नाम "मुनि" हैं, **'मन्यते मनुते वा मुनिः'** इस व्युत्पत्ति से वेदार्थ के ज्ञाता का नाम "मुनि" स्पष्ट है, एवं विश्वामित्र = सबके मित्र का नाम विश्वामित्र है, यहाँ **'मित्रेचर्षौ'** इस पाणिनीय सूत्र से मित्र शब्द से पूर्व को दीर्घ करके विश्वामित्र शब्द सिद्ध होता है, और इसका प्रयोग ऋग्० ३।५३।९ में आया है, एवं

वशिष्ट शब्द भी यौगिक है इसके अर्थ वशीकृतेन्द्रिय=संयमी पुरुष के हैं, इसका प्रयोग **'वसिष्टोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोधिजातः'** ऋ० ७।३३।११ यहाँ इस अर्थ में आया है कि संयमी पुरुष की माता उर्वशी=विद्या और मन पिता है, एवं भरद्वाज, जमदग्नि आदि जितने नाम आये हैं वे सब यौगिक हैं किसी पुरुष-विशेष के नाम नहीं ।।

यह शैली वेदार्थ की थी, जिसको भूलकर लोगों ने विश्वामित्र आदि व्यक्ति-विशेषों के नाम रखकर अनेक प्रकार की कथा कहानियाँ वेदों के आधार बना लीं, इनका गन्धमात्र भी वेदों में नहीं, इसका कारण आधुनिक इतिहास, कथा, कथानक और अमरकोश आदि हैं, प्रमाण इसका यह है कि इन ग्रन्थों में वैदिक शब्दों की निरुक्ति नहीं किन्तु उनसे विरुद्ध निरुक्ति पाई जाती है, जैसाकि **'स्यादर्यः स्वामिवैश्ययोः'** अमर को० ३।३।१४६ इत्यादिकों में वर्णन किया है कि अर्य्य नाम स्वामी और वैश्य का है, वास्तव में अर्य नाम ईश्वर का है, क्योंकि **'अर्यते गच्छति ज्ञानद्वारेण सर्वत्र प्राप्नोतीति अर्य्यः'** यौगिक अर्थ अर्य शब्द के ये थे और इसीलिए **'आर्य्य'** परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों का नाम है, इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने कहा है कि **'आर्य्यः ईश्वरपुत्रः'** निरु० ६।५।१४=ईश्वर के पुत्रों का नाम आर्य्य है, पुत्र के अर्थ यहाँ अपत्य के अभिप्राय से नहीं किन्तु उसकी आज्ञा पालन करने के अभिप्राय से कहा गया है, इस अर्थ का पोषक वेद में यह प्रमाण है कि **'ज्योतिश्चक्रथुः आर्य्याय'** ऋग्० १।११७।२१=परमात्मा ने आर्य पुरुष के लिये ज्ञानरूप ज्योति को दिया है, इसी प्रकार **'संसमिद्युवसे वृषन्नग्नेविश्वान्यर्य आ। इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर"** ऋ० १०।१९१।१=सम्पूर्ण कामनाओं के पूर्ण करने वाले (अर्य्य) हे परमात्मन् ! आप सर्वत्र पूजनीय हैं, आप हमको धनादि रत्नों से भरपूर करें, यहां अर्य शब्द स्पष्टतया ईश्वर का वाचक है किसी वैश्य वा स्वामी का नहीं, क्योंकि इस मन्त्र से पूर्व **'सूर्य्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** यह मन्त्र है और आगे **'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवाभागं यथा पूर्वे-संजानाना उपासते'** यह ईश्वर प्रार्थना का विधायक मन्त्र है, इसलिये यहाँ अर्य शब्द के वैश्यादि जातिपरक होने की सम्भवना भी नहीं हो सकती ।।

जिन लोगों ने **'स्यादर्य्यः स्वामिवैश्ययोः'** ऐसा कथन करके आर्य्य शब्द को केवल स्वामी, वैश्य विधायक बना दिया है उन्होंने वेदार्थ का सर्वथा विनाश किया है, यदि हम अर्य्य शब्द की निरुक्ति करते तो इस प्रकार करते कि—

अर्य्यः स्यादीश्वरे वेदे लोके तु स्वामि वैश्ययोः ।
वर्णादिवर्णने वेदे वैश्यादौ च निगद्यते ।। १ ।।

अर्थ नाम वेद में मुख्यता करके ईश्वर का है और लोक में स्वामी तथा वैश्य के नाम में आता और जहाँ ब्राह्मणादि वर्णों का वर्णन है वहां वेद में भी वैश्यादिकों के अर्थों में पाया जाता है अन्यत्र नहीं, यह व्यवस्था इस ऋचा से भी स्पष्ट है कि—

"यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यांशूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्धचतामुपमादो नमतु यजु० २६।२=परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! तुम वेदरूपी वाणी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, चारों वर्णों के लिये उपदेश करो, न केवल इसी पर सन्तुष्ट होओ किन्तु अपने दास तथा अन्त्यज के लिये भी उपदेश करो, जिस प्रकार मैं अपने अधिकारी लोगों को दक्षिणा देता हूँ इसी प्रकार न्यायानुकूल तुम भी यथाधिकार दो, जिस प्रकार मैं विद्वानों का प्रिय हूँ एवं आप भी विद्वान् पुरुषों के प्रिय बनें और यज्ञ के अन्त में यह प्रार्थना करें कि परमात्मा इस काम की पूर्ति करे और हमको अलौकिक मोक्ष-सुख की प्राप्ति हो, यहाँ अर्य्य नाम वैश्य का है॥

इसी अर्थ को अथर्ववेद के ये मन्त्र पुष्ट करते हैं कि **'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्य्ये'** अथर्व० १९।७।६२।१ **'प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च। यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते'** अथर्व० १९।४।३२।८=हे परमात्मन्! हमको मनुष्यमात्र का प्रिय बनाओ, हम सबको वेदवाणी के अधिकारी समझें॥

यहाँ यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि ये अथर्ववेद के उस भाग के मन्त्र हैं जिनको कई एक अथर्ववेद के निन्दक प्रक्षिप्त बतलाया करते हैं, अस्तु—

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेदवाणी के सभी अधिकारी हैं, जो कई एक लोग यह कहते हैं कि **'यथेमां वाचं कल्याणीम्'** यजु० २६।२ यह मन्त्र यजमान की ओर से है अर्थात् यज्ञ के अन्त में यजमान सबको आशीर्वाद देता है कि मैं जिस प्रकार आशीर्वादवाणी कहता हूँ, एवं तुम भी कहो, इतने मात्र से सबको वेद का अधिकार सिद्ध नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि यजमान ने भी तो उक्त मन्त्र ही सबको सुनाया फिर वेद का अधिकार सबके लिये क्यों नहीं।

अन्य युक्ति यह है कि **'कल्याणी'** विशेषण देने से यह बात स्पष्ट है कि वेदवाणी से भिन्न अन्य कोई कल्याण देने वाली वेद के तुल्य नहीं, इसलिये यहां वेदवाणी का ग्रहण ही युक्तियुक्त है अन्य का नहीं।

उक्त वेदवाणी जिसको ईश्वर ने स्वयं कल्याणी कथन किया है उसके तात्पर्य्य को न समझकर वेदानभिज्ञ लोगों ने अर्थ के अनर्थ कर दिये हैं, कोई उक्त मन्त्र से यजमान का आशीर्वाद निकालता है, कोई **'संगच्छध्वं संवदध्वम्'** ऋग्० १०।१९१।२ से ऋत्विग् लोगों का एक कतार बाँधकर चलना सिद्ध करता है, कोई **'समानी व आकूति समाना हृदयानि वः'** ऋग्० १०।१९१।४ से ऋत्विजों का एक स्वर में आलाप करना बतलाता है, कोई **'शेपोरोमण्वन्तौ'** ऋ० ७।५।२५।४ इत्यादि मन्त्रों में शेप के घृणित अर्थ करके शेप-स्रवण का प्रवाह बहाता है, ऐसी दशा में महर्षि श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के अनुयायी गहरी सुषुप्ति में

सुषुप्त थे। आज महर्षि का मोक्षधाम प्राप्त हुए भी पूरे ३६ वर्ष हुए, किसी ने भी उक्त वेदमयी कल्याणी वाणी का उद्धार नहीं किया अर्थात् ऋग्वेद मं० ७। सू० ६१ मं० २ तक महर्षि का भाष्य हुआ था आगे उसकी पूर्ति किसी ने भी न की, करता कौन? जबकि इस पूर्णाहुति के दिलाने वाले यजमान ही न थे।

ईश्वर की अपार दया से **रायबहादुर रलाराम** चीफ इञ्जिनियर बैङ्गाल स्टेट रेलवे, सेठ **जयनारायण रामचन्द्र पोद्दार**, श्रीयुत **बाबू छाजूराम** और श्रीयुत **बाबू जगन्नाथप्रसाद** ने इस काम को पूर्ण कराने का उद्योग किया, मैं भी महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी की आज्ञा पालन के लिये उपस्थित हुआ, जिसे आज ४० चालीस वर्ष महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के दर्शन किये हुए व्यतीत हो चुके हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु उक्त महर्षि के वचनों को सुनकर मैंने उनके **गुरुभाव** को उसी समय हृदय में धारण कर लिया था, जैसा कि—

वेदलोकाङ्कचन्द्रेऽब्दे, विक्रमीये शुभे समे।
मयार्य्यमुनिनाश्रावि, दयानन्दस्य भाषणम् ॥१॥

भेता पार्थिवदेवानां नेता यो धार्मिके पथि।
वेत्ता वैदिकधर्म्मस्य दयानन्दः सरस्वती ॥२॥

दीक्षितोऽहं तदा तेन वेदवाक्यप्रदानतः।
मयाप्यादरतस्तस्यशिष्यतातद्दिनाद्धृता ॥३॥

संवत् १९३४ में पहले पहल मैंने स्वामीजी के दर्शन अमृतसर में किये, फिर सं, १९३६ के हरिद्वार कुम्भ में, बहुत क्या उनकी आकृति के देखने से यह प्रतीत होता था कि यदि कोई ईश्वर के स्थान में मृण्मय देवों की पूजा का भेदन करने वाला और अज्ञानरूपी रज्जुओं से बंधे हुए पुरुषों के बन्धनों का छेदन करने वाला तथा वैदिकधर्म्म की मर्य्यादा को स्थिर करने वाला है तो एकमात्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ही है, उस समय उनके वेदरूपी वाक्यों के सुनने से मेरे हृदय में उनकी गुरुता का भाव बैठ गया और उसी दिन से मैंने उनके शिष्यभाव को स्वीकार किया, इस भाव से मैंने स्वामीजी के शेषभाष्य को पूर्ण करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझा, जिन महानुभावों की सहायता से यह महान् कार्य्य आरम्भ किया गया है उनके नाम निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित हैं—

श्लोक

वेदभाष्यात्मकं कार्य्यं, गम्भीरं दुस्तरं महत्।
असहायः कथं गच्छेदुदधेरस्य पारताम् ॥१॥

अकूपारस्य पारं वै, यत्साहाय्यादहं गतः।
तन्नामानि विशेषेण, कीर्त्यन्ते ह्यत्र मानतः ॥२॥

स्टेटाख्ये रेलवे प्राच्यां, चीफेञ्जिनियरे पदे ।
रायबहादुरः श्रीमान्, रलारामाख्यविश्रुतः ॥३॥

जयनारायणः श्रेष्ठी, रामचन्द्रस्तदात्मजः ।
पोद्दारौ विश्वविदितौ, कलिकातानिवासिनौ ॥४॥

श्रीबाबूछाजुरामश्च, जगन्नाथस्तथैव च ।
एतेषां द्रव्यसाहाय्याद्वेदभाष्यं प्रकाश्यते ॥५॥

कृष्णप्रियतमे मासे, मार्गशीर्षे मनोरमे ।
त्रयोदश्यां तिथौ काश्यां, मुनिनेयं प्रकाशिता ॥६॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धा वेदप्रस्तावना समाप्ता
संवत् १९७४ मार्गकृष्ण १३ त्रयोदशी

काशी

॥ ओ३म् ॥

अथ सप्तमं मण्डलम्

[मण्डल ७। अनुवाक ४। सूक्त ६१]

[यजुः ३०।३]

ओ३म् विश्वा॑नि देव सवितर्दुरि॒तानि॒ परा॑ सुव। यद्भ॒द्रं तन्न॒ आ सु॑व॥

दयानन्दः समाख्यातो, यस्यान्ते च सरस्वती।
एतन्नामान्वितः स्वामी, दयानन्दः सरस्वती॥१॥

सेतुर्लोकव्यवस्थाया, नौरासीद्वेदवारिधेः।
वेदस्य स्थापना तेन, ह्यकारि भूतले पुनः॥२॥

एकषष्टितमे सूक्ते, सप्तमे मण्डले तथा।
द्वितीयमन्त्रं सम्प्राप्य, तद्भाष्यमन्ततां गतम्॥३॥

इत्यालोच्य प्रखिन्नेन, मयाऽऽर्य्यमुनिनाऽधुना।
शेषं विधास्यते भाष्यं, स्वामिमार्गानुगामिना॥४॥

अथ परमात्मनाध्यापकोपदेशकयोः कर्तव्यं कर्मोपदिश्यते—

अब परमात्मा अध्यापक तथा उपदेशकों के कर्तव्य कर्मों का उपदेश करते हैं:—

प्रोरोर्मि॑त्रावरुणा पृथि॒व्याः प्र दि॒व ऋ॒ष्वाद्बृ॑ह॒तः सु॑दानू।
स्पशो॑ दधाथे॒ ओष॑धीषु वि॒क्ष्वृध॑ग्य॒तो अनि॑मिषं॒ रक्ष॑माणा॥ ३॥

प्र। उ॒रोः। मि॒त्रा॒व॒रु॒णा॒। पृ॒थि॒व्याः। प्र। दि॒वः। ऋ॒ष्वात्। बृ॒ह॒तः। सु॒दा॒नू॒ इति॑ सु॒ऽदा॒नू॒। स्पशः॑। द॒धा॒थे॒ इति॑। ओष॑धीषु। वि॒क्षु। ऋध॑क्। य॒तः। अनि॑ऽमिषम्। रक्ष॑माणा॥ ३॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) मेद्यति स्निह्यतीति मित्रोऽध्यापकः, अध्यापनद्वारेणैव अध्यापकः, मित्रवदाचरते 'ञिमिदा स्नेहने' अस्माद्धातोर्मित्रशब्दो निष्पन्नः, अस्योपरि

निरुक्तप्रमाणम्—**"मेदयतेर्वा"** निरु० १०।२१।४। स्नेहनार्थाद्धातोरस्य सिद्धिः, एवं वृणोतीति वरुणः=उपदेशकः, यः सदुपदेशद्वारेण शिष्यमाच्छादयति स वरुणः, एवं शतपथेऽपि **"प्राणो वै मित्रः"** श० ६।५।१।५ **"अपानो वरुणः"** श० ८।२।५।६। अपानयति दुःखं सोऽपानः=उपदेशकः, स च उपदेशद्वारेण दुःखं दूरीकरोति, यद्यपि **"शन्नो मित्रः शं वरुणः"** यजु० ३६।९ अत्र मित्रावरुणौ ईश्वरं कथयतस्तथापि **"प्रोरोर्मित्रावरुणा पृथिव्याः"** अस्मिन् मन्त्रे मित्रावरुणौ=अध्यापकोपदेशकयोरेव वाचकौ प्रकरणात्, अत्राध्यापकोपदेशकयोरेव प्रकरणम्, इतः प्रागस्य सूक्तस्य द्वितीय-मन्त्रे मित्रावरुणाभ्यामध्यापकोपदेशकौ गृहीतौ, प्राणापानवद्वर्त्तमानौ अध्यापको-पदेशकावेव एवंविधमुपदेशं कुरुतः, यथा एक एव अग्निशब्दः **"उद्बुध्यस्वाग्ने"** यजु० १५।५४ इत्यत्र भौतिकाग्नेर्वाचकः, **"अग्निमीळे पुरोहितम्"** ऋग्० १।१।१ इत्यत्र-भौतिकाग्नेरीश्वरस्य च वाचकः **"तदेवाग्निस्तदादित्यः"** यजु० ३२।१ इत्यत्र ईश्वर-स्यैव वाचकः, एवं वेदवचोवैचित्र्यसामर्थ्यात् कुत्रचिन्मित्रावरुणौ ईश्वरं वर्णयतः, कुत्रचिद्विद्युज्जले अभिधत्तः, कुत्रचिदध्यापकोपदेशकौ, अत्र न कश्चिदपि दोषोऽस्ति ॥

किं बहुना **"स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्"** ब्र० सू० २ । ३ । ५ अत्रेदमेव निर्णीतम्, यथैकोपि ब्रह्म शब्दः **"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति"** तै० ३ । २ इत्यत्रै-कस्मिन्नपि श्लोके जिज्ञासाकर्मभूतस्य ब्रह्मणः ईश्वरवाचित्वम्, तपो ब्रह्मेति तितिक्षावाचित्वम्, एवं योग्यतावशात् एकस्मिन्नपि प्रकरणे मित्रावरुणशब्दयोरने-कार्थाभिधायित्वमिति बोध्यम्—

सति चैवं मन्त्रस्यैवंविधः पदार्थो भवति (मित्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ ! भवन्तौ (प्रोरोः) विस्तीर्णायाः (पृथिव्याः) पृथिवीलोकस्य (ऋष्वात्) महतः (प्रदिवः) द्युलोकस्य च विद्यामिति उपरितोऽध्याहृत्य, वर्णयताम् (यतः) युवां (बृहतः सुदानू) उदाराणाम् (स्पशः) भावं (दधाथे) धृतवन्तौ, किञ्च (ओषधीषु) रोगनिवार-कद्रव्यरूपासु (विक्षु) प्रजासु च (ऋधक्) सत्यं (रक्षमाणा) रक्षां कुर्वाणौ अतः (अनिमिषं) सर्वदैव प्रजायाः रक्षां कुरुताम् ॥

भावार्थः—ईश्वरो वदति—यस्मिन् देशे अध्यापकास्तथोपदेशकाः स्वधर्म्मं पालयन्ति तस्मिन् देशे कदाचिदपि अवनतिर्न भवति, अध्यापकाः स्वोपदेशेन स्वशिष्यान् अध्यापयन्ति उपदेशकाश्च धर्म्मार्थकाममोक्षप्रियान् प्राणिनः वैदिक-धर्म्मतत्त्वमुपदिशन्ति, ताभ्यां संस्कृताः तत्रत्याः सर्वे नरा नार्यश्च स्वकर्त्तव्यं बुध्वा स्वधर्ममाचरन्ति, इत्यभिप्रायवता ईश्वरेणोपदिष्टम्, भो ! अध्यापकोपदेशकौ ! भवद्भ्यां अध्यापनोपदेशाभ्यां सत्यस्य प्रचारः कार्य्यः, तथौषधिप्रचारेण च शारीरक-रोगनिवृत्तिरपि कार्य्या, अन्यत्र आध्यात्मिकोपदेशेन मानसरोगनिवृत्तिरपि कर्त्तव्या एवं सर्वदैव प्राणिमात्रं प्रति सुखं सञ्चारयन्तु भवन्तः ॥

पदार्थ—(मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम (प्रोरोः) विस्तृत (पृथिव्याः) पृथिवी और (ऋष्वात्) बड़े (प्रदिवः) द्युलोक की विद्याओं का वर्णन करो (यतः) क्योंकि आप लोग (बृहतः) बड़े बड़े (सुदानू, स्पशः) दानी महाशयों के भावों को (दधाथे) धारण किये हुए हो, और (ओषधीषु) औषधियों द्वारा (अनिमिषं) निरन्तर (विक्षु) सम्पूर्ण संसार की (रक्षमाणा) रक्षा करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम सत्य का प्रचार तथा औषधियों=अन्नादि द्वारा प्रजा का भले प्रकार रक्षण करो अर्थात् अपने सदुपदेश द्वारा मानस रोगों की और औषधियों द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा करके संसार में सर्वथा सुख फैलाने का उद्योग करो ॥ ३ ॥

शंसा मित्रस्य वरुणस्य धाम शुष्मो रोदसी बद्बधे महित्वा ।
अयन्मासा अयज्वनामवीराः प्र यज्ञमन्मा वृजनं तिराते ॥ ४ ॥

शंस । मित्रस्य । वरुणस्य । धाम । शुष्मः । रोदसी इति । बद्बधे । महित्वा ।
अयन् । मासाः । अयज्वनां । अवीराः । प्र । यज्ञऽमन्मा । वृजनं । तिराते ॥ ४ ॥

पदार्थः—हे मनुष्याः ! भवन्तः (मित्रस्य) अध्यापकस्य (वरुणस्य) उपदेशकस्य च (धाम) पदम् (शंस) प्रशंसन्तु तयोरध्यापकोपदेशकयोः (शुष्मः) बलं (रोदसी) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (महित्वा) महत्वाय (बद्धधे) संसारमर्यादां बध्नातु (अयज्वनाम्) अयज्ञानाम् अकर्मणाम् संतानाः (अवीराः) वीरत्वधर्मरहिताः भवेयुः, अन्यच्च तेषाम् (मासाः) समयाः (अयन्) वीरसन्तानरहिता भवेयुः (प्र यज्ञमन्मा) यज्वानः (वृजनं) वलं (तिराते) वर्द्धयन्तु ॥

भावार्थः—परमात्मोपदिशति—भो जनाः ! अस्मिन् जगति अध्यापकानामुपदेशकानाञ्च सर्वोपरि पदं वर्त्तते. अतो भवद्भिः तत्पदस्य सर्वथैव रक्षणं कार्य्यम्, अन्यच्च अयज्ञानामकर्मणां निष्फल एव सन्तानो याति, यतश्च ईश्वराज्ञानुयायिनः ईश्वरनियमं पालयन्ति, अतएव ते सुखिनः, ये ईश्वरीयनियमान् न पालयन्ति तेषां मासा दिनान्यपि दुःखेन यान्ति, इत्यभिप्रायेणोक्तं तेषां मासा अवीरा एव अयन् अगच्छन्नित्यर्थः ॥

अस्येदमेव तात्पर्य्यं यत्सर्वेषां पापानां मूलकारणमेकमज्ञानमेव, अतः पूर्वं भवद्भिः अध्यापकोपदेशकयोरेव वृद्धिः कर्तव्या, कुतः यतश्च यस्मिन्देशे अध्यापकानां उपदेशकानां च बलं न वर्द्धते तस्मिन्देशे अज्ञानस्य मूलोच्छेदोऽपि न भवति प्रत्युत अज्ञानप्राबल्येन सर्वत्रानैश्वर्य्यस्य दारिद्र्यस्य च प्रचारो भवति, अस्य निवृत्त्यर्थं परमात्मना अध्यापकोपदेशकाश्चाव्याहतगतय उत्पादिताः ॥

इत्यभिप्रायेणैव **"काम एष क्रोध एष."** गी० ३।३७ अत्र भगवता कृष्णन अज्ञानमूलोच्छेदनमेवोपदिष्टम्, कुतः यतश्च अज्ञानमूलोच्छेदनं विना कदाचिदपि जगति कल्याणं नोत्पद्यते, सम्भाव्यते चेदं यद्भगवता कृष्णेन अयं भावः अस्मादेव मन्त्राद् गृहीतः ॥

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुम (मित्रस्य, वरुणस्य, धाम) अध्यापक तथा उपदेशकों के पदों को (शंस) प्रशंसित करो (शुष्मः) जिनका बल (रोदसी) द्युलोक तथा पृथ्वीलोक में (महित्वा) महत्व के लिए (बद्बधे) संसार की मर्य्यादा बांधे (अयज्वनां) अयज्ञशील-अकर्मी (अवीराः) वीरसन्तानों से रहित होकर (मासाः) दिन (अयन्) व्यतीत करें और (प्रयज्ञमन्मा) विशेषता से यज्ञशील सत्कर्मी पुरुष (वृजनं) सब विपत्तियों से मुक्त होकर (तिराते) जगत् का उद्धार करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! संसार में सबसे उच्च पद अध्यापक तथा उपदेशकों का है, तुम लोग इनके पद की रक्षा के लिए यत्नवान् होओ ताकि इनका बल बढ़कर संसार के सब अज्ञानादि पापों का नाशक हो, और संसार मर्यादा में स्थिर रहे ।।

तात्पर्य्य यह है कि संसार में सब पापों तथा अवनतियों का मूल कारण एकमात्र अज्ञान ही है इसलिए तुमको सबसे पहले अज्ञान की जड़ काटने के लिए अध्यापक तथा उपदेशक बढ़ाने चाहियें, क्योंकि जिस देश में उपदेशक और अध्यापकों की बलवृद्धि नहीं होती उस देश में अज्ञान की जड़ भी नहीं कट सकती प्रत्युत अज्ञान की सन्तति बढ़कर अनैश्वर्य्य और दारिद्र सर्वत्र फैल जाता है, इसी दारिद्रय की निवृत्ति के लिए परमात्मा ने पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष लोक में अव्याहतगति अर्थात् बिना रोकटोक से गतिशील होने के लिए अध्यापक तथा उपदेशकों के कर्त्तव्यों का वर्णन किया है ।।

इसी भाव से कृष्णजी ने **"काम एष क्रोध एषः"** गी. ३।३७ में अज्ञान की जड़ काटने का उपदेश करते हुए बलपूर्वक कहा है कि जब तक ज्ञानरूप शस्त्र से अज्ञान का छेदन नहीं किया जाता तब तक संसार का कल्याण कदापि नहीं हो सकता, ज्ञात होता है कि यह भाव कृष्णजी ने इसी स्थल के वेदमन्त्रों से लिया है ।।४।।

अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम् ।
द्रुहः सचन्ते अनृता जनानां न वां निण्यान्यचिते अभूवन् ।।५।।

अमूरा । विश्वा । वृषणौ । इमाः । वां । न । यासु । चित्रं । ददृशे । न । यक्षं । द्रुहः । सचन्ते । अनृता । जनानां । न । वां । निण्यानि । अचिते । अभूवन् ।। ५ ।।

पदार्थः—अध्यापकोपदेशकयोः (यासु) क्रियासु (चित्रं) वैचित्र्यं=शक्तेर्वैलक्षण्यमित्यर्थः (न, ददृशे) न दृष्टिगतं भवति (न यक्षं) यासु न पूजायोग्यः कश्चिद्भावः (इमाः विश्वा) तौ अध्यापकोपदेशकौ (वां) युवां प्रति (वृषणौ) सदुपदेशस्य वृष्टिकर्त्तारौ(न) न भवतः, अन्यच्च (वां) युवा प्रति (ते) एवंविधा अध्यापकोपदेशकाः ये (द्रुहःसचन्ते) द्विषन्ति तेषां (अनृता) अनृतानि (निण्यानि) वचांसि (जनानां) (अचिते) अज्ञानाय (अभूवन्) भवन्ति अतएव (अमूरा) अज्ञानरहिताः भवन्तः सर्वे सदुपदेशकान् स्वीकुर्य्युः ।।

भावार्थः—परमात्मोपदिशति, हे जनाः ! भवन्तः सर्वे अध्यापकोपदेशकयोर्विषये सर्वदैव अज्ञानरहिता भवेयुः, यतस्ते सर्वे उपदेशका अध्यापकाश्च वाग्मिनः सत्यवादिनश्च भवेयुः अन्यच्च ते स्तुतिनिन्दाकर्त्तारोऽपि न स्युः अर्थात्सर्वदैव सरलप्रकृतयः सत्यवादिनो वेदाध्ययनप्रियाश्च अध्यापकस्य उपदेशकस्य च पदे भवद्भिः स्थापनीयाः ।।

पदार्थ—(यासु) जिन उपदेशक तथा अध्यापकों की क्रिया में (चित्रं) विचित्र शक्तियें (न, ददृशे) नहीं देखी जाती (न, यक्षं) न जिनमें श्रद्धा का भाव है वे (विश्वा) सम्पूर्ण संसार में (इमाः, वृषणौ) अपनी वाणी की वृष्टि (न) नहीं कर सकते, और जो (वां) तुम्हारे उपदेशक

तथा अध्यापक (जनानां) मनुष्यों की (अनृता, द्रुहः, सचन्ते) निन्दा वा दुश्चरित्र कहते हैं उनकी (निण्यानि) वाणियें (अचिते, अभूवन्) अज्ञान की नाशक नहीं होती, इसलिए (अमूरा) तुम लोग पूर्वोक्त दोषों से रहित होओ, यह परमात्मा का उपदेश है॥

भावार्थ—जिन अध्यापक वा उपदेशकों में वाणी की विचित्रता नहीं पाई जाती और जिनकी वेदादि सच्छास्त्रों में श्रद्धा नहीं है उनके अज्ञान निवृत्तिविषयक भाव संसार में कभी नहीं फैल सकते और न उनकी वाणी वृष्टि के समान सद्गुणरूप अंकुर उत्पन्न कर सकती है, इसी प्रकार जो अध्यापक वा उपदेशक रात्रि दिन निन्दा स्तुति में तत्पर रहते हैं वह भी दूसरों की अज्ञानग्रन्थियों का छेदन नहीं कर सकते, इसलिए उचित है कि उपदेष्टा लोगों को निन्दास्तुति के भावों से सर्वथा वर्जित रहकर अपने हृदय में श्रद्धा के अंकुर दृढ़तापूर्वक जमाने चाहियें, ताकि सारा संसार आस्तिक भावों से विभूषित हो॥५॥

अथ वेदज्ञा एवोपदेशका भवेयुरित्युपदिश्यते—

अब परमात्मा उपदेशकों के वेदवाणीयुक्त होने का उपदेश करते हैं:—

समु वां यज्ञं महयं नमोभिर्हुवे वां मित्रावरुणा सबाधः।
प्र वां मन्मान्यृचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि॥ ६॥

सं। ऊं इति। वां। यज्ञं। महयं। नमःऽभिः। हुवे। वां। मित्रावरुणा। सऽबाधः। प्र। वां। मन्मानि। ऋचसे। नवानि। कृतानि। ब्रह्म। जुजुषन्। इमानि॥ ६॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ! (वां) युवयोः (महयं) सत्काराहँ यज्ञं (सबाधः) जिज्ञासुरहं (नमोभिः) सत्कारैः (समु) सम्यक्तया (हुवे) स्वीकुर्याम् अन्यच्च (वां) युवयोः करुणया (नवानि, मन्मानि) नूतनव्याख्यानानि (प्र ऋचसे) पदार्थज्ञानविवृद्धये (कृतानि) दत्तानि, अन्यच्च (वां) युवयोः इमानि व्याख्यानानि (ब्रह्म, जुजुषन्) ब्रह्मसंबन्धीनि॥

भावार्थः—ईश्वरो वदति—हे अध्यापकोपदेशकौ! भवतोः प्रवचनरूपः=अध्यापनरूपः उपदेशरूपश्च यज्ञः मयाऽऽद्रियते, अन्यच्च वेदार्थबोधकानि यानि यानि नूतनानि व्याख्यानानि तानि तानि भवद्भिः सर्वदैव दातव्यानि, यैर्वेदस्य ख्यातिर्वर्द्धेत, तद्द्वारा स्वजीवनमपि सफलीकुरुतां भवन्तौ, अस्मिन् मन्त्रे यत्कृतानि इति पदं तन्न मनुष्यस्य कृतिं बोधयति, अपि तु ईश्वरस्यैव कृतिं बोधयति, कुतः वेदानामीश्वरज्ञानत्वात् नित्यत्वाच्च, प्रतिपादितं चैतत्—**"अस्य वा महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद अथर्वाङ्गिरसः"** बृहदा० ४।५।११ इत्यत्रेति॥

पदार्थ—(मित्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको (सबाधः) मैं जिज्ञासु (वां) तुम्हारे (महयं, यज्ञं) प्रशंसनीय यज्ञ को (सं, ऊं) भलेप्रकार (नमोभिः) सत्कारपूर्वक (हुवे) ग्रहण करता हूं (वां) आपके (नवानि) नये (मन्मानि) व्याख्यान (प्र ऋचसे) पदार्थ ज्ञान के बढ़ानेवाले हैं, और (वां) आपके (कृतानि) दिये हुए (इमानि) ये व्याख्यान (ब्रह्म, जुजुषन्) परमात्मा के साथ जोड़ते हैं।

भावार्थ—हे अध्यापक तथा उपदेशको! मैं जिज्ञासु तुम्हारे यज्ञों को सत्कारपूर्वक स्वीकार करता हुआ प्रार्थना करता हूं कि आपके उपदेश मुझे ब्रह्म की प्राप्ति करायें॥ ६॥

इयं देव पुरोहितिर्युवभ्यां यज्ञेषु मित्रावरुणावकारि ।
विश्वानि दुर्गा पिपृतं तिरो नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

इयं । देवा । पुरःऽहितिः । युवऽभ्यां । यज्ञेषु । मित्रावरुणौ । अकारि । विश्वानि । दुःऽगा । पिपृतं । तिरः । नः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(मित्रावरुणौ) हे अध्यापकोपदेशकौ (युवभ्यां) भवद्भ्यां (यज्ञेषु) यज्ञादिषु (इयं, देव, पुरोहितिः) देवानां हितकारिणीयं वाक् (अकारि) कृता, अन्यच्च (नः) अस्माकं (विश्वानि) सम्पूर्णानि (दुर्गा) विषमाणि विघ्नानीत्यर्थः (तिरः) तिरस्कृत्य (पिपृतं) नाशयतम्, यूयं (स्वस्तिभिः) कल्याणकारिणीभिर्वाणीभिः (सदा) सर्वदा (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ॥

भावार्थः—परमात्मोपदिशति, कर्मोपासनाज्ञानात्मकेषु यज्ञेषु अध्यापकोपदेशकाभ्यामेव पुरोहितस्य कर्म्म कारयितव्यम्, नान्येभ्यः, यत एवंविधा विद्वांसः याज्ञिका भवन्ति अत एभ्य एव स्वस्तिवाचनस्य प्रार्थना करणीया नान्येभ्य इति ॥

पदार्थ—(मित्रावरुणौ, युवभ्यां) अध्यापक और उपदेशक आप दोनों (यज्ञेषु) यज्ञों में (इयं, देव, पुरोहितिः) सब विद्वानों के हित करनेवाली वाणी (अकारि) कथन करें और (नः) हमारी (विश्वानि, दुर्गा) सब प्रकार की विषमता को (तिरः) तिरस्कार करके (पिपृतं) नष्ट करें, (यूयं) आप लोग (नः) हमको (सदा) नित्यप्रति (स्वस्तिभिः) अपनी मंगलप्रद वाणियों से (पात) कल्याणदायक उपदेश करते रहें ॥

भावार्थ· परमात्मा उपदेश करते हैं कि कर्म, उपासना तथा ज्ञान इन तीनों प्रकार के यज्ञों में अध्यापक तथा उपदेशक ही पुरोहित का कार्य्य करते और यही जनता=जनसमूह को सब विघ्नों से बचाकर उसकी रक्षा करते हैं, इसलिये जनता को समष्टिरूप से इनसे स्वस्ति की प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ७ ॥ ३ ॥

इकसठ ६१वां सूक्त समाप्त हुआ ॥

॥ ६२ ॥ १—६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १—३ सूर्य्यः । ४—६ मित्रावरुणौ देवते । छन्दः—१, २, ६ विराट त्रिष्टुप् । ३, ४, ५ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथास्मिन् सूक्ते सर्वप्रकाशकस्य परमात्मनो वर्णनं क्रियते—

अब इस सूक्त में सर्वप्रकाशक परमात्मा का वर्णन करते हैं—

उत्सूर्यो बृहदर्चींष्यश्रेत्पुरु विश्वा जनिम मानुषाणाम् ।
समो दिवा ददृशे रोचमानः क्रत्वा कृतः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् ॥ १ ॥

उत्। सूर्य॑ः। बृहत्। अ॒र्चींषि॑। अ॒श्रे॒त्। पु॒रु। विश्वा॑। जनि॑म। मानु॑षाणा॑म्। स॒मः। दि॒वा। द॒दृ॒शे॒। रोच॑मानः। क्रत्वा॑। कृ॒तः। सु॒ऽकृ॒तः। क॒र्तृऽभिः॑। भू॒त्॥ १॥

पदार्थः—(सूर्य्यः) सरति=सर्वं व्याप्नोतीति सूर्यः अथवा सुवति=सर्वं जनयतीति सूर्य्यः=सर्वजगदुत्पादकः परमात्मा (बृहत्, अर्चींषि) बहूनि तेजांसि (उत्, अश्रेत्) धारयति, अन्यच्च (मानुषाणां) मनुष्याणां (पुरु, विश्वा, जनिम) अनन्त-जन्मानि कृतवान् अन्यच्च (समः, दिवा) सदैव (रोचमानः) प्रकाशमानः (ददृशे) दृष्टिगतो भवति, कीदृशः स सूर्य्यः (कर्तृभिः) स्तुतिकर्तृभिः (सुकृतः) सर्वोपरि वर्णितः (क्रत्वा, कृतः, भूत्) यज्ञरूपोऽस्ति॥

भावार्थः—हे मनुष्याः! भवद्भिः सर्वप्रकाशकः परमात्मा उपासनीयः, यश्च भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालत्रयस्य वेत्ता सदैकरसः, उत्पत्तिविनाशशून्य इत्यर्थः, यस्य वर्णनं नानाविधरचनया मुक्तकण्ठमहर्निशं क्रियते स परमात्मा भवतामुपास्यदेवः, अयमेव भावः **"सूर्य आत्माजगतस्तस्थुषश्च"** यजु० १३।४६ अस्मिन्मन्त्रे वर्णितः। सूर्यः=सर्वप्रकाशकः जगतः=जङ्गमस्य, तस्थुषः=स्थावरस्य च आत्मा स्वामीत्यर्थः, येषां तु भौतिकसूर्य्य एव उपास्यदेवोऽत्राभिमतः तैः **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्"** ऋग्० १०।१९०।३ **"चक्षोः सूर्यो अजायत"** यजु. ३१।१२ इत्यादि मन्त्रेभ्य इयमेव शिक्षा ग्राह्या यत् यत्र यत्र सूर्य्यशब्दस्य कार्य्यवाचित्वं तत्र तत्रैव भौतिक-सूर्य्याभिधायित्वं नान्यत्रेति॥

अत्रेदमेव तात्पर्यं यत् कार्य्यवाची सूर्य्यशब्दः भौतिक सूर्य्यस्य वाचकः कारणवाची सूर्य्यशब्दस्तु परमात्मन एव वाचकः नान्यस्येति, एतच्च **"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः"** यजु० ३२।१ इत्यादिषु स्फुटमेव, इत्यादिभिः हेतुभिरत्र सूर्य्य-नाम्ना परमात्मन एव ग्रहणं नान्यस्य॥

पदार्थ—(सूर्यः) सबके उत्पादक परमात्मा का (बृहत्, अर्चींषि) बड़ी ज्योतियां (अश्रेत्) आश्रय करती हैं जो (विश्वा, मानुषाणां) निखिल ब्रह्माण्ड में स्थित मनुष्यों के (पुरु, जनिम) अनन्त जन्मों को (ददृशे) जानता और (समः, दिवा) सदा ही (रोचमानः) स्वतःप्रकाश है, वही (क्रत्वा कृतः) यज्ञरूप है और (कर्तृभिः) इस चराचर ब्रह्माण्ड की रचना ने जिसको (सुकृतः, भूत) सर्वोपरि रचयिता वर्णन किया है॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! तुम उसी एकमात्र परमात्मा का आश्रयण करो जो सब मनुष्यों के भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जन्मों को जानता, सदा एकरस रहता और जिसको इस चराचर ब्रह्माण्ड की रचना प्रतिदिन वर्णन करती है, वही स्वतःप्रकाश परमात्मा मनुष्यमात्र का उपास्यदेव है, इसी भाव से **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"** यजु. १३।४६ में परमात्मा का सूर्य्य नाम से वर्णन किया है॥

जो लोग सूर्य्य नाम से इस भौतिक सूर्य्य का ग्रहण करके इसी को उपास्यदेव मानते हैं उनको पूर्वोक्त मन्त्रों से यह भाव ग्रहण करना चाहिये कि वेद सूर्य्य नाम से सर्वत्र भौतिक सूर्य्य का वर्णन नहीं करता, हां जहां रचनाविशेष के अभिप्राय से सूर्य्य चन्द्रमादि नाम आते हैं वहां इन नामों से भौतिक सूर्य्य का ग्रहण जानना चाहिये, जैसा कि **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** ऋग्. १०।१९०।३ और **"चक्षोःसूर्य्यो अजायत"** यजु. ३१।१२ इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है॥

तात्पर्य्य यह है कि कार्य्यवाची "सूर्य्य" शब्द भौतिक सूर्य्य का ग्रहण कराता और कारणवाची "सूर्य" शब्द परमात्मा का ग्राहक है, यही सर्वत्र जानना व मानना चाहिये। इस सूक्त में "सूर्य" शब्द कारणवाची होने से परमात्मा का वाचक तथा ग्राहक है, जैसा कि **"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः"** यजु. ३२।१ इस मन्त्र में अग्न्यादि नाम परमात्मा के हैं इसी प्रकार यहाँ भी सूर्य नाम परमात्मा का है किसी जड़ पदार्थ का नहीं ॥ १ ॥

अधुना तत्साधनान्युपदिश्यन्ते—

अब परमात्मप्राप्ति के साधन कथन करते हैं:—

स सू॑र्य॒ प्रति॑ पु॒रो न॒ उद्गा॑ ए॒भिः स्तोमे॑भिरेत॒शेभि॒रेवैः॑ ।
प्र नो॑ मि॒त्राय॒ वरु॑णाय वो॒चोऽना॑गसो अर्य॒म्णे अ॒ग्नये॑ च ॥ २ ॥

सः । सू॒र्य॒ । प्रति॑ । पु॒रः । न॒ः । उत् । गाः॑ । ए॒भिः । स्तोमे॑भिः । ए॒त॒शेभि॑ः । एवैः॑ । प्र । न॒ः । मि॒त्राय॑ । वरु॑णाय । वो॒चः । अना॑गसः । अर्य॒म्णे । अ॒ग्नये॑ । च॒ ॥ २ ॥

पदार्थः—(सूर्य्य) सरति=सर्वत्र व्याप्नोतीति सूर्य्य=हे परमात्मन्! (सः) प्रसिद्धस्त्वम् (एभिः, स्तोमेभिः) एतैर्यज्ञैः (नः) अस्माकं (प्रति, पुरः) हृदये (उद्गाः) आगच्छ (एतशेभिः) निष्कामकर्मभिः (एवैः) निश्चयेन (नः) अस्माकं (मित्राय) अध्यापकाय (वरुणाय) उपदेशकाय (अर्यम्णे) न्यायकारिणे (अग्नये) विज्ञानवते च (प्रवोचः) धर्ममुपदिश, यतः (अनागसः) निष्कामकर्मणां संसारे प्रचारो भवेत् ॥

भावार्थः—जपयज्ञो योगयज्ञो ध्यानयज्ञश्चैवंविधाः प्रचुराः यज्ञाः परमात्मप्राप्तेः साधनत्वेन विवक्षिताः यैः यत्रैः निष्कामकर्मद्वारेण परमात्मप्राप्तिर्भवति, अस्मिन् मन्त्रे परमात्मा अध्यापकानुपदेशकान् सत्कर्मणो विज्ञानिनश्च इदमुपदिशति यद्भवद्भिः यज्ञकर्मोपदेश्यं यतो जगति सर्वत्र निष्कामकर्मणां प्रचारो भवेत् ।

पदार्थ—(सूर्य) हे परमात्मन् (सः) आप (एभिः, स्तोमेभिः) इन यज्ञों से (नः) हमारे (प्रति, पुरः) हृदय में (उद्वाः) प्रकट हों (एतशेभिः) जो निष्कामकर्म द्वारा साधन किये जाते हैं उनका (एवैः) निश्चयकरके (नः) हमारे (मित्राय, वरुणाय) अध्यापक, उपदेशक (अर्यम्णे) न्यायकारी (च) और (अग्नये) विज्ञानी पुरुषों के लिए (प्र, वोचः) उपदेश करें कि तुम (अनागसः) संसार में निष्कामता का प्रचार करो जिससे विद्वानों के समक्ष निर्दोष सिद्ध हो ॥

भावार्थ—जपयज्ञ, योगयज्ञ तथा ध्यानयज्ञ, इत्यादि यज्ञ परमात्मप्राप्ति के साधन हैं जिनके द्वारा निष्कामकर्मी को परमात्मा की प्राप्ति होती है, इस मन्त्र में परमात्मा अध्यापक, उपदेशक तथा विज्ञानी पुरुषों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग इन यज्ञों का प्रचार करो ताकि निष्कामता फैलकर संसार का उपकार हो ॥२॥

वि नः॑ स॒हस्रं॑ शु॒रुधो॑ रदन्त्वृ॒तावा॑नो॒ वरु॑णो मि॒त्रो अ॒ग्निः ।
यच्छ॑न्तु च॒न्द्रा उ॑प॒मं नो॑ अ॒र्कमा न॒ः कामं॑ पूपुरन्तु॒ स्तवा॑नाः ॥३॥

वि । नः । सहस्रं । शुरुधः । रदन्तु । ऋतऽवानः । वरुणः । मित्रः । अग्निः । यच्छन्तु । चन्द्राः । उपऽमं । नः । अर्कं । आ । नः । कामं । पूपुरन्तु । स्तवानाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (स्तवानाः) यथार्थगुणसम्पन्नाः (वरुणः) उपदेशकः (मित्रः) अध्यापकः (अग्निः) विज्ञानी (चन्द्राः) जीवन्मुक्ताः, इत्यादयो विद्वांसः (नः) अस्माकं (कामं) कामनाम् (आ, पूपुरन्तु) साध्नुवन्तु, अन्यच्च (नः) अस्मभ्यं (सहस्रं) सहस्रप्रकारकं (शुरुधः) सुखं (यच्छन्तु) ददतु, अन्यच्च (ऋतावानः) सत्यवादिनो विद्वांसः (नः) अस्मभ्यम् (उपमं, अर्कं) परमात्मनः सर्वोपरि ज्ञानं (विरदन्तु) प्रयच्छन्तु ॥

भावार्थः—अस्मिन् मन्त्रे प्रकाशस्वरूपस्य परमात्मनोऽग्रे इयमेव प्रार्थना यत् हे भगवन् ! अध्यापकोपदेशकज्ञानिविज्ञानिविद्वद्भिर्भवता मह्यं सत्योपदेशः दापयितव्यः, अन्यच्च विविधप्रकारकं सुखं सत्यादि धनञ्च दापयितव्यं, येन वयं पवित्रीभूय भवतां सदैव कृपापात्राणि भवेम ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (स्तवानाः) यथार्थगुणसम्पन्न (वरुणः) उपदेशक (मित्रः) अध्यापक (अग्निः) विज्ञानी (चन्द्राः) प्रसन्नता देनेवाले विद्वान् (नः, कामं) हमारी कामनाओं को (पूपुरन्तु) पूर्ण करें (आ) और (वि) विशेषता से (नः) हमको (सहस्रं) सहस्रों प्रकार के (शुरुधः) सुख (यच्छन्तु) दें (ऋतावानः) सत्यवादी विद्वान् (नः) हमको (उपमं, अर्कं) अनुपम परमात्मा का ज्ञान (रदन्तु) प्रदान करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रकाशस्वरूप परमात्मा से यह प्रार्थना है कि हे भगवन् ! आप हमको अध्यापक, उपदेशक, ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों द्वारा सत्य का उपदेश करायें और अनन्त प्रकार का सुख, सत्यादि धन और जीवन में पवित्रता दें ताकि हम शुद्ध होकर आपकी कृपा के पात्र बनें ॥३॥

द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नो ये वां जज्ञुः सुजनिमान ऋष्वे ।
मा हेळे भूम वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य प्रियतमस्य नृणाम् ॥ ४ ॥

द्यावाभूमी इति । अदिते । त्रासीथां । नः । ये । वां । जज्ञुः । सुऽजनिमानः । ऋष्वे इति । मा । हेडे । भूम । वरुणस्य । वायोः । मा । मित्रस्य । प्रियऽतमस्य । नृणाम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(द्यावाभूमी) हे प्रकाशस्वरूप सर्वाधार ! (अदिते) अखण्डनीय परमात्मन् ! (नः) अस्मान् (त्रासीथां) त्रायस्व (ऋष्वे) हे सर्वोपरि विराजमान जगदीश्वर ! (वां) शक्ति द्वयरूपेणास्थितं त्वां (ये सुजनिमानः) पुण्यकर्माणः (जज्ञुः) ज्ञातवन्तः तेषामुपरि (नृणां प्रियतमस्य) लोकानामिष्टतमस्य (नः) अस्माकं (वरुणस्य) अपानवायोः (मित्रस्य, वायोः) प्राणवायोश्च वयं (हेडे) प्रकोपे (मा भूम) मा स्याम ॥

भावार्थः—हे सर्वोपरिवर्त्तमान परमात्मन् ! मनुष्यजन्म धृत्वाऽस्माभिः सच्चिदानन्दस्वरूपः त्वमुपलब्धः, अन्यच्चास्माकं त्वमेक एव स्वामी, अतोऽस्माभिरदं प्रार्थ्यते यत् अस्मभ्यं प्राणापानवायू मा प्रकुप्यताम्, उक्तवायुद्वयस्य संयमात् प्राणापानगती बुध्वा अनया दिशा प्राणायामेन भवत्स्वरूपज्ञानमनुभवाम इममेवास्माकमभ्यर्थनेति ।।

पदार्थ—(द्यावाभूमी, अदिते) हे प्रकाशस्वरूप, सर्वाधार, अखण्डनीय परमात्मन् ! आप (नः) हमारी (त्रासीथां) रक्षा करें, (ऋष्वे) हे सर्वोपरिविराजमान जगदीश्वर ! (ये, सुजनिमानः) जो मनुष्यजन्मवाले हमने (वां) आपको (जज्ञुः) जाना है, इसलिए (वरुणस्य, वायोः) प्राणवायु (नृणां, प्रियतमस्य) जो मनुष्यों को प्रिय है उसका कोप (मा) न हो और (मित्रस्य) अपानवायु का भी (हेडे) प्रकोप (मा, भूम) मत हो ।

भावार्थ—हे सर्वोपरि वर्त्तमान परमात्मन् ! आप सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, हमने मनुष्य जन्म पाकर आपको लाभ किया है इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि हम पर प्राणवायु का कभी प्रकोप न हो और नाही हम पर कभी अपानवायु कुपित हो, इन दोनों के संयम से हम सदैव आपके ज्ञान का लाभ उठायें अर्थात् प्राणों के संयमरूप प्राणायाम द्वारा हम आपके ज्ञान की वृद्धि करते हुए प्राणापान वायु हमारे लिये कभी दुःख का कारण न हों, यह प्रार्थना करते हैं ।।४।।

अथ स्वभावोक्त्यलङ्कारेण प्राणापानौ संबोध्य इन्द्रियसंयमः प्रार्थ्यते—

अब स्वभावोक्ति अलंकार से प्राणापान को संबोधन करके इन्द्रियसंयम की प्रार्थना करते हैंः—

प्र बाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन ।
आ नो जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ ५ ॥

प्र । बाहवा । सिसृतं । जीवसे । नः । आ । नः । गव्यूर्ति । उक्षतं । घृतेन । आ । नः । जने । श्रवयतं । युवाना । श्रुतं । मे । मित्रावरुणा । हवा । इमा ।। ५ ।।

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे प्राणापानरूपवायू ! (नः) अस्माकं (जीवसे) जीवनार्थम् (प्र) विशेषतया (बाहवा) युवाभ्यां शक्तिरूपौ भुजौ (सिसृतं) प्रसारयतम्, अपरञ्च (नः) अस्माकं (गव्यूर्ति) इन्द्रियगणं (घृतेन) सुस्निग्धतया सुमार्गे (उक्षतं) सिञ्चतम्, हे प्राणापानौ ! भवन्तौ (युवाना) सदैव युवावस्थां प्राप्तौ, अत एव (नः) अस्माकं (जने) मादृशे मनुष्ये (आ) किञ्च (श्रुतं) ज्ञानगतिं (श्रवयतं) वर्द्धयताम् (मे) मम (इमा, हवाः) प्राणापानरूपा आहुतीः (श्रुतं) प्रवाहिताः कुरुताम् ।।

पदार्थ—(मित्रावरुणा) हे प्राणापानरूप वायो ! आप (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिए (प्र) विशेषता से (वाहवा, सिसृतं) प्राणापानरूप शक्ति को विस्तारित करें (आ) और (नः) हमारी (गव्यूर्ति) इन्द्रियों को (घृतेन, उक्षतं) अपनी स्निग्धता से सुमार्ग में सिंचित करें, हे प्राणापान ! आप नित्य (युवाना) युवावस्था को प्राप्त हैं इसलिए (नः, जने) हमारे जैसे मनुष्यों में (श्रवयतं) ज्ञानगति बढ़ायें (आ) और (मे) हमारी (हवा, इमा) इन प्राणापानरूप आहुतियों को (श्रुतं) प्रवाहित करें ।।

भावार्थ—मनुष्य की स्वाभाविक गति इस ओर होती है कि वह अपने मन, प्राण तथा इन्द्रियों को संबोधन करके कुछ कथन करे, साहित्य में इसको स्वभावोक्ति—अलंकार और दार्शनिकों की परिभाषा में उपचार कहते हैं, यहाँ पूर्वोक्त अलंकार से प्राणापान को संबोधन करके यह कथन किया है कि प्राणायाम द्वारा हमारी इन्द्रियों में इस प्रकार का बल उत्पन्न हो जिससे वह सन्मार्ग से कभी च्युत न हों अर्थात् अपने संयम में तत्पर रहें, और इनको "युवाना" विशेषण इसलिए दिया है कि जिस प्रकार अन्य शारीरिक तत्त्व वृद्धावस्था में जाकर जीर्ण हो जाते हैं, इस प्रकार प्राणों में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता, नित्य नूतन रहने के कारण इनको "युवा" कहा गया है ।।५।।

नू मित्रो वरुणो अर्यमा नस्त्मने तोकाय वरिवो दधन्तु ।
सुगा नो विश्वा सुपथानि सन्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

नु । मित्रः । वरुणः । अर्यमा । नः । त्मने । तोकाय । वरिवः । दधन्तु । सुऽगा । नः । विश्वा । सुऽपथानि । सन्तु । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(नु) निश्चयेन (मित्रः) अध्यापकः (वरुणः) उपदेशकश्च (अर्यमा) न्यायकारी=विद्वान्, एते सर्वे विद्वांसः (नः) अस्माकं (त्मने) आत्मने (तोकाय) सन्तानाय च (वरिवः) ऐश्वर्य्यं दधन्तु प्रयच्छन्तु, अन्यच्च (नः) अस्माकं (विश्वा, सुपथानि) सर्वे पन्थानः (सुगाः) कल्याणरूपाः(सन्तु) भवन्तु, हे अध्यापकोपदेशकगण! (यूयं) भवन्त इत्यर्थः, (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादिभिः (नः) अस्मान् (सदा) सर्वदा (पात) रक्षत ।।

पदार्थ—(नु) निश्चय करके (मित्रः) अध्यापक (वरुणः) उपदेशक (अर्यमा) न्यायकारी ये सब विद्वान् (नः) हमारे (त्मने) आत्मा के लिए और (तोकाय) सन्तान के लिए (वरिवः) ऐश्वर्य्य को (दधन्तु) दें और (नः) हमारे (विश्वाः) सम्पूर्ण (सुपथानि) मार्ग (सुगाः) कल्याणरूप सन्तु हों, और (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचन आदि वाणियों से (नः) हमारी (सदा) सर्वदा (पात) रक्षा करें ।।

भावार्थ—अध्यापक उपदेशक तथा अन्य अन्य विषयों के ज्ञाता विद्वानों को यजमान लोग अपने अपने यज्ञों में बुलायें और सम्मानपूर्वक उनसे कहें कि हे विद्वद्गण ! आप हमारे कल्याणार्थ स्वस्तिवाचनादि वाणियों से प्रार्थना करें और हमारे लिए कल्याणरूप मार्गों का उपदेश करें ।।६।।

अथ त्रयष्षष्टितमस्य षड्ऋचस्य सूक्तस्य—

।।६३।। १–६ वसिष्ठः ऋषिः ।। १–४, ५ सूर्यः । ५, ६ मित्रावरुणौ देवते ।।
छन्दः–१, ६ विराट् त्रिष्टुप् । २–५ निचृत्त्रिष्टुप् ।
धैवतः स्वरः ।।

अथ प्राणायामादिसंयमैर्ध्येयस्य परमात्मनो ध्यानमुपदिश्यते—

अब प्राणायामादि संयमों द्वारा ध्येय परमात्मा का वर्णन करते हैं—

उद्वे॑ति सु॒भगो॑ वि॒श्वच॑क्षाः साधा॑रणः सूर्यो॒ मानु॑षाणाम् ।
चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य दे॒वश्चर्मे॑व यः स॒मवि॑व्य॒क्तमां॑सि ॥ १ ॥

उत् । ऊँ इति॑ । ए॒ति । सु॒ऽभगः॑ । वि॒श्वऽच॑क्षाः । साधा॑रणः । सूर्यः॑ । मानु॑षाणाम् । चक्षुः॑ । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । दे॒वः । चर्म॑ऽइव । यः । सं॒ऽअवि॑व्यक् । तमां॑सि ॥ १ ॥

पदार्थः—(यः, देवः) यः ज्योतिःस्वरूपः परमात्मा (मित्रस्य, वरुणस्य) अध्यापकोपदेशकयोः (चक्षुः) नेत्रम् अस्ति अन्यच्च यः (तमांसि) अज्ञानानि (चर्म, इव) तृणानीव (सं) सम्यक्तया (अविव्यक्) नाशयति, स एव (मानुषाणां) सर्वमनुजानां (साधारणः) सामान्यरूपेण (सूर्यः) प्रकाशकः (विश्वचक्षाः) सर्वद्रष्टा (सुभगः) ऐश्वर्यसंपन्नोऽस्ति, स परमात्मा प्राणायामादिसंयमैः (उद्वेति) प्रकटीभवति ॥

पदार्थ—(यः, देवः) जो दिव्यरूप परमात्मा (मित्रस्य, वरुणस्य) अध्यापक तथा उपदेशकों को (चक्षुः) मार्ग दिखलानेवाला और जो (तमांसि) अज्ञानों को (चर्म, इव) तुच्छ तृणों के समान (सं) भले प्रकार (अविव्यक्) नाश करता है, वही (मानुषाणां) सब मनुष्यों का (साधारणः) सामान्यरूप से (सूर्यः) प्रकाशक, (विश्वचक्षाः) सर्वद्रष्टा और (सुभगः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न है, वह परमात्मदेव प्राणायामादि संयमों से (उद्वेति) प्रकाशित होता है ॥

भावार्थ—परमात्मदेव ही अध्यापक तथा उपदेशकों को सन्मार्ग दिखलानेवाला, सब प्रकार के अज्ञानों का नाशक है, वह सर्वद्रष्टा, सर्वप्रकाशक तथा सर्वऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा प्राणायामादि संयमों द्वारा हमारे हृदय में प्रकाशित होता है, इसी भाव को **"चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य"** यजु० ७।४२॥ में प्रतिपादन किया है कि वही परमात्मा सबका प्रकाशक और सन्मार्ग दिखलानेवाला है, "साधारणः" शब्द सामान्यभाव से सर्वत्र व्याप्त होने के अभिप्राय से आया है जिसका अर्थ ऊपर स्पष्ट है ॥१॥

उद्वे॑ति प्रस॒वीता जना॑नां म॒हान्के॒तुर॑र्ण॒वः सूर्य॑स्य ।
स॒मा॒नं च॒क्रं प॑र्या॒विवृ॑त्स॒न्यदे॑त॒शो वह॑ति धू॒र्षु यु॒क्तः ॥ २ ॥

उ॒त् । ऊँ इति॑ । ए॒ति । प्र॒ऽस॒वि॒ता । जना॑नां । म॒हान् । के॒तुः । अ॒र्ण॒वः । सूर्य॑स्य । स॒मा॒नं । च॒क्रं । प॒रि॒ऽआ॒वि॒वृ॑त्सन् । यत् । ए॒त॒शः । वह॑ति । धूः॒ऽसु । यु॒क्तः ॥ २ ॥

पदार्थः—स परमात्मा (जनानाम्) सर्वप्राणिनां (प्रसविता) जनयिता (महान्) ब्रह्मरूपः (केतुः) ध्वजमिव सर्वोपरि विराजमान, (अर्णवः) अन्तरिक्षस्य (सूर्यस्य) सूर्यमण्डलस्य च यत् (समानं) एकं (चक्रं) मण्डलाकारं (पर्याविवृत् सन्) चालयितुमिच्छन् सन् (धूर्षु) एषां मध्यभागे (युक्तः) संलग्ना (यत्) या (एतशः) दिव्यशक्तिः (वहति) अनन्तब्रह्माण्डान् संचालयति, तस्याः स्वामी सर्वशक्तिमान् परमात्मदेवः (उद्वेति) संयमिनां दमिनां जनानामन्तःकरणेषु भक्तियोगेन आविर्भवतीत्यर्थः ॥

पदार्थ—वह परमात्मा (जनानां) सब मनुष्यों का (प्रसविता) उत्पादक (महान्) सबसे बड़ा (केतुः) सर्वोपरि विराजमान (अर्णवः) अन्तरिक्ष तथा (सूर्यस्य) सूर्य्य के (समानं, चक्रं,

परि, आविवृत्सन्) समान चक्र को एक परिधि में रखनेवाला है (धूर्षु) इनके धुराओं में (युक्तः) युक्त हुई (यत्) जो (एतशः) दिव्यशक्ति (वहति) अनन्त ब्रह्माण्डों का चालन कर रही है, वह सर्वशक्तिरूप परमात्मा (उद्वेति) संयमी पुरुषों के हृदय में प्रकाशित होता है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा को सर्वोपरि वर्णन करते हुए यह वर्णन किया है कि सबका स्वामी परमात्मा जो सम्राट् के केतु झण्डे के समान सर्वोपरि विराजमान है, वह सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष आदि कोटि कोटि ब्रह्माण्डों को रथ के चक्र समान अपनी धुराओं पर घुमाता हुआ सबको अपने नियम में चला रहा है उस परमात्मा को संयमी पुरुष ध्यान द्वारा प्राप्त करते हैं ॥

जो लोग वेदमन्त्रों को सूर्यादि जड़ पदार्थों के उपासन तथा वर्णन में लगाते हैं उनको इस मन्त्र के "सूर्य्यस्य" पद से यह अर्थ सीख लेना चाहिए कि वेद सूर्य्य के भी सूर्य्य को सूर्य्य नाम से कहता है, इसी अभिप्राय से इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में परमात्मा को मनुष्यों का सूर्य्य और इस मन्त्र में उसको भौतिक सूर्य्य का चलानेवाला कहा है, इसी भाव को लेकर केनोपनिषद् १।२। में **"चक्षुषश्चक्षुः"** उसको चक्षु का भी चक्षु कथन किया है अर्थात् वह परमात्मा सूर्य्य का सूर्य्य, प्राण का प्राण तथा चक्षु का चक्षु है, या यों कहो कि सूर्य्य, प्राण और चक्षु आदि अनन्त नामों से उसीका वर्णन किया गया है, इसलिए परस्पर विरोध नहीं ॥२॥

विभ्राजमान उषसामुपस्थाद्रेभैरुदेत्यनुमद्यमानः ।
एष मे देवः सविता चच्छन्द यः समानं न प्रमिनाति धाम ॥ ३ ॥

विऽभ्राजमानः । उषसाम् । उपऽस्थात् । रेभैः । उत् । एति । अनुऽमद्यमानः । एषः । मे । देवः । सविता । चच्छन्द । यः । समानम् । न । प्रऽमिनाति । धाम । ॥ ३ ॥

पदार्थः—(विभ्राजमानः) सर्वप्रकाशकः परमात्मा (उषसां) प्रकाशितपदार्थानां मध्ये (उपस्थात्) स्थितत्वाद्धेतोः (रेभैः) स्तुतिकारकैरुद्गात्रादिभिः (अनुमद्यमानः) उपगीयमानः (उदेति) प्रकाशते (एषः) असौ (सविता) सर्वोत्पादकः (देवः) परमात्मा (मे) मम कामनां (चच्छन्द) पूरयति, अन्यच्च (यः) परमात्मा (नूनं) निश्चयेन (धाम) अखिलस्थानं (समानं) समानरूपेण (प्रमिनाति) जानातीत्यर्थः ॥

पदार्थ—(विभ्राजमानः) वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा (उषसां) सब प्रकाशित पदार्थों में (उपस्थात्) स्थिर होने से (रेभैः) उद्गात्रादि स्तोतृपुरुषों द्वारा (अनुमद्यमानः) गान किया हुआ (उदेति) प्रकाशित होता है (एषः) यह (सविता) सबका उत्पन्न करनेवाला (देवः) परमात्मा (मे) मेरी कामनाओं को (चच्छन्द) पूर्ण करता है और (यः) वह (नूनं) निश्चय करके (धाम) सब स्थानों को (समानं) समानरूप से (प्रमिनाति) जानता है अर्थात् न किसी से उसका राग और न किसी से द्वेष है ॥

भावार्थ—भाव यह है कि वह परमात्मदेव प्रत्येक मनुष्य के हृदयरूपी धाम को समान-भाव से जानता है उसमें न्यूनाधिक भाव नहीं अर्थात् वह पक्षपात किसी के साथ नहीं करता, परमात्मभावों को अपने हृदयगत करना ही उसके प्रकाश होने का साधन है, वही सब ज्योतियों

का ज्योति, सर्वोपरि विराजमान और वही सबका उपास्यदेव है, उसी की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं ।।३।।

दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः ।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥ ४ ॥

दिवः । रुक्मः । उरुऽचक्षाः । उत् । एति । दूरेऽअर्थः । तरणिः । भ्राजमानः । नूनं । जनाः । सूर्येण । प्रऽसूताः । अयन् । अर्थानि । कृणवन् । अपांसि ॥ ४ ॥

पदार्थः—(तरणिः) सर्वस्व तारकः (भ्राजमानः) प्रकाशस्वरूपः (दूरेअर्थः) सर्वत्र परिपूर्णः (दिवः) द्युलोकस्य (रुक्म) प्रकाशकः (उरुचक्षाः) सर्वद्रष्टा, एवंविधः परमात्मा तेषां हृदये (उदेति) आविर्भवति, (जनाः) ये मनुष्याः (नूनं) निश्चयेन (सूर्येण) परमात्मोपदिष्टेन मार्गेण (अयन्) गच्छन्तः (प्रसूताः) प्रेरिताः (अर्थानि) अनुष्ठेयानि (अपांसि) कर्माणि (कृणवन्) कुर्वन्ति ।।

पदार्थ—(तरणिः) सब का तारक (भ्राजमानः) प्रकाशस्वरूप (दूरेअर्थः) सर्वत्र परिपूर्ण (दिवः, रुक्म) द्युलोक का प्रकाशक (उरुचक्षाः) सर्वद्रष्टा परमात्मा उन लोगों के हृदय में (उदेति) उदय होता है जो (जनाः) पुरुष (नूनं) निश्चय करके (सूर्येण) परमात्मा के बतलाये हुए (अयन्) मार्गों पर चलते हुए (प्रसूताः) नूतन जन्मवाले (अर्थानि) सार्थक (अपांसि) कर्म (कृणवन्) करते हैं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! सन्मार्ग दिखलानेवाला प्रकाशस्वरूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और चमकते हुए द्युलोक का भी प्रकाशक है, वह स्वतःप्रकाश प्रभु उन पुरुषों के हृदय में प्रकाशित होता है जो उसकी आज्ञा का पालन करते और वेदविहित कर्म करके सफलता को प्राप्त होते हैं ।।

तात्पर्य यह है कि यावदायुष वेदविहित कर्म करनेवाले सत्कर्मी पुरुषों के हृदय में परमात्मा का प्रकाश होता है, निरुद्यमी, आलसी तथा अज्ञानियों के हृदय में नहीं, इसी भाव को **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः"** यजु० ४०।२।। इस मन्त्र में निरूपण किया है कि वेदविहित कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो ।।४।।

यत्रा चक्रुरमृता गातुमस्मै श्येनो न दीयन्नन्वेति पाथः ।
प्रति वां सूर उदिते विधेम नमोभिर्मित्रावरुणोत हव्यैः ॥ ५ ॥

यत्र । चक्रुः । अमृताः । गातुं । अस्मै । श्येनः । न । दीयन् । अनु । एति । पाथः । प्रति । वां । सूरे । उत्ऽइते । विधेम । नमःऽभिः । मित्रावरुणा । उत । हव्यैः ॥ ५ ॥

पदार्थः—परमात्मोपदिशति—(मित्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ ! (वां) युवयोः कृपया (नमोभिः) नमस्कारैः (उदिते, सूरे) उषाकाले परमात्मोपासनां (विधेम) करवाम, परमात्मा (श्येनो, न) विद्युदिव (दीयन्) शीघ्रमेव गच्छन्

(पाथ:) पन्थानं (अन्वेति) गत:, अन्यच्च यं (गातुं) गन्तुं (अमृता:) मुक्तपुरुषा मुक्ति साधनानि (चक्रु:) कृतवन्त:, अन्यच्च (अस्मै) अस्य प्राप्तये (प्रति) प्रतिदिनं सन्ध्या-वेलायामुपासनां (हव्यै:) हवनद्वारेण स्वस्वस्थानानि संमार्ज्य (उत) अथवा (यत्र) यस्मिन् स्थाने भवन्मन ईश्वरे संलग्नं भवेत् तत्रैवोपासनं करवामहै ।।

पदार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि (मित्रावरुण) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (वां) तुम्हारी कृपा से हम (नमोभि:) नम्रभावों से (उदिते, सूरे) सूर्य्य के उदय होने पर उस परमात्मा की (विधेम) उपासना करें, जो (श्येन:) विद्युत् की (न) समान गतिवाले पदार्थों की न्याईं (दीयन्) शीघ्र (पाथ:, अन्वेति) पहुँचा हुआ है और जिसको (गातुं) प्राप्त होने के लिये (अमृता:) मुक्त पुरुष (चक्रु:) मुक्ति के साधन करते हैं (अस्मै) उस स्वत:प्रकाश परमात्मा के लिये (वां) तुम लोग (प्रति) प्रतिदिन प्रात:काल उपासना करो (उत) और (हव्यै:) हवन द्वारा अपने स्थानों को पवित्र करके (यत्र) जिस जगह मन प्रसन्न हो वहाँ प्रार्थना करो ।।

भावार्थ—परमात्मा अध्यापक तथा उपदेशकों को आज्ञा देते हैं कि तुम लोग प्रात:काल उस स्वयं ज्योति:प्रकाश की उपासना करो जो विद्युत् के समान सर्वत्र परिपूर्ण है और जिस ज्योति की प्राप्ति के लिये मुक्त पुरुष अनेक उपाय करते रहे हैं, तुम लोग उस स्वयंप्रकाश परमात्मा की प्रतिदिन उपासना करो अर्थात् प्रात:काल ब्रह्मयज्ञ तथा देवयज्ञ करके ध्यान द्वारा उसको सत्कृत करो ।।

परमात्मा के लिये जो यहां **"श्येन:"** की उपमा दी है वह उसके सर्वत्र परिपूर्ण होने के अभिप्राय से है, शीघ्रगामी होने के अभिप्राय से नहीं, निरुक्त एकादश अध्याय में श्येन के अर्थ इन्द्र किये हैं और इन्द्र तथा विद्युत् यह एकार्थवाची शब्द है, इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि **"शंसनीयं गच्छतीति श्येन:"**=जो सर्वोपरि गतिशील हो उसका नाम "श्येन" है ।।

और जो कई एक लोग श्येन के अर्थ **"बाज"** पक्षी के करते हैं कि बाज बहुत शीघ्र एक स्थान से उड़कर स्थानान्तर को प्राप्त हो जाता है इसी प्रकार यह भौतिक सूर्य्य भी उसी की न्याईं शीघ्रगामी है, या यों कहो कि गृध्र=**"गिद्ध"** पक्षी के समान वेगवाला है, यह अर्थ सायणाचार्य्य ने किये हैं, हमारे विचार में ऐसे अर्थ करने ही से वेदों का महत्व लोगों के हृदय से उठ रहा है, जब निरुक्तकार ने श्येन के अर्थ स्पष्टतया इन्द्र के किये हैं तो फिर यहाँ गिद्ध तथा बाज आदि पक्षियों का ग्रहण करना कैसे संगत हो सकता है, इसी प्रकार निरुक्तादि प्राचीन वेदाङ्गों का आश्रय छोड़कर सायणादि भाष्यकारों ने अनेक स्थलों में भूल की है, जैसा कि इसी मन्त्र में **"सूर"** के अर्थ भौतिक सूर्य्य करके मन्त्रार्थ यह किया है कि इस भौतिक सूर्य्य के गमनार्थ देवताओं ने आकाश में सड़क बनाई है जिसमें वह श्येन तथा गृध्र से भी शीघ्र चलता है, इसलिये उसके उदय काल में नमस्कारों से उसकी वन्दना करनी चाहिए । इसका उत्तर यह है कि जब इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में उस शक्ति को इस भौतिक सूर्य्य का चालक कथन किया गया है और अनेक स्थलों में यह कथन किया गया है कि उसी शक्ति से यह सूर्य्य उत्पन्न होता है, जैसा कि **"चक्षो: सूर्यो अजायत"** ।। यजु० ३१।१२=उसी चक्षुरूप शक्ति से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, फिर उक्त अर्थ के विरुद्ध यहाँ भौतिक सूर्य्य की उपासना सिद्ध करना वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है ।।५।।

नू मित्रो वरु॑णो अर्य॒मा न॒स्त्मने॒ तो॒काय॒ वरि॑वो दधन्तु ।
सु॒गा नो॒ विश्वा॑ सु॒पथा॑नि सन्तु यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ न:॥६॥

नु । मित्रः । वरुणः । अर्यमा । नः । त्मने । तोकाय । वरिवः । दधन्तु । सुऽगा । नः । विश्वा । सुऽपथानि । सन्तु । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(मित्रः) अध्यापकः (वरुणः) उपदेशकश्च (अर्यमा) न्यायकारी, विद्वान् एते सर्वे विद्वांसः (नः) अस्माकम् (त्मने) आत्मने (तोकाय) सन्तानाय च (वरिवः) धनम् **"वरिव इति धननामसु पठितम्"**॥ निरु० ३।९॥ (दधन्तु) प्रयच्छन्तु (नः) अस्माकम् (विश्वा) सर्वाणि (सुपथानि) मार्गाः (सुगा) सुखेन गन्तुं योग्याः (सन्तु) भवन्तु, हे अध्यापकोपदेशकगण ! (यूयं) भवन्तः (स्वस्तिभिः) (नः) अस्मान् (सदा) (पात) रक्षत ॥

इति त्रयष्षष्टितमं सूक्तं समाप्तम् ।

पदार्थ—(नु) निश्चय करके (मित्रः) सबका मित्र (वरुणः) वरणीय = सबका प्राप्य स्थान (अर्यमा) न्यायकारी परमात्मा (नः) हमारे (त्मने) आत्मा के (तोकाय) सुखप्राप्त्यर्थ (वरिवः) सब प्रकार का ऐश्वर्य्य दधन्तु धारण करायें अथवा अन्न धन आदि से सम्पन्न करें ताकि (विश्वा) सब (सुगा) मार्ग (नः) हमारे लिए (सुपथानि) सुमार्ग (सन्तु) हों और हे भगवन् ! (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणयुक्त वाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा से प्रार्थना है कि हे प्रभो ! आप हमारे लिए सर्वदा = सब काल में कल्याणदायक हों और आपकी कृपा से हमको सब ऐश्वर्य्य तथा सुखों की प्राप्ति हो, इस मन्त्र में जो मित्र, वरुण तथा अर्यमा शब्द आये हैं वह सब परमात्मा के नाम हैं, **"शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा"** ॥ यजु० ३६।९॥ में मित्रादि सब नाम परमात्मा के हैं ॥

प्रश्न—कहीं मित्र, वरुण के अर्थ अध्यापक तथा उपदेशक, कहीं प्राणवायु तथा उदानवायु और कहीं परमात्मा करते हो, आपके इस भिन्नार्थ करने में क्या हेतु ? इसका उत्तर यह है कि जैसे एक ही "ब्रह्म" शब्द कहीं वेद का वाचक, कहीं प्रकृति का वाचक, कहीं अन्न का और मुख्यतया परमात्मा का वाचक है, इसी प्रकार उपरोक्त नाम मुख्यतया ब्रह्म के प्रतिपादक हैं और गौणी वृत्ति से अध्यापक तथा उपदेशक आदि नामों में भी वर्त्तते हैं, इसी भाव को महर्षि व्यास ने **"स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत्"** ॥ ब्र० सू० २।३।५॥ में यह वर्णन किया है कि एक ही शब्द प्रकरण भेद से ब्रह्म शब्द के समान नाना अर्थों का वाचक होता है, इसलिए कोई विरोध नहीं ॥६॥

६३वां सूक्त समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चर्चस्य चतुष्षष्टितमस्य सूक्तस्य—

१—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥
छन्दः—१, २—४ त्रिष्टुप् । ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अधुना राजसूययज्ञो निरूप्यते ।

अब राजसूययज्ञ का निरूपण करते हैं ।

दिवि क्षयन्ता रजसः पृथिव्यां प्र वां घृतस्य निर्णिजो ददीरन् ।
हव्यं नो मित्रो अर्यमा सुजातो राजा सुक्षत्रो वरुणो जुषन्त ॥ १ ॥

दिवि । क्षयन्ता । रजसः । पृथिव्यां । प्र । वां । घृतस्य । निःऽनिजः । ददीरन् । हव्यं । नः । मित्रः । अर्यमा । सुऽजातः । राजा । सुऽक्षत्रः । वरुणः । जुषन्त ॥ १ ॥

पदार्थः—परमात्मोपदिशति हे अध्यापकोपदेशकौ (दिवि क्षयन्ता) द्युलोकस्य स्वामिनौ भवन्तौ (पृथिव्यां) पृथिवीलोके (रजसः) पदार्थविद्याया वेत्तारौ भवन्तौ (प्र, वां) युवाभ्यां प्रेरिता राजानः (घृतस्य) प्रेमभावस्य (निर्णिजः) स्नेहम् (ददीरन्) प्रजाभ्यः प्रयच्छन्तु, अन्यच्च (नः) अस्माकम् (हव्यं) राजसूयाख्यं यज्ञं (मित्रः) सर्वप्रियः (अर्य्यमा) न्यायकारी (सुजातः) कुलीनः (राजा) दीप्तिमान् (सुक्षत्रः) क्षात्रधर्मवित् (वरुणः) वरणीयः एवं विधा राजानः राजसूयाख्यं यज्ञं (जुषन्त) सेवन्ताम् ॥

पदार्थ—(दिवि, क्षयन्ता) द्युलोक में क्षमता रखनेवाले (पृथिव्याम्) पृथिवी लोक में क्षमता रखनेवाले (रजसः) राजस भावों के जाननेवाले अध्यापक तथा उपदेशक राजा तथा प्रजा को सदुपदेशों द्वारा सुशिक्षित करें और (प्र, वां) उन अध्यापक तथा उपदेशकों के लिए प्रजा तथा राजा लोग (घृतस्य, निर्णिजः) प्रेमभाव का (ददीरन्) दान दें और (नः) हमारे (हव्यं) राजसूय यज्ञ को (मित्रः) सब के मित्र (अर्य्यमा) न्यायशील (सुजातः) कुलीन (सुक्षत्रः) क्षात्रधर्म के जाननेवाले (वरुणः) सब को आश्रयण करने योग्य राजा लोग (जुषन्त) सेवन करें ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम द्युलोक तथा पृथिवी लोक की विद्या जाननेवाले अध्यापक तथा उपदेशकों में प्रेम-भाव धारण करो और राजसूय यज्ञ के रचयिता जो क्षत्री लोग हैं उनका प्रीति से सेवन करो ताकि तुम्हारे राजा का पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सर्वत्र ऐश्वर्य्य विस्तृत हो जिससे तुम सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो अर्थात् जो सब का मित्र न्यायकारी कुलीन और जो डाकू चोर तथा अन्यायकारियों के दुःखों से छुड़ानेवाला हो ऐसे राजा की प्रेमलता को अपने स्नेह से सिञ्चन करो ॥१॥

आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक् ।
इळां नो मित्रावरुणोत वृष्टिमव दिव इन्वतं जीरदानू ॥ २ ॥

आ । राजाना । महः । ऋतस्य । गोपा । सिन्धुपती इति । सिन्धुऽपती । क्षत्रिया । यातं । अर्वाक् । इळां । नः । मित्रावरुणा । उत । वृष्टिं । अव । दिवः । इन्वतं । जीरदानू ॥ २ ॥

पदार्थः—(राजाना) हे प्रजापालकजनाः भवन्तः (महः, ऋतस्य) महतः सत्यस्य (गोपा) रक्षकाः (सिन्धुपती) सर्वसिन्धुप्रदेशानां पतयः (क्षत्रियाः) प्रजारक्षकाः

(अर्वाक्, यातं) शीघ्रमागत्य (नः) अस्माकम् (मित्रावरुणा) अध्यापकोपदेशकयोः (इळां, वृष्टि) अन्यसाधनस्य च पुष्टिद्वारेण (अव) रक्षन्तु भवन्तः, अन्यच्च (जीरदानू) शीघ्रमेव (दिवः) द्युलोकस्य ऐश्वर्य्येण (इन्वतं) वर्धयन्तु ॥

पदार्थ—(राजाना) हे राजा लोगो ! तुम (महः, ऋतस्य, गोपा) बड़े सत्य के रक्षक (सिन्धुपती) सम्पूर्ण सागर प्रदेशों के पति (आ) और (क्षत्रिया) सब प्रजा को दुःखों से बचानेवाले हो (अर्वाक्, यातं) तुम शीघ्र उद्यत होकर (नः) अपने (मित्रावरुणा) अध्यापक तथा उपदेशकों की (इळां वृष्टि) अन्न धन के द्वारा (अब) रक्षा करो (उत) और (जीरदानू) शीघ्र ही (दिवः) अपने ऐश्वर्य्य से (इन्वतं) इनको प्रसन्न करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा लोगो ! तुम सदा सत्य का पालन करो और एक मात्र सत्य पर ही अपने राज्य का निर्भर रक्खो, सब प्रजावर्ग को दुःखों से बचाने का प्रयत्न करो और अपने देश में विद्याप्रचार तथा धर्मप्रचार करनेवाले विद्वानों का धनादि से सत्कार करो ताकि तुम्हारा ऐश्वर्य्य प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो ॥२॥

मित्रस्तन्नो वरुणो देवो अर्यः प्र साधिष्ठेभिः पथिभिर्नयन्तु ।
ब्रवद्यथा न आदरिः सुदासं इषा मदेम सह देवगोपाः ॥ ३ ॥

मित्रः । तत् । नः । वरुणः । देवः । अर्यः । प्र । साधिष्ठेभिः । पथिऽभिः । नयन्तु । ब्रवत् । यथा । नः । आत् । अरिः । सुदाऽसे । इषा । मदेम । सह । देवऽगोपाः ॥ ३ ॥

पदार्थः—हे राजानः भवन्तः (तत्) सः (मित्रः) अध्यापकः (वरुणः) उपदेशकश्च (अर्यः) न्यायाधीशः (देवः) विद्वान् इमे सर्वे (प्र, साधिष्ठेभिः) शुभसाधनवद्भिः (पथिभिः) मार्गैः (नन्तु) गमयन्तु, अन्यच्च (देवगोपाः) राजजनैः तथा प्रजाजनैः (सह) परस्परं मिलित्वा (इषा) ऐश्वर्येण (मदेम) हृष्येम, अन्यच्च (सुदासे) उत्तमदानाय (अरिः) अर्ति गच्छति यथातत्त्वं न्यायं करोतीति न्यायकारी परमात्मा (नः) अस्मान्प्रति (यथा) येन प्रकारेण (आत्) सदैव (ब्रवत्) उपदिशति एवं भवन्तः (नः) अस्मान्प्रति उपदिशन्तु ॥

पदार्थ—हे राजा तथा प्रजाजनो ! तुमको (तत्) वह (मित्रः) अध्यापक (वरुणः) उपदेशक (अर्यः) न्यायाधीश (देवः) विद्वान् (प्र, साधिष्ठेभिः पथिभिः) भले प्रकार शुभ साधनोंवाले मार्गों से (नयन्तु) ले जायं ताकि (सह, देवगोपाः) राजा तथा प्रजाजन साथ साथ (इषा, मदेम) ऐश्वर्य्य का सुख लाभ करें (सुदासे) उत्तम दान के लिए (अरिः) न्यायकारी परमात्मा (नः) हमको (यथा) जिस प्रकार (आत्) सदैव (ब्रवत्) उत्तम उपदेश करते हैं उसी प्रकार आप (नः) हमको उपदेश करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा प्रजाजनो ! तुम उस सर्वोपरि न्यायकारी परमात्मा की आज्ञा का यथावत् पालन करो जिससे तुम मनुष्य जन्म के फलचतुष्टय को प्राप्त कर सको, तुमको तुम्हारे अध्यापक, उपदेष्टा तथा न्यायाधीश सदैव उत्तम मार्गों से चलायें जिससे तुम्हारा ऐश्वर्य्य प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो ॥३॥

यो वां गर्तं मनसा तक्षदेतमूर्ध्वां धीतिं कृणवद्धारयच्च ।
उक्षेथां मित्रावरुणा घृतेन ता राजाना सुक्षितीस्तर्पयेथाम् ॥ ४ ॥

यः । वां । गर्तं । मनसा । तक्षत् । एतं । ऊर्ध्वां । धीतिं । कृणवत् । धारयत् । च । उक्षेथां । मित्रावरुणा । घृतेन । ता । राजाना । सुऽक्षितीः । तर्पयेथाम् ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यः) ये राजानः (मित्रावरुणा) अध्यापकोपदेशकयोः (गतेन) स्नेहेन (उक्षेथां) सिञ्चन्ति (ता) ते (सुक्षितीः) सम्पूर्णप्राणिनः (तर्पयेथाम्) तर्पयन्ति, अपरं च ये (वां) अध्यापकोपदेशकयोः (गर्तं) गूढाशयम् (मनसा) चित्तवृत्त्या (तक्षत्) विचारयन्ति ते (एतं) पूर्वोक्तम् (ऊर्ध्वां, धीतिं) उन्नतकर्मरक्षाम् (धारयत्) धारणं कृत्वा (कृणवत्) कुर्वन्ति ते सदैव उन्नतिपथं प्राप्नुवन्ति ॥

पदार्थ—(यः) जो (राजाना) राजा लोग (मित्रावरुणा) अध्यापक तथा उपदेशकों को (घृतेन) स्नेह से (उक्षेथां) सिञ्चन करते हैं (ताः) वह (सुक्षितीः) सम्पूर्ण प्रजा को (तर्पयेथां) तृप्त करते हैं (च) और जो (वां) अध्यापक तथा उपदेशकों के (गर्तं) गूढ़ाशयों का (मनसा) मन से (तक्षत्) विचार कर (एवं) उन (ऊर्ध्वां, धीतिं) उन्नत कर्मों को (धारयत्) धारण करके (कृणवत्) करते हैं वह सदैव उन्नत होते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो राजा लोग अपनी प्रजा में विद्या तथा धार्मिक भावों के प्रचारार्थ अध्यापक और बड़े बड़े विद्वान् धार्मिक उपदेशकों का अपने स्नेह से पालन पोषण करते हैं वह अपनी प्रजा को उन्नत करते हैं और जो प्रजाजन उक्त महात्माओं के उपदेशों को मन से विचार कर अनुष्ठान करते हैं वह कभी अवनति को प्राप्त नहीं होते प्रत्युत सदा उन्नति की ओर जाते हैं ॥४॥

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥ ६ ॥

एषः । स्तोमः । वरुण । मित्र । तुभ्यं । सोमः । शुक्रः । न । वायवे । अयामि । अविष्टं । धियः । जिगृतं । पुरंऽधीः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा नः ॥ ५ ॥ ६ ॥

पदार्थः—(वरुण, मित्र) हे अध्यापकोपदेशकौ ! (तुभ्यं) भवदर्थम् (एषः, स्तोमः) अयं ब्रह्मयज्ञः (सोमः) साधुस्वभावस्य (शुक्रः) बलस्य च दाता भवतु अन्यच्च (वायवे, न) आदित्य इव (अयामि) प्रार्थये (धियः) भवद्बुद्धयः (अविष्टं) श्रेष्ठ-कर्मणि (जिगृतं) सदैव वर्तेरन् अन्यच्च भवन्तः (पुरंधीः) ऐश्वर्य्यम् प्राप्नुयुः (यूयं) भवन्तः (नः) अस्मान्प्रति (सदा) सर्वदैव (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादिवाग्भिः (पात) रक्षन्तु ॥

इति चतुष्षष्टितमं सूक्तं षष्ठो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(मित्र, वरुण) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (तुभ्यं) तुम्हारे लिये (एषः, स्तोमः) यह विद्यारूपी यज्ञ (सोमः, शुक्रः) शील तथा बल के देनेवाला हो और तुम्हें (वायवे, न, अयामि) आदित्य के समान प्रकाशित करे (धियः) तुम्हारी बुद्धि (अविष्टं) श्रेष्ठ कर्मों में (जिगृतं) सदा वर्त्ते जिससे तुम (पुरंधीः) ऐश्वर्य्यशाली होओ (यूयं) तुम लोग (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादि वाणियों से (नः) हमको (पात) पवित्र करो, ऐसा कथन किया करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! यह विद्यारूपी यज्ञ तुम्हारे लिए बल तथा प्रकाश देनेवाला हो और यह यज्ञ तुम्हारे सम्पूर्ण कर्मों को सफल करे, तुम्हारी बुद्धियें सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें, तुम इस यज्ञ की पूर्णाहुति में सदा यह प्रार्थना किया करो कि परमात्मा मंगलमय भावों से सदैव हमको पवित्र करे ॥५॥

६४ वां सूक्त और छठवां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चर्चस्य पञ्चषष्टितमस्य सूक्तस्य—
१—५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥
छन्दः—१, ५ विराट् । २ त्रिष्टुप् ।
३, ४ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ प्रातः सूर्य्योदयसमये परमात्मानं वर्णयन्त ऐश्वर्य्यं प्रार्थयन्ते ।

अब प्रातःकाल सूर्योदय समय परमात्मा का उपासन कथन करते हुए उससे ऐश्वर्य्यप्राप्ति की प्रार्थना करते हैं—

अथ सूर्य्योदये परमात्मोपासनं कथ्यते—

॥ अब सूर्योदय समय में परमात्मा का उपासन कहते हैं ॥

प्रति॑ वां॒ सूर॒ उदि॑ते सू॒क्तैर्मि॒त्रं हु॑वे॒ वरु॑णं पू॒तद॑क्षम् ।
ययो॑रसु॒र्य१॒॑मक्षि॑तं॒ ज्येष्ठं॒ विश्व॑स्य॒ याम॑न्ना॒चिता॑ जिग॒त्नु ॥ १ ॥

प्रति॑ । वां॒ । सूरे॑ । उत्ऽइ॑ते । सु॒ऽउ॒क्तैः । मि॒त्रं । हु॒वे॒ । वरु॑णं । पू॒तऽद॑क्षं । ययोः॑ । अ॒सु॒र्य॑ं । अक्षि॑तं । ज्येष्ठं॑ । विश्व॑स्य । याम॑न् । आ॒ऽचि॒ता॑ । जि॒ग॒त्नु ॥१॥

पदार्थः—(सूरे, उदिते) सूर्य्योदयसमये (मित्रं) सर्वमित्रं परमात्मानम् (वरुणं) सर्वैः सेवनीयम् (पूतदक्षं) पवित्रनीतिम् एवंविधं परमात्मानम् (सूक्तैः) मन्त्रसमूहैः अहं सर्वदा (हुवे) आह्वये तथा च (वां) अध्यापकोपदेशकयोः शिक्षालाभार्थं आह्वानं करोमीत्यर्थः, (ययोः) अध्यापकोपदेशकयो राजा तथा प्रजा आह्वानं करोति अन्यच्च (अक्षितं) क्षयरहितम् (असुर्यं) अपरिमितबलसंयुक्तम् (ज्येष्ठं) सर्वोपरि-विराजमानम् (विश्वस्य, यामन्) सम्पूर्णयुद्धजेतारम् आह्वयामि (आचिता) बृहद्युद्ध-

विज्ञानवन्तौ यौ अध्यापकोपदेशकौ तयोराह्वानं कार्य्यम् इति शेषः य एवं करोति स संग्रामे शत्रुसङ्घस्य (जिगत्नुः) जेता भवति ।।

पदार्थ—(वां) हे राजा तथा प्रजाजनसमुदाय ! तुम सब (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (मित्रं) सबका मित्र (वरुणं) सबका उपासनीय (पूतदक्षं) पवित्र नीतिवाले परमात्मा के (प्रति) समक्ष (सूक्तैः) मन्त्रों द्वारा (हुवे) उपासना करो (ययोः) जो उपासक राजा तथा प्रजाजन (अक्षितं, असुर्यं) अपरिमित बलवाले (ज्येष्ठं) सब से बड़े (विश्वस्य, यामन्) संसार भर के संग्रामों में (आचिता) वृद्धिवाले देव की उपासना करते हैं वह (जिगत्नु) अपने शत्रुओं को संग्रामों में जीत लेते हैं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम सब सूर्योदयकाल में वेद मन्त्रों द्वारा सर्वपूज्य परमात्मा की उपासना करो जिससे तुम्हें अक्षत बल तथा मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति होगी और तुम संग्राम में अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे । यहां द्विवचन से राजा तथा प्रजा दोनों का ग्रहण है अर्थात् राजा और प्रजा दोनों उपासनाकाल में प्रार्थना करें कि हे भगवन् ! आप हमको अक्षत बल प्रदान करें जिससे हम अपने शत्रुओं को जीत सकें ।।

इस मन्त्र में सूर्योदय समय संध्या तथा उपासना का विधान स्पष्ट पाये जाने से सबका परम कर्तव्य है कि सूर्योदय समय ब्राह्म मुहूर्त्त में परमात्मा की उपासना करें जिससे बुद्धि, बल तथा सब प्रकार का ऐश्वर्य्य प्राप्त हो ।।१।।

ता हि देवानामसुरा तावर्या ता नः क्षितीः करतमूर्जयन्तीः ।
अश्याम मित्रावरुणा वयं वां द्यावा च यत्र पीपयन्नहा च ॥ २ ॥

ता । हि । देवानां । असुरा । तौ । अर्या । ता । नः । क्षितीः । करतं । ऊर्जयन्तीः । अश्याम । मित्रावरुणा । वयं । वां । द्यावा । च । यत्र । पीपयन् । अहा । च ॥ २ ॥

पदार्थः—(हि) निश्चयेन (ता) राजा तथा प्रजा जनौ (देवानां) विदुषां मध्ये (असुरौ) बलवन्तौ भवतः (ता) (अर्या) श्रेष्ठौ भवतः (तौ) (नः) अस्माकम् (क्षितीः) पृथिवीम् (ऊर्जयन्तीः) वृद्धिसंयुक्ताः (करतं) कुरुतामित्यर्थः (मित्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ (वयं) (वां) युवाम् (अश्याम) प्राप्नुयाम (द्यावा) द्यावापृथिव्यौ (यत्र) यस्मिन्विषये (पीपयन्) अस्मान्प्रति प्याययेतां (च) पुनः (अहा) अहोरात्राणि वर्धेरन् यत्र एवंविधा प्रार्थना भवति तत्रैव सर्वैश्वर्य्यमुत्पद्यते इति भावः ।।

पदार्थ—(हि) निश्चय करके (ता) वही (तौ) राजा तथा प्रजा (देवानां) देवों के मध्य (असुरा) बलवाले होते, (अर्या) वही श्रेष्ठ होते और (ता) वही (नः) हमारी (क्षितीः) पृथिवी को (ऊर्जयन्तीः करतं) उन्नत करते हैं जो (मित्रावरुणा) सब के मित्र तथा वरणीय परमात्मा की उपासना करते हुए यह प्रार्थना करते हैं कि (वयं) हम लोग (अश्याम) परमात्मपरायण हों (च) और (यत्र) जहाँ (वां) राजा प्रजा दोनों (अहा) प्रति दिन (पीपयन्) वृद्धि की प्रार्थना करते हैं वहाँ (द्यावा) द्युलोक तथा पृथिवी लोक दोनों का ऐश्वर्य्य प्राप्त होता है ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम प्रतिदिन परमात्मपरायण होने के लिए प्रयत्न करो, जो लोग प्रतिदिन परमात्मा से प्रार्थना करते हुए अपनी वृद्धि की इच्छा

करते हैं वह द्युलोक तथा पृथिवी लोक के ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं, इसलिए तुम सदैव अपनी वृद्धि के लिए प्रार्थना किया करो ॥२॥

ता भूरिपाशावनृतस्य सेतू दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय ।
ऋतस्य मित्रावरुणा पथा वामपो न नावा दुरिता तरेम ॥ ३ ॥

ता । भूरिऽपाशौ । अनृतस्य । सेतू इति । दुरत्येतू इति दुःऽअत्येतू । रिपवे । मर्त्याय । ऋतस्य । मित्रावरुणा । पथा । वां । अपः । न । नावा । दुःऽइता । तरेम ॥ ३ ॥

पदार्थः—(ऋतस्य) सत्स्य (पथा) मार्गेण (मित्रावरुणा) शक्तिद्वयवान्परमात्मा सर्वस्य मित्रः सर्वस्य वरणीयश्च (वां) राजानं तथा प्रजाजनम् (नावा) नौकल्पसाधनैः (नः) अस्मान् (दुरत्येतू) तारयतु अन्यच्च (भूरिपाशौ) अनन्तबलयुक्तः (अनृतस्य सेतुः) सन्मर्य्यादित्यर्थः, तद्द्वारेण तद्भक्तः विघ्नौघं तरतीत्यर्थः इत्यत्र द्विवचनमतन्त्रम्, **'बहुलं छन्दसीति'** विधानात् अर्थात् छन्दसि द्विवचनस्थानेऽपि एकवचनं संपद्यतइत्यर्थः ॥

पदार्थ—(ऋतस्य) सत्य का (पथा) मार्ग जो (मित्रावरुणा) सबका मित्र तथा वरणीय परमात्मा है वह (वां) हम राजा प्रजा को (अपः) जल की (नावा) नौकाओं के (न) समान (दुरिता) पापों से (तरेम) तारे, वह परमात्मा (मर्त्याय) मरणधर्मा मनुष्यों के (रिपवे) रिपुओं के लिए (भूरिपाशौ) अनन्त बलयुक्त और (ता) पूर्वोक्त गुणोंवाले भक्तों के लिए (अनृतस्य) अनृत से तराने का (सेतु) पुल है जिसके द्वारा उसका भक्त सब प्रकार के विघ्नों से (दुरत्येतू) तर जाता है ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! जल की नौकाओं के समान तुम्हारे तराने का एक मात्र साधन परमात्मा ही है, इसलिए तुम सेतु के समान उस पर विश्वास करके इस संसार रूप भवसागर को जिसमें रिपु आदि अनेक प्रकार के दुरित रूप नक्र और असत्यादि अनेक प्रकार के भंवर हैं, इन सब से बचकर पार होने के लिए तुम्हें एक मात्र जगदीश्वर का ही अवलम्बन करना चाहिए अन्य कोई साधन नहीं ॥३॥

आ नो मित्रावरुणा हव्यजुष्टिं घृतैर्गव्यूतिमुक्षतमिळाभिः ।
प्रति वामत्र वरमा जनाय पृणीतमुद्नो दिव्यस्य चारोः ॥ ४ ॥

आ । नः । मित्रावरुणा । हव्यऽजुष्टिं । घृतैः । गव्यूतिं । उक्षतं । इळाभिः । प्रति । वां । अत्र । वरं । आ । जनाय । पृणीतं । उद्नः । दिव्यस्य । चारोः । ॥ ४ ॥

पदार्थः—(मित्रावरुणा) हे सर्वप्रिय तथा सर्ववरणीय शक्तिमन्परमात्मन् (नः) अस्माकम् (हव्यजुष्टिं गव्यूतिं) यज्ञभूमिम् (आ) सम्यक्प्रकारेण (घृतैः, इळाभिः) घृतैस्तथा अन्नैश्च (उक्षतं) सिञ्चतम् (वां प्रति) युवां प्रति अत्र अस्मिँल्लोके (वरं) उत्कृष्टम्, कार्य्यकारिणः (नः) अस्मान्प्रति (उद्नः) स्नेहस्य भावम् (पृणीतं) प्रयच्छतु प्रत्यहं भवत इयमेव प्रार्थना यत् (दिव्यस्य चारोः) चरणशीलस्य द्युलोकस्य वयमव्याहतगतयो भवेम ॥

पदार्थ—(मित्रावरुणा) हे परमात्मन् ! (नः) हमारे (हव्यजुष्टिं गव्यूतिं) यज्ञ भूमि को (आ) भलीभाँति (घृतैः, इळाभिः) घृत तथा अन्नों से (उक्षतं) पूर्ण करें (वां) दोनों राजा प्रजा को (अत्र) यहां (वरं) श्रेष्ठ (आ) और (चारोः दिव्यस्य) चरणशील द्युलोकस्थ प्रदेशों के विचरनेवाले बनायें और (नः, जनाय) हम लोगों को (उद्नः) प्रेमभाव (पृणीतं) प्रदान करें, हमारी आप से (प्रति) प्रतिदिन यही प्रार्थना है ।।

भावार्थ—हे दिव्यशक्ति सम्पन्न परमात्मन् ! आप हमारी यज्ञभूमि को अन्न तथा स्निग्ध द्रव्यों से सदैव सिञ्चन करते रहें और हमको द्युलोकादि दिव्य स्थानों में विचरने के लिए उत्तम साधन प्रदान करें जिससे हम अव्याहतगति होकर आपके लोकलोकान्तरों में परिभ्रमण कर सकें, यह हमारी आप से प्रार्थना है ।।४।।

एष स्तोमो वरुण मित्र तुभ्यं सोमः शुक्रो न वायवेऽयामि ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥ ७ ॥

एषः । स्तोमः । वरुण । मित्र । तुभ्यं । सोमः । शुक्रः । न । वायवे । अयामि । अविष्टं । धियः । जिगृतं । पुरंऽधीः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ५ ॥ ७ ॥

पदार्थः—(वरुण, मित्र) हे वरणीय तथा सर्वप्रियतम परमात्मन् (एषः, स्तोमः) इमं विज्ञानयज्ञम् (तुभ्यं) भवदर्थम् (अयामि) समर्पयामि भवान् मह्यम् (सोमः) सौम्यस्वभावम् (शुक्रः) बलम् प्रयच्छतु अन्यच्च (वायवे, न) आदित्यवत् प्रकाशम्प्रार्थयामि अस्माकम् (धियः) कर्म्माणि (अविष्टं) रक्षतु अस्माकम् (पुरंधीः) स्तुतीः (जिगृतं) स्वीकरोतु (यूयं) भवान् (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनवचोभिः (नः) अस्मान्प्रति (सदा) सदैव (पात) रक्षतु ।।

यूयं पात इत्यादि बहुवचनमादरार्थम्, ईश्वरे बहुत्वाभावात्, अर्थात् ईश्वरे नानात्वं नास्ति अतो बहुवचनमपि एकत्वसूचकमित्यर्थः ।।

पञ्चषष्टितमं सूक्तं सप्तमो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(वरुण, मित्र) हे वरणीय सथा सबके प्रियतम परमात्मन् ! (एषः, स्तोमः) यह विज्ञानमय यज्ञ (तुभ्यं) तुम्हारे निमित्त (अयामि) किया गया है, आप हमें (सोमः) सौम्य-स्वभाव (शुक्रः) बल (वायवे, न) आदित्य के समान प्रकाश (अयामि) प्रदान करें, यह यज्ञ (धियः, अविष्टं) बुद्धि की रक्षा (जिगृतं) जागृति (पुरंधीः) स्तुत्यर्थ है (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणकारक पदार्थों के प्रदान द्वारा (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—इस विज्ञानमय यज्ञ में स्नेह तथा आकर्षणरूप शक्ति प्रधान परमात्मा से यह प्रार्थना की गयी है कि हे भगवन् ! आप हमें सौम्यस्वभाव, बलिष्ठ तथा आदित्य के समान तेजस्वी बनायें और हमारी बुद्धि की सब ओर से रक्षा करें ताकि हम सदा प्रबुद्ध और अपने उद्योगों में तत्पर रहें, आपसे यही प्रार्थना है कि आप सदैव हम पर कृपा करते रहें ।।७।।

६५ वां सूक्त और सातवां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथैकोनविंशत्यृचस्य षट्षष्टितमस्य सूक्तस्य—

१—१९ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १—३, १७—१९ मित्रावरुणौ । ४—१३ आदित्याः । १४—१६ सूर्यो देवताः ॥ छन्दः—१, २, ४, ९ निचृद्गायत्री । ३ विराड्गायत्री । ५—७, १८, १९ आर्षीगायत्री । ८ स्वराड्-गायत्री । १० निचृद्बृहती । ११ स्वराड्बृहती । १२ आर्ची स्वराड्बृहती । १३, १५ आर्षीभुरिग्बृहती । १४ आर्षीविराड्बृहती । १६ पुर उष्णिक् । १७ पादनिचृद्-गायत्री ॥ स्वरः-१—९, १७—१९ षड्जः । १०—१५ मध्यमः । १६ ऋषभः ॥

अथ विज्ञानमयो यज्ञः प्रकारान्तरेण वर्ण्यते—

अब पूर्वोक्त विज्ञान यज्ञ को प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं:—

प्र मित्रयोर्वरुणयोः स्तोमो न एतु शूष्यः ।
नमस्वान्तुविजातयोः ॥ १ ॥

प्र । मित्रयोः । वरुणयोः । स्तोमः । नः । एतु । शूष्यः । नमस्वान् । तुविऽजातयोः ॥ १ ॥

पदार्थः—(मित्रयोः, वरुणयोः) हे प्रेममय सर्वाधार परमात्मन् ! (नः) अस्माकम् (प्र, स्तोमः) एष विस्तृतो यज्ञः (शूष्यः) विविध=सुखकरः (एतु) भवतु (तु) अथ च (विजातयोः) हे जन्ममरणरहित भगवन्, अयं यज्ञः (नमस्वान्) अन्न-बाहुल्ययुक्तः स्यात् ॥

पदार्थ—(मित्रयोः, वरुणयोः,) हे प्रेममय सर्वाधार परमात्मन् (नः) हमारा (प्र, स्तोमः) यह विस्तृत विज्ञान यज्ञ (शूष्यः) सब प्रकार की वृद्धि करनेवाला (एतु) हो (तु) और (विजातयोः) हे जन्म, मरण से रहित भगवन् ! यह (नमस्वान्) वृहदन्न से सम्पन्न हो ॥

भावार्थ—**"विगतम् जातम् यस्मात्स विजातः"**=जिससे जन्म विगत हो उसको **"विजात"** कहते हैं, अर्थात् विजात के अर्थ यहां आकृति—रहित के हैं अथवा **"जननं जातम्"** =उत्पन्न होनेवाले को **"जात"** और इससे विपरीत जन्म रहित **"अजात"** कहते हैं । इस मन्त्र में जन्म तथा मृत्यु से रहित मित्रावरुण नामक परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें जिससे हमारा यह विज्ञानरूपी यज्ञ सब प्रकार के सुखों का देनेवाला और प्रभूत अन्न से समृद्ध हो ॥

यदि यह कहा जाय कि **"विजातयोः"** द्विवचन होने से यहां मित्र और वरुण दो देवताओं का ही ग्रहण हो सकता है एक ईश्वर का नहीं ? इसका उत्तर यह है कि **"मित्रयोः"** **"वरुणयोः"** यहां भी एक एक शब्द में द्विवचन है परन्तु अर्थ एक के ही किये जाते हैं । जिसका कारण यह समझना चाहिए कि वेद में वचन, विभक्ति तथा लिङ्ग का नियम नहीं अर्थात् **"बहुलं छन्दसि"**

॥अष्टा० २।४।७३॥ इस पाणिनिकृत सूत्र के अनुसार छन्द=वेद में सब बातों का व्यत्यय होजाता है, इसलिए कोई दोष नहीं ॥

और जो लोग "**नम:**" शब्द का अर्थ अन्न नहीं मानते उनको ध्यान रखना चाहिए कि उपरोक्त मन्त्र में "**नम:**" शब्द अन्न का वाचक है, जैसा कि अर्थ से स्पष्ट है, किसी अन्य पदार्थ का नहीं ॥१॥

या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्षपितरा ।
असुर्याय प्रमहसा ॥ २ ॥

या । धारयन्त । देवा । सुऽदक्षा । दक्षऽपितरा । असुर्याय । प्रऽमहसा । ॥ २ ॥

पदार्थः—हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! भवन्तं (देवाः) विद्वांसः हृदि (धारयन्त) धारयन्ति (या) यो भवान् (सुदक्षा) सर्वज्ञः (दक्षपितरा) विदुषां रक्षिता (प्रमहसा) तेजस्वी भवान् (असुर्याय) अस्मभ्यं बलदानार्थम् सहायको भवतु ॥

पदार्थ—हे ज्ञानस्वरूप प्रभो ! आपको (देवाः) विद्वान् लोग (धारयन्त) धारण करते हैं (या) जो आप (सुदक्षा) विज्ञानी हो (दक्षपितरा) विज्ञानियों की रक्षा करनेवाले हो (प्रमहसा) प्रकृष्ट तेजवाले आप (असुर्याय) हमारे बल के लिए सहायक हों ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में भी द्विवचन अविवक्षित है अर्थात् "**या**" से "**यौ**" के अर्थों का ग्रहण नहीं किन्तु यह अर्थ है कि हे परमात्मन् ! आपको विद्वान् लोग धारण करते हैं, आप सर्वोपरि दक्ष और दक्षों के भी रक्षक हैं, आप हमारे इस विज्ञान यज्ञ में अपनी दक्षता से सहायक हों ॥

तात्पर्य्य यह है कि कलाकौशलप्रधान यज्ञ को "**विज्ञान यज्ञ**" कहते हैं और यह यज्ञ कुशलता के बिना कदापि नहीं आ सकता । इसलिए सर्वोपरि कुशल=दक्ष परमात्मा के साहाय्य की इस मन्त्र में प्रार्थना की है। स्मरण रहे कि दक्ष, कुशल, चतुर तथा निपुण, यह सब पर्यायवाची शब्द हैं ॥२॥

ता नः स्तिपा तनूपा वरुण जरितॄणाम् ।
मित्र साधयतं धियः ॥ ३ ॥

ता । नः । स्तिऽपा । तनूऽपा । वरुण । जरितॄणां । मित्र । साधयतं । धियः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(मित्र) हे सर्वप्रिय परमात्मन् ! भवान् (जरितॄणां) क्षणभङ्गुर=शरीरवताम् पुंसाम् (धियः) बुद्धीः (साधयतं) साधनवतीः करोतु । (वरुणा) हे सर्ववरणीय परमात्मन् ! भवान् (नः) अस्माकम् (स्तिपाः) गृहाणि पवित्रीकरोतु यतश्च (ता) उक्तगुणवान्भवान् (तनूपा) प्राणिमात्रस्योद्धारकोऽस्ति, अतो भवताहमप्युद्धरणीयः ॥

पदार्थ—(मित्र) हे मित्र परमात्मन् ! आप (जरितॄणां) क्षणभङ्गुर=शरीरवाले मनुष्यों की (धियः) बुद्धि को (साधयतं) साधन सम्पन्न करें। (वरुण) हे वरणीय परमात्मन् ! आप

(नः) हमारे (स्तिपा) घरों को पवित्र करें, क्योंकि (ता) उक्त गुणोंवाले आप (तनूपा) सब प्रकार के शरीरों को पवित्र करनेवाले हैं ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में "**तनूपा**" परमात्मा से सब प्रकार की पवित्रता के लिए प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप हमको सब प्रकार से पवित्र करें अथवा स्तिपा, तनूपा आदि सब परमात्मा के नाम हैं, जो गृहादि स्थानों को पवित्र करे उसका नाम "**स्तिपा**" और जो शरीरों को पवित्र करे उसको "**तनूपा**" कहते हैं, इत्यादि नामयुक्त परमात्मा से पवित्रता की प्रार्थना करके पश्चात् विज्ञानयज्ञ में क्रियाकौशल की सिद्धि के लिए बुद्धि को साधन सम्पन्न करने की प्रार्थना की गई है ।।

यद॒द्य सूर॒ उदि॑ते॒ऽना॑गा मि॒त्रो अ॑र्य॒मा ।
सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑ ॥ ४ ॥

यत् । अ॒द्य । सूरे॑ । उत्ऽइ॑ते । अना॑गाः । मि॒त्रः । अ॒र्य॒मा । सु॒वाति॑ । स॒वि॒ता । भगः॑ ॥ ४ ॥

पदार्थः—(यत्) यद्धनम् (अद्य) अस्मिन्दिवसे (सूरे उदिते) सूर्योदयसमये आगच्छति तत् (अनागाः) निष्पापाय भवतु (मित्रः) सर्वप्रियः (अर्यमा) न्यायकारी (सुवाति) सर्वव्यापकः भवति (सविता) सर्वोत्पादकः (भगः) ऐश्वर्यसम्पन्नः, एवंविध-गुणाकरस्य परमात्मनः कृपया न्यायेन द्रव्यप्राप्तिर्भवतीति भावः ।।

पदार्थ—(यत्) जो धन (अद्य) आज (सूरे, उदिते) सूर्य्य के उदय होने पर आता है वह सब (अनागाः) निष्पाप (मित्रः) सबके प्रिय (अर्यमा) न्यायकारी (सुवाति) सर्वव्यापक (सविता) सर्वोत्पादक (भगः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न, इत्यादि गुणोंवाले परमेश्वर की कृपा से आता है ।।

भावार्थ—मनुष्यों को जो प्रतिदिन धन तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है वह सब परमेश्वर की कृपा से मिलता है, मानो वह सत्कर्मियों को अपने हाथ से बांटता है और दुष्कर्मी हाथ मलते हुए देखते रहते हैं, इसलिए भग=सर्वऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा से सत्कर्मों द्वारा उस ऐश्वर्य की प्रार्थना कथन की गई है कि आप कृपा करके हमें भी प्रतिदिन वह ऐश्वर्य प्रदान करें ।।

"**भग**" नाम मुख्यतया परमात्मा का और गौणीवृत्ति से ऐश्वर्य का भी नाम "**भग**" है, इसलिए ऐश्वर्य्यसम्पन्न पुरुषों और आध्यात्मिक ऐश्वर्य्यसम्पन्न ऋषि मुनियों को भी भगवान् कहा जाता है, अन्य अर्यमादि सब नाम परमात्मा के हैं, जैसा कि पीछे भी "**शं नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा**" इत्यादि मन्त्रों से सिद्ध कर आये हैं, और सब स्पष्ट है ।।४।।

सु॒प्रा॒वीर॑स्तु॒ स क्षयः॒ प्र नु याम॑न्त्सुदानवः ।
ये नो॒ अंहो॑ऽति॒पिप्र॑ति ॥ ५ ॥ ८ ॥

सु॒प्रऽअ॒वीः । अ॒स्तु॒ । सः । क्षयः॑ । प्र । नु । याम॑न् । सु॒ऽदा॒न॒वः॒ । ये । नः॒ । अंहः॑ । अ॒ति॒ऽपिप्र॑ति ॥ ५ ॥ ८ ॥

पदार्थः—(सुदानवः) हे यजमानाः भवताम् (यामन्) मार्गम् (सः) पूर्वोक्तः परमात्मा (क्षयः) विघ्नरहितं करोतु (नु) अपरञ्च स मार्गः (सुप्रावीः) रक्षायुक्तः

(अस्तु) भवतु अन्यच्च (ये) यानि (नः) अस्माकम् (अंहः) पापानि (अतिपिप्रति) दूरीकरोतु भवानिति शेषः ॥

पदार्थ—(सुदानवः) हे यजमान लोगो ! तुम्हारे (यामन्) मार्ग (सः) वह परमात्मा (क्षयः) विघ्नरहित करें (नु) और (सुप्रावीः, अस्तु) रक्षायुक्त हों । तुम लोग यह प्रार्थना करो कि (ये) जो (नः) हमारे (अंहः) पाप हैं उनको आप (अतिपिप्रति) हम से दूर करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि दानी तथा यज्ञशील यजमानों के मार्ग सदा निर्विघ्न होते और उनके पापों का सदैव क्षय होता है । अर्थात् जब वह अपने शुद्ध हृदय द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! आप हमारे पापों का क्षय करें तब उनको इस कर्म का फल अवश्य शुभ होता है । यद्यपि वैदिक मत में केवल प्रार्थना का फल मनोभिलषित पदार्थों की प्राप्ति नहीं हो सकता तथापि प्रार्थना द्वारा अपने हृदय की न्यूनताओं को अनुभव करने से उद्योग का भाव उत्पन्न होता है जिसका फल परमात्मा अवश्य देते हैं, या यों कहो कि अपनी न्यूनताओं को पूर्ण करते हुए जो प्रार्थना की जाती है वह सफल होती है ॥५॥

उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥ ६ ॥

उत । स्वऽराजः । अदितिः । अदब्धस्य । व्रतस्य । ये । महः । राजानः । ईशते ॥ ६ ॥

पदार्थः—(ये) ये (राजानः) सम्राजः (अदब्धस्य व्रतस्य, महः) महतो व्रतस्य (स्वराजः) स्वामिनो भवन्ति (उत) अन्यच्च ते (ईशते) ऐश्वर्ययुक्ता भवन्तीत्यर्थः, तथा (अदितिः) सूर्यवत् प्रकाशका भवन्ति ॥

पदार्थ—(ये) जो (राजानः) राजा लोग (अदब्धस्य महः, व्रतस्य,) अखण्डित महाव्रत को (ईशते) करते हैं वह (स्वराजः) सब के स्वामी (उत) और (अदितिः) सूर्य्य के समान प्रकाशवाले होते हैं ॥

भावार्थ—न्यायपूर्वक प्रजाओं का पालन करना राजाओं का **"अखण्डितमहाव्रत"** है जो राजा इस व्रत का पालन करता है अर्थात् किसी पक्षपात से न्याय को भङ्ग नहीं करता वह स्वराज्य=अपनी स्वतन्त्र सत्ता से सदा विराजमान होता है । इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि **"स्वयं राजते इति स्वराट्"**=जो स्वतन्त्र सत्ता से विराजमान हो उसका नाम **"स्वराट्"** और **"स्वयं राजते इति स्वराजः"**=जो स्वयं विराजमान हो उसको **"स्वराज"** कहते हैं । और यह बहुवचन में बनता है । यहां **"स्वराज"** शब्द **"राजानः"** का विशेषण है । अर्थात् वही राजा लोग स्वराज का लाभ करते हैं जो न्याय-नियम से प्रजापालक होते हैं, अन्य नहीं ॥

कई एक मन्त्रों में **"स्वराज"** शब्द ईश्वर के लिए भी आता है क्योंकि वह वास्तव में अपनी सत्ता से विराजमान है और अन्य सब राजा प्रजा किसी न किसी प्रकार से परतन्त्र ही रहते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र कदापि नहीं हो सकते ॥

और जहां **"स्वाराज्य"** शब्द आता है वहां यह अर्थ होते हैं कि **"स्वर् राज्यं स्वाराज्यं"** =जो देववाओं का राज्य हो वह **"स्वाराज्य"** कहलाता है । इस पद में **"स्वर्"** तथा **"राज"** दो शब्द हैं, **"स्वर्"** शब्द के रकार का लोप होकर पूर्वपद को दीर्घ होजाने से **"स्वाराज"** बनता और इसी के भाव को **"स्वाराज्य"** कहते हैं, इस प्रकार कहीं **"स्वाराज्य"** और कहीं

"स्वराज" यह दोनों शब्द वेदों के अनेक मन्त्रों में आते हैं जो कहीं ईश्वर के अर्थ देते और कहीं देवताओं के राज्य के अर्थ देते हैं, इनसे भिन्न अर्थ में इनका व्यवहार नहीं देखा जाता ।।

और जो आज कल कई एक लोग परराज्य की अपेक्षा से अपने राज्य के लिए **"स्वराज्य"** शब्द का व्यवहार करते हैं वह वेद तथा शास्त्रों में कहीं नहीं पाया जाता, क्योंकि वैदिक सिद्धान्त में जो उत्तम गुणों से सम्पन्न हो वह देवता और जो उक्त गुणों से रहित हो उसको असुर कहते हैं, इस परिभाषा के अनुसार जो देवता है वह अपना और असुर पराया है, यही मर्यादा सदा से चली आई है ।।६।।

प्रति॑ वां॒ सूर॒ उदि॑ते मि॒त्रं गृ॑णीषे॒ वरु॑णम् ।
अ॒र्य॒मणं॑ रि॒शाद॑सम् ॥ ७ ॥

प्रति॑ । वा॒म् । सूरे॑ । उत्ऽइ॑ते । मि॒त्रम् । गृ॒णी॒षे॒ । वरु॑णम् । अ॒र्य॒मण॑म् । रि॒शाद॑सम् ॥ ७ ॥

पदार्थः—हे राजानः (सूरे, उदिते) सूर्योदयसमये (प्रति) प्रत्येकमनुष्येण (वां) शक्तिद्वयसंयुक्तं ब्रह्मोपासनीयम् । कीदृशं तद्ब्रह्म (मित्रं) सर्वप्रियम् (वरुणं) वरीतुं योग्यम् वरेण्यमित्यर्थः (अर्यमणं) न्यायकारिणम् (रिशादसं) अज्ञानस्य हन्तारम् तदेव ब्रह्म (गृणीषे) उपासका यूयं स्तुवीयात इत्यर्थः ।।

प्रतिदिनं सूर उदिते न्यायादिगुणसम्पन्नं ब्रह्म उपासकैरुपासनीयमिति भावः ।।

पदार्थ—(वां) हे राजा तथा प्रजाजनो ! तुममें से (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (प्रति) प्रत्येक मनुष्य (मित्रं) सर्वप्रिय (वरुणं) सब के उपासनीय परमात्मा की (गृणीषे) उपासना करे जो (अर्यमणं) न्यायकारी और (रिशादसं) अज्ञान का नाशक है ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा प्रजा के लोगो ! तुम्हारा सबका यह कर्त्तव्य है कि तुम प्रातः काल उठकर पूजनीय परमात्मा की उपासना करो, जो किसी का पक्षपात नहीं करता और वह स्वकर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है । ऐसे न्यायाधीश को लक्ष्य रखकर उपासना करने से मनुष्य स्वयं भी न्यायकारी और धर्मात्मा बन जाता है ।।७।।

रा॒या हि॑रण्य॒या म॒तिरि॒यम॑वृ॒काय॒ शव॑से ।
इ॒यं विप्रा॑ मे॒धसा॑तये ॥ ८ ॥

रा॒या । हि॒र॒ण्य॒ऽया । म॒तिः । इ॒यम् । अ॒वृ॒काय॑ । शव॑से । इ॒यम् । विप्रा॑ । मे॒धऽसा॑तये ॥ ८ ॥

पदार्थः—(विप्रा) विविधानर्थानस्य प्राप्तुं धातीति विप्रः **"विप्र इति मेधाविनामसु पठितम्"** ।। निरु० ३।१९।२।। हे मेधाविनः ! भवताम् (मतिरियं) इयं बुद्धिः (अवृकाय, शवसे) अहिंसकबलाय भवतु तथा (इयं) मतिः (मेधसातये) यज्ञस्य निर्विघ्नसमाप्त्यर्थं भवतु अन्यच्च (हिरण्यया, राया) ऐश्वर्याय भवतु इत्यर्थः ।।

पदार्थ—(विप्रा) हे विद्वान् लोगो ! तुम्हारी (इयं) यह (मतिः) बुद्धि (अवृकाय) अहिंसाप्रधान हो और (इयं) यह मति (शवसे) बल की वृद्धि, (मेधसातये) यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति तथा (हिरण्यया, राया) ऐश्वर्य्य को बढ़ानेवाली हो ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम ऐसी बुद्धि उत्पन्न करो जिससे किसी की हिंसा न हो और जो बुद्धि ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ, तथा कर्मयज्ञ आदि सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाली हो । इस प्रकार की बुद्धि धारण करने से तुम बलवान तथा ऐश्वर्य्य सम्पन्न होगे । इसलिए तुमको **"धियो यो नः प्रचोदयात्"** इस गायत्री तथा अन्य मन्त्रों द्वारा सदैव शुभमति की प्रार्थना करनी चाहिए ॥८॥

ते स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।
इषं स्वश्च धीमहि ॥ ९ ॥

ते । स्याम । देव । वरुण । ते । मित्र । सूरिऽभिः । सह । इषं । स्व१रिति स्वः । च । धीमहि ॥ ९ ॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वभजनीय (देव) दिव्यशक्तिमन् परमात्मन् ! (मित्र) हे सर्वप्रिय ! (ते) तवोपासका वयम् (स्याम) ऐश्वर्ययुक्ता भवेम । न केवलं वयमेव ऐश्वर्ययुक्ता भवेम किन्तु (ते) तव (सूरिभिः) तेजस्वि विद्वद्भिः सह (इषं) ऐश्वर्यम् (स्वश्च) सुखञ्च (धीमहि) धारयाम ॥

पदार्थ—(वरुण) हे सब के पूजनीय (मित्र) परमप्रिय (देव) दिव्यस्वरूप भगवन् ! (ते) तुम्हारे उपासक (स्याम) ऐश्वर्य्ययुक्त हों, न केवल हम ऐश्वर्य्ययुक्त हों किन्तु (ते) तुम्हारे (सूरिभिः) तेजस्वी विद्वानों के (सह) साथ (इषं) ऐश्वर्य्य (स्वश्च) और सुख को (धीमहि) धारण करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि यजमान लोगो ! तुम इस प्रकार प्रार्थना करो कि हे परमात्मदेव ! हम लोग सब प्रकार के ऐश्वर्य्य को प्राप्त हों, न केवल हम किन्तु ऋत्विगादि सब विद्वानों के साथ हम आनन्द लाभ करें ॥

इस मन्त्र में ऐश्वर्य्य तथा आनन्द इन दो पदार्थों की प्रार्थना है परन्तु कई एक टीकाकारों ने इन उच्चभावों से भरे हुए अर्थों को छोड़कर "इष" के अर्थ अन्न "स्व" के अर्थ जल किये हैं, जिसका भाव यह है कि हे ईश्वर ! तू हमें अन्न जल दे । हमारे विचार में इन टीकाकारों ने वेद के उच्चभाव को नीचा कर दिया है । "स्वः" शब्द सर्वत्र आनन्द के अर्थों में आता है उसके अर्थ यहां केवल जल करना वेद के विस्तृतभाव को संकुचित करना है, अस्तु, भाव यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा से सब प्रकार के ऐश्वर्य्य और आध्यात्मिक आनन्द की प्रार्थना की गई है जो सर्वथा सङ्गत है ॥९॥

बहवः सूरचक्षसोऽग्निजिह्वा ऋतावृधः ।
त्रीणि ये येमुर्विदथानि धीतिभिर्विश्वानि परिभूतिभिः ॥ १० ॥ ९॥

बहवः । सूरऽचक्षसः । अग्निऽजिह्वाः । ऋतऽवृधः । त्रीणि । ये । येमुः । विदथानि । धीतिऽभिः । विश्वानि । परिभूतिऽभिः ॥ १० ॥ ९ ॥

पदार्थः—(सूरचक्षसः) सूर्यसदृशप्रकाशमानाः (अग्निजिह्वाः) अग्निसदृशतेजस्विगिरावन्तः (ऋतावृधः) सत्यरूपयज्ञस्य वर्द्धकाः (ये) ये जनाः (परिभूतिभिः, धीतिभिः) सत्कर्मभिः (विदथानि) कर्मस्थानानि वर्द्धयन्ति ते (त्रीणि) कर्मोपासनाज्ञानानि (येमुः) प्राप्नुवन्ति एवं कृत्वा (बहवः) महान्तः (विश्वानि) सम्पूर्णफलानि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥

पदार्थ—(सूरचक्षसः) सूर्य्यसदृश प्रकाशवाले (अग्निजिह्वाः) अग्निसमान वाणीवाले (ऋतावृधः) सत्यरूप यज्ञ के बढ़ानेवाले (ये) जो (परिभूतिभिः, धीतिभिः) शुभ कर्मों द्वारा (विदथानि) कर्मभूमि को बढ़ाते हैं वह (त्रीणि) कर्म, उपासना तथा ज्ञान को प्राप्त हुए (बहवः) अनेक विद्वान् (विश्वानि) सम्पूर्ण फलों को (येमुः) प्राप्त होते हैं ।।

भावार्थ—जो विद्वान् पुरुष अपने शुभकर्मों द्वारा कर्मक्षेत्र को विस्तृत करते हैं वही सब प्रकार के फलों को प्राप्त होते और कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मनुष्य जन्म के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप फल चतुष्टय को प्राप्त हैं। इस प्रकार के विद्वान् सूर्य्यसमान प्रकाश को लाभ करते हैं और अग्नि के सदृश उनकी वाणी असत्यरूप समिधाओं को जलाकर सदैव सत्यरूपी यज्ञ करती है। अर्थात् सत्कर्मी, अनुष्ठानी तथा विज्ञानी विद्वानों का ही काम है कि वह परस्पर मिलकर कर्मभूमि को विस्तृत करें, या यों कहो कर्मयोग के क्षेत्र में कटिबद्ध हों ।।१०।।९।।

वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम् ।
अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत ।। ११ ।।

वि । ये । दधुः । शरदं । मासं । आत् । अहः । यज्ञं । अक्तुं । च । आत् । ऋचं । अनाप्यं । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । क्षत्रं । राजानः । आशत । ।। ११ ।।

पदार्थः—(ये) विद्वांसः (शरदं मासम्) शरदृतुमासभवम् (अहः) आह्निकम् (अक्तुं, च) सायंतनं च (यज्ञं) यज्ञम् (आत्, ऋचं) अथ ऋग्वेदीयमन्त्रांश्च (विदधुः) धृतवन्तस्ते (अनाप्यं) पूर्वोक्तं दुर्लभं यज्ञं कृत्वा (आत्) अतः परम् (वरुणः) सर्वपूजनीयाः (मित्रः) सर्वप्रियाः (अर्यमा) न्यायकारिणः (राजानः) दीप्तिमन्तः (क्षत्रं) क्षात्रं धर्मम् (आशत) लभन्त इत्यर्थः ।।

पदार्थ—(ये) जो विद्वान् (शरदं, मासं) शरद मास के प्रारम्भिक (अहः, अक्तुं, यज्ञं) दिन रात के यज्ञ को (ऋचं) ऋग्वेद की ऋचाओं से (वि, दधुः) भले प्रकार करते हैं, वह (अनाप्यं) इस दुर्लभ यज्ञ को करके (वरुणः) सबके पूजनीय (मित्र) सर्वप्रिय (अर्यमा) न्यायशील तथा (राजानः) दीप्तिमान होकर (क्षत्रं) क्षात्रधर्म को (आशत) लाभ करते हैं ।।

भावार्थ—शरद ऋतु के प्रारम्भ में जो यज्ञ किया जाता है उसका नाम **"शारद"** यज्ञ है। यह यज्ञ रात्रि दिन अनवरत किया जाता है। जो विद्वान् अनुष्ठानपरायण होकर इस वार्षिक यज्ञ को पूर्ण करते हैं। वह दीप्तिमान् होकर सबसे सत्कारार्ह होते हैं ।।

ज्ञात होता है कि जिसका नाम वार्षिक उत्सव है। वह वैदिक समय में शरद ऋतु के प्रारम्भ में होता था और उस समय सब आर्य्य पुरुष अपने अपने कर्मों की जांच पड़ताल किया करते थे। जिस प्रकार नये सम्वत् के चढ़ने पर अनुष्ठानी तथा सुकर्मी उन्नतिशील पुरुषों को अत्यन्त हर्ष होता है, इसी प्रकार उस समय यह उत्सव मनाया जाता था और हर्षित हुए आर्य्यपुरुष परमात्मा से प्रार्थना करते थे कि **"पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं०"**=हे परमात्मन् ! हम सौ वर्ष तक जीवें, और कृपा करके आप हमें यावदायुष देखने तथा सुनने की शक्ति प्रदान करें, इत्यादि यह कर्मयोगप्रधान "शारद" यज्ञ अब भी आर्यावर्त्त में **"शरत् पूर्णिमादि"** उत्सवों द्वारा मनाया जाता है ।।११।।

तद्वो अद्य मनामहे सूक्तैः सूर उदिते ।
यदोहते वरुणो मित्रो अर्यमा यूयमृतस्य रथ्यः ॥ १२ ॥

तत् । वः । अद्य । मनामहे । सुऽउक्तैः । सूरे । उत्ऽइते । यत् । ओहते । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । यूयं । ऋतस्य । रथ्यः ॥ १२ ॥

पदार्थः—(तत्) ब्रह्मोपदिशति भो विद्वांसः ! भवद्भिरेवं विधेयम् यत् वयं (वः) युष्मान् (अद्य) अस्मिन्दिवसे (सूर, उदिते) सूर्योदयसमये (सूक्तैः) सुन्दरवाग्भिः (मनामहे) प्रार्थयामहे । ये विद्वांसः (ओहते) सुमार्गप्रदर्शकास्तेभ्य इयं प्रार्थना कार्य्या (वरुणः) सर्वपूज्यः (मित्रः) सर्वप्रियः (अर्यमा) न्यायकारी (रथ्यः) सन्मार्ग-भवः, एते सर्वे (यूयं) भवन्तः (ऋतस्य) सन्मार्गस्य प्रवर्तकाः अतोऽस्मान्सर्वे सन्मार्गं प्रवर्तयन्तु, इति भावः ॥

पदार्थ—(तत्) वह परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! वह तुम उन विद्वानों का (अद्य) आज (सूरे, उदिते) सूर्योदय काल में (सूक्तैः) सुन्दर वाणियों द्वारा (मनामहे) आवाहन करो । (यत्) जो (ओहते) सुमार्ग दिखलानेवाले हैं और उनसे प्रार्थना करो कि (वरुणः) हे सर्वपूज्य (मित्रः) सर्वप्रिय (अर्यमा) न्यायपूर्वक वर्तनेवाले (रथ्यः) सन्मार्ग के नेता लोगों (यूयं) आप ही (ऋतस्य) सन्मार्ग में प्रवृत्त करानेवाले हैं ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह उपदेश है कि हे जिज्ञासु जनो ! तुम अपने प्रातःस्मरणीय विद्वानों को सूर्योदय समय सत्कारपूर्वक आवाहन=बुलाओ और उनसे प्रार्थना करो कि आप न्यायादिगुणसम्पन्न होने से हमारे पूज्य हैं । कृपा करके हमें भी सन्मार्ग का उपदेश करें, क्यों कि स्वयं अनुष्ठानी तथा सदाचारी विद्वान् ही अपने सदुपदेशों द्वारा सन्मार्ग को दर्शा सकते हैं । सो आप हमें भी कल्याणकारक उपदेशों द्वारा कृतकृत्य करें ॥

कई एक पौराणिक लोग **"आवाहन"** के अर्थ किसी असम्भव देवताविशेष को बुलाने के लिए किया करते हैं वह ठीक नहीं **"आवाहन"** के अर्थ विद्यमान विद्वानों के सत्कार के ही हैं ॥१२॥

सं०—अथ प्रागुक्तविदुषां गुणा वर्ण्यन्ते :—

अब उपर्युक्त विद्वानों के गुण वर्णन करते हैं :—

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः ॥ १३ ॥

ऋतऽवानः । ऋतऽजाताः । ऋतऽवृधः । घोरासः । अनृतऽद्विषः । तेषां । वः । सुम्ने । सुच्छर्दिःऽतमे । नरः । स्याम । ये । च । सूरयः ॥ १३ ॥

पदार्थः—(ऋतावानः) सत्यव्रतरताः (ऋतजाताः) सत्यजन्मानः (ऋतावृधः) सद्यज्ञवर्द्धकाः (घोरासः) रौद्राः (अनृतद्विषः) मिथ्यामतद्वेषिणः (वः) युष्माकं मध्ये ये (सूरयः) एवं विद्वांसः । (नरः) हे जनाः ! भवद्भिरेवं विधा प्रार्थना कार्य्या यत् वयमपि (तेषां) उक्तगुणवतां विदुषाम् (सुच्छर्दिष्टमे) सुखतमे (सुम्ने) पथि (स्याम) भवेम ॥

पदार्थ—(ऋतवानः) सत्यपरायण, (ऋतजाताः) सत्य की शिक्षा प्राप्ति किये हुए, (ऋतावृधः) सत्यरूप यज्ञ की वृद्धि करनेवाले (घोरासः, अनृतद्विषः) और असन्मार्ग के अत्यन्त

द्वेषी विद्वानों के (सुच्छर्दिष्टमे) सुखतम (सुम्ने) मार्ग में (वः) तुम लोग चलो (च) और (तेषां) उन विद्वानों से (ये) जो अपने गुणगौरव द्वारा (सूरयः) तेजस्वी हैं (नरः) तुम लोग प्रार्थना करो कि हम भी (स्याम) उक्त गुण सम्पन्न हों ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम अनृत से द्वेष करनेवाले तथा सत्य से सदा प्यार करनेवाले सत्पुरुषों का सत्संग करो और उनसे नम्रतापूर्वक वर्तते हुए प्रार्थना करो कि हे महाराज हमें भी सन्मार्ग का उपदेश करो ताकि हम भी उत्तम गुण सम्पन्न हों ॥१३॥

अथ विद्वत्संसर्गेण शुद्धान्तःकरणानां परमात्मप्राप्ति कथ्यतेः—

अब उपर्युक्त विद्वानों के सत्संग से शुद्ध हुए अन्तःकरण द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कथन करते हैं:—

उदु त्यद्दर्शतं वपुर्दिव एति प्रतिह्वरे ।
यदीमाशुर्वहति देव एतशो विश्वस्मै चक्षसे अरम् ॥ १४ ॥

उत् । ऊं इति । त्यत् । दर्शतं । वपुः । दिवः । एति । प्रतिऽह्वरे । यत् । ईं । आशुः । वहति । देवः । एतशः । विश्वस्मै । चक्षसे । अरम् ॥ १४ ॥

पदार्थः—(त्यद्, दर्शतं, वपुः) पूर्वोक्तं ब्रह्मणः स्वरूपम् (दिवः, प्रतिह्वरे) प्रकाशमानान्तःकरणे (एति) प्रकाशितं भवति । (विश्वस्मै, चक्षसे) तस्मै सर्वद्रष्टे (देवः) परमात्मने (एतशः) गमनशीलाः (यदीं) याः चित्तवृत्तयः (आशुः) शीघ्रं यथा तथा (वहति) जीवात्मानं प्राप्नुवन्ति ताः (अरं) अलं भवन्ति ॥

पदार्थ—(त्यत् दर्शतं, वपुः, उत्) और उस अमृत पुरुष का दर्शनीय स्वरूप (यत्) जो (दिवः, प्रतिह्वरे) प्रकाशमान अन्तःकरण में (एति) प्रकाशित होता है, उस (विश्वस्मै, चक्षसे) सम्पूर्ण संसार के द्रष्टा (देवः) देव को (एतशः, ईं) यह गमनशील अन्तःकरण की वृत्तियें (आशुः, वहति) शीघ्र ही प्राप्त कराने में (अरं) समर्थ होती हैं। मन्त्र में "उ" पादपूर्ति के लिए है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि अनृत से द्वेष तथा सत्य से प्यार करनेवाले सत्पुरुषों के सत्संग से शुद्धान्तःकरण पुरुष उस परमात्मदेव को प्राप्त करते हैं। अर्थात् उनके अन्तःकरण की वृत्तियां उस सर्वद्रष्टा देव को प्राप्त करने के लिए शीघ्र ही समर्थ होती हैं और उन्हीं के द्वारा वह देव प्रकाशित होता है, मलिनान्तःकरण पुरुष उसको प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ होते हैं, इसलिए हे सांसारिक जनो ! तुम सत्संग द्वारा उस अमृतस्वरूप को प्राप्त करो जो तुम्हारा एक मात्र आधार है ॥१४॥

अथेश्वरप्राप्तये साधनान्तराणि कथ्यन्तेः—

अब परमात्मप्राप्ति के लिये और साधन कथन करते हैं:—

शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतस्तस्थुषस्पतिं समया विश्वमा रजः ।
सप्त स्वसारः सुविताय सूर्यं वहन्ति हरितो रथे ॥ १५ ॥ १० ॥

शीर्ष्णःऽशीर्ष्णः । जगतः । तस्थुषः । पतिं । समया । विश्वं । आ । रजः । सप्त । स्वसारः । सुविताय । सूर्यं । वहन्ति । हरितः । रथे ॥ १५ ॥ १० ॥

पदार्थः—(रथे) योगिनां मार्गे भवन्त्यः (हरितः) मनोवृत्तयः (सूर्यं) प्रकाशरूपं परात्मानं (वहन्ति) अधिगच्छन्ति यः (सुविताय) कल्याणाय इदं ब्रह्माण्डगोलकमुत्पाद्य अत्रस्थस्य (जगतः, तस्थुषः, पतिं) चराचरस्य पतिरस्ति, अथ च (आ, रजः, विश्वं) परमाणोरारभ्य समस्तं भुवनम् (समया) अनादिकालाद् विद्यते । तत्प्राप्तये (शीर्ष्णः, शीर्ष्णः) सर्वेषां जनानां मस्तकेषु (सप्त, स्वसारः) सप्तधा इन्द्रियवृत्तयः सन्ति ॥

पदार्थ—(रथे) योगीजनों के मार्ग में विचरनेवाली (हरितः) अन्तःकरण की वृत्तियें (सूर्यं) उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (वहन्ति) प्राप्त कराती हैं । जो (सुविताय) इस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करके (जगतः, तस्थुषः, पतिं) जंगम तथा स्थावर का पति है (आ) और जो (रजः, विश्वं) परमाणुओं से लेकर सम्पूर्ण संसार को (समया) अनादि काल से रचता है । उसकी प्राप्ति का हेतु (शीर्ष्णः, शीर्ष्णः) प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में (स्वसारः, सप्त) निरन्तर स्वयं चलनेवाली सप्त इन्द्रियों की वृत्तियें हैं ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उस परमात्मा की प्राप्ति का उपाय कथन किया है । जो स्थावर तथा जंगमरूप इस ब्रह्माण्ड का एकमात्र पति है । उसी परमात्मदेव को यहां **"सूर्य्य"** कथन किया गया है, जो इस भौतिक सूर्य्य का वाचक नहीं किन्तु उस स्वतःप्रकाश परमात्मा का बोधक है । जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करनेवाला है, उसकी प्राप्ति का साधन मस्तिष्क में सप्तइन्द्रियों की वृत्तियां हैं अर्थात् दो आंख, दो कान, दो नासिका के छिद्र और एक मुख, इस प्रकार यह सप्तइन्द्रियों की वृत्तियें हैं । **"स्वयं सरन्तीति स्वसारः,"**=जो स्वयं गमन करें उनको **"स्वसा"** कहते हैं । जब यह वृत्तियें सदसद्विवेचन करनेवाली हो जाती हैं तब उस ज्ञानगम्य परमात्मा की प्राप्ति होती है । अथवा पांच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि, इन सातों द्वारा चराचर ब्रह्माण्ड के प्रति परमात्मा की रचना को ज्ञानगम्य करके मनुष्य उस प्रकाशस्वरूप को प्राप्त होता है, जहां **"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्"**=न सूर्य्य का प्रकाश पहुँच सकता और न चन्द्र तथा तारागण अपना प्रकाश पहुँचा सकते हैं । इस भाव से यहां वृत्तियों का वर्णन किया है अर्थात् योगी पुरुषों के अन्तःकरण की वृत्तियें ही उस परज्योति को प्राप्त कराने में समर्थ होती हैं । यहां सूर्य्य की सात किरणों का कोई प्रकरण नहीं, क्योंकि मन्त्र में **"सूर्य्य"** शब्द उस जगत्पति परमात्मा का विशेषण है, जो प्रकाशस्वरूप परमात्मा को ग्रहण कराता है, इस भौतिक सूर्य्य का नहीं । तीसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र में स्पष्ट वर्णन किया गया है कि प्रकाशस्वरूप परमात्मा इस सूर्य्य का पति है और उसी से यह उत्पन्न होता है ॥१५॥ १०॥

अथ सर्वद्रष्टुः परमात्मनः प्रार्थनाप्रकार कथ्यते—

अब उस सर्वद्रष्टा परमात्मा से प्रार्थना करने का प्रकार कथन करते हैं—

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं ॥ १६ ॥

तत् । चक्षुः । देवऽहितं । शुक्रं । उत्ऽचरत् । पश्येम । शरदः । शतं । जीवेम । शरदः । शतं ॥ १६ ॥

पदार्थः—(तत्) ब्रह्म (चक्षुः) सर्वस्य द्रष्टृ (देवहितं) देवानां हितकारकम् (शुक्रं) बलस्वरूपम् (उच्चरत्) सर्वोपरिविराजमानम्, तत्कृपया वयम् (शरदः, शतं, जीवेम) शतवर्षपर्यन्तं जीवेम (शरदः, शतं, पश्येम) तथा शतवर्षपर्यन्तं तन्महिमानमनुभवाम ॥

पदार्थ—(तत्) वह परमात्मा जो (चक्षुः) सर्वद्रष्टा (देवहितं) विद्वानों का हितैषी (शुक्रं) बलवान् (उच्चरत्) सर्वोपरि विराजमान है, उनकी कृपा से हम (जीवेम, शरदः, शतं) सौ वर्ष पर्य्यंत प्राणधारण करें, और (पश्येम, शरदः शतं), सौ वर्ष पर्य्यन्त उसकी महिमा को देखें अर्थात् उसकी उपासना में प्रवृत्त रहें ॥

भावार्थ—सर्वप्रकाशक, सबका हितकारी तथा बलस्वरूप परमात्मा ऐसी कृपा करें कि हम सौ वर्ष जीवित रहें और सौ वर्ष तक उसको देखें। यहां **"पश्येम"** के अर्थ आँखों से देखने के नहीं किन्तु ध्यान द्वारा ज्ञान गोचर करने के हैं, जैसा कि **"दृश्यते त्वग्रया बुद्धया" ॥कठ०३।१२॥** इस वाक्य में **"दृश्यते"** के अर्थ बुद्धि से देखने के हैं अथवा उसकी इस रचनारूप महिमा को देखते हुए उसकी महत्ता का अनुभव करके उपासन में प्रवृत्त हों, यह आशय है ॥

यहां विचारणीय यह है कि यही मन्त्र यजुर्वेद में इस प्रकार है कि—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत९
शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतम-
दीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० ३६। २४

अर्थात् उपरोक्त ऋग् मन्त्र में लिखे—**"पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं"** तक ही नहीं किन्तु **"शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं०"** इत्यादि प्रकार से भिन्न है, जो लोग वेदों पर पुनरुक्त होने का दोष लगाते हैं उनको इस भेद की ओर ध्यान करना चाहिए कि भिन्नार्थ प्रतिपादन में वाक्य कदापि पुनरुक्त नहीं होते, किन्तु भिन्नार्थ के प्रतिपादक प्रकरणभेद वा आकारभेद से होते हैं, जैसा कि **"तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्"** यह पाठ ऋग् का है जिसके अर्थ ऊपर किये गये हैं, और **"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्"** यह पाठ यजुर्वेद का है, जिसका भाव यह है कि हम ऋषि मुनियों के समान ज्ञानी विज्ञानी होकर देखें, सुनें और जीवें, प्राकृत लोगों के समान नहीं, इस प्रकार वेदों में आकार भेद वा प्रकरण भेद से जो मन्त्र पुनः पुनः आते हैं वह पुनरुक्त नहीं हो सकते, इसी प्रकार **"सहस्रशीर्षादि"** मन्त्र भी पुनरुक्त नहीं ॥१६॥

अथ यज्ञेषु सोमादिसात्त्विकपदार्थैः विदुषः सत्कारो वर्ण्यते—

अब यज्ञ में सोमादि सात्त्विक पदार्थों द्वारा देव = विद्वानों का सत्कार कथन करते हैं—

काव्येभिरदाभ्या यातं वरुण द्युमत् ।
मित्रश्च सोमपीतये ॥ १७ ॥

काव्येभिः । अदाभ्या । आ । यातं । वरुण । द्युऽमत् । मित्रः । च । सोमऽपीतये ॥ १७ ॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वपूज्य (मित्रः) सर्वमित्र (अदाभ्या) अवञ्चनीय (द्युमत्) तेजस्विन् विद्वन्, भवन्तः सर्वे (सोमपीतये) सोमपानार्थम् (काव्येभिः) आकाशयानैः (आ, यातं) आगच्छन्तु ॥

पदार्थ—(वरुण) हे सर्वपूज्य (मित्रः) सर्वप्रिय (अदाभ्या) संयमी (च) तथा (द्युमत्) तेजस्वी विद्वानो! आपलोग (सोमपीतये) सोमपान करने के लिये (काव्येभिः) यानों द्वारा (आ, यातं) भले प्रकार आयें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा ने शिष्टाचार का उपदेश किया है कि हे प्रजाजनो, तुम सर्वपूज्य, विद्वान्, जितेन्द्रिय तथा वेदोक्त कर्मकर्त्ता विद्वानों को सुशोभित यानों द्वारा सत्कार-पूर्वक अपने घर वा यज्ञमण्डप में बुलाओ और सोमादि उत्तमोत्तम पेय तथा खाद्य पदार्थों द्वारा उनका सत्कार करते हुए उनसे सदुपदेश श्रवण करो ॥

यहां यह भी ज्ञात रहे कि **"सोम"** के अर्थ चित्त को आह्लादित करने तथा सात्विक स्वभाव बनानेवाले रस के हैं किसी मादक द्रव्य के नहीं, क्योंकि वेदवेत्ता विद्वान् लोग जो सूक्ष्म बुद्धि द्वारा उस परमात्मा को प्राप्त होने का यत्न करते हैं वह मादक द्रव्यों का कदापि सेवन नहीं करते, क्योंकि सब मादक द्रव्य बुद्धिनाशक होते हैं, और सोम के मादक द्रव्य न होने में एक बड़ा प्रमाण यह है कि **"हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायां"** ॥८।२।१२॥ इस मन्त्र में **"न सुरायां"** पद दिया है जिसके अर्थ यह हैं कि सोम सुरा के समान मादक द्रव्य नहीं, इससे सिद्ध है कि बुद्धिवर्द्धक सात्विक पदार्थ का नाम सोम है ॥१७॥

दिवो धामभिर्वरुण मित्रश्चा यातमद्रुहा ।
पिबतं सोममातुजी ॥ १८ ॥

दिवः । धामऽभिः । वरुण । मित्रः । च । आ । यातं । अद्रुहा । पिबतं । सोमं । आतुजी इत्याऽतुजी ॥ १८ ॥

पदार्थः—(वरुण, मित्रः) हे पूजनीयास्तथा परमप्रियाविद्वांसः, भवन्तः (अद्रुहा) द्वेषरहिताः सन्तः (दिवः, धामभिः) ज्ञानद्वारेण प्रकाशितैर्मार्गैः (आ, यातं) आगच्छन्तु (च) किञ्च (आतुजी, सोमं) शान्तिप्रदं सोमम् (पिबतं) पिबन्तु, अत्र द्विवचनं मित्रवरुणशक्तिद्वयप्राधान्यसूचनार्थं वस्तुतः सर्वे विद्वांसः सोमरसं पिबन्त्वि-त्यर्थः ॥

पदार्थ—(वरुण, मित्रः) हे पूजनीय तथा परमप्रिय विद्वान् पुरुषो! आप लोग (अद्रुहा) राग द्वेष को त्याग कर (दिवः, धामभिः) ज्ञान से प्रकाशित हुए मार्गों से (आ, यातं) उत्साह पूर्वक आओ (च) और (आतुजी, सोमं) शान्तिप्रदान करनेवाले सोमरस को (पिबतं) पीओ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ज्ञान के प्रकाश से सदा तेजस्वी तथा राग-द्वेषादिभावों से रहित विद्वान् पुरुषो! तुम यजमानों से निमन्त्रित हुए उनके पवित्र घरों में आओ और सोमादि सात्विक पदार्थों का सेवन करते हुए उनको पवित्र धर्म का उपदेश करो ताकि वह गृहस्थाश्रम के नियमपालन में विचल न हों ॥१८॥

आ यातं मित्रावरुणा जुषाणावाहुतिं नरा ।
पातं सोममृतावृधा ॥ १९ ॥ ११ ॥

आ । या॒तं । मि॒त्रा॒व॒रु॒णा॒ । जु॒षा॒णौ । आऽहु॑तिं । न॒रा॒ । पा॒तं । सोम॑ं । ऋ॒त॒ऽवृ॒धा ॥ १९ ॥ ११ ॥

पदार्थः—(ऋतावृधा) हे ज्ञानयज्ञयोगयज्ञकर्मयज्ञादियज्ञानां वर्द्धयितारौ मित्रावरुणौ, (नरा) नरौ, युवाम् (आ, यातं) आगच्छतम् (आहुतिं) मम सत्कारम् (जुषाणौ) अभिलष्यन्तौ (सोमं, पातं) सोमं पिबतमित्यर्थः अत्रापि द्विवचनं ज्ञान विज्ञानशक्तिद्वयसूचनार्थम् ॥

॥ इति षट्षष्टितमं सूक्तं एकादशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(ऋतावृधा) हे ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ, कर्मयज्ञ आदि यज्ञों के बढ़ानेवाले (मित्रावरुणा, नरा) मित्र वरुण विद्वान् लोगो ! तुम (आ, यातं) सत्कार पूर्वक आओ और हमारी इस शान्ति की (आहुतिं) आहुति को (जुषाणौ) सेवन करते हुए (सोमं, पातं) पवित्र सोम का पान करो ॥

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे ज्ञानादि यज्ञों के अनुष्ठानी विद्वानो ! तुम लोग सत्कारपूर्वक अपने यजमानों को प्राप्त होओ और सोमपान करते हुए उनके हृदय को शान्तिधाम बनाओ अर्थात् अपने अनुष्ठानरूप ज्ञान से उनको ज्ञानयज्ञ, योगयज्ञ तथा कर्मयज्ञादि वैदिक कर्मों का अनुष्ठानी बनाकर पवित्र करो और शान्ति की आहुति देते हुए संसार भर में शान्ति फैलाओ जो तुम्हारा कर्त्तव्य है ॥१९॥ ११॥

६६वां सूक्त और ११वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य सप्तषष्टितमस्य सूक्तस्य—

१-१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥
छन्दः-१, २, ६—८, १० निचृत्त्रिष्टुप् ।
३, ५, ९ विराट्त्रिष्टुप् ।
४ आर्षीत्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अस्मिन्सूक्ते राजधर्म्मउपदिश्यते—

अब परमात्मा इस सूक्त में राजधर्म का उपदेश करते हैं—

प्रति॑ वां॒ रथं॑ नृपती ज॒रध्यै॑ ह॒विष्म॑ता॒ मन॑सा य॒ज्ञिये॑न ।
यो वां॑ दू॒तो न धि॑ष्ण्याव॒जीग॒रच्छा॑ सू॒नुर्न पि॒तरा॑ विवक्मि ॥१॥

प्रति॑ । वां॒ । रथं॑ । नृ॒प॒ती॒ इति॑ नृ॒ऽप॒ती॒ । ज॒रध्यै॑ । ह॒विष्म॑ता । मन॑सा । य॒ज्ञिये॑न । यः । वां॒ । दू॒तः । न । धि॒ष्ण्या॒ । अजी॑गः । अच्छ॑ । सू॒नुः । न । पि॒तरा॑ । वि॒व॒क्मि॒ ॥ १ ॥

पदार्थः—(वां) युवयोः अध्यापकोपदेशकयोः (रथं) मार्गम् (नृपती) राजानौ (हविष्मता) तेजस्विनौ (मनसा) मानसेन (यज्ञियेन) याज्ञिकेन भावेन (प्रति, जरध्यै) प्रतिदिनं स्तुतिं कुरुताम् (वां) भवन्तौ (दूतः, न) दूत इव यः यत् (विवक्मि) उपदिशामि तत् (अच्छ) सम्यक्प्रकारेण भवन्तः शृण्वन्तु उक्तार्थं दृष्टान्तेनाभिव्यनक्ति, (पितरा) यथा मातापितरौ (सूनुः) स्वसन्ततिम् (अजीगः) उद्बोधयतः, (नः) एवं (धिष्ण्यौ) धीमन्तौ भवन्तौ राजानौ प्रतिबोधयतामिति भावः ॥

पदार्थ—(वां) हे अध्यापक वा उपदेशको ! (रथं) तुम्हारे मार्ग को (नृपती) राजा (हविष्मता) हविवाले (मनसा) मानस (यज्ञियेन) याज्ञिक भावों से (प्रति, जरध्यै) प्रतिदिन स्तुति करे, मैं (वां) तुम लोगों को (दूतः) दूत के (न) समान (यः) जो (विवक्मि) उपदेश करता हूँ उसको (अच्छ) भलीभाँति सुनो (पितरा) पितर लोग (सुनुः) अपने पुत्रों को (न) जिस प्रकार (अजीगः) जगाते हैं इसी प्रकार (धिष्ण्यौ) धारणवाले तुम लोग उपदेश द्वारा राजाओं को जगाओ ॥

भावार्थ—हे धारणावाले अध्यापक तथा उपदेशको ! मैं तुम्हें दूत के समान उपदेश करता हूँ कि जिस प्रकार पिता अपने पुत्र को सुमार्ग में प्रवृत्त होने के लिए सदुपदेश करता है इसी प्रकार तुम लोग भी वेदों के उपदेश द्वारा राजाओं को सन्मार्गगामी बनाओ ताकि वह ऐश्वर्य्यप्रद यज्ञों से वेदमार्ग का पालन करें अथवा ध्यानयज्ञों से तुम्हारे मार्ग को विस्तृत करें ॥

भाव यह है कि जिस सम्राट् को अनुष्टानी उपदेशक महात्मा अपने उपदेशों द्वारा उत्तेजित करते हुए स्वकर्तव्य कर्मों में लगाये रहते हैं और राजा भी उनके सदुपदेशों को अपने हार्दिक भाव से ग्रहण करता है वह कदापि ऐश्वर्य्य से भ्रष्ट नहीं होता, इसलिए हे उपदेशको ! तुम राजा तथा प्रजा को शुभ मार्ग में चलाने का सदा उपदेश करो, यह मेरा तुम्हारे लिए आदेश है ॥१॥

अथोपदेशस्य समयोऽभिधीयते—

अब उपदेश का समय कथन करते हैं—

अशोच्यग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन्तमसश्चिदन्ताः ।
अचेति केतुरुषसः पुरस्ताच्छ्रिये दिवो दुहितुर्जायमानः ॥२॥

अशोचि । अग्निः । सम्ऽइधानः । अस्मे इति । उपो इति । अदृश्रन् । तमसः । चित् । अन्ताः । अचेति । केतुः । उषसः । पुरस्तात् । श्रिये । दिवः । दुहितुः । जायमानः ॥ २ ॥

पदार्थः—यस्मिन्काले (पुरस्तात्) पूर्वस्यां दिशि (दिवः) द्युलोकस्य (दुहितुः) कन्यायाः (उषसः) प्रकाशः (श्रिये) शोभायै (जायमानः) उत्पन्नो भवेत्, अन्यच्च (केतुः) सूर्य्यः (अचेति) ज्ञातो भवेत्, अन्यच्च (तमसश्चित्) अन्धकारस्यापि (अन्ताः) नाशो भवेत् अन्यच्च (उपो, अदृश्रन्) उपदृष्टं भवेत्, तदा (समिधानः) समिध्यमानः (अग्निः) पावकः (अशोचि) दीप्यते, तस्मिन्प्रदीप्तेऽग्नौ (अस्मे) अस्माभिः हवनं कार्यमिति शेषः ॥

पदार्थ—(अस्मे) जब (पुरस्तात्, श्रिये) पूर्वदिशा को आश्रयण किये हुए (दिवः, दुहितुः, उषसः) द्युलोक से अपनी दुहिता उषा को लेकर (जायमानः) उदय होता हुआ (केतुः) सूर्य्य (अचेति) जान पड़े, और (तमसः, चित्, अन्ताः) अन्धकार का भले प्रकार अन्त=नाश (उपो,

अदृश्रन्) दीखने लगे तब (समिधानः, अग्निः, अशोचि) समिधाओं द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे उपदेशको ! अन्धकार के निवृत होने पर सूर्योदयकाल में अपने सन्ध्या अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करो और राजा तथा प्रजा को भी इसी काल में उक्त कर्म करने तथा अन्य आवश्यक कर्मों के करने का उपदेश करो, क्योंकि उपदेश का यही अत्युत्तम समय है, इस समय सबकी बुद्धि उपदेश ग्रहण करने के लिए उद्यत होती है ॥२॥

अभि वां नूनमश्विना सुहोता स्तोमैः सिषक्ति नासत्या विवक्वान् ।
पूर्वीभिर्यातं पथ्याभिरर्वाक्स्वर्विदा वसुमता रथेन ॥ ३ ॥

अभि । वां । नूनं । अश्विना । सुऽहोता । स्तोमैः । सिषक्ति । नासत्या । विवक्वान् । पूर्वीभिः । यातं । पथ्याभिः । अर्वाक् । स्वःऽविदा । वसुऽमता । रथेन ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाधीशाः (वां) यूयम् (नूनं) निश्चयेन (सुहोता) शोभना होतारो भूत्वा (स्तोमैः) यज्ञैः अनुष्ठानं (सिषक्ति) कुर्वन्तः शिक्षां लभध्वम्, यत् (नासत्या विवक्वान्) असत्यमभाषमाणाः (पूर्वीभिः, पथ्याभिः, अर्वाक्) सदातनमार्गान् अभिमुखीकृत्य (स्वर्विदा, वसुमता) ऐश्वर्य्यवता धनवता च (रथेन) पथा (यातं) गच्छत ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे सेनाधीश राजपुरुषो (वां) तुम लोग (नूनं) निश्चय करके (सुहोता) उत्तम होता बनकर (स्तोमैः) यज्ञानुष्ठान (सिषक्ति) करते हुए शिक्षा प्राप्त करो कि (नासत्या, विवक्वान्) तुम कभी असत्य न बोलो (पूर्वीभिः, पथ्याभिः, अर्वाक्) सनातन मार्गों को अभिमुख करके (स्वर्विदा, वसुमता) ऐश्वर्य्य तथा धन प्राप्त होनेवाले (रथेन) मार्ग से यातं चलो ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा राजपुरुषों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग वैदिक यज्ञ करते हुए सत्यवक्ता होकर सदा सनातन सन्मार्गों से चलो जिससे तुम्हारा ऐश्वर्य्य बढ़े और तुम उस ऐश्वर्य्य के स्वामी होकर सत्यपूर्वक प्रजा का पालन करो ॥३॥

अवोर्वां नूनमश्विना युवाकुर्हुवे यद्वां सुते माध्वी वसूयुः ।
आ वां वहन्तु स्थविरासो अश्वाः पिबाथो अस्मे सुषुता मधूनि ॥ ४ ॥

अवोः । वां । नूनं । अश्विना । युवाकुः । हुवे । यत् । वां । सुते । माध्वी इति । वसुऽयुः । आ । वां । वहन्तु । स्थविरासः । अश्वाः । पिबाथः । अस्मे इति । सुऽसुता । मधूनि ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे सेनाधीशौ राजपुरुषौ ! (नूनं) निश्चयेन (वां) युवयोः (अवोः) रक्षित्रोः (वसूयुः) वसुकामः (युवाकुः) भवत्कामयमानोऽहम् (हुवे) प्रार्थये (यत्) यस्मात् (वां) युवयोः (माध्वी) मधुविद्याः (अस्मे) अस्मान् (सुते, आ, वहन्तु) सुमार्गेषु प्रेरयन्तु यतो वयम् (सुषुता) सुशिक्षिताः सन्तः (मधूनि) मधुद्रव्याणि (पिबाथः) भुञ्जानाः सुखिनो भवेम, अन्यच्च (स्थविरासः) ज्ञानवृद्धा भवन्तः (अश्वाः) शीघ्रकार्य्यकर्त्तारो भवन्तः, मामुपदिशन्तु ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे सेनापति तथा न्यायाधीश राजपुरुषो ! (नूनं) निश्चय करके (वां) तुम लोग (अवोः) हमारी रक्षा करनेवाले हो, (युवाकुः) तुम्हारी कामना करते हुए हम लोग (हुवे) तुम्हें आवाहन करते हैं (यत्) क्योंकि (वां) तुम लोग (माध्वी) मधुविद्या में (सुते) कुशल हो, इसलिए (वां) आप लोग हमको (वसूयुः) धन से सम्पन्न करो (स्थविरासः) परिपक्व आयुवाले (अश्वाः) शीघ्र कार्य्यकर्त्ता आप लोग (अस्मे) हम लोगों को (आ, वहन्तु) भले प्रकार शुभमार्गों में प्रेरें ताकि (सुषुता, मधूनि) संस्कार किये हुए मधुर द्रव्यों को (पिबाथः) ग्रहण करके सुखी हों ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम उन राजशासन कर्त्ताओं से इस प्रकार प्रार्थना करो कि हे राजपुरुषो ! आप हमारे नेता बनकर हमें उत्तम मार्गों पर चलायें ताकि हम सब प्रकार की समृद्धि को प्राप्त हों, हम में कभी रागद्वेष न हो और हम सदा आपकी धर्मपूर्वक आज्ञा का पालन करें, परमात्मा आज्ञा देते हैं कि तुम दोनों मिलकर चलो, क्योंकि जब राजा तथा प्रजा में प्रेमभाव उत्पन्न होता है तब वह मधुविद्या = रसायन विद्या को प्राप्त होते हैं अर्थात् दोनों का एक लक्ष्य हो जाने से संसार में कल्याण की वृद्धि होती है ।।४।।

अथैश्वर्य्यप्राप्तये शुभा बुद्धिः प्रार्थ्यते ।

अब ऐश्वर्य्यप्राप्ति के लिये शुभ बुद्धि की प्रार्थना करते हैं—

प्राचीमु देवाश्विना धियं मेऽमृध्रां सातये कृतं वसूयम् ।
विश्वा अविष्टं वाज आ पुरंधीस्ता नः शक्तं शचीपती शचीभिः ।।५।।

प्राचीम् । ऊं इति । देवा । अश्विना । धियं । मे । अमृध्राम् । सातये । कृतं । वसुऽयुं । विश्वाः । अविष्टं । वाजे । आ । पुरंऽधीः । ता । नः । शक्तं । शचीपती । इति शचीऽपती । शचीभिः ।। ५ ।। १२ ।।

पदार्थः—(शचीपती) **शचीति कर्मनामसु पठितम् ।। निरु. ३ । २ ।।** हे कर्माध्यक्ष (देवा) दिव्यशक्तियुक्त परमात्मन्, (शचीभिः) दिव्यकर्मभिः (नः) अस्मान् (शक्तं) शक्तिसम्पन्नान् कुरु, यतो वयम् (ता) प्रसिद्धाः (पुरंधीः) शुभबुद्धीः लभेम किञ्च (वाजे) संग्रामे (विश्वा) सर्वा ऐश्वर्योत्पादका बुद्धयः अस्माकं भवन्तु (अश्विना) हे प्रकृतिपुरुषरूपशक्तिद्वयसम्पन्न परमात्मन्, त्वम् (अविष्टं) मां रक्ष (ऊं) विशेषतया (सातये) ऐश्वर्य्यप्राप्त्यर्थं (वसुयुं, कृतं) धनसम्पन्नं कुरु, अन्यच्च (प्राचीं) प्राचीनाम् (अमृध्रां) अहिंसिताम् (धियं) बुद्धिं ददातु इति शेषः ।।

पदार्थ—(शचीपती) कर्मों का स्वामी (देवा) परमात्मदेव (शचीभिः) अपनी दिव्य शक्ति द्वारा (नः) हमको (शक्तं) सामर्थ्य दे ताकि हम (ता) उस (पुरंधीः) शुभबुद्धि को (आ) भले प्रकार प्राप्त होकर (विश्वाः, वाजे) सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य के स्वामी हों, (अश्विना) हे परमात्मदेव, (अविष्टं) अपने से सुरक्षित (मे) मुझे (ऊं) विशेषतया (सातये, वसूयुं, कृतं) ऐश्वर्य्य तथा धनादि की प्राप्ति में कृतकार्य्य होने के लिए (प्राचीं, अमृध्रां) सरल और हिंसारहित (धियं) बुद्धि प्रदान करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में जगत्पिता परमात्मदेव से यह प्रार्थना की गई है कि हे भगवन् ! आप हमारी सब प्रकार से रक्षा करते हुए अपनी दिव्यशक्ति द्वारा हमको सामर्थ्य दें कि हम

उस शुभ, सरल तथा निष्कपट बुद्धि को प्राप्त होकर ऐश्वर्य्य तथा सब प्रकार के धनों को सम्पानद करें, या यों कहो कि हे कर्मों के अधिपति परमात्मन् ! आप हमको कर्मानुष्ठान द्वारा ऐसी शक्ति प्रदान करें जिससे हम साधनसम्पन्न होकर उस बुद्धि को प्राप्त हों जो धन तथा ऐश्वर्य्य के देनेवाली है अथवा जिसके सम्पादन करने से ऐश्वर्य्य मिलता है ॥

प्रार्थना से तात्पर्य्य यह है कि पुरुष अपनी न्यूनता अनुभव करता हुआ शुभकर्मों की ओर प्रवृत्त हो और शुभकर्मी को परमात्मा सब प्रकार का ऐश्वर्य्य प्रदान करते हैं, क्योंकि वह कर्माध्यक्ष हैं, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि **"कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च"** ॥ श्वे० ६।११ ॥ वह परमात्मा कर्मों का अध्यक्ष=स्वामी, सब भूतों का निवास स्थान, साक्षी और निर्गुण=प्राकृत गुणों से रहित है, इत्यादि गुण सम्पन्न परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि वह देव हमें शुभकर्मों की ओर प्रेरे ताकि हम उस दिव्य मेधा के प्राप्त करने योग्य बनें जिससे सब प्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्त होते हैं ॥५॥

अथ मनुष्यजन्मनः फलचतुष्टयं प्रार्थ्यते ॥

अब मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय की प्रार्थना करते हैं—

अविष्टं धीष्वश्विना न आसु प्रजावद्रेतो अह्रयं नो अस्तु ।
आ वां तोके तनये तूतुजानाः सुरत्नासो देववीतिं गमेम ॥ ६ ॥

अविष्टं । धीषु । अश्विना । नः । आसु । प्रजाऽवत् । रेतः । अह्रय । नः । अस्तु । आ । वां । तोके । तनये । तूतुजानाः । सुऽरत्नासः । देवऽवीतिं । गमेम ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे ऐश्वर्यप्रद परमात्मन्, (आसु धीषु,) एषु कर्मसु (नः) अस्मान् (अविष्टं) रक्ष, अथ च (प्रजावत्) संतत्यर्थम् (अह्रयं) अमोघम्, (रेतः) वीर्यं देहि (आ) अपरञ्च (नः) अस्माकम्, (वां) भवतः प्रसादात् (तोके) पुत्रे (तनये) पौत्रे संततिविषये, इत्यर्थः (सुरत्नासः) शोभनधनाः (तूतुजानाः) प्रभूतं धनं प्रयच्छन्तो वयम् (देववीतिं) देवसङ्गतिं प्राप्नुयाम ॥

पदार्थ—(वां, अश्विना) हे सन्तति तथा ऐश्वर्य्य के दाता परमात्मन् ! (धीषु, अविष्टं) कर्मों में सुरक्षित (नः) हमको (प्रजावत्) प्रजा उत्पन्न करने के लिए (अह्रयं) अमोघ (रेतः) वीर्य्य प्राप्त (अस्तु) हो (आ) और (नः) हमको (तोके) हमारे पुत्रों को (तनये) उनके पुत्र पौत्रादिकों के लिए (सुरत्नासः, तूतुजानाः) सुन्दर रत्नोंवाला यथेष्ट धन दें ताकि हम (देववीतिं, गमेम) विद्वानों की संगति को प्राप्त हों ॥

भावार्थ—हे भगवन् ! प्रजा उत्पन्न करने का एकमात्र साधन अमोघ वीर्य्य हमें प्रदान करें ताकि हम इस संसार में सन्तति रहित न हों और हमको तथा उत्पन्न हुई सन्तान को धन दें ताकि हम सुख से अपना जीवन व्यतीत कर सकें ॥

और जो **"देववीति"** पद से विद्वानों का सत्संग कथन किया है उसका तात्पर्य्य यह है कि हे परमात्मन् ! आपकी कृपा से हमें धर्म और मोक्ष भी प्राप्त हो, इस मन्त्र में संक्षेप से मनुष्यजन्म के फलचतुष्टय की प्रार्थना की गई है अर्थात् **"सुरत्नासः"** पद से अर्थ **"तनय"** पद से धर्मपूर्वक उत्पन्न की हुई सन्ततिरूप कामना, और **"देववीति"** पद से धर्म तथा मोक्ष का वर्णन किया है, क्योंकि वेदज्ञ विद्वानों के सत्संग किये बिना धर्म का बोध नहीं होता और धर्म के बिना मोक्ष=सुख का मिलना असम्भव है ॥

जो कई एक लोग अपनी अज्ञानता से यह कहा करते हैं कि वेदों में केवल प्राकृत बातों का वर्णन है, उनको ऐसे मन्त्रों पर ध्यान देना चाहिए जिनमें मनुष्य के कर्तव्यरूप लक्ष्य का स्पष्ट वर्णन पाया जाता है, ऐसा अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता, इसलिए वेदों के अपूर्व भावों पर दृष्टि डालना प्रत्येक आर्य्यसन्तान का परमकर्तव्य है ॥६॥

एष स्य वां पूर्वगत्वेव सख्ये निधिर्हितो माध्वी रातो अस्मे ।
अहेळता मनसा यातमर्वागश्नन्ता हव्यं मानुषीषु विक्षु ॥ ७ ॥

एषः । स्यः । वां । पूर्वगत्वाऽइव । सख्ये । निऽधिः । हितः । माध्वी इति । रातः । अस्मे इति । अहेळता । मनसा । आ । यातं । अर्वाक् । अश्नन्ता । हव्यं । मानुषीषु । विक्षु ॥ ७ ॥

पदार्थः—(माध्वी) विद्यामाधुर्यप्रचारिणौ विद्वांसौ (वां) युवाभ्याम् (एषः) होमः (सख्ये) मित्रविषये (पूर्वगत्वेव) नैवेद्यमिव (रातः) दत्तः (निधिर्हितः) धनप्रदो भवत्विति शेषः (स्यः) स परमात्मा (मानुषीषु, विक्षु) मनुष्यप्रजासु (आ, यातं) सर्वत्रैव विस्तृतं करोतु, अन्यच्च (अस्मे) अस्माकम् (हव्यं) इदं नैवेद्यम् (अहेळता) शान्तेन (मनसा) हार्देन भावेन (अर्वाक्) अस्मदभिमुखम् (अश्नन्तो) स्वीकरोतु ॥

पदार्थ—(वां) हम लोग (माध्वी) संसार में मधुरता फैलानेवाले (एषः) इस (हव्यं) होम को (सख्ये) मित्र के सम्मुख (पूर्वगत्वा, इव) भेंट के समान (रातः) आपको अर्पण करते हैं जो (निधिः, हितः) आरोग्यता का देनेवाला है, (स्यः) आप इसको (मानुषीषु, विक्षु) मनुष्य प्रजाओं में (आ, यातं) सर्वत्र विस्तृत करें, (अस्मे) हमारी इस भेंट को (अहेळता) शान्त (मनसा) मन से (अर्वाक्, अश्नन्ता) हमारे सम्मुख स्वीकार करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा से यह प्रार्थना है कि हे देव ! जिस प्रकार अपने स्वामी वा मित्र के सम्मुख नैवेद्य रक्खा जाता है, इसी प्रकार हमलोग इस आहुतिरूप हव्य को जो नीरोगता की निधि तथा मनुष्यमात्र का हितकारक है, आपके संमुख रखते हैं, आप कृपा करके इसको स्वीकार करें और सब प्राणिवर्ग में तुरन्त पहुँचा दें ताकि वह विकारों से दूषित न हों ॥

तात्पर्य्य यह है कि मनुष्य अपने किये हुए यज्ञादि शुभ कर्मों को सदा ईश्वरार्पण करे और उनके फल की इच्छा न करता हुआ ईश्वराधीन छोड़ दे, शास्त्र में इसी का नाम निष्काम-कर्म है । निष्कामकर्मी ही सिद्धि को प्राप्त होते और इन्हीं को शास्त्र में अमृत की प्राप्ति वर्णन की है, इसलिए सब आर्यों का कर्तव्य है कि जो सन्ध्या, अग्निहोत्र, जप, तप, दान तथा अनुष्ठानादि कर्म करें वह सब ईश्वरार्पण करते हुए निष्काम भाव से करें, यह वेद भगवान् की आज्ञा है ॥९॥

एकस्मिन्योगे भुरणा समाने परि वां सप्त स्रवतो रथो गात् ।
न वायन्ति सुभ्वो देवयुक्ता ये वां धूर्षु तरणयो वहन्ति ॥ ८ ॥

एकस्मिन् । योगे । भुरणा । समाने । परि । वां । सप्त । स्रवतः । रथः । गात् । न । वायन्ति । सुऽभ्वः । देवऽयुक्ताः । ये । वां । धूःऽसु । तरणयः । वहन्ति ॥ ८ ॥

पदार्थः—(वां) देवमनुष्ययोः (भुरणा) प्राणिमात्रस्यरक्षित्रोर्युवयोः (एकस्मिन्, योगे) एकस्मिन् स्थाने (स्रवतः) ज्ञानेन्द्रियप्रवाहस्य (सप्त) सप्त वृत्तयः परिस्रवन्ति किञ्च, (वां) युवयोः (धूर्षु) नाभिषु प्रोताः (तरणयः) शीघ्रगामिन्यः (देवयुक्ताः) परमात्मविषयिण्यः (सुभ्वः) साध्व्यः (न, वायन्ति) न ग्लायन्ति, अन्यच्च (ये) या वृत्तयः (समाने) समाहिते (परि, गात्) गच्छन्ति ताः (रथं) ज्ञानं (वहन्ति) जनयन्ति ।

पदार्थ—(वां) हे देव तथा मनुष्यो ! (भुरणा, समाने) मनुष्यमात्र के लिए समान (एकस्मिन, योगे) एक योग में (सप्त, स्रवतः) ज्ञानेन्द्रियों के सात प्रवाह (रथः, गात्) उस मार्ग को प्राप्त कराते हैं (ये) जो (परि) सब ओर से परिपूर्ण हैं (वां) तुम दोनों के (धूर्षु) धुराओं में लगे हुए (तरणयः) युवावस्था को प्राप्त (देवयुक्ताः) परमात्मा में युक्त (सुभ्वः) दृढ़तावाले (वायन्ति न) थकित न होनेवाले उस मार्ग में (वहन्ति) चलाते अर्थात् उस मार्ग को प्राप्त कराते हैं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे दिव्यशक्तिसम्पन्न विद्वानो तथा साधारण मनुष्यो ! तुम दोनों के लिए योग = परमात्मस्वरूप में जुड़ना समान है अर्थात् देव, साधारण तथा प्राकृतजन सभी उसको प्राप्त हो सकते हैं वह एक सबका उपास्यदेव है, उसकी प्राप्ति के लिये बड़े दृढ़ सात साधन हैं जिनके संयम द्वारा पुरुष उस योग को प्राप्त हो सकता है, वह सात इस प्रकार हैं, पांच ज्ञानेन्द्रिय जिनसे जीवात्मा बाह्य जगत् के ज्ञान को उपलब्ध करता अर्थात् संसार की रचना देखकर परमात्मसत्ता का अनुमान करता है, मन से मनन करता और सदसद्विवेचन करनेवाली बुद्धि से परमात्मा का निश्चय करता है, इनमें श्रोत्रेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि, यह तीनों परमात्मप्राप्ति में अन्तरङ्गसाधन हैं, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में वर्णन किया है कि **"आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।"**

वह परमात्मा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करने योग्य है, वेदवाक्यों द्वारा परमात्मविषयक सुनने का नाम **"श्रवण"** सुने हुए अर्थ को युक्तियों द्वारा मन से विचारने का नाम **"मनन"** और उस मनन किये हुए को निश्चित बुद्धि द्वारा धारण करने का नाम **"निदिध्यासन"** है । तीन यह और चार अन्य यह सातों ही देव का समीपी बनाते हैं जो सब का उपास्य है ।।८।।

अथ परमात्मप्राप्त्यधिकारिणो वर्ण्यन्ते—

अब परमात्मप्राप्ति के अधिकारियों का वर्णन करते हैं—

असश्चता मघवद्भ्यो हि भूतं ये राया मघदेयं जुनन्ति ।
प्र ये बन्धुं सूनृताभिस्तिरन्ते गव्या पृञ्चन्तो अश्व्या मघानि ॥९॥

असश्चता । मघवत्ऽभ्यः । हि । भूतं । ये । राया । मघऽदेयं । जुनन्ति । प्र । ये । बन्धुं । सूनृताभिः । तिरन्ते । गव्या । पृञ्चन्तः । अश्व्या । मघानि । ॥ ९ ॥

पदार्थः—(हि) निश्चयेन (ये) ये जनाः (राया) धनेन युक्ताः (मघदेयं) हविर्लक्षणं पदार्थम् (जुनन्ति) युञ्जन्ति (असश्चता) बिषयेषु अक्षताः सन्तः (मघवद्भ्यः) ऋत्विगादिभ्यः (भूतं) प्रभूतं धनम् (ये) ये जना ददति अन्यच्च ये

(बन्धुं) स्वबन्धुम् (सूनृताभिः) सत्यवचोभिः (प्रतिरन्ते) वर्धयन्ति अन्यच्च ये (गव्या) गोरूपणि (मघानि) धनानि (अश्व्या) अश्वरूपाणि च (पृञ्चन्तः) अर्थिभ्यः प्रयच्छन्तस्ते परमात्मप्राप्तेरधिकारिणो भवन्ति ॥

पदार्थ—(हि) निश्चय करके (ये) जो (राया) धनद्वारा (मघदेयं) हव्यादि पदार्थ (जुनन्ति) नियुक्त करते (असश्चता) किसी विषय में आसक्त न होकर (मघवद्भ्यः) ऋत्विगादिकों को (भूतं) धन दान देते (ये) जो (प्र) प्रसन्नतापूर्वक (बन्धु) अपने बन्धुओं को (सुनृताभिः) सुन्दर वाणियों द्वारा (तिरन्ते) बढ़ाते, और जो (गव्या) गौयें (मघानि) धन (अश्वया) घोड़े (पृञ्चन्तः) अर्थियों को देते हैं वह परमात्मप्राप्ति के अधिकारी होते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो यम नियमादिकों से सम्पन्न अर्थात् किसी विषय में फंसे हुए नहीं, सत्पुरुषों को धनादि पदार्थ देने में उदार, प्रसन्न चित्त से मीठी वाणी बोलकर अपने सम्बन्धियों को प्रसन्न रखते और सत्यभाषण तथा सत्य का प्रचार करते हैं वह उदार पुरुष परमात्मपद के अधिकारी होते हैं ॥९॥

अथ मनुष्यस्य कर्त्तव्यं कथ्यते—

अब मनुष्य का कर्त्तव्य वर्णन करते हैं—

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१०॥१३॥

नु । मे । हवं । आ । शृणुतं । युवाना । यासिष्टं । वर्तिः । अश्विनौ । इराऽवत् । धत्तं । रत्नानि । जरतं । च । सूरीन् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ १० ॥ १३ ॥

पदार्थः—(नू) निश्चयेन (मे) मम (हवं) कल्याणदायकं वचनम् (शृणुतं) शृणुतम् (युवाना) हे युवावस्थासम्पन्नौ (अश्विनौ) गुरुशिष्यौ, युवाम् । (इरावत्) हवनीयं (वर्तिः) गृहम् (यासिष्टं) आगच्छतम् (च) किञ्च (सूरीन्) तेजस्विनो विदुषो धनिनः कुरुतम् (रत्नानि, धत्तं) रत्नानि दत्तम्, किञ्च (जरतं) वर्धयतम् (यूयं) विद्वांसः (स्वस्तिभिः) कल्याणाकारकैः वचोभिः (सदा) सर्वदैव (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ॥

॥ इति सप्तषष्टितमं सूक्तं त्रयोदशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(नू) निश्चय करके (मे) मेरे (हवं) इस कल्याणदायक वचन को (आ) भले प्रकार (श्रृणुतं) सुनो (युवाना) हे युवा पुरुषो ! तुम (अश्विनौ) गुरु शिष्य दोनों (इरावत्) हवनयुक्त (वर्तिः) स्नान को (यासिष्टं) प्राप्त होओ (च) और (सूरीन्) तेजस्वी विद्वानों को (धत्तं,रत्नानि) रत्नादि उत्तम पदार्थों को धारण कराओ, ताकि वह (जरतं) वृद्धावस्था को प्राप्त (यूयं) तुमको (स्वस्तिभिः) मङ्गलवाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें, और तुम प्रार्थना करो कि (नः) हमको सदा शुभ आशीर्वाद दो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे युवापुरुषो ! तुम्हारा मुख्य कर्तव्य यह है कि तुम गुरुशिष्य दोनों मिलकर यज्ञरूप अग्न्यागारों अथवा कलाकौशलरूप अग्निगृहों में जहाँ अनेक

प्रकार के अस्त्र शस्त्रादिकों की विद्या सिखलाई जाती है जाओ और वहाँ जाकर आध्यात्मिक विद्या के विद्वानों तथा शिल्पविद्याविशारद देवों को प्रसन्न करो अर्थात् उनको विविध प्रकार का धन प्रदान करो ताकि उनकी प्रसन्नता से तुम्हारा सदा के लिये कल्याण हो, और तुम सदा उनसे नम्रभाव से वर्त्तो ताकि वह तुम्हारा शुभचिन्तन करते रहें ॥

तात्पर्य्य यह है कि गुरु शिष्य दोनों मिलकर व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दोनों प्रकार की उन्नति करें। जहां गुरु शिष्य दोनों अध्ययनाध्यापनद्वारा अपनी उन्नति नहीं करते वहां कदापि कल्याण नहीं होता। कल्याण की कामनावाले गुरु शिष्य, राजा प्रजा, स्त्री पुरुष, धनाढ्य निर्धन और पण्डित तथा मूर्ख, यह सब जोड़े जब तक एक अर्थ में नियुक्त होकर अपनी उन्नति नहीं करते तब तक इनका कदापि कल्याण नहीं हो सकता। इसी भाव को कठोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है कि—

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै ॥ कठ० ६।१९ ॥

अर्थ —हे परमात्मन् ! आप हम दोनों की एक साथ रक्षा और पालन कीजिये, हम दोनों को शारीरिक और आत्मिक बल दें, हमारा स्वाध्याय तेजवाला हो, हम किसी के साथ अथवा आपस में द्वेष न करें; और हम दोनों विद्याविशारद होकर सुखपूर्वक रहें और आप हम दोनों को संसार के शासन का बल दें, यह आप से प्रर्थना है ॥

॥ ६७वां सूक्त और १३वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ नवर्चस्य अष्टषष्टितमस्य सूक्तस्य—

१—९ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ६, ८, साम्नी त्रिष्टुप् । २, ३, ५, साम्नी निचृत् त्रिष्टुप् । ४, ७, साम्नी भुरिगासुरी विराट् त्रिष्टुप् । ९ निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवत स्वरः ॥

अथ प्रकारान्तरेण राजधर्म उपदिश्यते ।

अब प्रकारान्तर से राजधर्म का उपदेश करते हैं—

आ शुभ्रा यातमश्विना स्वश्वा गिरो दस्रा जुजुषाणा युवाकोः ।
हव्यानि च प्रतिभृता वीतं नः ॥ १ ॥

आ । शुभ्रा । यातं । अश्विना । सुऽअश्वा । गिरः । दस्रा । जुजुषाणा । युवाकोः । हव्यानि । च । प्रतिऽभृता । वीतं । नः ॥ १ ॥

पदार्थः—(स्वश्वा, अश्विना) हे सुन्दराश्ववन्तो राजपुरुषाः, यूयम् (दस्रा) शत्रुहन्तारः (शुभ्रा) तेजस्विनः (युवाकोः) युष्मान् कामयमानानां नः (गिरः) वचांसि (जुजुषाणा) सेवमानाः, (आ, यातं) आगच्छत (नः) अस्मद्यज्ञान् सुशोभितान् कुरुत (च) अपरञ्च (हव्यानि) हवनीयवस्तूनि (प्रतिभृता) सज्जितानि तानि (वीतं) भक्षयत ॥

पदार्थ—(स्वश्वा, अश्विना) हे उत्तम अश्वोंवाले राजपुरुषो ! आप (दस्रा) शत्रुओं के नाश करनेवाले (शुभ्रा) तेजस्वी (युवाकोः) बलवान हैं, (गिरः) हमारी वाणियें आपके लिये (आ) भले प्रकार (जुजुषाण) सत्कारवाली हों (यातं) आप आकर (नः) हमारे यज्ञ को सुशोभित करें (च) और (हव्यानि) यज्ञीय पदार्थों का जो (प्रतिभृता) हविशेष है उसका (वीतं) उपभोग करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि याज्ञिक लोगो ! तुम अपने न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषों का सम्मान करो, उनको अपने यज्ञों में बुलाओ और मधुरवाणी से उनका सत्कार करते हुए हविशेष से उनको सत्कृत करो ताकि राजा तथा प्रजा में परस्पर प्रेम उत्पन्न होकर देश का कल्याण हो ॥१॥

प्र वामन्धांसि मद्यान्यस्थुररं गन्तं हविषो वीतये मे ।
तिरो अर्यो हवनानि श्रुतं नः ॥ २ ॥

प्र । वां । अन्धांसि । मद्यानि । अस्थुः । अरं । गन्तं । हविषः । वीतये । मे । तिरः । अर्यः । हवनानि । श्रुतं । नः ॥ २ ॥

पदार्थः—हे राजपुरुषाः, भवन्तः (नः) अस्मद्वचनानि (श्रुतं) शृण्वन्तु अन्यच्च ये अस्माकम् (अर्यः) शत्रवस्तेषां (हवनानि, तिरः) शक्तीस्तिरस्कृत्य (मे, हविषः) मम यज्ञस्य (वीतये) प्राप्त्यर्थम् (गन्त) आगच्छन्तु (वां) युष्माकम् (अन्धान्सि, मद्यानि) मदकारकाणि वस्तूनि (अरं) सम्यक् प्रकारेण (प्रास्थुः) दूरीभवन्तु ॥

पदार्थ—हे राजपुरुषो ! (नः) हमारे वचनों को (श्रुतं) सुनो; (अर्यः) हमारे शत्रुओं की (हवनानि) शक्तियों को (तिरः) तिरस्कार करके (मे, हविषः) हमारे यज्ञों की (वीतये) प्राप्ति के लिये (गन्तं) आयें; (वां) तुम्हारे (अन्धान्सि, मद्यानि) मद करनेवाले राजमद (प्र, अस्थुः, अरं) भले प्रकार दूर हों ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा परम कर्त्तव्य है कि तुम राजपद त्यागकर प्रजा के धार्मिक यज्ञों में सम्मिलित होओ और धार्मिक प्रजा का विरोधी जो शत्रुदल है उसका सदैव तिरस्कार करते रहो ताकि यज्ञादि धार्मिक कार्यों में विघ्न न हो, अथवा राजा को चाहिये कि वह मादक पदार्थों के अधीन होकर कोई प्रमाद न करे और अपने राजमद को सर्वथा त्याग कर प्रेमभाव से प्रजा के साथ व्यवहार करे, वेदवेत्ता याज्ञिकों को चाहिये कि वह राजपुरुषों को सदैव यह उपदेश करते रहें ॥२॥

प्र वां रथो मनोजवा इयर्ति तिरो रजांस्यश्विना शतोतिः ।
अस्मभ्यं सूर्यावसू इयानः ॥ ३ ॥

प्र । वां । रथः । मनःऽजवाः । इयर्ति । तिरः । रजांसि । अश्विना । शतऽऊतिः । अस्मभ्यं । सूर्यावसू इति । इयानः ॥ ३ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषौ ! (वां) युवयोः (रथः) यानम् (सूर्यावसू) सूर्यस्थानन्तवर्ती (इयानः) गतिशीलः (मनोजवाः) मनोवच्छीघ्रगामी (शतोतिः)

अनेकविधरक्षासाधनैः सुसज्जितः (रजांसि) विविधलोकान् (तिरः) तिरस्कृत्य (अस्मभ्यं) अस्मदर्थम् (प्र, इयर्ति) सम्यक्प्रकारेण प्राप्नोतु इत्यर्थः ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वां) तुम्हारा (रथः) यान (सूर्यावसू) जो सूर्य्य तक वेगवाला (इयानः) गतिशील (मनोजवाः) मन के समान शीघ्रगामी (शतोतिः) अनेक प्रकार की रक्षा के साधनोंवाला है वह (रजांसि, तिरः) लोकलोकान्तरों को तिरस्कृत करता हुआ (अस्मभ्यं) हमारे यज्ञ को (प्र, इयर्ति) भले प्रकार प्राप्त हो ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक पुरुषो ! तुमें उक्त प्रकार के रथ =यानोंवाले राजपुरुषों को अपने यज्ञ में बुलाओ जिनके यान नभोमण्डल में सूर्य्य के साथ स्थितिवाले हों और जिनमें रक्षा विषयक अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लगे हुए हों। यहां रथ के अर्थ पहियोंवाले भूमिस्थित रथ के नहीं किन्तु **"रमन्ते यस्मिन् स रथः"** =जिसमें भले प्रकार रमण किया जाय उसका नाम **"रथ"** है, सो भलीभाँति रमण आकाश में ही होता है भूमिस्थित रथ में नहीं, और न यह सूर्य्य तक गमन कर सकता है, इत्यादि विशेषणों से यहाँ विमान का कथन स्पष्ट हैं ।।३।।

अयं ह यद्वां देवया उ अद्रिरूर्ध्वो विवक्ति सोमसुद्युवभ्यां ।
आ वल्गू विप्रो ववृतीत हव्यैः ॥ ४ ॥

अयं । ह । यत् । वां । देवऽयाः । ऊँ इति । अद्रिः । ऊर्ध्वः । विवक्ति । सोमऽसुत् । युवऽभ्यां । आ । वल्गू इति । विप्रः । ववृतीत । हव्यैः ॥ ४ ॥

पदार्थः—(वां, देवया) हे दिव्यशक्तिसम्पन्नराजपुरुषौ, युष्माकम् (अयं, सोमसुत्) इद चन्द्रमःसदृशं यानम् (यत्) यदा (उ) निश्चयेन (अद्रिरूर्ध्वः) पर्वतेभ्योऽपि ऊर्ध्वं देशं गत्वा (विवक्ति) गर्जति तदा हर्षिताः सन्तः (वल्गू, विप्रः) सर्वोपरि विद्वांसः **"व्यत्ययोबहुलम्"** ।।३।१।८५।। इति बहुलग्रहणेनात्र एक वचनमतन्त्रम्, सत्कारेण (युवभ्यां) युवां (हव्यैः) हवनसाधनैर्यज्ञैः (ववृतीत) आवृण्वन्तीत्यर्थः ।।

पदार्थ—(वां, देवया) हे दिव्यशक्तिसम्पन्न राजपुरुषो ! तुम्हारा (अयं) यह (सोमसुत्) चन्द्रमा के तुल्य सुन्दर यान (यत्) जब (उ) निश्चय करके (अद्रिः, ऊर्ध्वः) पर्वतों से ऊँचा जाकर (विवक्ति) बोलता है तब हर्षित हुए (वल्गू, विप्रः) बड़े-बड़े विद्वान् पुरुष (आ) सत्कार पूर्वक (युवभ्यां) तुम दोनों को (हव्यैः) यज्ञों में (ववृतीत) वरण करते हैं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! जब तुम्हारे यान पर्वतों की चोटियों से भी ऊंचे जाकर गर्जते और सुन्दरता में चन्द्रमण्डल का भी मान मर्दन करते हैं तब ऐश्वर्य्य से सम्पन्न तुम लोगों को अपनी रक्षा के लिए बड़े-बड़े विद्वान् अपने यज्ञों में आह्वान करते अर्थात् ऐश्वर्य्य सम्पन्न राजा का सब पण्डित तथा गुणीजन आश्रय लेते हैं और राजा का कर्तव्य है कि वह गुणीजनों का यथायोग्य सत्कार करे ।।४।।

चित्रं ह यद्वां भोजनं न्वस्ति न्यत्रये महिष्वन्तं युयोतम् ।
यो वामोमानं दधते प्रियः सन् ॥ ५ ॥ १४ ॥

चित्रं । ह । यत् । वां । भोजनं । नु । अस्ति । नि । अत्रये । महिष्वन्तं । युयोतं । यः । वां । ओमानं । दधते । प्रियः । सन् ॥ ५ ॥ १४ ॥

पदार्थः—(वां) हे न्यायाधीश्वराः सेनापतयश्च राजपुरुषाः, (नु) निश्चयेन (यत्) यदा (चित्रं) विविधम् (भोजनम्) अन्नम् राष्ट्रे (अस्ति) उत्पद्यते, तदा (वां) युष्मान् (ओमानं) रक्षकान् ज्ञात्वा (नि) निरन्तरं सर्वे जनाः (प्रियः, सन्) आनन्दयुक्ताः सन्तः (दधते) धारयन्ति, यतः (यः) यः पुरुषः (अत्रये) रक्षार्थम् (महिष्वन्तं) महान् भवति (ह) इति प्रसिद्धौ, तेनैव सर्वे जनाः (युयोतं) संयुक्ता भवन्ति ॥

पदार्थ—(वां) हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! (नु) निश्चय करके (यत्) जब (चित्रं, भोजनं) विविध प्रकार के अन्न राज्य में (अस्ति) होते हैं तब (वां) तुमको (ओमानं) रक्षायुक्त जानकर (नि) निरन्तर सब लोग (प्रियः, सन्) प्यार करते हुए (दधते) धारण करते हैं, क्योंकि (यः) जो (अत्रये) रक्षा के लिये (महिष्वन्तं) बडा होता है (ह) प्रसिद्ध है कि उसीसे सब लोग (युयोतं) जुड़ते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम अन्न का कोष और विविध प्रकार के धनों को सम्पादन करके पूर्ण ऐश्वर्य्ययुक्त होओ, तुम्हारे ऐश्वर्य्य सम्पन्न होने पर सब लोग तुम्हारे शासन में रहते हुए तुम से मेल करेंगे, क्योंकि ऐश्वर्य्ययुक्त पुरुष से सब प्रजाजन मेल रखते तथा प्यार करते हैं, अतएव प्रजापालन करनेवाले राजा का मुख्य कर्तव्य है कि सब प्रकार के यत्नों से ऐश्वर्य्य लाभ करे ॥५॥

उत त्यद्वां जुरते अश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्यं हविर्दे ।
अधि यद्वर्पं इतऊति धत्थः ॥ ६ ॥

उत । त्यत् । वां । जुरते । अश्विना । भूत् । च्यवानाय । प्रतीत्यं । हविःऽदे । अधि । यत् । वर्पः । इतःऽऊति । धत्थः ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषाः ! (वां) युष्मांकं (जुरते) उत्साहाय (च्यवानाय) देशान्तरगमनाय (उत) च (प्रतीत्यं) प्रतिदिनम् (हविर्दे) हविर्दातारः स्मः । (यत्) यतः (त्यत्) भवतां कल्याणम् अखिलप्रणिनां सुखञ्च (भूत्) स्यात् अन्यच्च यूयं (वर्पः) सुरूपान् (धत्थः) धारयत, यस्माद्धेतोः (अधि) सर्वतः (इतः) प्रजानाम् (ऊति) रक्षा स्यात् ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वां) तुम्हारे (जुरते) उत्साह के (उत) और (च्यवानाय) देशान्तर में गमन के लिये (प्रतीत्यं) प्रति दिन (हविः, दे) हवि देते हैं (यत्) जिससे (त्यत्) तुम्हारा कल्याण हो, सब प्राणियों को सुख (भूत्) हो और तुम (वर्पः, धत्थ) उस नूतन रूप को धारण करो जिससे (इतः) प्रजा की (अधि, ऊति) सब ओर से रक्षा हो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम्हारे याज्ञिक लोग तुम्हारी उन्नति तथा प्रजा के कल्याणार्थ प्रतिदिन यज्ञ करें जिससे तुम्हारा

शुभ हो और तुम वैदिककर्मों द्वारा बल युक्त शत्रुओं पर चढ़ाई के लिये सदा सन्नद्ध रहो जिससे प्रजा की रक्षा हो ।

तात्पर्य्य यह है कि जो राजा लोग अपने दर्श पौर्णमास अथवा होली दिवाली आदि ऋतु यज्ञों में अपनी सेना को सदा उत्तेजित करते हुए युद्ध के लिये सन्नद्ध रहते हैं वह, राजा प्रजा की रक्षा में समर्थ होते हैं ।।६।।

अथ राज्ञे समुद्र–यात्रा वर्ण्यते—

अब राजा के लिये समुद्रयात्रा का वर्णन करते हैं—

उत त्यं भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवासः समुद्रे ।
निरीं पर्षदरावा यो युवाकुः ॥ ७ ॥

उत । त्यं । भुज्युं । अश्विना । सखायः । मध्ये । जहुः । दुःऽएवासः । समुद्रे । निः । ईं । पर्षत् । अरावा । यः । युवाकुः ॥ ७ ॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजपुरुषाः ! यूयं (त्यं) प्रसिद्धं तं (भुज्युं) भोक्तारं नृपं (सखायः) मित्रदृष्ट्या पश्यत, यः सम्राट् (दुरेवासः) दुःखरूपनिवासान् (जहुः) तत्याज समुद्रे, मध्ये) समुद्रस्य मध्यभागे गच्छति च (उत) तथा (यः) यः सम्राट् (युवाकुः) युष्मभ्यं (निः) निरन्तरं (ईं, अरावा) सदाचारस्य शिक्षाः प्रयच्छन् (पर्षत्) युष्मान् त्रायते ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! तुम (त्यं) उस (भुज्युं) भोक्ता सम्राट् को (सखायः) मित्रता की दृष्टि से देखो, (दुरेवासः) जो एक स्थान में रहनेवाले दुःख रूप वास को (जहुः) त्यागकर (समुद्रे, मध्ये) समुद्र के मध्य में गमन करता (उत) और (यः) जो (युवाकुः) तुम लोगों को (निः) निरन्तर (ईं, अरावा) उत्तम आचरणों की शिक्षा अथवा तुम्हारी रुकावटों को दूर करता हुआ (पर्षत्) तुम्हारी रक्षा करता है ।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा शिक्षा देते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम्हारा और प्रजा का वही सम्राट् सच्चा मित्र हो सकता है जो किसी रुकावट के विना समुद्र में यात्रा करता हुआ देश देशान्तरों का परिभ्रमण करके अपने राज्य को उन्नत करता, अपनी प्रजा तथा राजकीय सैनिक पुरुषों में धार्मिकभावों का संचार करता और उनके सब दुःख तथा रुकावटों को दूर करके प्रेम पूर्वक वर्तता है । **"दुरेवासः, जहुः"** के अर्थ दुरवस्था को छोड़ देने के हैं । वास्तव में अपनी दुरवस्था को छोड़ने योग्य वही सम्राट् होता है, जो उद्योगी बनकर समुद्र यात्रा करता हुआ नाना प्रकार के धनोपार्जन करके अपनी प्रजा के दुःख दूर करता है । आलसी राजा मित्रता के योग्य नहीं, क्योंकि वह प्रजा को पीड़ित करके धन लेता और बड़े-बड़े कर लगाकर राजकीय व्यवहारों की सिद्धि करता है ।।

कई एक टीकाकार इस मन्त्र के यह अर्थ करते हैं कि **"भुज्यु"** नामक एक पुरुष था जो समुद्र में फेंका गया था, उसको किसी देवता विशेष ने समुद्र से निकल कर उनकी दुरवस्था को दूर किया, परन्तु यह कथा इस मन्त्र से नहीं निकलती, क्योंकि इसमें न तो किसी देवता का नाम है और न भुज्यु नामक किसी मनुष्य का प्रकरण है किन्तु **"भुज्यु"** एक गुणप्रधान पुरुष का नाम है । अर्थात् **"ऐश्वर्य्यं भुनक्तीति भुज्युः"**=जो "ऐश्वर्य्य का भोक्ता हो उसको **"भुज्यु"** कहते हैं । और भली-भाँति ऐश्वर्य्यभोक्ता सम्राट् ही होता है । इसलिए यहां सम्राट् के ऐश्वर्य्य का वर्णन है । किसी पुरुष विशेष का नहीं ।।७।।

वृकाय चिज्जसमानाय शक्तमुत श्रुतं शयवे हूयमाना ।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभिः ॥ ८ ॥

वृकाय । चित् । जसमानाय । शक्तं । उत । श्रुतं । शयवे । हूयमाना । यौ । अघ्न्यां । अपिन्वतं । अपः । न । स्तर्यं । चित् । शक्ती । अश्विना । शचीभिः ॥८॥

पदार्थः—(अश्विना) हे राजकीयाः पुरुषाः ! (वृकाय) सूर्यतेजसः तेजस्विन इत्यर्थः, (चित्, शक्तं) प्रकाशितैश्वर्य्यसम्पन्नस्य, (जसमानाय) सदाचारविभूषितस्य, (श्रुतं) बहुश्रुतस्य (शयवे) विज्ञानवतः (उत) च राज्ञः (चित्, शक्ती) ऐश्वर्य्यरूपिणीः शक्तीः (यौ) यूयं (शचीभिः) शुभकर्मभिः (हूयमानाः) हवनीयैश्च वर्धयत । अन्यच्च (अघ्न्यां) सर्वदा रक्षित्र्यो गावः (अपः) स्वक्षीरैः (अपिन्वतं) तदैश्वर्य्यं वर्द्धयन्तु, याश्च गावः (स्तर्यं) वृद्धाः (न) न सन्तीत्यर्थः ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे राजपुरुषो ! (वृकाय) आदित्य के समान (चित्, शक्तं) प्रकाशमान ऐश्वर्य्यसम्पन्न (जसमानाय) सत्कर्मों से विभूषित (श्रुतं) बहुश्रुत (उत) और (शयवे) विज्ञानी राजा की (चित्, शक्ती) ऐश्वर्य्यरूप शक्ति को (यौ) तुम लोग (शचीभिः, हूयमाना) शुभकर्मों तथा प्रतिदिन हवनादि यज्ञों द्वारा बढाओ, और (अघ्न्यां) सर्वदा रक्षा करने योग्य गौयें (अपः) अपने दुग्धों द्वारा (अपिन्वतं) उसके ऐश्वर्य्य को बढायें (न, स्तर्यं) जो वृद्धा न हों ॥

भावार्थ—**"वृणक्ति यः स वृकः"**=जो अन्धकार का नाशक हो उसका नाम यहां **"वृक"** है। परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! अविद्यादि अन्धकार के नाशक, विद्यादि गुणों से सम्पन्न और जो हनन करने योग्य नहीं ऐसी **"अघ्न्या"**=सर्वदा रक्षायोग्य गौयें दुग्ध द्वारा जिसके ऐश्वर्य्य को बढ़ाती अर्थात् शरीरों को पुष्ट करती हैं ऐसे राजा के ऐश्वर्य्य को आप लोग सत्कर्मों द्वारा बढ़ायें ॥८॥

अथ राज्ञः समृद्धये प्रजानां प्रार्थना कथ्यते—

अब राजा की वृद्धि के लिये प्रजा की प्रार्थना कथन करते हैं—

एष स्य कारुर्जरते सूक्तैरग्रे बुधान उषसां सुमन्मा ।
इषा तं वर्धदघ्न्या पयोभिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥९॥१५॥

एषः । स्यः । कारुः । जरते । सुऽउक्तैः । अग्रे । बुधानः । उषसां । सुऽमन्मा । इषा । तं । वर्धत् । अघ्न्या । पयःऽभिः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥९॥१५॥

पदार्थः—(कारुः) सुकर्मा (सुमन्मा) सुबुद्धियुक्तः (उषसां) उषःकालात् (अग्रे) पूर्वं (बुधानः) प्रबुद्धः (एषः, स्यः) अयं वेदवित्पुरुषः (सूक्तैः) वेदोक्तमन्त्रैः (तं) राज्ञः (इषा) अन्नद्वारा (वर्धत्) वृद्धये प्रार्थयताम् (अघ्न्या) गवां (पयोभिः) दुग्धैः वर्धयतु इति च प्रार्थयेत । अन्यच्च (यूयं) वेदवेत्तारः पुरुषाः (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादि-

भिर्वाक्यैः प्रार्थयध्वं यत् हे परमात्मन् ! (नः) अस्मान् (सदा) सर्वदा (पात) त्रायस्वेति ॥

अष्टषष्टितमं सूक्तं पञ्चदशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(कारुः) सदाचारी (सुमन्मा) बुद्धिमान् (उषसां) उषाकाल से (अग्रे) पहले (बुधानः) जागनेवाला (एषः, स्यः) यह वेदवेत्ता पुरुष (सूक्तैः) वेदों के सूक्तों से (तं) राजा के अर्थ (इषा, वर्धत्) अन्नों द्वारा बढ़ने के लिए प्रार्थना करे (अघ्न्या पयोभिः,) गौओं के दुग्ध द्वारा परमात्मा बढ़ावे, यह प्रार्थना करे और (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचक वाणियों से यह प्रार्थना करें कि (नः) हमारा (सदा) सर्वदा (पात) कल्याण हो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे वेदवेत्ता पुरुषो ! तुम प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर अपने आचार को पवित्र बनाने का उपाय विचारो और स्वाध्याय करते हुए राजा तथा प्रजा के लिए कल्याण की प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! पुष्कल अन्न, वस्त्र तथा दुग्धादि पदार्थों से आप हमारी रक्षा करें । परमात्मा आज्ञा देते हैं कि राजा तथा प्रजा तुम दोनों के ऐसे ही सद्भाव हों जिससे तुम्हारी सदैव वृद्धि हो और हे वैदिक कर्मों के अनुष्ठानी पुरुषो ! तुम सदैव ऐसा ही अनुष्ठान करते रहो ॥९॥

६८वां सूक्त और १५वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथाष्टर्चस्यैकोनसप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१–८ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः–१, ४, ६, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ७, त्रिष्टुप् । ३ आर्चीस्वराट् त्रिष्टुप् । ५ विराट्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथात्र सूक्ते परमात्मा रथस्य रूपकालङ्कारेण राजपुरुषेभ्यः सन्मार्गमुपदिशति ॥

अब इस सूक्त में परमात्मा रथ के रूपकालङ्कारद्वारा राजपुरुषों को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं—

आ वां रथो रोदसी बद्बधानो हिरण्ययो वृषभिर्यात्वश्वैः ।
घृतवर्तनिः पविभी रुचान इषां वोळ्हा नृपतिर्वाजिनीवान् ॥१॥

आ । वां । रथः । रोदसी इति । बद्बधानः । हिरण्ययः । वृषऽभिः । यातु । अश्वैः । घृतऽवर्तनिः । पविऽभिः । रुचानः । इषां । वोळ्हा । नृऽपतिः । वाजिनीऽवान् ॥१॥

पदार्थः—हे राजकीयाः पुरुषाः ! (वां) युष्माकं (रथः) रथः (हिरण्ययः) प्रकाशमयः (वृषभिः, अश्वैः) बलिभिः तुरङ्गमैर्युक्तः (घृतवर्तनिः) स्नेहवर्त्या दीप्तः (पविभिः, रुचानः) वज्रमयैः पदार्थैः रोचमानः (इषां) ऐश्वर्य्याणां (वोळ्हा) प्रापकोऽस्ति तत्र रथे (वाजिनीवान्) स्थितिमान् (नृपतिः) आत्मरूपोराजा (रोदसी) द्यावापृथिव्योः अव्याहतगतिः सन् (आ) सर्वतः (बद्बधानः) विजयं कुर्वन् (यातु) गमनशीलो भवतु ॥

पदार्थ—हे राजपुरुषो ! (वां, रथः) तुम्हारा रथ (हिरण्ययः) जो ज्योति=प्रकाशवाला (वृषभिः, अश्वैः) बलवान् घोड़ोंवाला (घृतवर्तनिः) स्नेह की बत्ती से प्रकाशित (पविभिः, रुचानः) दृढ़ अस्थियों से बना हुआ (इषां, वोळ्हा, वाजिनीवान्) और जो सब प्रकार का ऐश्वर्य्य तथा बलों का देनेवाला है उसमें तुम्हारा बैठा हुआ (नृपतिः) आत्मारूप राजा (रोदसी) अव्याहतगति होकर (आ, बद्बधानः) सब ओर से भलीभाँति विजय करता हुआ (यातु) गमन करे ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में रथ के रूपकालङ्कार से परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा शरीररूपी रथ जिसमें इन्द्रियरूप बलवान घोड़े जुते हुए हैं, जो दृढ़ अस्थियों से बना हुआ है, जिसमें वीर्यरूप स्नेह से सनी हुई वर्तिका=बत्ती जल रही है, जो सब प्रकार के ऐश्वर्य्य तथा बलों का बढ़ानेवाला है उसमें स्थित आत्मारूप राजा अव्याहतगति= विना रोक टोक सर्वत्र गमनशील हो अर्थात् तुम लोग पृथिवी और द्युलोक के मध्य में सर्वत्र गमन करो, यह हमारा तुम्हारे लिए आदेश है ।।१।।

स प॑प्रथा॒नो अ॒भि पञ्च॒ भूमा॑ त्रिव॒न्धु॒रो मन॒सा या॑तु यु॒क्तः ।
विशो॒ येन॒ गच्छ॑थो देव॒यन्ती॒: कुत्रा॑ चि॒द्याम॑मश्विना॒ दधा॑ना ।।२।।

स । प॒प्र॒था॒नः । अ॒भि । पञ्च॑ । भूम॑ । त्रि॒ऽव॒न्धु॒रः । मन॑सा । आ । या॒तु । यु॒क्तः । विश॑ः । येन॑ । गच्छ॑थः । दे॒व॒ऽयन्ती॑ः । कुत्र॑ । चि॒त् । याम॑म् । अ॒श्वि॒ना॒ । दधा॑ना ।।२।।

पदार्थः—(सः) स रथः (पप्रथानः) विस्तृतः (पञ्च, भूमां, अभि, युक्तः) पृथिव्यादिपञ्चतत्त्वैर्निमितः (त्रिवन्धुरः) बन्धत्रयेण बद्धोऽस्ति (येन) रथेन (विशः) जनाः गच्छन्तः देवयन्तीः दिव्यज्योतींषि प्रति (गच्छथः) यान्ति, (अश्विना) हे राजपुरुषाः, एवं भूतं (यामं) दिव्यरथं (मनसा) हृदयेन (दधाना) धारयन्तः (कुत्रचित्) सर्वत्र (यातु) विचरन्तु भवन्त इति शेषः ।।

पदार्थ—(सः) वह रथ जो (पप्रथानः) विस्तृत (पञ्च, भूमां, अभि, युक्तः) पांच भूतों से बना हुआ, और (त्रिवन्धुरः) तीन बन्धनों से बन्धा हुआ है (येन) जिससे (विशः) मनुष्य यात्रा करते हुए (देवयन्तीः, गच्छथः) दिव्य ज्योति की ओर जाते हैं, (अश्विना) हे राजपुरुषो ! (यामं) ऐसे दिव्य रथ को (मनसा, दधाना) मनसे धारण करते हुए (कुत्र, चित्) सर्वत्र (यातु) विचरो ।।

भावार्थ—हे राजपुरुषो ! वह शरीररूपी रथ क्षिति, जल, पावक, गगन तथा वायु इन पांच तत्वों=भूतों से बना हुआ जानो और जिसमें सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों के बन्धन लगे हुए हैं अर्थात् इनसे जगह-जगह पर बन्धा हुआ है, जिससे यात्रा करते हुए मनुष्य उस दिव्य ज्योति परमात्मा को प्राप्त होते हैं जो मनुष्यजीवन का मुख्य उद्देश्य है । परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे संसार के यात्री लोगो । तुम इस दिव्य रथ को मन से धारण करते हुए सर्वत्र विचरो अर्थात् मन को दमन करते हुए इस रथ में इन्द्रियरूप बड़े बलवान् घोड़े जुते हुए हैं जो मनरूप रासों को दृढ़ता से पकड़े विना कदापि वशीभूत नहीं हो सकते, इसलिए तुम मनरूप रासों को दृढ़ता से पकड़ो अर्थात् मन की चञ्चल वृत्तियों को स्थिर करो ताकि यह इन्द्रियरूप घोड़े इस शरीररूप रथ को विषम मार्ग में लेजाकर किसी गर्त में न गिरायें ।।

इस मन्त्र में परमात्मा ने आध्यात्मिक उपदेश किया है, यही भाव कठ० ३।३ में इस प्रकार वर्णित है कि:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।

अर्थ—इस आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को रासें जान । फिर आगे कठ० ३।९ में यह वर्णन किया है कि—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।।

अर्थ— जो पुरुष संस्कृतबुद्धिरूप सारथीवाला तथा संस्कृत मन रूप रासोंवाला है वह इस संसार से पार होकर व्यापक परमात्मा के सर्वोपरि प्राप्य स्थान को प्राप्त होता है, इसी उच्चभाव का उपदेश उपरोक्त मन्त्रों में परमात्मा ने किया है, इस उच्चोपदेश को न समझ कर सायणादि भाष्यकारों ने इस रथ को अश्विनीकुमारों का लिखा है जो एक अप्रसिद्ध देवता हैं और उस रथ का आकाशमार्ग से यजमानों के यज्ञ में आना लिखा है; कहीं-कहीं इसको सूर्य्य का रथ कल्पना करके और उसमें बलवान् घोड़े जोत कर उसकी गति ऐसी वर्णन की है कि वह क्षणमात्र में सहस्रों कोस पहुँच जाता है, इत्यादि कल्पनायें वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि यहां पाँच भूत और सत्वादि तीनों गुणोंवाले शरीर रूप रथ का वर्णन है जिसमें रथी जीवात्मा स्थित है, इससे स्पष्ट है कि यह रथ किसी देवता वा सूर्यादि का नहीं किन्तु यह रथ प्रत्येक आत्मा को प्राप्त है, इस भाव को रूपकालङ्कार से परमात्मा ने वर्णन किया है जो मनुष्य मात्र को शिक्षाप्रद और उपादेय है ।।२।।

स्वश्वा यशसा यातमर्वाग्दस्रा निधिं मधुमन्तं पिबाथः ।
वि वां रथो वध्वा३ यादमानोऽन्तान्दिवो बाधते वर्तनिभ्याम् ।।३।।

सुऽअश्वा । यशसा । आ । यातं । अर्वाक् । दस्रा । निऽधिं । मधुमन्तं । पिबाथः । वि । वां । रथः । वध्वा । यादमानः । अन्तान् । दिवः । बाधते । वर्तनिऽभ्यां ।।३।।

पदार्थः—(दस्रा, यशसा) हे परदमना यशस्विनो राजपुरुषाः; (वां) युष्माकं (स्वश्वा) शोभनाश्वयुक्तः (रथः) रथः (मधुमन्तं, निधिं) मधुररसयुक्तं निधिं (पिबाथः) पिबन् सन् (वध्वा) स्वलक्ष्ये स्थिरः (वर्त्तनिभ्यां) गतिशीलैश्चक्रैः (वि, बाधते) बाधाः कुर्वन् (दिवः, अन्तान्) द्युलोकस्य पर्य्यन्तदेशं गत्वा (अर्वाक् यातं) मत्संमुखमागच्छतु ।।

पदार्थ—(दस्रा, यशसा) हे शत्रुओं को दमन करनेवाले यशस्वी राजपुरुषो ! (वां) तुम्हारा (स्वश्वा) बलिष्ट घोड़ोंवाला (रथः) रथ (मधुमन्तं, निधिं) मधुररसवाले देशों की निधियों को (पिबाथः) पान करता हुआ (वध्वा) अपने उद्देश्य रूप लक्ष्य में स्थिर (वर्तनिभ्यां) गतिशील पहियों से (वि, बाधते) सब बाधा = रुकावटों को भले प्रकार दूर करता हुआ (दिवः, अन्तान्) द्युलोक के अन्त तक पहुँच कर (अर्वाक्, यातं) मेरे सम्मुख आवे ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम्हारा इन्द्रियरूप बलवान् घोड़ोंवाला रथ जिसका सारथी बुद्धि वर्णन की गई है, जिसमें मनरूप रासें और पवित्र कर्मोंवाला जीवात्मा जिसका रथी है, वह अपने सदाचार से देशदेशान्तरों को विजय करके अर्थात् सम्पूर्ण दुराचारों के त्यागपूर्वक अमृतपान करता हुआ धर्म की अन्तिम सीमा पर पहुँच कर मुझे प्राप्त हो ।।

तात्पर्य्य यह है कि जिन राजपुरुषों का ब्रह्मचर्य्यरूप तप से शरीर हृष्ट पुष्ट है और जिनके शरीररूपी रथ का बुद्धिरूप सारथी कुशल है जो मनरूप रासों से इन्द्रियरूप घोड़ों को ऐसी चतुराई से चलाता है कि उनको वैदिकरूप मार्ग से तनिक भी इधर-उधर नहीं होने देता, वह राजपुरुष निर्विघ्न सम्पूर्ण संसार को विजय करते हुए अर्थात् सांसारिक विषयवासनाओं त्याग कर परमात्मा के सम्मुख जाते अर्थात् परमात्मपरायण होते हैं ।।

या यों कहो कि **"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः"**=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह, यह पांच "यम" और **"शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"**=शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान, यह पांच "नियम" इन यम नियमों को धारण करते हुए संयमी बनकर मेरी ओर आओ, मैं तुम्हारा कल्याण करूंगा ।।३।।

युवोः श्रियं परि योषावृणीत सूरो दुहिता परितक्म्यायाम् ।
यद्देवयन्तमवथः शचीभिः परि घ्रंसमोमना वां वयो गात् ।।४।।

युवोः । श्रियं । परि । योषा । अवृणीत । सूरः । दुहिता । परिऽतक्म्यायां । यत् । देवऽयन्तं । अवथः । शचीभिः । परि । घ्रंसं । ओमना । वां । वयः । गात् ।।४।।

पदार्थः—(युवोः) हे युवानो राजपुरुषाः ! (सूरः, दुहिता) शौर्ययुक्तानां कुमार्य्यः (परितक्म्यायां) वेद्यां स्वयंवरेषु (योषा) भार्य्या भूत्वा भवतां (श्रियं) शोभां (परि, अवृणीत) सर्वतोविस्तारयन्तु, अन्यच्च (यत्) यूयं (शचीभिः) स्वकीयशोभनकर्मभिः (देवयन्तं क्षात्रधर्मात्मकं यज्ञं (अवथः) रक्षत, अतएव (वां) युष्मान् (घ्रंसं, ओमना, वयः) दीप्तिवद्धनाद्यैश्वर्य्यं (परि, गात्) सर्वतः प्राप्नोतु ।।

पदार्थ—(युवोः) हे युवावस्था को प्राप्त राजपुरुषो ! (सूरः, दुहिता) शूरवीरों की कन्यायें (परितक्म्यायां) वेदियों के स्वयंवरों में (योषा) स्त्रियें बनकर तुम्हारी (श्रियं) शोभा को (परि, अवृणीत) भले प्रकार बढ़ावें, और (यत्) जो तुम (शचीभिः) अपने शुभकर्मों द्वारा (देवयन्तं) क्षात्रधर्मरूप यज्ञ की (अवथः) रक्षा करते हो, इसलिए (वां) तुमको (घ्रंसं, ओमना, वयः) दीप्तिवाला धनादि ऐश्वर्य्य (परि, गात्) सब ओर से प्राप्त हो ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे क्षात्रधर्म को प्राप्त राजपुरुषो ! तुम ब्रह्मचर्य्यादि नियमों का पालन करते हुए युवावस्था को प्राप्त होकर इस सर्वोपरि क्षात्रधर्म का पालन करो जिससे सुरक्षित हुए सब यज्ञ निर्विघ्न समाप्त होते हैं, यदि तुम अपने जीवन से क्षात्रधर्म को उच्च मान कर, इसकी भले प्रकार रक्षा करोगे तो दिव्यगुणसम्पन्न देवियां तुम्हें स्वयंवरों में वरेंगी और तुम्हें धनरूप ऐश्वर्य्य प्राप्त होगा ।।४।।

**यो ह स्य वां रथिरा वस्त उस्रा रथो युजानः परियाति वर्तिः ।
तेन नः शं योरुषसो व्युष्टौ न्यश्विना वहतं यज्ञे अस्मिन् ॥५॥**

यः । ह । स्यः । वां । रथिरा । वस्ते । उस्राः । रथः । युजानः । परिऽयाति । वर्तिः । तेन । नः । शं । योः । उषसः । विऽउष्टौ । नि । अश्विना । वहतं । यज्ञे । अस्मिन् ॥५॥

पदार्थः—(अश्विना) हे बलिनो राजपुरुषाः ! (वां) यूयं (ह) निश्चयेन (अस्मिन, यज्ञे) अत्र क्षात्रधर्म्मात्मके यज्ञे (नि) निरन्तरं (शंयोः) कल्याणं (वहतं) प्राप्नुत, (तेन) यज्ञेन (नः) अस्मान् (उषसः, व्युष्टौ) उषाःकाले प्रबोधयत, अन्यच्च (यः) यः (रथिरा) रथवानात्मा रथेन (वस्ते) अच्छादितोऽस्ति (स्यः) सः (रथः, युजानः) रथेन युक्तः (उस्रा) तेजस्वी (वर्तिः, परियाति) भवन्मार्गं सुगमं कुर्यात् ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे शूरवीर राजपुरुषो ! (वां) तुम (ह) निश्चय करके (अस्मिन्, यज्ञे) इस यज्ञ में (नि) निरन्तर (शंयोः) सुख को (वहतं) प्राप्त होओ (तेन) उस यज्ञ से (नः) हमको (उषसः, व्युष्टौ) प्रातःकाल उद्बोधन करो, और (यः) जो (रथिरा) रथी=आत्मा रथ से (वस्ते) आच्छादित है (स्यः) वह (रथः, युजानः) रथ के साथ जुड़ा हुआ (उस्रा) तेजस्वी बन कर (वर्तिः, परियाति) तुम्हारे मार्गों को सुगम करे ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम क्षात्रधर्मरूप यज्ञ को भले प्रकार पालन करते हुए सुख को प्राप्त होओ अर्थात् अपने उस रथीरूप आत्मा को, जिसका वर्णन पीछे कर आये हैं, यम नियमादि द्वारा तेजस्वी बनाओ और सब प्रजा को उद्बोधन करो कि वे प्रातः उषाकाल में उठकर अपने कर्तव्य का पालन करें, यदि तुम इस प्रकार संस्कृत आत्मा द्वारा संसार की यात्रा करोगे तो तुम्हारे लिए सब मार्ग सुगम हो जावेंगे जिससे तुम द्युलोक के अन्त तक पहुँच कर मुझे प्राप्त होगे ।।५।।

**नरा गौरेव विद्युतं तृषाणास्माकमद्य सवनोप यातम् ।
पुरुत्रा हि वां मतिभिर्हवन्ते मा वामन्ये नि यमन्देवयन्तः ॥६॥**

नरा । गौराऽइव । विऽद्युतं । तृषाणा । अस्माकं । अद्य । सवना । उप । यातं । पुरुऽत्रा । हि । वां । मतिभिः । हवन्ते । मा । वां । अन्ये । नि । यमन् । देवऽयन्तः ॥६॥

पदार्थः—(नरा) हे शौर्यवन्तो राजपुरुषाः ! यूयं (विद्युतं) विद्युता आकृष्टा (गौरा, इव) पृथिवी इव (तृषाणा) आकृष्टाः (अद्य) इदानीम् (अस्माकं) अस्माकं (सवना) यज्ञं (उपयातं) अगच्छत (हि) यतः (वां) युष्मात् (पुरुत्रा) सर्वत्र स्थले (मतिभिः, हवन्ते) बुद्धिभिर्जुह्वति (वां) यूयं (नि) निश्चयेन (अन्ये) अन्यस्मिन् मार्गे (देवयन्तः) अकिञ्चनाः सन्ताः (मा यमन्) मा गच्छत ।।

पदार्थ—(नरा) हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम (विद्युतं) विद्युत के आकर्षण से आकर्षित हुई (गौरा, इव) पृथिवी के समान (तृषाणा) आकर्षित हुए (अद्य) आज (अस्माकं) हमारे (सावना, उप, यातं) इस यज्ञ को आकर प्राप्त हो, (हि) क्योंकि (वां) तुमको (पुरुत्रा) कई

स्थानों में (मतिभिः, हवन्ते) बुद्धिद्वारा बोधन किया जाता है। (वां) तुम लोग (नि) निश्चय करके (अन्ये) किसी अन्य मार्ग में (देवयन्तः) दीन होकर (मा, यमन्) मत चलो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! जिस प्रकार विद्युदादि शक्ति से आकर्षित हुआ पृथिवीमण्डल सूर्य्य की ओर खिंचा चला आता है इसी प्रकार तुम लोग क्षात्र धर्म रूपी यज्ञ की ओर आकर्षित होकर आओ, यद्यपि तुम्हारी वासनायें तुम्हें दीन बनाने के लिए दूसरी ओर ले जाती हैं परन्तु तुम उनसे सर्वथा पृथक् रह कर इस क्षात्र धर्म रूप यज्ञ में ही दृढ़ रहो, क्योंकि शूरवीर क्षत्रिय ही इस यज्ञ का होता बन सकता है अन्य भीरु तथा कातर पुरुष इस यज्ञ में आहुति देने का अधिकारी नहीं ॥६॥

युवं भुज्युमवविद्धं समुद्र उदूहथुरर्णसो अस्रिधानैः ।
पतत्रिभिरश्रमैरव्यथिभिर्दंसनाभिरश्विना पारयन्ता ॥७॥

युवं । भुज्युं । अवऽविद्धं । समुद्रे । उत् । ऊहथुः । अर्णसः । अस्रिधानैः । पतत्रिऽभिः । अश्रमैः । अव्यथिऽभिः । दंसनाभिः । अश्विना । पारयन्ता ॥७॥

पदार्थः—(अश्विना) हे शौर्यशालिनो राजपुरुषाः ! (समुद्रे) उदधौ (अवविद्धं) मग्नं (युवं) युष्माकं (भुज्युं) राजानं (अस्रिधानैः, पतत्रिभिः) अनुन्मग्नैर्जलयानैः (अव्यथिभिः, दंसनाभिः, अश्रमैः) स्वकीयापूर्वशारीरिकपरिश्रमैः (उत) च (अर्णसः) जलप्रवाहात् (ऊहथुः) समुत्थाप्य (पारयन्ता) सन्तारयत ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे शूरवीर राजपुरुषो ! (समुद्रे, अवविद्धं) समुद्र में गिरे हुए (युवं, भुज्युं) अपने युवा सम्राट् को (अस्रिधानैः, पतत्रिभिः) न डूबनेवाले जहाजों (उत्) और (**अव्यथिथिभिः**, दंसनाभिः, अश्रमैः) अपने अनथक शारीरिक परिश्रमों द्वारा (अर्णसः) जलप्रवाहों से (ऊहथुः) निकालकर (पारयन्ता) पार करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम्हारी राज्यरूप श्री का भुज्यु = भोक्ता सम्राट् समुद्र में स्थित है अर्थात् **"समुद्द्रवन्त्यस्मादापः स समुद्रः"** = जिसमें भले प्रकार जल भरे हुए हों अथवा जो जलों का धारण करनेवाला हो उसको **"समुद्र"** कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से सागर तथा आकाश दोनों अर्थों में समुद्र शब्द प्रयुक्त होता है जिसके अर्थ ये हैं कि हे शूरवीर राजपुरुषो ! तुम्हारे राज्य की श्री जो युवावस्था को प्राप्त अर्थात् चमकती हुई दोनों समुद्रों के मध्य विराजमान है, तुम लोग उसको जलकी यात्रा करनेवाले जहाजों द्वारा अथवा आकाश की यात्रा करनेवाले विमानों द्वारा निकालो ।

तात्पर्य्य यह है कि उत्तम यन्त्रों द्वारा जलीय समुद्र की भलीभाँति यात्रा करनेवाले अथवा आकाशरूप समुद्र में गति करनेवाले योद्धा पुरुष ही उस श्री को समुद्र से निकालकर ऐश्वर्य्य सम्पन्न हुए सुख भोग करते हैं अन्य नहीं, वास्तव में भुज्यु के अर्थ सांसारिक श्री भोक्ता सम्राट् के हैं, जिसके भाव को अल्पदर्शी टीकाकारों ने न समझकर ये अर्थ किये हैं कि कोई भुज्यु नामक पुरुष समुद्र में गिर गया था उसके निकालने के लिए अश्विनीकुमारों से प्रार्थना की कि हे अश्विनीकुमारो ! तुम इसको किसी प्रकार निकालो । यह अर्थ वेदाशय से सर्वथा विरुद्ध है जिसका समाधान पीछे भी कर आये हैं, क्योंकि यहां न किसी भुज्यु नामक पुरुष का वर्णन है और नाहीं किसी इतिहास में भुज्यु नाम पुरुष का लेख है, यह भुज्यु गुणप्रधान नाम है व्यक्ति प्रधान नहीं, जैसा कि इस सूक्त के उपक्रम और उपसंहार से प्रतीत होता है ॥७॥

नू मे हवमा शृणुतं युवाना यासिष्टं वर्तिरश्विनाविरावत् ।
धत्तं रत्नानि जरतं च सूरीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

नु । मे । हवं । आ । शृणुतं । युवाना । यासिष्टं । वर्तिः । अश्विनौ । इराऽवत् । धत्तं । रत्नानि । जरतं । च । सूरीन् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥८॥

पदार्थः—(युवाना, अश्विनौ) हे यौवनावस्थां प्राप्ता राजपुरुषाः, यूयं (नु) निश्चयेन (मे) मम (हवं) इममुपदेशं (आ) सम्यक् (शृणुतं) शृणुत, अन्यच यूयं (इरावत्) ऐश्वर्य्यशालिनः (वर्तिः) देशान् (यासिष्टं) प्रयात, तथा च (सूरीन्) बलिनो रिपून् (जरतं) उपालभत, (रत्नानि) रत्नानि मणिक्यादीनि (च) च (धत्तं) धत्त, परमात्मानं प्रार्थयत च यत् (यूयं) भवन्तः (स्वस्तिभिः) कल्याणदातृभिरुपदेशैः (नः) अस्मान् (सदा) सर्वदा (पात) रक्षन्तु ॥

इत्येकोनसप्ततितमं सूक्तं षोडशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(युवाना, अश्विनौ) हे युवावस्था को प्राप्त राजपुरुषो ! (नु) निश्चय करके (मे) मेरे (हवं) इस उपदेश को (आ) भलीभाँति (शृणुतं) सुनो (इरावत्, वर्तिः, यासिष्टं) तुम लोग ऐश्वर्य्यशाली देशों के मार्गों को जाओ, और वहां (सूरीन्, जरतं) शूरवीरों को उपलब्ध करके (रत्नानि, धत्तं) रत्नों को धारण करो (च) और परमात्मा से प्रार्थना करो कि (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) कल्याणदायक उपदेशों से (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे युवान शूरवीर योद्धाओ ! तुम धन धान्य से पूरित ऐश्वर्य्यशाली देशों की ओर जाओ और वहां के शूरवीरों को विजय करके विविध प्रकार के धनों को लाभ करो, और विजय के साथ ही परमात्मा से प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! आप अपने सदुपदेशों से हमें सदा पवित्र करें ताकि हम से कोई अनिष्ट कर्म न हो और आप हमारी इस विजय में सदा सहायक हों ॥८॥

६९वां सूक्त और १६वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य सप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१—७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः—१, ३, ४, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ५, ७ विराट्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ ज्ञानिभिर्विज्ञानिभिश्च यज्ञाः सम्भावनीया इत्युपदिश्यते—

अब ज्ञानी तथा विज्ञानियों द्वारा यज्ञों का सुशोभित होना कथन करते हैं—

आ विश्ववाराश्विना गतं नः प्र तत्स्थानमवाचि वां पृथिव्याम् ।
अश्वो न वाजी शुनपृष्ठो अस्थादा यत्सेदथुर्ध्रुवसे न योनिम् ॥१॥

आ । विश्वऽवाऽरा । अश्विना । गतं । नः । प्र । तत् । स्थानं । अवाचि । वां । पृथिव्यां । अश्वः । न । वाजी । शुनऽपृष्ठः । अस्थात् । आ । यत् । सेदथुः । ध्रुवसे । न । योनिं ॥१॥

पदार्थः—(विश्ववारा, अश्विना) हे वर्य्या विद्वज्जनाः, यूयं (आगतं) आगत्य (नः) अस्माकं यज्ञं (आ) सम्यक् सम्भावयत (वां) युष्मभ्यं (तत्) तत्र (पृथिव्यां) धरातले (शुनपृष्ठं) सुखेनासितुं (स्थानं) वेदिरूपं स्थलं (अवाची) निर्वाचितमस्ति (यत्) स्थानं (न, योनिं) न केवलमासनं किन्तु (ध्रुवसे, सेदथुः) दृढतायै स्थैर्य-दायकमपिवर्त्तते, भवन्तः (प्र) हर्षेण (वाजी, अश्वः, न) वल्गन्तोऽश्वा इव शीघ्रतया (अस्थात्) आगच्छत ॥

पदार्थ—(विश्ववारा, अश्विना) हे वरणीय विद्वज्जनो ! (आगतं) आप आकर (नः) हमारे यज्ञ को (आ) भले प्रकार सुशोभित करें (वां) तुम्हारे लिए (तत्) उस (पृथिव्यां) पृथिवी में (शुनपृष्ठः) सुख पूर्वक बैठने के लिए (स्थानं) स्थान=वेदि (अवाची) बनाई गई है (यत्) जो (योनिं, न) केवल बैठने को ही नहीं किन्तु (ध्रुवसे, सेदथुः) दृढ़ता में स्थिर करनेवाली है आप लोग (प्र) हर्षपूर्वक (वाजी, अश्वः, न) बलवान् अश्व के समान (अस्थात्) शीघ्रता से आयें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि याज्ञिक लोगो ! तुम अपने यज्ञों में ज्ञानी और विज्ञानी दोनों प्रकार के विद्वानों को सत्कारपूर्वक बुलाकर यज्ञवेदि पर बिठाओ और उनसे नाना प्रकार के सदुपदेश ग्रहण करो, क्योंकि यह वेदि केवल बैठने के लिए ही नहीं किन्तु यज्ञकर्मों की दृढ़ता में स्थिर करानेवाली है ॥

तात्पर्य्य यह है कि जिन यज्ञों में ज्ञानी और विज्ञानी दोनों प्रकार के विद्वानों को निमन्त्रित कर सत्कार किया जाता है वह यज्ञ सुशोभित और कृतकार्य्य होते हैं, आध्यात्मिक विद्या के जाननेवाले "ज्ञानी" और कला कौशल की विद्या को जाननेवाले "विज्ञानी" कहाते हैं, अथवा पदार्थों के ज्ञाता को "ज्ञानी" और अनुष्ठाता को "विज्ञानी" कहते हैं, वह विद्वान्, पुरुषार्थी तथा अश्व के समान शीघ्रगामी केवल तुम्हारे स्थानों को ही सुशोभित करनेवाले न हों किन्तु दृढ़ता रूप व्रत में स्थिर करें, उक्त दोनों प्रकार के विज्ञानों से ही यज्ञ सफल होता है, अन्यथा नहीं ॥१॥

सिषक्ति सा वां सुमतिश्चनिष्ठातापि घर्मो मनुषो दुरोणे ।
यो वां समुद्रान्त्सरितः पिपर्त्येतग्वा चिन्न सुयुजा युजानः ॥२॥

सिसक्ति । सा । वां । सुऽमतिः । चनिष्ठा । अतापि । घर्मः । मनुषः । दुरोणे । यः । वां । समुद्रान् । सरितः । पिपर्ति । एतऽग्वा । चित् । न । सुऽयुजा । युजानः ॥२॥

पदार्थः—(सुयुजा, युजानः) हे शोभनयज्ञयुक्ता यजमानाः ! (वां) यूयं (सा, सुमतिः) प्रसिद्धया सुबुध्या (चनिष्ठा) अनुष्ठानिनः सन्तः एनं यज्ञं (सिषक्ति) सिञ्चत, (यः) यः (मनुषः) मनुष्याणां (घर्मः) यज्ञजः स्वेदोऽस्ति, सः (दुरोणे) यज्ञगृहे (अतापि) तप्तः (वां) युष्माकं मनोरथान् (समुद्रान् सरितः) समुद्रान नद्य इव (पिपर्ति) पूरयति (एतग्वा) एतस्मादन्यथा (चित्) कदाचित् (न) न सम्भवेत् ॥

पदार्थ—(सुयुजा, युजानः) ज्ञानादि यज्ञों के साथ भलीभाँति जुड़े हुए याज्ञिक लोगो ! (वां) तुम (सा, सुमतिः) उस उत्तम बुद्धिद्वारा (चनिष्ठा) अनुष्ठानी बनकर (सिषक्ति) इस यज्ञ को सिञ्चन करो (यः) जो (मनुषः) मनुष्य का (घर्मः) यज्ञ सम्बन्धी स्वेद है वह (दुरोणे) यज्ञगृह में (अतापि) तपा हुआ (वां) तुम्हारे (समुद्रान, सरितः) समुद्र को नदियों के समान तुम्हारी आशाओं को (पिपर्ति) पूर्ण करता है (न, चित् एतग्वा) अन्यथा कभी नहीं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगो ! तुम उत्तम बुद्धि द्वारा अनुष्ठानी बनकर यज्ञ का सेवन करो, क्योंकि तुम्हारे तप से उत्पन्न हुआ स्वेद मानो सरिताओं का रूप धारण करके तुम्हारे मनोरथरूपी समुद्र को परिपूर्ण करता है अर्थात् जब तक पुरुष पूर्ण तपस्वी बनकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उद्यत नहीं होता तब तक उस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती, इसलिए आप लोग अपने वैदिक लक्ष्यों की पूर्ति तपस्वी बनकर ही कर सकते हो, अन्यथा नहीं ।।२।।

यानि स्थानान्यश्विना दधाथे दिवो यह्वीष्वोषधीषु विक्षु ।
नि पर्वतस्य मूर्धनि सदन्तेषं जनाय दाशुषे वहन्ता ।।३।।

यानि । स्थानानि । अश्विना । दधाथे इति । दिवः । यह्वीषु । ओषधीषु । विक्षु । नि । पर्वतस्य । मूर्धनि । सदन्ता । इषं । जनाय । दाशुषे । वहन्ता ।।३।।

पदार्थः—(अश्विना) हे ज्ञानिविज्ञानिपुरुषाः ! (यूयं) यदात्मकानि (स्थानानि) स्थलानि (दधाथे) धारयत, तानि (दिवः) द्युलोकस्य स्युः, द्युलोकसंबन्धीनि स्युरित्यर्थः (यह्वीषु, ओषधीषु) यद्वा ओषधीनां (विक्षु) प्रजानाञ्च संबन्धीनि स्युः, अन्यच्च तानि (नि) निश्चयेन (पर्वतस्य) गिरेः (मूर्धनि) स्युः, एषु स्थलेषु (सदन्ता) स्थिता भवन्तः (दाशुषे, जनाय) उदाराय यज्ञकर्त्रे (इषं) ऐश्वर्यं (वहन्ता) वर्धयन्तु ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे ज्ञानी विज्ञानी विद्वानो ! (यानि, स्थानानि, दधाथे) जिन-जिन स्थानों को आप लोग धारण करते हैं वह (दिवः) द्युलोक सम्बन्धी हों (यह्वीषु, ओषधीषु) चाहे अन्न तथा ओषधियों विषयक हों (विक्षु) चाहे प्रजासम्बन्धी हों (नि) निश्चय करके (पर्वतस्य, मूर्धनि) पर्वतों की चोटियों पर हों, इन सब स्थानों में (सदन्ता) स्थिर हुए आप (दाशुषे, जनाय) दानी याज्ञिक लोगों के (इषं) ऐश्वर्य्य को (वहन्ता) बढ़ाओ ।।

भावार्थ—ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों के लिए परमात्मा आज्ञा देते हैं कि जिन-जिन स्थानों में प्रजाजन निवास करते हैं उन स्थानों में जाकर प्रजा के लिए ऐश्वर्य्य की वृद्धि करो, नानाप्रकार की ओषधियों के तत्त्वों को जानकर उनका प्रजा में प्रजाओं को संगठन की नीति-विद्या अथवा उच्च प्रदेशों के ऊपर स्थिर होने के लिए विमानविद्या की शिक्षा दो, विद्याओं को उपलब्ध करते कराते हुए अपने याज्ञिकों का ऐश्वर्य्य बढ़ाओ ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस देश के विद्वान् ओषधियों द्वारा किंवा प्रजासम्बन्धी नानाप्रकार की विद्याओं द्वारा अपने ऐश्वर्य्य को नहीं बढ़ाते उस देश के याज्ञिक कदापि उन्नति को प्राप्त नहीं होते, इसलिए विद्वानों का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह विद्यासम्पन्न होकर याज्ञिकों के ऐश्वर्य्य को बढ़ायें ।।३।।

चनिष्टं देवा ओषधीष्वप्सु यद्योग्या अश्नवैथे ऋषीणाम् ।
पुरूणि रत्ना दधतौ न्य१स्मे अनु पूर्वाणि चख्यथुर्युगानि ॥४॥

चनिष्टं । देवौ । ओषधीषु । अप्ऽसु । यत् । योग्याः । अश्नवैथे इति । ऋषीणां । पुरूणि । रत्ना । दधतौ । नि । अस्मे इति । अनु । पूर्वाणि । चख्यथुः । युगानि ॥४॥

पदार्थः—(चनिष्टं, देवा) हे योग्यविद्वांसः ! यूयं (ओषधीषु, अप्सु) ओषधीषु जलेषु च (ऋषीणां) मुनीनां (यत्) यानि तात्पर्य्याणि (अश्नवैथे) ज्ञायध्वे, तानि (नि) निश्चयेन अस्मान्प्रति कथयेत, यतो यूयं (योग्या) योग्याः स्थ, (अस्मे) मह्यं (पुरूणि, रत्ना) अमूल्यानि रत्नानि (दधतौ) धारयत, यानि रत्नानि (अनु, पूर्वाणि, युगानि) पूर्वकालिकाः सर्वे विद्वांसः (चख्यथुः) अचकथन् ॥

पदार्थ—(चनिष्टं, देवा) हे योग्य विद्वान् पुरुषो ! (ओषधीषु, अप्सु) ओषधियों तथा जलों में (ऋषीणां) ऋषियों के तात्पर्य्य को (यत्) जो (अश्नवैथे) जानते हो वह (नि) निश्चय करके हमारे प्रति कहो, क्योंकि आप (योग्याः) सब प्रकार से योग्य हैं (अस्मे) हमारे लिए (पुरूणि, रत्ना) अनेक प्रकार के रत्न (दधतौ) धारण कराओ, जिनको (अनु, पूर्वाणि, युगानि) पूर्व कालिक सब विद्वानों ने (चख्यथुः) कथन किया है ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगो ! तुम उन ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि आप सब प्रकार की विद्याओं में कुशल हो, इसलिए ओषधियों तथा जलीय विद्या सम्बन्धी ऋषियों के अभिप्राय को हमारे प्रति कहो, और जो प्राचीन रसायन विद्यावेत्ता विद्वानों ने रत्नादि निधियों को निकाला है उनका ज्ञान भी हमें कराओ अर्थात् पदार्थ विद्या के जाननेवाले ऋषियों के तात्पर्य्य को समझाकर हमें निधिपति बनाओ ॥४॥

शुश्रुवांसा चिदश्विना पुरूण्यभि ब्रह्माणि चक्षाथे ऋषीणाम् ।
प्रति प्र यातं वरमा जनायास्मे वामस्तु सुमतिश्चनिष्ठा ॥५॥

शुश्रुऽवांसा । चित् । अश्विना । पुरूणि । अभि । ब्रह्माणि । चक्षाथे इति । ऋषीणां । प्रति । प्र । यातं । वरं । आ । जनाय । अस्मे इति । वां । अस्तु । सुऽमतिः । चनिष्ठा ॥५॥

पदार्थः—(शुश्रुवांसा, चित् अश्विना) हे श्रुतज्ञानाविद्वांसः ! (ऋषीणां) ऋषीणां संबन्धीनि (पुरूणि) अनेकानि (अभि, ब्रह्माणि) वैदिकज्ञानानि अस्मान् प्रति (आ) सम्यक् (चक्षाथे) निशामयत, यूयमिति शेषः, (वां) युष्माकं (चनिष्ठा) कमनीयतरा (सुमतिः) सुबुद्धिः (अस्मे, जनाय) मदर्थं (अस्तु) कल्याणरूपा भवतु, भवन्तः (वरं) श्रेष्ठं अस्मदीयं यज्ञस्थानं (प्रति) प्रति (प्र, यातं) आगच्छन्तु ॥

पदार्थ—(शुश्रुवांसा, अश्विना) हे सुशिक्षित विद्वानो ! (ऋषिणां, पुरूणि, अभि, ब्रह्माणि) ऋषियों सम्बन्धी अनेक वैदिक ज्ञानों को हमारे प्रति (आ) भले प्रकार (चक्षाथे) कथन करो (वां) तुम्हारी (चनिष्ठा, सुमतिः) अनुष्ठानिक उत्तम बुद्धि (अस्मे, जनाय) हम लोगों के लिए (अस्तु) शुभ हो, और (वरं, प्रति) हमारे श्रेष्ठ यज्ञस्थान को आप (प्र, यातं) गमन करें ॥

भावार्थ—हे याज्ञिक लोगो ! तुम उन वेदविद्यापारग विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि

आप उन पूर्वकालिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से उपलब्ध किये ज्ञान का हमें उपदेश करें जिससे हमारी बुद्धि निष्ठायुक्त होकर वेद के गूढभावों को ग्रहण करने योग्य हो, कृपा करके आप हमारे यज्ञीय पवित्र स्थान को सुशोभित करें ताकि हम आपसे वेदविषयक ज्ञान श्रवण करके पवित्र भावोंवाले हों ।।५।।

यो वां यज्ञो नासत्या हविष्मान्कृतब्रह्मा समर्यो३ भवाति ।
उप प्र यातं वरमा वसिष्ठमिमा ब्रह्माण्यृच्यन्ते युवभ्याम् ॥६॥

यः । वां । यज्ञः । नासत्या । हविष्मान् । कृतऽब्रह्मा । सऽमर्यः । भवाति । उप । प्र । यातं । वरं । आ । वसिष्ठं । इमा । ब्रह्माणि । ऋच्यन्ते । युवऽभ्यां ॥६॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः ! (समर्यः) स्मरणीयस्येश्वरस्य संबन्धी (हविष्मान्) हविषा युक्तः (वां) युष्माकं (यः, यज्ञः) यो यज्ञोस्ति, अन्यच्च यत्र (कृतब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्रह्मा (भवाति) विधीयमानोऽस्ति, तत्र यज्ञे (युवभ्यां) युष्माभिः (इमा) इमाः (ब्रह्माणि) वेदवाणयः (आ) सम्यक्तया (ऋच्यन्ते) स्तोतव्याः अतो यूयं (वरं) श्रेष्ठं (वसिष्ठं, उप) एनं यज्ञं प्रति (प्र, यातं) आगच्छत ।।

पदार्थ—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! (समर्यः) ईश्वर की उपासनायुक्त (हविष्मान्) हविवाला (वां) तुम्हारा (यः) जो (यज्ञः) यज्ञ जिसमें (कृतब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्रह्मा (भवाति) बनाया गया है, इस यज्ञ में (युवभ्यां) तुम्हारे द्वारा (इमा) इन (ब्रह्माणि, ऋच्यन्ते) वेदों का प्रचार (आ) भले प्रकार किया जायगा इसलिए (वरं, वसिष्ठं) अतिश्रेष्ठ इस यज्ञ को (उप, प्रयातं) आप आकर सुशोभित करें ।।

भावार्थ—ब्रह्मप्रतिपादक वेद के प्रचारक विद्वानो ! आप इस श्रेष्ठ यज्ञ में आकर इसकी शोभा को बढ़ावें, जो परमात्मा की उपासना के निमित्त किया गया है, हे आध्यात्मिक ज्ञान के प्रचारक विज्ञानी देवो ! आप हमको इस पवित्र यज्ञ में परमात्मविषयक उपदेश करें जो मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य है ।।६।।

अथ परमात्मनः स्तुतिरुपदिश्यते—

अब परमात्मस्तुति का उपदेश करते हैं—

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

इयं । मनीषा । इयं । अश्विना । गीः । इमां । सुऽवृक्तिं । वृषणा । जुषेथां । इमा । ब्रह्माणि । युवऽयूनि । अग्मन् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ।।७।।

पदार्थः—(वृषणा अश्विना) हे कामनानां पूरयितारोज्ञानिनो विज्ञानवन्तश्च विद्वांसः ! भवताम् (इयं) इयं (गीः) वाणी (इयं, मनीषा) एषा बुद्धिश्च (इमां, सुवृक्तिं) इमाः परमात्मस्तुतीः (जुषेथां) सेवताम्, याः (युवयुनि) भवत्संबन्धिन्यः सन्ति अन्यच्च (इमा, ब्रह्माणि) एतानि ब्रह्मप्रतिपादकानि स्तोत्राणि (अग्मन्) युष्मान्

प्राप्नवन्तु यतः (यूयं) भवन्तः (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादिभिः (नः) अस्मान् (पात) रक्षन्तु ।।

इति सप्तदशो वर्गः सप्ततितमं सूक्तं चतुर्थोऽनुवाकश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(वृषणा) हे विद्यादि की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले (अश्विना) ज्ञानी तथा विज्ञानी विद्वानो ! (इयं, मनीषा) यह बुद्धि (इयं, गीः) यह वाणी (इमां, सुवृक्ति) इन परमात्म स्तुतियों को (जुषेथां) आप सेवन करें (युवयूनि) जो तुम से सम्बन्ध रखती हैं और (इमा, ब्रह्माणि) यह ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्र (अग्मन्) तुम्हें प्राप्त हों, और तुम सदैव यह प्रार्थना करो कि (वः) हमको (यूयं) आप (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (पात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! तुम इस वेदवाणी का सदा सेवन करो जो विद्या की बुद्धिद्वारा सब कामनाओं के पूर्ण करनेवाली है, और तुम सदैव वेद के उन स्तोत्रों का पाठ करो जिनमें परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का वर्णन किया गया है जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र होकर परमात्मप्राप्ति के योग्य हो ।।७।।

७० वाँ सूक्त ४था अनुवाक और १७ वाँ वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथ षड्ऋचस्यैकसप्ततितमस्यसूक्तस्य—

१–६ वसिष्ठ ऋषिः ।। अश्विनौ देवते ।। छन्दः–१, ५, त्रिष्टुप् । २–४, ६ विराट् त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अस्मिन् सूक्ते ब्राह्मे मुहूर्ते उपदेशश्रवणस्य विधानं कथ्यते—

अब इस सूक्त में ब्राह्ममुहूर्त काल में उपदेश श्रवण करने का विधान करते हैं—

अप स्वसुरुषसो नग्जिहीते रिणक्ति कृष्णीररुषाय पन्थाम् ।
अश्वामघा गोमघा वां हुवेम दिवा नक्तं शरुमस्मद्युयोतम् ।।१।।

अप । स्वसुः । उषसः । नक् । जिहीते । रिणक्ति । कृष्णीः । अरुषाय । पन्थाँ । अश्वऽमघा । गोऽमघा । वां । हुवेम । दिवा । नक्तं । शरुं । अस्मत् । युयोतं ।।१।।

पदार्थः—(अश्वामघा, गोमघा) हे अश्वगोरूपधनसम्पन्नौ (वां) अध्यापकोपदेशकौ, वयं युवां (हुवेम) प्रार्थयामहे यद्युवां (दिवा, नक्तं) अहर्निशम् (शरुं) हिंसारूपं पापं (अस्मत्) अस्मत्तः (युयोतं) दूरीकुरुतम्, अन्यच्च यदा (कृष्णीः) रात्रिः (स्वसुः, उषसः) आत्मनः उषोरूपायाः पुत्र्याः (अप, जिहीते) त्यागं कृत्वा (अरुषाय) सूर्य्याय (पन्थां) मार्गं (रिणक्ति) ददाति, तदैवोपदेशं कुरुतमित्यर्थः ।

पदार्थ—(अश्वमघा, गोमघा) हे अश्व तथा गोरूप धन सम्पन्न (वां) अध्यापक तथा उपदेशको ! हम आपसे (हुवेम) प्रार्थना करते हैं कि आप (दिवा, नक्तं) दिन रात्रि (अस्मत्) हमसे (शरुं) हिंसारूप पाप को (युयोतं) दूर करें (अप) और जिस समय (कृष्णीः) रात्रि (स्वसुः, उषसः) अपनी उषारूप पुत्री का (नक्, जिहीते) त्याग करके (अरूषाय, पन्थां, रिणक्ति) सूर्य्य के लिए मार्ग देती है उस समय उपदेश करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम उन ऐश्वर्य्य-सम्पन्न अध्यापक तथा उपदेशकों से यह प्रार्थना करो कि आप अपने सदुपदेशों द्वारा हमको पवित्र करते हुए हिंसारूप पापपङ्क को हमसे सदैव के लिए छुड़ा कर शुद्ध करें, और हे विद्वानो ! आप हम लोगों को उषाकाल = ब्रह्ममुहूर्त्त में उपदेश करें जिस समय प्रकृति का सम्पूर्ण सौन्दर्य्य अपनी नूतन अवस्था को धारण करता और जिस समय पक्षीगण मधुर स्वर से अपने-अपने भावों द्वारा जगन्नियन्ता जगदीश के भावों को प्रकाशित करते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि उत्तमशिक्षा ग्रहण करने के लिए ब्रह्ममुहूर्त्त ही अत्युत्तम काल है, क्योंकि रात्रि के विश्राम के अनन्तर उस समय बुद्धि निर्मल होने के कारण सूक्ष्म विषय को भी ग्रहण करने में समर्थ होती है, इसीलिए वेद भगवान् ने आज्ञा दी है कि तुम ब्रह्ममुहूर्त्त में उपदेश श्रवण करो ।।१।।

उपायातं दाशुषे मर्त्याय रथेन वाममश्विना वहन्ता ।
युयुतमस्मदनिराममीवां दिवा नक्तं माध्वी त्रासीथां नः ॥२॥

उपऽआयातं । दाशुषे । मर्त्याय । रथेन । वामं । अश्विना । वहन्ता । युयुतं । अस्मत् । अनिरा । अमीवां । दिवा । नक्तं । माध्वी इति । त्रासीथां । नः ॥२॥

पदार्थः—(अश्विना) हे विद्वज्जनाः ! यूयं (रथेन, वामं) स्वकीयेनाभायुक्तेन रथेन, अस्मान् (उपायातं) प्राप्नुत अन्यच्च (मर्त्याय, दाशुषे) अस्माकं मनोरथान् (वहन्ता) पूरयन्तः (अनिरां) दरिद्रतां, (अमीवां) रोगान् (अस्मत्) अस्मत्तः (युयुतं) दूरीकुरुत, तथा च (माध्वी) हे मधुरवाचिनो विद्वांसः (नक्तं, दिवा) रात्रिन्दिवं (नः) अस्मान् (त्रासीथां) रक्षत ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे विद्वज्जनो ! (रथेन, वामं, उपायातं) अपने आभावाले शीघ्रगामी यानों द्वारा हमें प्राप्त होकर (मर्त्याय, दाशुषे) हम यजमानों की मनोकामना (वहन्ता) पूर्ण करते हुए (अस्मत्) हमसे (अनिरां, अमीवां) दरिद्रता तथा सब प्रकार के रोगों को (युयतं) पृथक् करो और (माध्वी) हे मधुरभाषी विद्वानो ! (नक्तं, दिवा) रात्रीदिन (नः) हमारी (त्रासीथां) सब ओर से रक्षा करो ।।

भावार्थ—हे प्रजाजनो ! तुम उन विद्वानों से यह प्रार्थना करो कि हे भगवन्, आप हमें प्राप्त होकर हमको वह उपाय बतलावें जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारा शरीर नीरोग रहे, हम मधुरभाषी हों और ईर्षा द्वेष से सर्वथा पृथक् रहें अर्थात् अपनी चिकित्सारूप विद्या द्वारा हमको नीरोग करके ऐसे साधन बतलावें जिससे हम रोगी कभी न हों, और पदार्थविद्या के उपदेशद्वारा हमें कला कौशलरूप ज्ञान का उपदेश करें जिससे हमारी दरिद्रता दूर हो, हम ऐश्वर्यशाली हों और साथ ही हमें आत्मज्ञान का भी उपदेश करें जिससे हमारा आत्मा पवित्रभावों में परिणत होकर आपकी आज्ञा का सदैव पालन करनेवाला हो ।।२।।

आ वां रथमवमस्यां व्युष्टौ सुम्नायवो वृषणो वर्तयन्तु ।
स्यूमगभस्तिमृतयुग्भिरश्वैराश्विना वसुमन्तं वहेथाम् ॥३॥

आ । वां । रथं । अवमस्यां । विऽउष्टौ । सुम्नऽयवः । वृषणः । वर्तयन्तु । स्यूमऽगभस्तिं । ऋतयुक्ऽभिः । अश्वैः । आ । अश्विना । वसुऽमन्तं । वहेथां ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) हे विद्वांसः ! भवन्तः (ऋतयुग्भिः, अश्वैः) द्विविधैर्ज्ञानैः अस्मान् (आ) सम्यक्तया (वसुमन्तं) ऐश्वर्य्ययुक्तान् (वहेथां) कुर्वन्तु, यतो वयं (सुम्नायवः) सुखयुक्ताः सन्तः (वृषणः, वर्त्तयन्तु) आनन्दमनुभवाम (वां) यूयं (रथं) स्वकीयं यानं (अवमस्यां, व्युष्टौ) निर्विघ्ने मार्गे सञ्चारयत, तथा च तानि यानानि (स्यूमगभस्तिं) रश्मियुक्तानि बभूवुः ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे विद्वानो ! आप (ऋतयुग्भिः, अश्वैः) दो प्रकार के ज्ञानों से हमको (आ) भले प्रकार (वसुमन्तं, वहेथां) ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें, ताकि हम (सुम्नावयः) सुखपूर्वक (वृषणः, वर्तयन्तं) आनन्द को अनुभव कर सकें (वां, रथं) आप अपने रथ=यानों को (अवमस्यां, व्युष्टौ) विघ्नरहित मार्गों में चलायें, और वह सुन्दर रथ (स्यूमगभस्ति) ऐश्वर्य्य की रासोंवाले हों ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि परमात्मा ! आप हमारे उपदेशकों को ऐश्वर्य्य की रासोंवाले रथ प्रदान करें अर्थात् वह सब प्रकार से सम्पत्तिसम्पन्न हों, दरिद्र न हों, ताकि वह हमको ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख का उपदेश करें अर्थात् हम उनसे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों प्रकार के ज्ञान प्राप्त करके आनन्द अनुभव कर सकें ।।३।।

यो वां रथो नृपती अस्ति वोळ्हा त्रिवन्धुरो वसुमाँ उस्रयामा ।
आ न एना नासत्योप यातमभि यद्वां विश्वप्स्न्यो जिगाति ॥४॥

यः । वां । रथः । नृपती इति नृऽपती । अस्ति । वोळ्हा । त्रिऽवन्धुरः । वसुऽमान् । उस्रऽयामा । आ । नः । एना । नासत्या । उप । यातं । अभि । यत् । वां । विश्वऽप्स्न्यः । जिगाति ॥४॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः ! (वां) यूयं (नः) अस्मान् (एना) एतेन मार्गेण (उपयातं) प्राप्नुत, (यः) यो मार्गः (विश्वप्स्न्यः) परमात्मना (जिगाति) उपगीतोऽस्ति । (नृपती) हे मनुष्याणां पतयो विद्वज्जनाः, (वां) युष्माकं (यत्, रथः) यो रथः युष्माकं (आ) सम्यक् (वोळ्हा) वाहकोऽस्ति, सः (त्रिवन्धुरः) बन्धनत्रययुक्तः (वसुमान्) ऐश्वर्य्यवान् (उस्रयामा) नभोगमनशीलश्च (अस्तु) भूयात् ।।

पदार्थ—(अश्विना) हे सत्यवादी विद्वानो ! (वां) आप (नः) हमको (एना) उस मार्ग द्वारा (उपयातं) प्राप्त हों, (यः) जो (विश्वप्स्न्यः) परमात्मा ने (जिगाति) कथन किया है । (नृपती) हे मनुष्यों के पति विद्वानो, (वां) आपका (यत्) जो (रथः) रथ (वोळ्हा, आ) तुम्हें भले प्रकार लानेवाला है, वह (त्रिवन्धुरः) तीन बन्धनोंवाला (वसुमान्) ऐश्वर्य्यवाला, और (उस्रयामा) आकाशमार्ग में चलनेवाला (अस्तु) हो ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे विद्वज्जनो ! आप परमात्मा के कथन किये हुए मार्ग द्वारा हमें प्राप्त हों अर्थात् परमात्मा ने उपदेशकों के लिये कर्तव्य कथन किया है

उसका आप पालन करें, या यों कहो कि आप हमें परमात्मपरायण करके हमारे जीवन को उच्च बनावें और हमें वेदों का उपदेश सुनावें जो परमात्मा ने हमारे लिये प्रदान किया है ।।४।।

युवं च्यवानं जरसोऽमुमुक्तं नि पेदवं ऊहथुराशुमश्वम् ।
निरंहसस्तमसः स्पर्तमत्रिं नि जाहुषं शिथिरे धातमन्तः ॥५॥

युवं । च्यवानं । जरसः । अमुमुक्तं । नि । पेदवें । ऊहथुः । आशुं । अश्वं । निः । अंहसः । तमसः । स्पर्तं । अत्रिं । नि । जाहुषं । शिथिरे । धातं । अंतरिति ।।५।।

पदार्थः—हे विद्वांसः (युवं) युष्माकं (जरसः) जीर्णतया (अमुमुक्तं) रहितं (च्यवानं) ज्ञानं (नि) निरन्तरं (पेदवे) अस्मान् रक्षितुं भवतु अन्यच्च (निः) निःसंशयं (अश्वं) राष्ट्रं (आशुं) शीघ्रं (ऊहथुः) प्रापयतु, (अन्धसः, तमसः) अज्ञानरूपादन्धकारात् (अत्रिं) अरक्षितं राष्ट्रं (जाहुषं) निवर्तयतु तथा च (शिथिरे) राष्ट्रे शिथिले सति (अन्तः, धातं) आत्मरूपं सत् धारयतु ।।

पदार्थ—हे विद्वानो ! (युवं) तुम्हारा (जरसः, अमुमुक्तं) जीर्णता से रहित (च्यवानं) ज्ञान (नि) निरन्तर (पेदवे) हमारी रक्षा के लिये हो, और (निः) निस्सन्देह (अश्वं, आशुं, ऊहथुः) राष्ट्र को शीघ्र प्राप्त कराये (अन्धसः तमसः) अज्ञानरूप तम से (अत्रिं) अरक्षित राष्ट्र को (जाहुषं) निकाले और उसके (शिथिरे) शिथिल होने पर (अन्तः, धातं) आत्मा बनकर धारण करे ।।

भावार्थ—हे विद्वानो ! आपका जीर्णता से रहित नितनूतन ज्ञान हमारी सब ओर से रक्षा करे और वह पवित्र ज्ञान हमें राष्ट्र=ऐश्वर्य्य प्राप्त कराये, और आपके ज्ञान द्वारा हम अपने गिरे हुए राष्ट्र को भी पुनर्जीवित करें ।।

तात्पर्य्य यह है कि विद्वानों के उपदेशों से ज्ञान को प्राप्त हुए प्रजाजन अपने ऐश्वर्य्य को बढ़ाते और गिरे हुए राष्ट्र को भी फिर उठाते हैं अर्थात् जिस प्रकार इस अस्थिमय चर्मावगुण्ठित शरीर को केवल अपनी सत्ता से जीवात्मा ही उठाता है इस प्रकार राष्ट्ररूप कलेवर को उठानेवाला एकमात्र ज्ञान ही है, इसलिये इस मन्त्र में विद्वानों से प्रार्थना है आप ऐसी कृपा करें कि हम लोग ज्ञानी तथा विज्ञानी बनकर राष्ट्र को शरीरवत् धारण करते हुए सुखपूर्वक रहें ।।५।।

अथाध्यापकादिभिः सर्वैर्मिलित्वा परमात्मा एवमुपासनीय इत्युपदिश्यते—

अब सब प्रजाजन, अध्यापक तथा उपदेशक मिलकर परमात्मा की इस प्रकार प्रार्थना, उपासना करो कि—

इयं मनीषा इयमश्विना गीरिमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।
इमा ब्रह्माणि युवयून्यग्मन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

इयं । मनीषा । इयं । अश्विना । गीः । इमा । सुऽवृक्तिं । वृषणा । जुषेथां । इमा । ब्रह्माणि । युवऽयूनि । अग्मन् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः । ।।६।।

पदार्थः—(वृषणा) हे विद्यादिसत्कामनापूरयितारः (अश्विना) अध्यापकोपदेशकाः ! यूयं (इयं, मनीषा) इमां बुद्धिं (इयं, गीः) इमां वेदवाणीं (इमां, सुवृक्ति)

एताः परमात्मस्तुतीः (जुषेथां) सेवयत या एताः (युवयूनि) भवत्संबन्धिन्यः सन्ति, अन्यच्च (इमा) इमानि (ब्रह्माणि) ब्रह्मप्रतिपादकानि स्तोत्राणि (अग्मन्) भवतः प्राप्नुवन्तु, अन्यच्च भवन्तः प्रार्थयन्ताम् यत् (नः) अस्मान् (यूयं) भवन्तः (सदा) सर्वकाले (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनादिभिः (पात) पवित्रान् कुरुत इत्यर्थः ॥

इत्येकसप्ततितमं सूक्तमष्टादशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(वृषणा) हे विद्यादि की कामनाओं को पूर्ण करनेवाले (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशको, (इयं, मनीषा) यह बुद्धि (इयं, गीः) यह वाणी (इमां, सुवृक्ति) इन परमात्म-स्तुतियों को (जुषेथां) आप सेवन करें (युवयूनि) जो तुमसे सम्बन्ध रखती हैं, और (इमा, ब्रह्माणि) यह ब्रह्मप्रतिपादक स्तोत्र (अग्मन्) तुम्हें प्राप्त हों, और तुम सदैव यह प्रार्थना करो कि (नः) हमको (यूयं) आप (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—हे श्रोताजन तथा उपदेशको ! तुम मिलकर वैदिक स्तोत्रों से परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना करते हुए यह वर मांगो कि हे जगदीश्वर ! हम वेदों के अनुसार अपना आचरण बनावें जिससे हमारा जीवन पवित्र हो ॥ ६ ॥

७१ वां सूक्त और १८ वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चर्चस्य द्वासप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ अश्विनौ देवते ॥ छन्दः– १–४ निचृत् त्रिष्टुप् । ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अस्मिन् सूक्ते यज्ञान् निरूपयन् यजमानस्य प्रार्थनामाह–

अब इस सूक्त में यज्ञों का वर्णन करते हुए यजमानों की प्रार्थना कथन करते हैं—

आ गोम॑ता नास॒त्या रथे॒नाश्वा॑वता पुरुश्च॒न्द्रेण॑ यातम् ।
अ॒भि वां॒ विश्वा॑ नि॒युतः॑ सचन्ते॒ स्पार्ह॑या श्रि॒या त॒न्वा॑ शुभा॒ना ॥१॥

आ । गोऽम॑ता । ना॒स॒त्या । रथे॑न । अश्व॑ऽवता । पु॒रु॒ऽच॒न्द्रेण॑ । या॒तं । अ॒भि । वां॒ । विश्वाः॑ । नि॒ऽयुतः॑ । स॒च॒न्ते॒ । स्पा॒र्ह॑या । श्रि॒या । त॒न्वा॑ । शु॒भा॒ना ॥१॥

पदार्थः—(नासत्या) सत्यवादिनोऽध्यापकास्तथोपदेशकाः, (गोमता) प्रकाश-युक्तेन (अश्ववता) शीघ्रगामिना (पुरुश्चन्द्रेण) आनन्दप्रदेन (रथेन) यानेन (आ, यातं) आगच्छन्तु, अन्यच्च (श्रिया) शोभायुक्तेन (तन्वा) शरीरेण (शुभाना) शोभितान् (वां) तान् अध्यापकोपदेशकान् (अभि) सर्वतः (स्पार्हया) प्रेमयुक्ताः सत्यः (विश्वाः) सम्पूर्णाः (नियुतः) स्तुतयः (सचन्ते) प्राप्ता भवन्तु । अध्यापको-पदेशकाः सर्वैर्जनैः स्तोतव्याः स्युरितिभावः ॥

पदार्थ—(नासत्या) सत्यवादी अध्यापक तथा उपदेशक, (गोमता) प्रकाशवाले (अश्ववता) शीघ्रगामी (पुरुश्चन्द्रेण) अत्यन्त आनन्द उत्पन्न करनेवाले (रथेन) रथ=यान द्वारा (आयातं) हमारे यज्ञ में आयें, और (श्रिया, तन्वा) सुशोभित शरीर से (शुभाना) शोभा को प्राप्त हुए (वां) उनको (अभि) सब ओर से (स्पार्हया) प्रेमयुक्त (विश्वाः) सम्पूर्ण (नियुतः) स्तुतियें (सचन्ते) संगत हों ॥

भावार्थ—हे यजमानो ! आप लोग सदैव मन, वाणी तथा शरीर से ऐसे यत्नवान् हों जिससे तुम्हारे यज्ञों को सत्यवादी विद्वान् आकर सुशोभित करें और आप लोग सब ओर से उनकी स्तुति करते हुए अपने आचरणों को पवित्र बनायें क्योंकि सत्यवादी विद्वानों की संगति से ही पुरुषों में उच्चभाव उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

आ नो॑ दे॒वेभि॒रुप॑ यातम॒र्वाक्स॒जोष॑सा नासत्या॒ रथे॑न ।
यु॒वोर्हि नः॑ स॒ख्या पित्र्या॑णि समा॒नो बन्धु॑रु॒त तस्य॑ वित्तम् ॥२॥

आ । नः॒ । दे॒वेभिः॑ । उप॑ । या॒तं॒ । अ॒र्वाक् । स॒ऽजोष॑सा । ना॒स॒त्या॒ । रथे॑न । यु॒वोः॑ । हि । नः॒ । स॒ख्या । पित्र्या॑णि । स॒मा॒नः । बन्धुः॑ । उ॒त । तस्य॑ । वि॒त्तं ॥२॥

पदार्थः—(देवेभिः) दिव्यशक्तिभिर्युक्ताः (नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः ! यूयं (रथेन) यानेन, यानमारुह्य इत्यर्थः (नः) अस्मान् (आ) सम्यक् (उप, यातं) अगच्छत (उत) अन्यच्च (अर्वाक्, सजोषसा) आत्मनो दिव्यशक्तिभिः (तस्य, वित्तं) तज्ज्ञानात्मकं धनं (नः) अस्मभ्यं प्रयच्छत । यतः (युवोः) युष्माकं (सख्या) मैत्री (हि) निश्चयेन (पित्र्याणि, बन्धुः) पितृभिर्बन्धुभिश्च (समानः) तुल्याभवतीत्यर्थः ॥

पदार्थ—(देवेभिः) दिव्यशक्तिसम्पन्न (नासत्या) सत्यवादी विद्वान् (रथेन) यानद्वारा (नः) हमको (आ) भले प्रकार (उपयातं) प्राप्त हों (उत) और (अर्वाक्, सजोषसा) अपनी दिव्यवाणी से (नः) हमें (तस्य, वित्तं) उस ज्ञानरूप धन को प्रदान करें (हि) निश्चय करके (युवोः) तुम्हारी (सख्या) मैत्री (पित्र्याणि, बन्धुः) पिता तथा बन्धु के (समानः) समान हो ॥

भावार्थ—हे यजमानो ! तुम सत्यवादी विद्वानों का भले प्रकार सत्कार करो और उनको पिता तथा बन्धु की भाँति मान कर उनसे ब्रह्मविद्यारूप धन का लाभ करो जो तुम्हारे जीवन का उद्देश्य है अर्थात् तुम उन अध्यापक तथा उपदेशकों की सेवा में प्रेमपूर्वक प्रवृत्त रहो, जिससे वह प्रसन्न हुए तुम्हें ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें ॥

कई एक टीकाकार इस मन्त्र से अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति निकालते हैं कि विवस्वान् की सरण्यू नामक स्त्री ने किसी कारण से घोड़ी का रूप धारण कर लिया पुनः विवस्वान् उसके मोह में आकर घोड़ा बन गया, उन दोनों के समागम से जो सन्तान उत्पन्न हुई उसका नाम 'अश्विनीकुमार' वा 'नासत्या' है ॥

इसी प्रसङ्ग में यह भी लिखा है कि विवस्वान्रूप पिता तथा सरण्युरूप माता से पहले पहल जो सन्तान उत्पन्न हुई उसका नाम यम यमी था अर्थात् यम भाई और यमी बहिन थी, और दोनों के विवाह का उल्लेख भी है ॥

उपर्युक्त मन्त्र से यह कथा घड़ना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि वास्तव में कोई विवस्वान् पिता और न कोई सरण्यु माता थी, यह अलङ्कार है जिसको आधुनिक टीकाकारों ने न समझ कर कुछ का कुछ लिख दिया है, विवस्वान् नाम सूर्य्य और सरण्यु नाम प्रकृति का है, जब कालक्रम से सूर्य्यद्वारा प्रकृति में संसाररूप सन्तति उत्पन्न होती है तब प्रथम उसमें यम=काल और यमी=वृद्धि इन दोनों का जोड़ा उत्पन्न होता है, किसी पदार्थ को वृद्धिकाल में भोगना पाप है इसलिये इसके भोगने का निषेध किया है और इसी अलङ्कार द्वारा यह भी दर्शाया है कि एक कुल में उत्पन्न हुए भाई बहिन का विवाह निषिद्ध है, अस्तु, हम इस अलङ्कार का वर्णन यम

यमी सूक्त में विस्तारपूर्वक करेंगे, यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि अश्विनीकुमारों की उत्पत्तिविषयक इस कथा का मन्त्र में लेश भी नहीं ॥ २ ॥

इदानीं तेषां सत्यवादिनां विदुषामुपदेशमाह—

अब उन सत्यवादी विद्वानों का उपदेश कथन करते हैं—

उदु स्तोमा॑सो अ॒श्विनो॑रबुध्रञ्जा॒मि ब्रह्मा॑ण्यु॒षस॑श्च दे॒वीः ।
आ॒वि॒वा॑स॒न्रोद॑सी धिष्ण्ये॒मे अच्छा॒ विप्रो॒ नास॑त्या विवक्ति ॥३॥

उत् । ऊँ इति॑ । स्तोमा॑सः । अ॒श्विनोः॑ । अ॒बु॒ध्र॒न् । जा॒मि । ब्रह्मा॑णि । उ॒षसः॑ । च॒ । दे॒वीः । आ॒ऽवि॒वा॑स॒न् । रोद॑सी इति॑ । धिष्ण्ये॒ इति॑ । इ॒मे इति॑ । अच्छ॑ । विप्रः॑ । नास॑त्या । वि॒व॒क्ति॒ ॥३॥

पदार्थः—(अश्विनोः) अध्यापकास्तथोपदेशकाः (अबुध्रन्) सर्वान् बोधयन्ति यत् (जामि) हे संबन्धिनो जनाः ! यूयं (उषसः) उषःकाले (ब्रह्माणि, देवी) वेदवाणीः (आविवासन्) समभ्यस्यत, (उत) अन्यच्च (इमे) इमानि (स्तोमासः) वैदिक-स्तोत्राणि (अच्छ) सम्यक् (रेदसी) द्युलोकपृथिव्योर्मध्ये (धिष्ण्ये) विस्तारयत, (च) तथा च विप्रः मेधावी पुरुषः (नासत्या) सत्यवादिनो जनान् (विवक्ति) उपदिशति (ऊ) इति पादपूरणार्थः ॥

पदार्थ—(अश्विनोः) अध्यापक तथा उपदेशक (अबुध्रन्) बोधन करते हैं कि (जामि) हे सम्बन्धिजनो ! तुम लोग (उषसः) उषाकाल में (ब्रह्माणि, देवीः) वेद की दिव्यवाणी का (आविवासन्) अभ्यास करो (उत्) और (इमे) इन (स्तोमासः) वेद के स्तोत्रों को (अच्छ) भलीभाँति (रोदसी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक के मध्य (धिष्ण्ये) फैलाओ (च) और (विप्रः) मेधावी पुरुष (नासत्या, विवक्ति) सत्यवादी विद्वानों को उपदेश करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वज्जनो ! तुम लोग ब्रह्ममुहूर्त्त में वेद की पवित्र वाणी का अभ्यास करते हुए वैदिक स्तोत्रों का उच्च स्वर से पाठ करो और वेद के ज्ञाता पुरुषों को उचित है कि वह विद्वानों को इस वेद वाणी का उपदेश करें ताकि अज्ञान का नाश होकर ज्ञान की वृद्धि हो ॥ ३ ॥

अथोपदेशसमय उपदिश्यते—

अब अध्यापक तथा उपदेशकों के लिये उपदेश का काल कथन करते हैं—

वि चेदु॒च्छन्त्य॑श्विना उ॒षासः॒ प्र वां॒ ब्रह्मा॑णि का॒रवो॑ भरन्ते ।
ऊ॒र्ध्वं भा॒नुं स॑वि॒ता दे॒वो अ॑श्रेद्बृ॒हद॒ग्नयः॑ स॒मिधा॑ जरन्ते ॥४॥

वि । चेत् । इत् । उ॒च्छन्ति । अ॒श्वि॒ना॒ । उ॒षसः॑ । प्र । वा॒म् । ब्रह्मा॑णि । का॒रवः॑ । भ॒र॒न्ते॒ । ऊ॒र्ध्वम् । भा॒नुम् । स॒वि॒ता । दे॒वः । अ॒श्रे॒त् । बृ॒हत् । अ॒ग्नयः॑ । स॒म्ऽइधा॑ । ज॒र॒न्ते॒ ॥४॥

पदार्थः—(अश्विनौ) हे अध्यापकाः, तथोपदेशकाः ! (चेत्) यदा (सविता, देवः) सर्वोत्पादकः परमात्मा (भानुं) सूर्य्यम् (ऊर्ध्वं, अश्रेत्) उपरिष्टाद् उदयं

कारयति, यदा (उषसः उच्छन्ति) उषसः प्रकाशो भवति, यस्मिन्काले (बृहत्, अग्नयः) महान्तोऽग्नयः (समिधा, जरन्ते) समिद्भिः दीप्यन्ते अथच यदा (कारवः) स्तोतारः (ब्रह्माणि) वेदान् (प्रभरन्ते) पठन्ति तदा (वां) यूयं ब्रह्मज्ञानम् उपदिशत ।।

पदार्थ—(अश्विनौ) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (चेत्) जब (वि) विशेषतया (सविता, देवः) परमात्म देव (भानुं) सूर्य्य को (ऊर्ध्वं, अश्रेत्) ऊपर को आश्रय = उदय करता (उच्छन्ति, उषसः) जब उषाकाल का विकास होता, जब (बृहत्, अग्नयः) बड़ी अग्नि (समिधा, जरन्ते) समिधाओं द्वारा प्रज्वलित की जाती, और जब (कारवः) स्तोता लोग (ब्रह्माणि) वेद को (प्र, भरन्ते) भले प्रकार धारण करते हैं, उस काल में (वां) आप लोग ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मदेव उपदेश करते हैं कि हे विद्वान् उपदेशको ! आपका कर्तव्य यह है कि आप प्रातः सूर्य्योदय काल में जब प्रजाजन अग्निहोत्र करते तथा स्तोता लोग वेद का पाठ करते हैं उस काल में अज्ञान का मार्जन करके जिज्ञासुओं को सत्योपदेश करो जिससे वह विद्याध्ययन तथा वेदोक्त कर्तव्य पालन में सदा तत्पर रहें, इस मन्त्र में परमात्मा ने ब्रह्मविद्याध्ययन का सूर्योदय काल ही बतलाया है अर्थात् यह उपदेश किया है कि प्रजाजन उषाकाल में निद्रा से निवृत होकर शरीर को शुद्ध करके सन्ध्या, अग्निहोत्र के पश्चात् ब्रह्मविद्या के अध्ययन तथा उपदेश श्रवण में तत्पर हों ।। ४ ।।

अथ विद्वदुपदेशकैः कल्याणं कर्तुमुपदिशति—

अब विद्वान् उपदेशकों द्वारा मनुष्यमात्र का कल्याण कथन करते हैं:—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् ।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

आ । पश्चातात् । नासत्या । आ । पुरस्तात् । आ । अश्विना । यातं । अधरात् । उदक्तात् । आ । विश्वतः । पाञ्चऽजन्येन । राया । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः ! भवन्तः (आ, पश्चातात्) प्रतीच्याः (आ, पुरस्तात्) पूर्वस्याः (अधरात्) अधस्तात् (उदक्तात्) उपरिष्टात् किं बहुना (आ, विश्वतः) सर्वतः (पाञ्चजन्येन) पञ्चविधमनुष्याणां हितं (राया) धनेन वर्द्धयन्तु अथ (अश्विनो) हे अध्यापकोपदेशकाः ! यूयं पञ्चप्रकारान् जनान् (आयातं) प्राप्नुत प्राप्य च इदं प्रार्थयत "हे परमात्मन्, (यूयं) भवान् (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) शुभप्रदाभिः वाग्भिः (नः) अस्माकमैश्वर्य्यं (पात) रक्षतु" ।।

पदार्थ—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! तुम लोग (आ, पश्चातात्) भले प्रकार पश्चिम दिशा से (आ, पुरस्तात्) पूर्वदिशा से (अधरात्) नीचे की ओर से (उदक्तात्) ऊपर की ओर से (आ, विश्वतः) सब ओर से (पाञ्चजन्येन) पांचों प्रकार के मनुष्यों का (राया) ऐश्वर्य्य बढ़ाओ, और (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! आप लोग पांचों प्रकार के मनुष्यों को (आ) भले प्रकार (यातं) प्राप्त होकर सब यह प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् !

(यूयं) आप (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) मङ्गलरूप वाणियों द्वारा (नः) हमारे ऐश्वर्य्य को (पात) रक्षा करें ।।

भावार्थ—मन्त्र में जो "पञ्चजना" पद आया है वह वैदिक सिद्धान्तानुसार पांच प्रकार के मनुष्यों को वर्णन करता है अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पांचवे दस्यु जिनको 'निषाद' भी कहते हैं, वास्तव में वर्ण चार ही हैं परन्तु मनुष्यमात्र का कल्याण अभिप्रेत होने के कारण पांचवे दस्युओं को भी सम्मिलित करके परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे सत्यवादी विद्वानो ! आप लोग सब ओर से मनुष्यमात्र को प्राप्त होकर वैदिक धर्म का उपदेश करो जिससे सब प्रजाजन सुकर्मों में प्रवृत होकर ऐश्वर्य्यशाली हों ।।

तात्पर्य्य यह है कि जो पुरुष सदा विद्वानों की संगति में रहते और जिनको विद्वज्जन सब ओर से आकर प्राप्त होते हैं वह पवित्र भावोंवाले होकर सदा ऐश्वर्य्य सम्पन्न हुए सङ्गति को प्राप्त होते हैं ।।

यहाँ "**पञ्चजना**" शब्द से यह भी है कि जिनमें गुण, कर्म, स्वभाव से कोई वर्ण स्थिर नहीं किया जा सकता था उनको दस्यु वा निषाद कहते थे, क्योंकि वेद में चारों वर्णों का वर्णन स्पष्ट है, इससे सिद्ध है कि आर्यों में वर्णव्यवस्था वैदिक समय से गुणकर्मानुसार मानी जाती थी, जन्म से नहीं ।

जिन लोगों का यह कथन है कि सनातन समय में वर्णव्यवस्था जन्म पर निर्भर थी, यह सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि "**ब्रह्मा देवानां पदवीं**" ।। **ऋ० मं० ९।९६** ।। और "**तमेम ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुः**" ।। ऋ० म० १०।१०७।। इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट है कि ब्रह्मा, ऋषि वा ब्राह्मणत्वादि धर्म वेद में सब गुणकर्मानुसार माने गये हैं, जन्म से नहीं ।।

और जो लोग यह कहते हैं कि वैदिक समय में वर्णव्यवस्था थी ही नहीं और पुरुष-सूक्तादि स्थल जिनमें वर्णव्यवस्था पाई जाती है वह पीछे से मिलाये गये हैं; यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि पुरुषसूक्त पीछे से मिलाया हुआ होता तो किसी एक वेद में होता परन्तु चारों वेदों में पाये जाने और "पञ्चजना" आदि शब्दों से पांच प्रकार के मनुष्यों का ग्रहण होने से स्पष्ट है कि "**ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्**" ।। **यजु० ३१।१४**।। इत्यादि मन्त्रों में परमात्मा ने गुण-कर्मानुसार वर्णों का विभाग किया है, जन्मानुसार नहीं और यह भाव पुरुषसूक्त में स्पष्ट है अथवा इसके अर्थ ये भी हैं कि जो लोग प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान इन पांचों में होनेवाली प्राणविद्या के ऐश्वर्य्य को जाननेवाले योगीजन हैं उनसे शिक्षा लेने का विधान उक्त मन्त्र में है । वर्णविषयक जो इस मन्त्र के अर्थ हैं, वे आधिभौतिक हैं और प्राणविद्याविषयक जो अर्थ किये हैं वे आध्यात्मिक हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं ।।५।।

७२ वाँ सूक्त और १९ वाँ वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथ पञ्चर्चस्य त्रिसप्ततिमस्य सूक्तस्य—
१–५ वसिष्ठ ऋषिः । अश्विनौ देवते ।
छन्दः–१,५ विराट् त्रिष्टुप् । २,३,४ निचृत् त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अथ विदुषो याज्ञिको भवितुं प्रार्थयते—

अब यज्ञविद्या जाननेवाले विद्वानों से याज्ञिक बनने के लिये प्रार्थना कथन करते हैं—

अतारिष्म तमसस्पारमस्य प्रति स्तोमं देवयन्तो दधानाः ।
पुरुदंसा पुरुतमा पुराजामर्त्या हवते अश्विना गीः ॥१॥

अतारिष्म । तमसः । पारं । अस्य । प्रतिं । स्तोमं । देवऽयन्तः । दधानाः । पुरुऽदंसा । पुरुऽतमा । पुराऽजा । अमर्त्या । हवते । अश्विना । गीः ॥१॥

पदार्थः—(अश्विना) हे यज्ञविद्यावेत्तारो विद्वांसः ! भवन्तः अस्मान् (अस्य) एतस्य संसारस्य (तमसः) अज्ञानात् (पारं) पारं (अतारिष्म) गमयन्तु, (स्तोमं, प्रति, देवयन्तः) इमं ब्रह्मयज्ञं कामयमाना वयं (दधानाः) उत्तमगुणान् धारयाम, (गीः) अस्माकं वाक् पवित्रा भवतु किंच वयं (पुरुदंसा) कर्मकाण्डिनः, (पुरुतमा) उत्तमगुणवन्तः, (पुराजा) प्राचीनाः (अमर्त्या) मरणादिदुःखरहिताः सन्तः (हवते) यज्ञं करवाम ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे यज्ञविद्या जाननेवाले विद्वानो ! आप लोग हमको (अस्य) इस संसार के (तमसः, पारं) अज्ञानरूप तम से पार (अतारिष्म) तरायें, (प्रति, स्तोमं, देवयन्तः) इस ब्रह्मयज्ञ की कामना करते हुए हम लोग (दधानाः) उत्तम गुणों को धारण करें, (गीः) हमारी वाणी पवित्र हो, और हम (पुरुदंसा) कर्मकाण्डी, (पुरुतमा) उत्तम गुणोंवाले, (पुराजा) प्राचीन, और (अमर्त्या) मृत्युराहित्यादि सद्गुणों को धारण करते हुए (हवते) यज्ञकर्म में प्रवृत्त रहें ॥

भावार्थ—हे यजमानो ! तुम लोग यज्ञविद्या जाननेवाले विद्वानों से याज्ञिक बनने के लिए जिज्ञासा करो और उनसे यह प्रार्थना करो कि आप हमको याज्ञिक बनायें जिससे हम इस अविद्यारूप अज्ञान से निवृत्त होकर ज्ञानमार्ग पर चलें, हम उत्तम गुणों के धारण करनेवाले हों और अन्ततः हमको मुक्तिपद प्राप्त हो, क्योंकि यज्ञ ही मुक्ति का साधन है और याज्ञिक पुरुष ही चिरायु होकर अमृत पद को प्राप्त होते हैं, यह यों कहो कि जो पुरुष कर्म तथा ज्ञान दोनों साधनों से जिज्ञासा करता है वही अमृत रूप पद का अधिकारी होता है, इसलिए मुक्ति की इच्छावाले पुरुषों को सदा ही यज्ञ का अनुष्ठान करना श्रेयस्कर है ॥१॥

न्युं प्रियो मनुषः सादि होता नासत्या यो यजते वन्दते च ।
अश्नीतं मध्वो अश्विना उपाक आ वां वोचे विदथेषु प्रयस्वान् ॥२॥

नि । ऊं इति । प्रियः । मनुषः । सादि । होता । नासत्या । यः । यजते । वन्दते । च । अश्नीतं । मध्वः । अश्विनौ । उपाके । आ । वां । वोचे । विदथेषु । प्रयस्वान् ॥२॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिनो विद्वांसः ! (यः) जो (होता) जिज्ञासुः (यजते) यज्ञं करोति (वन्दते, च) स्तौति च, सः (प्रियः) परमात्मप्रियः (मनुषः) मनुष्यः (निसादि) तत्रैव स्थितिं लभते लब्ध्वा च (मध्वं) मधुविद्यारसं (अश्नीतं) अनुभवति । (अश्विना) हे अध्यापकोपदेशकौ ! स पुरुषः (विदथेषु) यज्ञेषु (प्रयस्वान्) अन्नादिकं दत्त्वा (वां) युष्मान् (आ, वोचे) आह्वयति (उपाके) भवत्समीपे स्थितो ब्रह्मविद्यां लभते ॥

पदार्थ—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! (यः) जो (होता) जिज्ञासु (यजते) यज्ञ करता (च) और (वन्दते) वन्दना करता है वह (प्रियः) परमात्मा का प्रिय (मनुषः) पुरुष (नि,

सादि) उसी में स्थित होकर (अश्नीतं, मध्वं) मधुविद्या का रस पान करता अर्थात् मधुविद्या का जाननेवाले होता है। (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! वह पुरुष (विदथेषु) यज्ञों में (प्रयस्वान्) अन्नादि पदार्थों का पान करके (वां) तुम्हारा (वोचे) आह्वान करता (आ) और (उपाके) तुम्हारे समीप स्थिर होकर ब्रह्मविद्या का लाभ करता है ।।

भावार्थ—जो पुरुष यज्ञादि कर्म करता हुआ परमात्मा की उपासना में प्रवृत रहता है वह परमात्मा का प्रिय पुरुष परमात्माज्ञापालन करता हुआ मधुविद्या का रसपान करनेवाला होता है, मधुविद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन **"बृहदारण्यकोपनिषद्"** में किया गया है, विशेष जाननेवाले वहाँ देखलें, यहाँ विस्तारभय से उद्धृत नहीं किया, वही पुरुष ऐश्वर्यशाली होकर यज्ञों में दान देनेवाला होता, वही विद्वानों का सत्कार करनेवाला होता और वही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है, इससे सिद्ध है कि याज्ञिक पुरुष ही ब्रह्म का समीपी होता है, अन्य नहीं ।।२।।

अथ याजकाः वेदाध्ययनं कुर्युरित्युपदिश्यते—

अब परमात्मा यज्ञकर्त्ता पुरुष को वेदाध्ययन का विधान करते हैं—

अहेम यज्ञं पथामुराणा इमां सुवृक्तिं वृषणा जुषेथाम् ।
श्रुष्टीवेव प्रेषितो वामबोधि प्रति स्तोमैर्जरमाणो वसिष्ठः ।।३।।

अहेम । यज्ञं । पथां । उराणाः । इमां । सुऽवृक्तिं । वृषणा । जुषेथां ।
श्रुष्टीवाऽइव । प्रऽईषितः । वां । अबोधि । प्रति । स्तोमैः । जरमाणः । वसिष्ठः ।।३।।

पदार्थः—(उराणाः) हे वेदवाग्वक्तारो विद्वांसः ! यूयम् (इमां, सुवृक्तिं) इमां सुन्दरीं गिरं (जुषेथां) सेवध्वम् (यज्ञं, पथां) यज्ञमार्गम् (अहेम) वर्द्धयत, अन्यच्च (वसिष्ठः) सर्वोत्तमगुणसंपन्नः, (श्रुष्टीवेव, प्रेषितः) सर्वव्यापकः (वृषणा) समस्त-मनोरथपूरकश्च परमात्मा (स्तोमैः, जरमाणः) यो वेदवाणिविर्वर्ण्यत, सः (वां, प्रति) युष्मान् (अबोधि) बोधयतु ।।

पदार्थ—(उराणाः) हे वेदवाणियों के वक्ता याज्ञिक लोगो ! तुम (इमां, सुवृक्तिं) इस सुन्दर वाणी को (जुषेथां) सेवन करते हुए (यज्ञं, पथां, अहेम) यज्ञ के मार्ग को बढ़ाओ, और (वसिष्ठः) सर्वोत्तम गुणोंवाला (श्रुष्टीवेव, प्रेषितो) सर्वत्र व्यापक और (वृषण) सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाला परमात्मा (स्तोमैः, जरमाणाः) जो वेदवाणियों द्वारा वर्णन किया जाता है वह (वां, प्रति) तुम्हारे प्रति (अबोधि) बोधन करे ।।

भावार्थ—इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है अर्थात् यज्ञनिधि परमात्मा याज्ञिक लोगों को उपदेश करते हैं कि तुम लोग वेदों का अध्ययन करते हुए यज्ञ की वृद्धि करो अर्थात् यज्ञ के सूक्ष्मांशों को वेद के अभ्यास द्वारा जानकर यज्ञ विषयक उन्नति में प्रवृत्त होओ, और सर्वगुण-सम्पन्न तथा सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले परमात्मा की उपासना करते हुए प्रार्थना करो कि वह हमारी इस कामना को पूर्ण करे ।।३।।

अब दुष्टेभ्यः स्वं रक्षितुमुपदिशति—

अब दुष्टों से रक्षार्थ उपदेश करते हैं:—

उप त्या वह्नी गमतो विशं नो रक्षोहणा संभृता वीळुपाणी ।
समन्धांस्यग्मत मत्सराणि मा नो मर्धिष्टमा गतं शिवेन ।।४।।

उप॑ । त्या । वह्नी इति॑ । गमतः॑ । विशं॑ । नः रक्षःऽहना॑ । संऽभृता । वीळुपाणी इति॑ वीळुऽपाणी । सं । अन्धांसि । अग्मत । मत्सराणि । मा । नः । मर्धिष्टं । आ । गतं । शिवेन ॥४॥

पदार्थः—(रक्षोहणा) हे राक्षसहन्तारः (वीळुपाणी) दृढभुजावन्तः (संभृता) उत्तमगुणसम्पन्ना विद्वांसः ! (त्या) ते यूयं (नः) अस्माकं (विशं) प्रजाः (गमतः) सम्प्राप्य (वह्नी) प्रदीप्ताग्नौ (अन्धासि) हव्यानि (उप, अग्मत) जुहुत, (मा, मत्सराणि) मादकैर्द्रव्यैर्मा रक्षत, (सं, मर्धिष्टं) मा पीडयत (शिवेन) कल्याणरूपेण (आगतं) मां सदा प्राप्नुत ॥

पदार्थ—(रक्षोहणा) हे राक्षसों के हन्ता (वीळुपाणी) दृढ भुजाओंवाले विद्वानो ! (त्या) आप लोग (संभृता) उत्तम गुण सम्पन्न (नः) हमारी (विशं) प्रजा को (गमतः) प्राप्त होकर (वह्नी) प्रज्वलित अग्नि में (उप) भले प्रकार (अन्धांसि, अग्मत) उत्तमोत्तम हवि प्रदान करते हुए (मा, मत्सराणि) मदकारक द्रव्यों से हमारी रक्षा करें (नः) हमारी (सं, मर्धिष्टं) किसी प्रकार भी हिंसा न करें (शिवेन) कल्याणरूप से (आगतं) हमको सदा प्राप्त हों ॥

भावार्थ—हे शूरवीर विद्वानो ! आप लोग धार्मिक प्रजा को प्राप्त होकर उत्तमोत्तम पदार्थों से नित्य यज्ञ कराओ, प्रजा को सदाचारी बनाओ, मदकारक द्रव्यों से उन्हें बचाओ, उनमें अहिंसा का उपदेश करो और दुष्ट राक्षसों से सदा उनकी रक्षा करते रहो जिससे उनके यज्ञादि कर्मों में विघ्न न हो अर्थात् आप लोग प्रजा को सदा ही कल्याणरूप से प्राप्त हों ॥४॥

अथ समष्टिरूपेणोन्नतिः कर्तव्या इत्युपदिशति—

अब परमात्मा समष्टिरूप से उन्नति करने का उपदेश करते हैं—

आ पश्चातान्नासत्या पुरस्तादाश्विना यातमधरादुदक्तात् ।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

आ । पश्चातात् । नासत्या । आ । पुरस्तात् । आ अश्विना । यातं । अधरात् । उदक्तात् । आ । विश्वतः । पाञ्चऽजन्येन । राया । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादिनौ अध्यापकोपदेशकौ ! युवां (आ, पश्चातात्) पश्चिमदिशा (आ, पुरस्तात्) पूर्वतः (अधरात्) अधस्तात् (उदक्तात्) उपरिष्टात् (आ, विश्वतः) किं बहुना समन्तात् (पाञ्चजन्येन) पञ्चविधमनुष्यहितकारकं (राया) धनं वर्द्धयतम् अथ च (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ, भवन्तौ पञ्चविध-मनुष्यान् (आयातं) प्राप्य सर्वे मिलित्वा इदं प्रार्थयन्तां यत् हे भगवन् ! (यूयं) भवान् (सदा) सर्वदा (स्वस्तिभिः) माङ्गलिकैर्वचोभिः (नः) अस्मान् (पात) रक्ष ॥

पदार्थ—(नासत्या) हे सत्यवादी अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम लोग (आ, पश्चातात्) भले प्रकार पश्चिम दिशा से (आ, पुस्ततात्) पूर्वदिशा से (अधरात्) नीचे की ओर से (उदक्तात्) ऊपर की ओर से (आ, विश्वतः) सब ओर से (पाञ्चजन्येन) पांचों प्रकार के मनुष्यों का (राया) ऐश्वर्य्य बढ़ाओ और (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! आप लोग पांचों

प्रकार के मनुष्यों को (आ) भले प्रकार (यात) प्राप्त होकर सब यह प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! (यूयं) आप (सदा) सदा (स्वस्तिभिः) मङ्गलरूप वाणियों द्वारा (नः) हमको (यात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—मन्त्र में "पञ्चजना" शब्द से ब्राह्मणादि चारों वर्ण और पांचवें दस्युओं से तात्पर्य है, जैसा कि पीछे लिख आये हैं। परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको ! आप लोग सब ओर से सम्पूर्ण प्रजा को प्राप्त होकर अपने उपदेशों द्वारा मनुष्य मात्र की रक्षा करो और सब यजमान मिलकर कल्याणरूप वेदवाणियों से यह प्रार्थना करो कि हमारे उपदेशक हमको अपने सदुपदेशों से सदा पवित्र करें ।।

जो मनुष्य अध्यापक तथा उपदेशकों द्वारा सदैव उत्तमोत्तम गुणों को उपलब्ध करते और वेदवाणियों से अपने आपको पवित्र करते रहते हैं वे सदाचारी होकर सदैव उन्नतिशील होते हैं ।।५।।

७३ वाँ सूक्त और २०वाँ वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ षडृचस्य चतुःसप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१—६ वसिष्ठ ऋषिः ।। अश्विनौ देवते ।। छन्दः—१, ३ निचृद् बृहती । २, ४, ६ आर्षी भुरिग् बृहती । ५ आर्षी बृहती ।। मध्यमः स्वरः ।।

अथ परमात्मा विद्युदग्निविद्याविदामुपदेशकानां प्रचारमुपदिशति—

अब परमात्मा विद्युत् तथा अग्निविद्यावेत्ता उपदेशकों का सर्वत्र प्रचार करना कथन करते हैं—

इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथः ।।१।।

इमाः । ऊं इति । वां । दिविष्टयः । उस्रा । हवन्ते । अश्विना । अयं । वां । अह्वे । अवसे । शचीवसू इति शचीऽवसू । विशंऽविशं । हि । गच्छथः ।।१।।

पदार्थः—(शचीवसू) विद्युदग्निविद्याविदः (अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ ! (दिविष्टयः) स्वर्गकामाः (उस्रा) यजमाना (वां) युष्मान् (हवन्ते) आह्वयन्ते, अतो यूयं (इमाः) इमाविद्याः (वां) तान् उपदिशत (उ) अथ च (हि) निश्चयेन (गच्छथः) पर्य्यटन्तः (विशंविशं) प्रतिमनुष्यं विद्वांसं कुरुत, येन (अयं) एते (अवसे) आत्मानं रक्षन्तु (अह्वे) युष्मान् आह्वयन्तु च ।।

पदार्थ—(शचीवसू) विद्युत् तथा अग्निविद्या में कुशल (अश्विना) अध्यापक तथा उपदेशको ! (दिविष्टय) स्वर्ग की कामनावाले (उस्रा) यजमान (वां) तुम्हारा (हवन्ते) आह्वान करते हैं, तुम (इमाः) इस विद्या का (वां) उनको उपदेश करो (उ) और (हि) निश्चय करके (गच्छथः) गमन करते हुए (विशं विशं) प्रत्येक प्रजा को विद्वान् बनाओ जिससे (अयं) यह (अवसे) अपनी रक्षा करें, और (अह्वे) तुम्हारा आह्वान करते रहें ।।

भावार्थ—हे विद्वानो ! तुम सुख की इच्छावाले यजमानों को प्राप्त होकर उनको विद्युत् तथा अग्निविद्या का उपदेश करो जिससे वह कला कौशल बनाने में प्रवीण हों और प्रत्येक स्थान में घूम-घूम कर प्रजाजनों को इस विद्या का उपदेश करो जिससे वह कलायन्त्र बनाकर ऐश्वर्य्यशाली हों, या यों कहो कि प्रजाजनों में विज्ञान और ऐश्वर्य्य का उपदेश करो जिससे उनके शुभ मनोरथ पूर्ण हों ॥ १ ॥

युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते ।
अर्वाग्रथं समनसा नि यच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥

युवं । चित्रं । ददथुः । भोजनं । नरा । चोदेथां । सूनृताऽवते । अर्वाक् । रथं । सऽमनसा । नि यच्छतं । पिबतं । सोम्यं । मधु ॥२॥

पदार्थः—(युवं) हे विद्वांसः ! यूयं (चित्रं, भोजनं) विविधानि भोजनानि भक्षयत । (नरा) सर्वाः प्रजाः (सूनृतावते) सुन्दरस्तोत्रेषु युष्मान् (चोदेथां) प्रेरयन्तु, यतो भवन्तः (अर्वाक्) तेषां समक्षं (रथं) सुवेदगिरः (समनसा) स्वभावेन (नियच्छतं) प्रयुञ्जानाः (सोम्यं) सुन्दरं (मधु) रसं (पिबतं) पिबन्तु ॥

पदार्थ—(युवं) हे विद्वानो ! तुम (चित्रं, भोजनं) नाना प्रकार के भोजन (ददथुः) धारण = भक्षण करो (नरा) सब प्रजाजन (सूनृतावते) सुन्दर स्तोत्रों में (चोदेथां) तुम्हें प्रेरित करें, ताकि तुम (अर्वाक्, रथं) उनके सम्मुख उत्तम वेदवाणियों को (समनसा) अच्छे भावों से (नि यच्छतं) प्रयोग करते हुए (सोम्यं) सुन्दर (मधु, पिबतं) मीठे रसों का पान करो ।

भावार्थ—हे यजमानो ! तुम विद्वान् उपदेशकों को नाना प्रकार के भोजन और मीठे रसों का पान कराके प्रसन्न करो ताकि वह सुन्दर वेदवाणियों का तुम्हारे प्रति उपदेश करें और वह तुम्हारे सम्मुख मानस यज्ञों द्वारा अनुष्ठान करके तुम्हें शान्ति का मार्ग बतलायें जिससे तुम लोग परस्पर एक दूसरे की उन्नति करते हुए प्रजा में धर्म का प्रचार करो ॥२॥

अथ जलविद्याविदमुपदेशकं सत्कर्तुमुपदिशति—

अब जलविद्या के जाननेवाले उपदेशकों का सत्कार कथन करते हैं—

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम् ॥३॥

आ । यातं । उप । भूषतं । मध्वः । पिबतं । अश्विना । दुग्धं । पयः । वृषणा । जेन्यावसू इति । मा । नः । मर्धिष्टं । आ । गतं ॥३॥

पदार्थः—(अश्विना) अध्यापकोपदेशकौ, (आयातं) मद्यज्ञम् आगत्य (उपभूषतं) सुशोभयतं, (आगतं) शीघ्रमागच्छतम्, (मध्वः, पिबतं) मधुरसं पिबतम् । (जेन्यावसू) हे धनं जेतारौ, युवां (वृषणा) सर्वकामप्रदाः स्थः । (पयः, दुग्धं) वृष्टिद्वारेण दुग्धं (नः) अस्माकमैश्वर्य्यं (मा मर्धिष्टं) मानीनशतम् ॥

पदार्थ—(अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (आयातं) आप हमारे यज्ञ को आकर (उप, भूषतं) भले प्रकार सुशोभित करें (आगतं) शीघ्र आयें (मध्वः, पिबतं) मधुरस का पान

करें (जेन्यावसू) हे धनों के जय करनेवाले आप (वृषणा) सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं (पयः, दुग्धं) वृष्टि द्वारा दुहे हुए (नः) हमारे ऐश्वर्य्य को (मर्धिष्टं, मा) हनन मत करो।

भावार्थ—हे जलविद्या के जाननेवाले अध्यापक तथा उपदेशको ! आप शीघ्र आकर हमारे यज्ञ को सुशोभित करें अर्थात् हमारे यज्ञ में पधार कर हमें जलों की विद्या में निपुण करें ताकि हम अपने ऐश्वर्य्य को बढ़ावें, हम आपका मधु आदि उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करते हैं, आप सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले धन के स्वामी हैं, कृपा करके हमारे उपार्जन किये हुए धन का नाश न करें किन्तु हमारी वृद्धि करें जिससे हम यज्ञादि धर्म कार्यों में प्रवृत्त रहें ।।३।।

अश्वासो ये वामुप दाशुषो गृहं युवां दीयन्ति बिभ्रतः ।
मक्षूयुभिर्नरा हयेभिरश्विना देवा यातमस्मयू ।।४।।

अश्वासः । ये । वां । उप । दाशुषः । गृहं । युवां । दीयन्ति । बिभ्रतः । मक्षुयुऽभिः नरा । हयेभिः । अश्विना । आ । देवा । यातं । अस्मयू इत्यस्मऽयू ।।४।।

पदार्थः—(देवा) हे दिव्यगुणवन्तः (अश्विना) विद्वांसः ! (युवाम्) भवन्तः (अस्मयू) अस्मद्यज्ञे (आयातम्) आगच्छन्तु (नरा) अध्यापकास्थोपदेशकाः (वां) यूयम् (मक्षुयुभिः) शीघ्रगामिभिः (हयेभिः) अश्वैरागत्य (दाशुषः) यजमानस्य गृहम् (दीयन्ति) दीपयन्त (ये) विद्वांसः (अश्वासः) कर्मकाण्डिनो गृहस्थधर्मं धारयन्तश्च ते एवमागत्य यजमानानुपदिशन्तु ।

पदार्थ—(देवा) हे दिव्यगुणसम्पन्न (अश्विना) विद्वानो ! (युवां) आप (अस्मयू) हमारे यज्ञ में (आयातं) आयें (नरा) हे अध्यापक तथा उपदेशको (वां) आप लोग (मक्षुयुभिः) शीघ्रगामी (हयेभिः) घोड़ों द्वारा (उप) आकर (दाशुषः, गृहं, दीयन्ति) यजमानों के घरों को दीप्तिमान् करें (ये) जो (अश्वासः) कर्मकाण्डी और (बिभ्रतः) गृहस्थधर्मों के धारण करनेवाले हैं ।

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि कर्मकाण्डी तथा वेदानुयायी सद्गृहस्थ यजमानों को चाहिये कि वह विद्वान् उपदेशकों को अपने गृह में बुलाकर उनकी खानपानादि से भले प्रकार सेवा करके उनसे नर, नारी सदुपदेश ग्रहण करके अपने जीवन को पवित्र करें और उन विद्युदादिविद्यावेत्ता विद्वानों से शीघ्र गतिवाले यानादि की शिक्षा प्राप्त करके ऐश्वर्य्य सम्पन्न हों ।।४।।

अथ विद्वद्भ्यो, यशोग्रहणं, ऐश्वर्यं, चोपदिश्यते—

अब विद्वानों से यश और ऐश्वर्य्य ग्रहण करने का उपदेश कथन करते हैं—

अधा ह यन्तो अश्विना पृक्षः सचन्त सूरयः ।
ता यंसतो मघवद्भ्यो ध्रुवं यशश्छर्दिरस्मभ्यं नासत्या ।।५।।

अध । ह । यन्तः । अश्विना । पृक्षः । सचन्त । सूरयः । ता । यंसतः । मघवत्ऽभ्यः । ध्रुवं । यशः । छर्दिः । अस्मभ्यम् । नासत्या ।।५।।

पदार्थः—(नासत्या) हे सत्यवादि विद्वांसो ! यूयम् (अस्मभ्यम्) अस्मदर्थम् (यशश्छर्दिः) उन्नतिप्रदं गृहं दत्त अन्यच्च (मघवद्भ्यः) अन्नवद्भ्यो विद्वद्भ्यः (पृक्षः)

अन्नाद्यैश्वर्यं प्राप्यताम् (ता) भवन्त: (ध्रुवं) दार्ढ्यम् प्रयच्छन्तु यतो वयं शूरवीरतां सम्पाद्य (सचन्त) सङ्गता भवेम (अधा ह) अथ च अस्मभ्यं सत्योपदेशं प्रददतु ।।

पदार्थ—(नासत्या) हे सत्यवादी विद्वानो ! आप (अस्मभ्यं) हम लोगों को (यशः, छर्दिः) यश उत्पन्न करनेवाले स्थान दें (मघवद्भ्यः) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न विद्वानो ! हमें आपकी कृपा से (पृक्षः, यंसतः) अन्नादि ऐश्वर्य्य प्राप्त हों, और (ता) आप हमें (ध्रुवं) दृढ़ता प्रदान करें ताकि हम (सूरयः) शूरवीर बनकर (सचन्त) आप लोगों की सेवा में तत्पर रहें (अश्विना) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! आप (अध, यन्तः) हमको प्राप्त होकर सदुपदेश करें । (ह) यहाँ प्रसिद्धार्थ का वाचक है ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यश तथा ऐश्वर्य्य की कामनावाले यजमानो ! तुम विद्वान् उपदेशकों को प्राप्त होकर उनसे सदुपदेश ग्रहण करते हुए यशस्वी और ऐश्वर्य्यशाली होओ और अपने व्रत में दृढ़ रहो अर्थात् ऐश्वर्य्यसम्पन्न होने पर भी अपने व्रत से कदापि विचलित न हो ।।५।।

प्र ये ययुरवृकासो रथा इव नृपातारो जनानाम् ।
उत स्वेन शवसा शूशुवुर्नर उत क्षियन्ति सुक्षितिम् ।।६।।

प्र । ये । ययुः । अवृकासः । रथाःऽइव । नृऽपातारः । जनानाम् । उत । स्वेन । शवसा । शूशुवुः । नरः । उत । क्षियन्ति । सुऽक्षितिम् ।।६।।

पदार्थः—(ये) ये यजमानाः (अवृकासः) सरलप्रकृतयः सन्तः (प्रययुः) वेदमार्गं प्राप्ताः, अन्यच्च (नृपातारः) नृणां रक्षितारः (रथा इव) यानानीव (उत) अन्यच्च (जनानां) प्रजानां स्वेन यशसा (शूशुवुः) सुशोभते (उत) अपरं च त एव नराः (सुक्षितिं) सुभूमिम् (क्षियन्ति) प्राप्नुवन्ति ।।

पदार्थ—(ये) जो यजमान (अवृकासः) कुटिलताओं को छोड़ कर (प्रययुः) वेदमार्ग को प्राप्त होते हैं वह (नृपातारः, रथा इव) राजाओं के रथ के समान सुशोभित होते (उत) और (जनानां) प्रजाओं को (स्वेन) अपने (शवसा) यश से (शूशुवुः) सुशोभित करते हैं (उत) और (नराः) वही मनुष्य (सुक्षितिं, क्षियन्ति) उत्तम भूमि को प्राप्त होते हैं ।।

भावार्थ—जो यजमान वेदमर्यादा पर चलते हुए अपने ऐश्वर्य्य को बढ़ाते हैं वह विजय-प्राप्त राजाओं के रथ के समान सुशोभित होते हैं अर्थात् जब राजा विजयी होकर अपने देश को आता है उस समय उसकी प्रजा उसका मान हार्दिक भावों से करती है इसी प्रकार प्रजा उन नरों का सत्कार अपने हार्दिक भावों से करती है, जो विद्वानों से उत्तम शिक्षा प्राप्त करके तदनुकूल अपने आचरण करते हैं, वही अपने यश से सुशोभित होकर प्रजा को सुशोभित करते और वही उत्तम भूमि को प्राप्त होते हैं ।।६।।

७४वाँ सूक्त और २१वां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ अष्टर्चस्य पञ्चसप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१–८ वसिष्ठ ऋषिः ।। उषा देवता ।। छन्दः—१, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ४, ५ विराट् त्रिष्टुप् । ३ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् । ६, ७ आर्षी त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अथ परमात्मनो महत्त्वं वर्णयन् ब्रह्ममुहूर्त्ते ब्रह्मोपासनं वर्ण्यते—

अब परमात्मा की महिमा का वर्णन करते हुए उषा = ब्रह्ममुहूर्त्त काल में ब्रह्मोपासना का विधान कथन करते हैं—

व्यु१॑षा आ॑वो दिवि॒जा ऋ॒तेना॑विष्कृण्वा॒ना म॑हि॒मान॒मागा॑त् ।
अप॒ द्रुह॒स्तम॒ आव॒रजु॑ष्टमङ्गि॒रस्त॑मा प॒थ्या॑ अजीगः ।।१।।

वि । उ॒षाः । आ॒वः॒ । दि॒वि॒ऽजाः । ऋ॒तेन॑ । आ॒विः॒ऽकृ॒ण्वा॒ना । म॒हि॒मान॑म् । आ । अ॒गा॒त् । अप॑ । द्रुहः॑ । तमः॑ । आ॒वः॒ । अजु॑ष्टम् । अङ्गि॑रःऽतमा । प॒थ्याः॑ । अ॒जी॒ग॒रिति॑ ।।१।।

पदार्थः—(उषाः) ब्रह्ममुहूर्त्तकाले सूर्यस्य विकाशः (दिविजाः) अन्तरिक्षं प्रकाशयन् (ऋतेन) स्वतेजसा (आविष्कृण्वाना) प्रकटो भूत्वा (महिमानम्, आ अगात्) परमात्मनो महिमानं दर्शयन् तथा (वि) विशेषतया (तमः) अन्धकारं (अपद्रुहः) दूरीकुर्वन् (आवः) प्रकाशितो भूत्वा (अङ्गिरस्तमा) मनुष्याणामालस्यम् निवर्तयन् (अजुष्टम्) परमात्मना योजयन् (पथ्याः, अजीगः) पथ्याय शुभमार्गाय प्रेरयति ।।

पदार्थ—(उषाः) उषा = ब्रह्ममुहूर्त्तकाल के सूर्य्य का विकाश (दिविजाः) अन्तरिक्ष को प्रकाशित करता हुआ (ऋतेन) अपने तेज से (आविष्कृण्वाना) प्रकट होकर (महिमानम्, आ अगात्) परमात्मा की महिमा को दिखलाता, और (वि) विशेषतया (तमः) अन्धकार को (अप, द्रुहः) दूर करता हुआ (आवः) प्रकाशित होकर (अङ्गिरस्तमा) मनुष्यों के आलस को निवृत्त करके (अजुष्टं) परमात्मा के साथ जोड़ता हुआ (पथ्याः, अजीगः) पथ्य = शुभमार्ग का प्रेरक होता है ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा की महिमा वर्णन करते हुए यह उपदेश किया है कि हे सांसारिक जनो ! तुम सूर्य्य द्वारा परमात्मा की महिमा का अनुभव करते हुए उनके साथ अपने आपको जोड़ो अर्थात् ब्रह्ममुहूर्त्तकाल में जब सूर्य्य द्युलोक को प्रकाशित करता हुआ अपने तेज से उदय होता है उस काल में मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह आलस को त्याग कर परमात्मा की महिमा को अनुभव करते हुए ऋत = सत्य के आश्रित हों, उस महान् प्रभु की उपासना में संलग्न हों और याज्ञिक लोग उसी काल में यज्ञों द्वारा परमात्मा का आह्वान करें अर्थात् मनुष्य मात्र को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें, जिससे सब प्राणी परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हुए सुखपूर्वक अपने जीवन को व्यतीत करें, यह परमात्मा का उच्च आदेश है ।।१।।

अब परमात्मा उषाकाल में सौभाग्य प्राप्ति तथा धन प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने का उपदेश करते हैं—

महे नो अद्य सुवितायं बोध्युषो महे सौभंगाय प्र यन्धि ।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम् ॥२॥

महे । नः । अद्य । सुवितायं । बोधि । उषः । महे । सौभंगाय । प्र यन्धि । चित्रं । रयिं । यशसं । धेहि । अस्मे इति । देवि । मर्तेषु । मानुषि । श्रवस्युम् ॥२॥

पदार्थः—(उषः) ब्राह्मे मुहूर्ते (बोधि) उत्थाय (सुविताय) अस्मै सुखाय प्रार्थय, हे परमात्मन् ! (महे) भवान् स्वमहत्तया (अद्य) अस्मिन् वर्तमाने दिने (नः) अस्मभ्यम् (महे, सौभगाय) महते सौभाग्याय (प्रयन्धि) प्राप्य (चित्रं, रयिं, यशसं, धेहि) नानाविधानि धनानि यशश्च प्रयच्छतु (देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन् ! (मर्तेषु) अस्मिन् मनुष्यलोके (अस्मे) अस्मान् (मानुषि) मनुष्याणां कर्मसु प्रवर्तयतु तथा चाहम् (श्रवस्युं) पुत्रपौत्रादिपरिजनेन युक्तो भवेयम् ॥

पदार्थ—(उषः) ब्रह्ममुहूर्त्त में (बोधि) उठकर (सुविताय) अपने सुख के लिए प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् ! (महे) आप अपनी महत्ता से (अद्य) आज=सम्प्रति (नः) हमको (महे, सौभगाय) बड़े सौभाग्य के लिए (प्रयन्धि) प्राप्त होकर (चित्रं, रयिं, यशसं, धेहि) नाना प्रकार का धन और यश दें, (देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन् ! (मर्तेषु) इस मनुष्यलोक में (अस्मे) हमें (मानुषि) मनुष्यों के कर्मों में प्रवृत्त करें और हम (श्रवस्युं) पुत्र पौत्रादि परिवार से युक्त हों ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम प्रातःकाल में उठकर अपने सौभाग्य के लिए प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् ! इस मनुष्यलोक में आप हमें नाना प्रकार का धन, यश, बल, तेज प्रदान करें, हमें पुत्र पौत्रादि परिवार दें और हमको अपनी महत्ता से उच्च कर्मोंवाला बनावें ॥

तात्पर्य्य यह कि जो पुरुष प्रातःकाल में शुद्ध हृदय द्वारा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं वह अवश्य ऐश्वर्य्य सम्पन्न होकर सांसारिक सुख भोगते और अन्ततः मुक्ति को प्राप्त होते हैं ॥२॥

अब उषाकाल में जागृति वाले पुरुष के लिये फल कथन करते हैं—

एते त्ये भानवो दर्शतायाश्चित्रा उषसो अमृतास आगुः ।
जनयन्तो दैव्यानि व्रतान्यापृणन्तो अन्तरिक्षा व्यस्थुः ॥३॥

एते । त्ये । भानवः । दर्शतायाः । चित्राः । उषसः । अमृतासः । आ । अगुः । जनयन्तः । दैव्यानि । व्रतानि । आऽपृणन्तः अन्तरिक्षा । वि । अस्थुः ॥३॥

पदार्थः—(उषसः) प्रातःकालस्योषसः (चित्राः) ये चित्राः (दर्शतायाः) दृष्टिगता भवन्ति (एते त्ये) ते सर्वे (भानवः) सूर्यस्य रश्मिभिः (अमृतासः) अमृतभावं (आ, अगुः) साधु प्राप्नुवन्ति तथा च (दैव्यानि) दिव्यभावान् (जनयन्तः) उत्पादयन्तः (अन्तरिक्षा, वि, अस्थुः) एकस्मिन्नेवान्तरिक्षेऽनेकधा स्थित्वा (व्रतानि, आपृणन्तः) व्रतानि धारयन्ति ।

पदार्थ—(उषसः) प्रातःकाल की उषा के (चित्राः) जो चित्र (दर्शतायाः) दृष्टिगत होते हैं (एते, त्ये) वे सब (भानवः) सूर्य्य की रश्मियों द्वारा (अमृतासः) अमृतभाव को (आ, अगुः) भले प्रकार प्राप्त होते हैं, और (दैव्यानि) दिव्य भावों को (जनयन्तः) उत्पन्न करते हुए (अन्तरिक्षा, वि अस्थुः) एक ही अन्तरिक्ष में बहुत प्रकार से स्थिर होकर (व्रतानि, आपृणन्तः) व्रतों को धारण करते हैं ।।

भावार्थ—"उषा" सूर्य्य की रश्मियों का एक पुञ्ज है। जब वे रश्मियें इकट्ठी होकर पृथिवी तल पर पड़ती हैं तब एक प्रकार का अमृतभाव उत्पन्न करती हुई कई प्रकार के व्रत धारण कराती हैं अर्थात् नियमपूर्वक सन्ध्या करनेवाले उषाकाल में सन्ध्या के व्रत को और नियम से हवन करनेवाले हवन व्रत को धारण करते हैं। इसी प्रकार सूर्य्योदय होने पर प्रजाजन नानाप्रकार के व्रत धारण करके अमृतभाव को प्राप्त होते है। अत एव मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह प्रातः उषाकाल में अपने व्रतों को पूर्ण करे, व्रतों का पूर्ण करना ही अमृतभाव को प्राप्त होना है।

या यों कहो कि जिस प्रकार विराट्स्वरूप में सूर्य्य, चन्द्रमादि अपने उदय-अस्त रूप व्रतों को नियमपूर्वक पालन करते हैं, इसी प्रकार अमृतभाव को प्राप्त होनेवाले जिज्ञासु को अपने व्रतों का नियमपूर्वक पालन करना चाहिये। जो उषाकाल में उठकर अपने नियम व्रतों का पालन करते हैं वही अमृत को प्राप्त होकर सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं, अन्य नहीं ।। ३ ।।

अब उषा को रूपकालङ्कार से वर्णन करते हैं—

एषा स्या युजाना पराकात्पञ्च क्षितीः परि सद्यो जिगाति ।
अभिपश्यन्ती वयुना जनानां दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी ॥४॥

एषा । स्या । युजाना । पराकात् । पञ्च । क्षितीः परि । सद्यः । जिगाति ।
अभिऽपश्यन्ती । वयुना । जनानाम् । दिवः । दुहिता । भुवनस्य । पत्नी ॥४॥

पदार्थः—(एषा) इयमुषाः (जनानाम्) मनुष्यान् (वयुना) प्राप्य (अभिपश्यन्ती) सम्यग् पश्यन्ती (दिवः, दुहिता) द्युलोकस्य कन्या, तथा च (भुवनस्य पत्नी) संसारस्य पत्नीरूपा अस्ति (स्या) सैवोषाः (युजाना, स्या) योगं लभमाना (पराकात्) दूरस्थदेशात् (पञ्चक्षितीः) पृथिवीस्थान् पञ्चधा मनुष्यान् (परिसद्यः) शश्वदर्थम् (जिगाति) प्राप्नोति **जिगातीति गतिकर्म्मसु पठितम्** निघ० २।१४ ।।

पदार्थ—(एषा) यह उषा (जनानां) मनुष्यों को (वयुना) प्राप्त होकर (अभिपश्यन्ती) भले प्रकार देखती हुई (दिवः, दुहिता) द्युलोक की कन्या और (भुवनस्य, पत्नी) संसार की पत्नी रूप है। (स्या) वह उषा (युजाना, स्या) योग को प्राप्त होती हुई (पराकात्) दूर देश से (पञ्च, क्षितीः) पृथिवीस्थ पांच प्रकार के मनुष्यों को (परि, सद्यः) सदा के लिये (जिगाति) जागृति उत्पन्न करती है ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में उषा को द्युलोक की कन्या और संसार की पत्नी स्थानीय माना गया है। जिसका तात्पर्य यह है कि इसको द्युलोक से उत्पन्न होने के कारण "कन्या" और पृथिवीलोक पर आकर सर्वभोग्या सबके भोगने योग्य होने से "पत्नी" कथन की गयी है, उषा में पत्नी भाव का आरोप करने से तात्पर्य्य यह है कि यह प्रतिदिन प्रातःकाल सब संसारी जनों

को उद्‌बोधन करती है कि तुम उठकर जागो, परमात्मा में जुड़ो और अपनी दिनचर्या में प्रवृत्त होकर अपने अपने कार्यों को विधिवत् करो, यह मन्त्र का भाव है। पृथिवीस्थ पांच प्रकार के मनुष्यों का वर्णन पीछे कर आये हैं, इसलिये यहां आवश्यकता नहीं ॥ ४ ॥

अब उषा को अन्नादि ऐश्वर्य्य की देनेवाली कथन करते हैं –

वाजिनीवती सूर्यस्य योषा चित्रामघा राय ईशे वसूनाम् ।
ऋषिष्टुता जरयन्ती मघोन्युषा उच्छति वह्निभिर्गृणाना ॥५॥

वाजिनीऽवती । सूर्यस्य । योषा । चित्रऽमघा । रायः । ईशे । वसूनां । ऋषिऽस्तुता । जरयन्ती । मघोनीं । उषाः । उच्छति । वह्निऽभिः । गृणाना ॥५॥

पदार्थः—(उषाः) उषादेवी अन्नादिपदार्थप्रदा (चित्रामघा) ऐश्वर्य्यवती (वसूनां रायः ईशे) सर्वस्वामिनी (वह्निभिः) स्वतेजोभिः (ऋषिष्टुता) ऋषिभिरीड्या (उच्छति) प्रकाशवती (जरयन्ती) तमांसि निवर्त्तयन् (सूर्यस्य, योषा) आदित्यस्य स्त्रीभावं (गृणाना) गृह्णातीत्यर्थः ॥

पदार्थ—(उषाः) यह उषा देवी (वाजिनीवती) अन्नादि पदार्थों के देनेवाली (चित्रामघा) नाना प्रकार के ऐश्वर्य्यवाली (वसूनां, रायः, ईशे) वसुओं के धन की स्वामिनी (मघोनी) ऐश्वर्य्यवाली (वह्निभिः) याज्ञिक कर्मों में प्रेरक (ऋषिस्तुता) ऋषियों द्वारा स्तुति को प्राप्त और (उच्छति) प्रकाश को प्राप्त होकर (जरयन्ती) अन्धकारादि दोषों को निवृत करती हुई (सूर्यस्य, योषा) सूर्य्य के स्त्रीभाव को (गृणाना) ग्रहण करती है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में रूपकालङ्कार से उषा को सूर्य्य की स्त्री वर्णन किया गया है, जिसका तात्पर्य्य यह है कि प्रातःकाल पूर्वदिशा में जो रक्तवर्ण की दीप्ति सूर्योदय के समय उत्पन्न होती है उसका नाम "उषा" है, द्युलोक उसका पितास्थानीय और सूर्य्य पतिस्थानीय माना गया है, क्योंकि वह द्युलोक में उत्पन्न होती और सूर्य्य उसका भोक्ता होने के कारण उसको पतिरूप से वर्णन किया गया है, या यों कहो कि सूर्य्य की रश्मिरूप उषा सूर्य्य की शोभा को बढ़ाती और सदैव उसके साथ रहने के कारण उसको योषारूप से वर्णन किया गया है और जो कई एक मन्त्रों में उषा को सूर्य्य की पुत्री वर्णन किया गया है वह द्युलोक के भाव से है, सूर्य्य के अभिप्राय से नहीं ॥

तात्पर्य्य यह है कि यही "उषा" अन्नादि सब धनों के देनेवाली है, क्योंकि यही अन्धकार को दूर करके सब मनुष्यों को अपने-अपने काम में लगाती और यज्ञादि शुभ कार्य्य करने के लिए प्रेरणा करती है, ऋषि लोग प्रातःकाल में इसकी स्तुति करते हुए यज्ञादि कार्य्यों में प्रवृत्त होते और **"सहस्रशीर्षादि"** ॥यजु० ३२।२॥ मन्त्रों से परमात्मा के विराट्स्वरूप का वर्णन करते हुए सर्व ऐश्वर्य्य को प्राप्त होते हैं, इसीलिए यहाँ उषा को विशेष रूप से वर्णन किया गया है ॥५॥

प्रति द्युतानामरुषासो अश्वाश्चित्रा अदृश्रन्नुषसं वहन्तः ।
याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन दधाति रत्नं विधते जनाय ॥६॥

प्रति । द्युतानां । अरुषासः । अश्वाः । चित्राः । अदृश्रन् । उषसं । वहन्तः । याति । शुभ्रा । विश्वऽपिशा । रथेन । दधाति । रत्नं । विधते । जनाय ॥६॥

पदार्थः—(उषसं) उषाकालं (वहन्तः) दधानः सूर्य्यः (याति) गच्छति (शुभ्रा) शोभनेन (विश्वपिशा) सम्पूर्णं संसारस्यान्धकारनाशकेन (रथेन) वेगेन याति । अन्यच्च (जनाय) मनुष्याय (रत्नं) धनं (विधते) योग्याय विभक्तरूपेण सम्पूर्णं प्रयच्छतीत्यर्थः । यस्मिन् सूर्य्ये (विचित्रा) नानावर्णवन्त्यः (अश्वाः) रश्मयः (अदृश्यन्) दृश्यन्ते ताः (प्रतिद्युतानां) प्रत्येकदीप्त्यर्थं प्रकाशं कुर्वत्यः ताश्च तदाश्रिता इत्यर्थः ।।

पदार्थ—(उषसं) उषाकाल को (वहन्तः) धारण करता हुआ सूर्य्य (विश्वपिशा) संसार के अन्धकार को मर्दन करनेवाले (शुभ्रा) सुन्दर (रथेन) वेग से (याति) गमन करता और (रत्नं, दधाति) रत्नों को धारण करता हुआ (जनाय) मनुष्यों के लिए (विधते) विभाग करता है (चित्राः, अश्वाः) जिसमें विचित्र वेगवाली किरणें (अदृश्यन्) देखी जाती हैं, और जो (प्रति, द्युतानां) प्रत्येक दीप्ति के लिए (अरुषासः) प्रकाश करनेवाली हैं ।।

भावार्थ—उषाकाल का आश्रय सूर्य्य प्रत्यक्ष रूप से नानाप्रकार की किरणों को धारण करता हुआ संसार में अव्याहतगति होकर विचरता और उसकी दीप्ति से नानाप्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्त होते हैं, इनको रत्नों का विभाग करनेवाला कथन किया गया है अर्थात् सूर्य्य के प्रकाश होने पर ही सब प्राणी वर्ग अपना-अपना भरण-पोषण करते और कर्मानुसार रत्नादि धनों की प्राप्ति में प्रवृत्त होते हैं ।।५।।

सत्या सत्येभिर्महती महद्भिर्देवी देवेभिर्यजता यजत्रैः ।
रुजद्दृळ्हानि दददुस्रियाणां प्रति गाव उषसं वावशन्त ।।७।।

सत्या । सत्येभिः । महती । महत्ऽभिः । देवी । देवेभिः । यजता । यजत्रैः । रुजत् । दृळ्हानि । ददत् । उस्रियाणां । प्रति । गावः । उषसं । वावशन्त ।।७।।

पदार्थः—(देवी) दिव्यगुणयुक्ता (सत्या) सत्यरूपा (सत्येभिः) सत्यवादिभिः वर्णिता (महती) बृहती (महद्भिः देवेभिः यजता) (दृळहानि) निविडानि तमांसि (रुजत्) छिनत्ति (गावः) रश्मयः (ददत्) प्रकाशं ददत् अन्धकारविनाशाय किरणप्रदा भवन्तीत्यर्थः एवं विधा उषाः तामुषसं सर्वप्राणिनः (वावशन्त) वाञ्छन्ति ।

पदार्थ—(देवी) दिव्यगुणयुक्त (सत्या) सत्यरूपा (सत्येभिः) सत्यवादियों से मान को प्राप्त (महती) बड़ी (महद्भिः, देवेभिः, यजता) बड़े-बड़े विद्वानों से वर्णित (यजत्रैः) याज्ञिक लोगों से सेवित (दृळहानि, रुजत्) बड़े अन्धकार को दूर करनेवाली (उस्रियाणां, प्रति) अधिकारियों के प्रति (गावः, ददत्) किरणों को देनेवाली (उषसं) उषा की (वावशन्त) सब प्राणी कामना करते हैं ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में "उषा" का महत्त्व वर्णन किया गया है, क्योंकि विद्वान् लोग उषाकाल में ही परमात्मा की स्तुति करते, बड़े-बड़े याज्ञिक, महात्मा इसी काल में यज्ञ करते, गोपाल लोग गौओं का सत्कार करते और सब कर्मकाण्डी पुरुष उषाकाल की इच्छा करते हैं, क्योंकि इसी काल में सब वैदिककर्मों का प्रारम्भ होता है अर्थात् सन्ध्या, अग्निहोत्र, जप, तप आदि सब अनुष्ठान इसी काल में किये जाते हैं, इसलिए यह उषा सब के कामना करने योग्य है ।।६।।

अब उषाकाल में प्रार्थना का विधान कथन करते हैं—

नू नो गोमद्वीरवद्धेहि रत्नमुषो अश्वावत्पुरुभोजो अस्मे ।
मा नो बर्हिः पुरुषता निदे कर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

नु । नः । गोऽमत् । वीरऽवत् । धेहि । रत्नं । उषः । अश्वऽवत् । पुरुभोजः । अस्मे इति । मा । नः । बर्हिः । पुरुषता । निदे । क । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥

पदार्थः—हे परमात्मन् (अस्मे) अस्मभ्यं (अश्वावत्) बहुवेगयुक्तं (गोमत्) प्रकाशयुक्तं (वीरवत्) वीरतायुक्तं (पुरुभोजः) भोगप्रदं (रत्नं) रत्नयुक्तं (नु) निश्चयेन (नः) अस्मान् (धेहि) देहि (नः) बर्हि, अस्मद्यज्ञं (कः) कोऽपि पुरुषो (मा) (निदे) निन्दा निन्दा माकार्षीः निन्दा मा कुर्वित्यर्थः (पुरुषतायां) जनतायां कदापि निन्दां न कुर्यादित्यर्थः (यूयं) भवान् (पात) रक्षतु (सदा) सदैव (नः) अस्मान् इति वयं प्रार्थयामहे ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (अस्मे) हमारे लिए (अश्वावत्) अश्वोंवाले यान दें (पुरुभोजः) अनेक प्रकार के भोग प्रदान करें (नु) निश्चय करके (नः) हमको (गोमत्, वीरवत्) पुष्ट इन्द्रियोंवाले वीर पुरुष और (रत्नं, उषः) रत्न तथा ऐश्वर्य्य (धेहि) प्रदान करें, और (पुरुषता) पुरुष समूह में (नः) हमारे (बर्हिः) यज्ञ की (निदे) निन्दा (मा) मत (कः) हो और (नः) हमको (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक तथा विद्वान् पुरुषो ! तुम सदा उषाकाल में यह प्रार्थना करो कि हे भगवन् ! आप हमें विविध प्रकार के यानादि पदार्थ और दृढ़ इन्द्रियोंवाली पुत्र, पौत्रादि सन्तति प्रदान करें, हमारे यज्ञ की कोई निन्दा न करे प्रत्युत सब अनुष्ठानी बन कर हमारे सहकारी हों, हम निन्दित कर्मों के अपयश से सदैव भयभीत रहें, आप ऐसी कृपा करें कि हम आपसे प्रार्थना करते हुए सदा अपना कल्याण ही देखें । यह उपासक की प्रार्थना करने का प्रकार है ॥८॥

७५वाँ सूक्त समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य षट्सप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः–
१ त्रिष्टुप् । २ विराट्त्रिष्टुप् । ३–७
निचृत्त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

सम्प्रत्युषःकाले (ब्रह्ममुहूर्त्ते) यज्ञकर्मानन्तरं परमात्मनः स्तुतिकरणं प्रस्तूयते—

अब उषा = ब्रह्ममुहूर्त में यज्ञकर्मानन्तर परमात्मा की स्तुति करना कथन करते हैं—

उदु ज्योतिरमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता देवो अश्रेत् ।
क्रत्वा देवानामजनिष्ट चक्षुराविरकर्भुवनं विश्वमुषाः ॥१॥

उत् । ऊं इति । ज्योतिः । अमृतं । विश्वऽजन्यं । विश्वानरः । सविता । देवः । अश्रेत् । क्रत्वा । देवानां । अजनिष्ट । चक्षुः । आविः । अकः । भुवनं । विश्वं । उषाः ॥१॥

पदार्थः—(ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपम् (अमृतम्) मृत्युरहितं (विश्वजन्यम्) अखिल-ब्रह्माण्डस्यादिभूतं कारणम् (विश्वानरः) सकलब्रह्माण्डव्यापकम् (सविता) सर्वेषामुत्पत्तिस्थानम् (देवः) दिव्यगुणस्वरूपं परमात्मानं वयम् (अश्रेत्) आश्रयेमहि, यः (देवानां) विदुषः (क्रत्वा) शुभमार्गे संप्रेर्य (अजनिष्ट) उत्तमफलान्युत्पादयति (भुवनं, विश्वम्) सकलभुवनानाम् (उषाः) प्रकाशकः (उत्) तथा च (आविः, चक्षुः) चराचरस्य चक्षुर्भूतम्, योऽसौ परमात्मदेवोऽस्ति तं वयम् (अकः) स्तुयाम ॥

पदार्थ—(ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप (अमृतं) मृत्युरहित (विश्वजन्यं) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आदि कारण (विश्वानरः) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्यापक (सविता) सबका उत्पत्ति स्थान (देवः) दिव्यगुणस्वरूप परमात्मा का हम लोग (अश्रेत्) आश्रयण करें, जो (देवानां) विद्वानों को (क्रत्वा) शुभमार्गों में प्रेरित करके (अजनिष्ट) उत्तम फलों को उत्पन्न करता है (भुवनं, विश्वं) सम्पूर्ण भुवनों का (उषाः) प्रकाशक (उत्) और (आविः, चक्षुः) चराचर का चक्षु जो परमात्मदेव है हम उसकी (अकः) स्तुति करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा की स्तुति वर्णन की गई है कि जो परमात्मदेव सब ब्रह्माण्डों में ओतप्रोत हो रहा है और जो सबका उत्पत्तिस्थान तथा विद्वानों को शुभमार्ग में प्रेरित करनेवाला है । उसी देव का हम सबको आश्रयण करना चाहिए और उसी की उपासना में हमें संलग्न होना चाहिए, जो चराचर का चक्षु और हमारा पितास्थानीय है ॥

कई एक टीकाकारों ने यहाँ "उषा" को ही सविता तथा देवी माना है, यह उनकी भूल है । क्योंकि ज्योति, अमृत तथा विश्वानर आदि शब्द परमात्मा के ग्राहक तथा वाचक हैं किसी जड़ पदार्थ के नहीं, दूसरी बात यह है कि उषा काल में यज्ञादि कर्मों का वर्णन किया गया है जैसा कि पीछे स्पष्ट है, उसके अनन्तर परमात्मा की स्तुति प्रार्थना करना ही उपादेय है, इसलिए यह मन्त्र परमात्मोपासना का ही वर्णन करता है, किसी जड़ पदार्थ का नहीं ॥१॥

प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः ।
अभूदु केतुरुषसः पुरस्तात्प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥२॥

प्र । मे । पन्थाः । देवऽयानाः । अदृश्रन् । अमर्धन्तः । वसुऽभिः । इष्कृतासः । अभूत् । ऊं इति । केतुः । उषसः । पुरस्तात् । प्रतीची । आ । अगात् अधि । हर्म्येभ्यः ॥

पदार्थः—(अमर्धन्तः) सर्वजनेभ्योऽभयदाता (वसुभिः, इष्कृतासः) सूर्यचन्द्रादिवसुभिरलङ्कृतः (उषसः) सम्पूर्ण ज्योतिषाम् (केतुः) शिरोमणिः परमात्मा (हर्म्येभ्यः) कमनीय ज्योतिषाम् (पुरस्तात्) प्रथमः (प्रतीची) पूर्वां दिशं (आ) सम्यक् (अधि,

अगात्) आश्रित्य (अभूत्) आविर्भवति, तम् (अदृश्रन्) अवलोक्य (प्र) संजातहर्षा उपासका (देवयानाः पन्थाः) इमं देवमार्गं वयं प्राप्नुयाम, इति वदन्ति ॥

पदार्थ—(अमर्धन्तः) सबको अभयदान देनेवाला (वसुभिः, इष्कृतासः) सूर्य्य चन्द्रमादि वसुओं से अलङ्कृत (उषसः) सम्पूर्ण ज्योतियों का (केतुः) शिरोमणि परमात्मा (हर्म्येभ्यः) सुन्दर ज्योतियों में (पुरस्तात्) प्रथम (प्रतीची) पूर्वदिशा को (आ) भले प्रकार (अधि, अगात्) आश्रयण करके (अभूत्) प्रकट होता है उसको (अदृश्रन्) देखकर (प्र) हर्षित हुए उपासक लोग कहते हैं कि (देवयानाः, पन्था) यह देवताओं का मार्ग (मे) मुझे प्राप्त हो ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा की स्तुति वर्णन की गई है कि जब उपासक प्रथम परमात्मज्योति को देख कर ध्यानावस्थित हुआ, उस परमात्मदेव का ध्यान करता और ध्यानावस्था में उस ज्योति को सम्पूर्ण चन्द्रमादि वसुओं से अलङ्कृत सबसे शिरोमणि पाता है तब मुक्तकण्ठ से यह कहता है कि देवताओं का यह मार्ग मुझ को प्राप्त हो, या यों कहो कि परमात्मरूप दिव्यज्योति जो सब वसुओं में देदीप्यमान हो रही है उसका ध्यान करनेवाले उपासक देवमार्ग द्वारा अमृतभाव को प्राप्त होते हैं, इसी भाव को **"प्राचीदिगग्निधिपति०"** इत्यादि सन्ध्या मन्त्रों में वर्णन किया है कि प्राची आदि दिशा तथा उपदिशाओं का अधिपति एक परमात्मदेव ही है जो हमारा रक्षक, शुभकर्मों में प्रेरक और सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य का दाता है उसी की उपासना करनी योग्य है, अन्य की नहीं ॥२॥

तानीदहा॑नि बहु॒लान्या॑स॒न्या प्रा॒चीन॒मुदि॑ता॒ सूर्य॑स्य ।
यतः॒ परि॑ जा॒र इ॑वा॒चर॑न्त्यु॒षो द॑दृ॒क्षे न पुन॒र्य॒तीव ॥३॥

तानि॑ । इत् । अहा॑नि । बहु॒लानि॑ । आ॒स॒न् । या । प्रा॒चीन॑म् । उत्ऽइ॑ता । सूर्य॑स्य । यतः॑ । परि॑ । जा॒रःऽइ॑व । आ॒ऽचर॑न्ती । उषः॑ । द॒दृ॒क्षे । न । पुनः॑ । य॒तीऽइ॑व ॥३॥

पदार्थः—(तानि, इत्, अहानि) तानि दिनानीव प्रकाशमयानि (बहुलानि) नैकधा तेजांसि (आसन्) दृष्टिपथे प्रादुर्भवन्ति (या) यानि (सूर्यस्य) स्वतःप्रकाशस्य परमात्मनः (प्राचीनम्) प्राचीनस्वरूपं (उदिता) प्राप्तानि (यतः) यस्मात् (परि, जार, इव) अग्निसदृशानि (उषः) तेजांसि (आचरन्ती) निर्गच्छन्ति (ददृक्षे) दृश्यन्ते (यतीव) व्यभिचारिपदार्था इव (पुनर्न) न सन्ति पुनः ॥३॥

पदार्थ—(तानि, इत्, अहानि) वह दिन के समान प्रकाशरूप (बहुलानि) अनेक प्रकार के तेज (आसन्) दृष्टिगत होते हैं (या) जो (सूर्यस्य) स्वतःप्रकाश परमात्मा के (प्राचीनं)प्राचीन स्वरूप को (उदिता) प्राप्त हैं (यतः) जिससे (परिजारः, इव) अग्नि के समान (उषः) तेज (आचरन्ती) निकलते हुए (ददृक्षे) देखे जाते हैं (यतीव) व्यभिचारी पदार्थों के समान (पुनः न) फिर नहीं ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि से सहस्रों प्रकार की ज्वालायें उत्पन्न होती रहती हैं इसी प्रकार स्वतःप्रकाश परमात्मा के स्वरूप से तेज की रश्मियें सदैव देदीप्यमान होती रहती हैं, या यों कहो कि स्वतःप्रकाश परमात्मा की ज्योति सदैव प्रकाशित होती रहती है । जैसे पदार्थों के अनित्य गुण उन पदार्थों से पृथक् होजाते वा नाश को प्राप्त हो जाते हैं इस प्रकार परमात्मा के प्रकाश रूप गुण का उससे कदापि वियोग नहीं होता अर्थात् परमात्मा के गुण विकारी नहीं, यह इस मन्त्र का भाव है ॥३॥

इत आरभ्य ब्रह्मवेत्तृ विदुषां कर्त्तव्यं वर्ण्यते—

अब ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कर्तव्य कथन करते हैं—

त इद्देवानां सधमाद आसन्नृतावानः कवयः पूर्व्यासः ।
गूळ्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्रा अजनयन्नुषासम् ।।४।।

ते । इत् । देवानां । सधऽमादः । आसन् । ऋतऽवानः । कवयः । पूर्व्यासः । गूळ्हं । ज्योतिः । पितरः । अनु । अविन्दन् । सत्यऽमन्त्राः । अजनयन् । उषसं ।। ।।४।।

पदार्थः—(देवानां, सधमादः) विदुषां समुदायात्मक यज्ञे (ते, इत्) त एव (ऋतावानः) सत्यवादिनः (कवयः) विचक्षणाः (पूर्व्यासः) पुरातनाः (आसन्) अमंसत, ये (गूळ्हम्) गहनं ज्योतिःस्वरूपं परमात्मानम् (अनु, अविन्दन्) साधु अज्ञासिषुः, (सत्यमन्त्राः) ते सत्योपदेशकर्तारः (पितरः) पितरो वृद्धाः (उषसं) परमात्मप्रकाशम् (अजनयन्) प्रादुरबीभवन् ।।

पदार्थ—(देवानां, सधमादः) विद्वानों के समुदायरूप यज्ञ में (ते, इत्) वह ही (ऋतावानः) सत्यवादी (कवयः) कवि (पूर्व्यासः) प्राचीन (आसन्) माने जाते थे जो (गूळ्हं) गहन ज्योतिप्रकाश परमात्मा को (अनु, अविन्दन्) भले प्रकार जानते थे, (सत्यमन्त्राः) वह सत्य का उपदेश करनेवाले (पितरः) पितर (उषसं) परमात्मप्रकाश को (अजनयन) प्रकट करते थे ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्वानों के यज्ञ में वही सत्यवादी, वही कवि, वही प्राचीन उपदेष्टा और वही पितर माने जाते हैं जो परमात्मा के गुप्तभाव को प्रकाशित करते हैं अर्थात् विद्वत्ता तथा कवित्व उन्हीं लोगों का सफल होता है जो परमात्मा के गुणों को कीर्तन द्वारा सर्वसाधारण तक पहुँचाते हैं ।।४।।

समान ऊर्वे अधि संगतासः संजानते न यतन्ते मिथस्ते ।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमानाः ।।५।।

समाने । ऊर्वे । अधि । संऽगतासः । सं । जानते । न । यतन्ते । मिथः । ते । ते । देवानां । न । मिनन्ति । व्रतानि । अमर्धन्तः । वसुऽभिः । यादमानाः ।। ।।५।।

पदार्थः—(देवानाम्) ये विदुषां (व्रतानि) वेदोक्तस्वाध्यायादि नियमान् (न, मिनन्ति) न लुलुम्पन्ति (ते) ते पुरुषाः (अमर्धन्तः) अहिंसका भवन्ताः (वसुभिः) वेदवाग्रूपधनैः (यादमानाः) यात्रां कुर्वन्तः (मिथः) परस्परं समेत्य (यतन्ते) यत्नं कुर्वन्ति (ते) ते हि जनाः (संजानते) प्रतिज्ञामेव (न) न कुर्वन्ति, किन्तु (संगतासः) संगता भूत्वा (अधि, ऊर्वे) बलादिन्द्रियसंयमे (समाने) तुल्यभावेन यतन्ते ।।

पदार्थ—(देवानां) जो विद्वानों के (व्रतानि) व्रतों को (न, मिनन्ति) नहीं मेटते (ते) वह (अमर्धन्तः) अहिंसक होकर (वसुभिः) वेदवाणी रूपी धनों से (यादमानाः) यात्रा करते हुए (मिथः) परस्पर मिलकर (यतन्ते) यत्न करते हैं (ते) वह (संजानते) प्रतिज्ञा ही (न) नहीं करते किन्तु (संगतासः) संगत होकर (अधि, ऊर्वे) बलपूर्वक इन्द्रियों के संयम में (समाने) समानभाव से यत्न करते हैं ।।

भावार्थ—जो पुरुष विद्वानों के नियमों का पालन करते हुए अहिंसक होकर अर्थात् अहिंसादि पांच यमों का पालन करते हुए संसार में विचरते हैं वह यत्नपूर्वक अपने अभीष्ट फल को प्राप्त होते हैं, या यों कहो कि वैदिक नियमों का वही पुरुष पालन करते हैं जो अहिंसक होकर वेदवाणी का प्रचार करते और आपस में समानभाव से इन्द्रियों का संयम करते हुए औरों को ब्रह्मचर्य्यव्रत का उपदेश करते हैं, स्मरण रहे कि उपदेश उन्हीं का सफल होता है जो अनुष्ठानी बनकर यात्रा करते हैं, अन्यों का नहीं ।।५।।

अब उषा काल में अनुष्ठान का विधान करते हैं—

प्रति॑ त्वा॒ स्तोमै॑रीळते॒ वसि॑ष्ठा उ॒ष॒र्बुध॑ः सुभगे तु॒ष्टु॒वांस॑ः ।
गवां॑ ने॒त्री वाज॑पत्नी न उ॒च्छोष॑ः सुजाते प्रथमा ज॑रस्व ।।६।।

प्रति॑ । त्वा॒ । स्तोमैः॑ । ई॒ळते॒ । वसि॑ष्ठाः । उ॒षः॒ऽबुध॑ः । सु॒ऽभ॒गे॒ । तु॒स्तु॒ऽवांस॑ः ।
गवा॑म् । ने॒त्री । वाज॑ऽपत्नी । नः॒ । उ॒च्छ॒ । उष॑ः । सु॒ऽजा॒ते॒ । प्र॒थ॒मा । ज॒र॒स्व॒ ।।६।।

पदार्थः—(उषः, बुधः) ब्राह्ममुहूर्ते प्रबोद्धारः (वसिष्ठाः विद्वांसः) (स्तोमैः) यज्ञैः (त्वा, प्रति) भवतीम् (ईळते) स्तुवन्ति (सुभगे) भो सौभाग्यस्य दात्रि (गवां, नेत्री) त्वम् इन्द्रियाणां संयमाधात्री अतएव (तुस्तुवांसः) स्तोतव्याऽसि (वाजपत्नी) हे सर्वविधैश्वर्यस्य स्वामिनि (जरस्व) तमो दग्ध्वा (नः) अस्मभ्यम् (उच्छ, उषः) सुप्रकाशं कुरु, यतस्त्वम् (प्रथमा) अखिलदीप्तिषु मुख्या (सुजाते) सुष्ठुप्रादुर्भाववती चासि ।।

पदार्थ—(उषः, बुधः) उषाकाल में जागनेवाले (वसिष्ठाः) विद्वान् (स्तोमैः) यज्ञों द्वारा (त्वा, प्रति) तेरे लिये (ईळते) स्तुति करते हैं (सुभगे) हे सौभाग्य के देनेवाली (गवां, नेत्री) तू इन्द्रियों को संयम में रखने के कारण (तुस्तुवांसः) स्तुति योग्य है (वाजपत्नी) हे सब प्रकार के ऐश्वर्य्य की स्वामिनी (जरस्व) अन्धकार को जलाकर (नः) हमारे लिये (उच्छ, उषः) अच्छा प्रकाश कर, क्योंकि तू (प्रथमा) सब दीप्तियों में मुख्य (सुजाते) सुन्दर प्रादुर्भाववाली है ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में रूपकालङ्कार से उषाकाल का वर्णन करते हुए परमात्मा उपदेश करते हैं जो पुरुष उषाकाल में उठकर सन्ध्यावन्दन तथा हवनादि अनुष्ठानार्ह कार्यों में प्रतिदिन प्रवृत्त रहते हैं वह सब धनों के देनेवाली तथा इन्द्रियसंयम का मुख्यसाधनरूप उषाकाल से परम लाभ उठाते हैं अर्थात् जो पुरुष अपनी निद्रा त्याग उषाकाल में उठकर अपने नित्यकर्मों में प्रवृत्त होते हैं वह सौभाग्यशाली पुरुष इन्द्रियों का संयम करते हुए ऐश्वर्य्यशाली होकर सब प्रकार का सुख भोगते हैं, क्योंकि इन्द्रिय संयम का मुख्य साधन उषाकाल में ब्रह्मोपासन है, इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि जब पूर्वदिशा में सूर्य्य की लाली उदय हो उसी काल में ब्रह्मोपासनरूप अनुष्ठान करें ।।६।।

अथोषःकाले स्वस्तिवाचनैः परमात्मा प्रार्थ्यते–

अब उषाकाल में स्वस्तिवाचनों द्वारा परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—

एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते वसिष्ठैः ।
दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

एषा । नेत्री । राधसः । सूनृतानां । उषाः । उच्छन्ती । रिभ्यते । वसिष्ठैः । दीर्घऽश्रुतं । रयिं । अस्मे इति । दधाना । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥

पदार्थः—(एषा उषाः) अयमुषःकालः (राधसः, नेत्री) आराधकानां विदुषां पथाम् (सूनृतानाम्) वेदवाग्भिः (उच्छन्ती) प्रकाशयिता (वसिष्ठैः, रिभ्यते) सर्वातिक्रान्तगुणसम्पन्नैर्विद्वद्भिः स्तवनीयोऽस्ति, अस्मिन्नेवोषःकाले (दीर्घश्रुतम्) चिरन्तनः सर्वज्ञाता परमात्मा (अस्मे) नः (रयिं, दधाना) धनं लम्भयतु, तथा (नः) अस्माकं धनं (यूयम्) भवन्तः (स्वस्तिभिः) स्वतिवाचनेन (सदा) शश्वत् (पात) रक्षन्तु ।।७।।

इति षट्सप्ततितमं सूक्तं त्रयोविंशो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(एषा, उषाः) यह उषाकाल (राधसः, नेत्री) आराधनशील विद्वानों के मार्ग को (सूनृतानां) वेदवाणियों द्वारा (उच्छन्ती) प्रकाश करनेवाला (वसिष्ठैः, रिभ्यते) सर्वोपरि गुणसम्पन्न विद्वानों से स्तुति योग्य है, इसी काल में (दीर्घश्रुतं) चिरकालीन सर्वज्ञाता परमात्मा (अस्मे) हमें (रयिं, दधाना) धन प्राप्त करायें, और (नः) हमारे धन को (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (सदा) सदा (पात) रक्षा करें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विचारशील विद्वानो ! तुम उषाकाल के अपने कर्तव्य कर्मों से निवृत्त होकर स्वस्तिवाचनों से प्रार्थना करो कि आप हमें और हमारे यजमानों को ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य्य पवित्र हो ।।

इस मन्त्र में जो उषादेवी को विद्वानों की नेत्री तथा वेदवाणियों की प्रकाशिका वर्णन किया गया है वह उपचार से है, मुख्य नहीं अर्थात् उषा ऐसा काल है कि परमालस्यग्रस्त मनुष्यों को भी उद्योगी बना देता और ईश्वरविमुखमनों में भी ईश्वरीय ज्योति का संचार करता है, इसलिये दिव्य रूप से वर्णन किया गया है, वास्तव में उषाकाल जड़ होने से किसी का प्रेरक वा स्वामी नहीं, सबका स्वामी एकमात्र परमात्मा है, उससे भिन्न कोई नहीं ।।७।।

७६ वां सूत्र और २३ वां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ षडृचस्य सप्तसप्ततितमस्य सूक्तस्य—
१—६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २—५ निचृत् त्रिष्टुप् । ६ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ परमात्मा चराचरस्य जननीरूपेण वर्ण्यते—

अब परमात्मा को चराचर जीवों की जननी रूप से कथन करते हैं—

उपो॑ रुरुचे युव॒तिर्न योषा॒ विश्वं॑ जी॒वं प्र॑सु॒वन्ती॑ च॒रायै॑ ।
अभू॑द॒ग्निः स॒मिधे॒ मानु॑षाणा॒मक॒र्ज्योति॒र्बाध॑माना॒ तमां॑सि ॥१॥

उपो॒ इति॑ । रु॒रु॒चे । यु॒व॒तिः । न । योषा॑ । विश्व॑ं । जी॒वं । प्र॒ऽसु॒वन्ती॑ । च॒रायै॑ । अभू॑त् । अ॒ग्निः । स॒ऽइधे॑ । मानु॑षाणां । अकः॑ । ज्योतिः॑ । बाध॑माना । तमां॑सि ॥१॥

पदार्थः—(तमांसि) अज्ञानात्मक तमः (बाधमाना) नाशयत् (अग्निः, ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपंज्योतिः (मानुषाणां, समिधे, अकः) मनुष्याणां सम्बन्धेऽजनिष्ट, येन (प्रसुवन्ती) प्रसूतावस्थायां (विश्वं, चरायै, जीवम्) सांसारिकचराचरजीवाः (अभूत्) आविश्चक्रिरे, तज्ज्योतिः (उपो) अस्मिन्विश्वे (युवतिः) यौवनसम्पन्नम् (रुरुचे) प्रादुरभूत् (न, योषा) न च स्त्रीतुल्या ॥

पदार्थ—(तमांसि) अज्ञानरूप तम को (बाधमाना) नाश करती हुई (अग्निः, ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप ज्योति (मानुषाणां, समिधे, अकः) मनुष्यों के सम्बन्ध में प्रकट हुई, जिसने (प्रसुवन्ती) प्रसूतावस्था में (विश्वं, चरायै, जीवं) विश्व के चराचर जीवों को (अभूत्) प्रकट किया, वह ज्योति (उपो) इस संसार में (युवतिः) युवावस्थावाली (रुरुचे) प्रकाशित हुई (न योषा) स्त्री के समान नहीं ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा को ज्योतिरूप से वर्णन किया गया है अर्थात् जगज्जननी ज्योतिरूप परमात्मा जो जीवमात्र का जन्मदाता है उसने आदि सृष्टि में विश्व के चराचर जीवों को युवावस्था में प्रकट किया, और वह परमात्मारूप शक्ति भी युवावस्था में प्रकट हुई, स्त्री के समान नहीं ॥

इस मन्त्र में जीव शब्द स्पष्ट आया है जिसके अर्थ चराचर प्राणधारी जीव के हैं, शुद्धचेतन के नहीं, क्योंकि शुद्धचेतनरूप जीव न कभी मरता और न उत्पन्न होता है, वह अनादि अनन्त सदा एकरस रहता है, इसका वर्णन **"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया"** ॥ ऋ० १।१६४।२० ॥ इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट वर्णित है ॥१॥

विश्वं॑ प्रती॒ची स॒प्रथा॒ उद॑स्थाद्रु॒शद्वासो॒ बिभ्र॑ती शु॒क्रम॑श्वैत् ।
हिर॑ण्यवर्णा सु॒दृशी॑कसंदृ॒ग्गवां॒ माता॒ ने॒त्र्यह्नां॒मरोचि ॥२॥

विश्वं॑ । प्र॒ती॒ची । स॒ऽप्रथाः॑ । उत् । अ॒स्था॒त् । रु॒शत् । वासः॑ । बिभ्र॑ती । शु॒क्रं । अ॒श्वै॒त् । हिर॑ण्यऽवर्णा । सु॒दृशी॑कऽसंदृक् । गवां॑ । मा॒ता । ने॒त्री । अह्नां॑ । अ॒रो॒चि ॥२॥

पदार्थ—(सप्रथा) सर्वथा (विश्वं) सकलं जगत् (प्रतीची) पूर्वम् (अस्मात्) उत्पादयित्री (रुशत्) दिव्यशक्तिः (वास) तादृशदीप्तिमत् स्वरूपं (उत्) तथा (शुक्रम्) बलं च (बिभ्रती) धारयन्ती (अश्वैत्) सर्वत्र व्याप्नोति, या (हिरण्यवर्णा) दिव्य-स्वरूपा (सुदृशीक) सर्वोपरिदर्शनीया (संदृक्) सर्वज्ञा (गवां, माता) अखिलब्रह्माण्ड-जननी, तथा च (ब्रह्मनेत्री) सूर्यादिसमस्तप्रकाशानामपि प्रकाशिका (अरोचि) सर्वं प्रकाशयन्ती विराजते ।।

पदार्थ—(सप्रथा) सब प्रकार से (विश्वं) सम्पूर्ण विश्व को (प्रतीची) प्रथम (अस्मात्) उत्पन्न करनेवाली (रुशत्) दिव्यशक्ति (वासः) उस दीप्तिवाले स्वरूप (उत्) और (शुक्रं) बल को (बिभ्रती) धारण करती हुई जो (अश्वैत्) सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, (हिरण्यवर्णा) दिव्य-स्वरूप (सुदृशीक) सर्वोपरि दर्शनीय (संदृक्) सर्वज्ञात्री (गवां, माता) सब ब्रह्माण्डों की जननी और (ब्रह्मा, नेत्री) सूर्यादि सब प्रकाशों की प्रकाशक (अरोचि) सबको प्रकाशित कर रही है ।।

भावार्थ—जो दिव्यशक्ति सम्पूर्ण विश्व को धारण करके कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों को चला रही है वही दिव्यशक्तिरूप परमात्मा सब ब्रह्माण्डों की जननी और वही सबका अधिष्ठान होकर स्वयं प्रकाशमान हो रहा है ।।२।।

अथ तामेव दिव्य शक्ति सकलजगदाधारमन्वाचष्टे—

अब उस दिव्यशक्ति को सम्पूर्ण विश्व का आधार कथन करते हैं—

देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकमश्वम् ।
उषा अदर्शि रश्मिभिर्व्यक्ता चित्रामघा विश्वमनु प्रभूता ।।३।।

देवानां । चक्षुः । सुऽभगा । वहन्ती । श्वेतं । नयन्ती । सुऽदृशीकं । अश्वं । उषाः । अदर्शि । रश्मिऽभिः । विऽअक्ता । चित्रऽमघा । विश्वं । अनु । प्रऽभूता ।।३।।

पदार्थः—(देवानां चक्षुः) सर्वासां दिव्यशक्तीनां प्रकाशिका (सुभगा) सर्वैश्वर्य-सम्पन्ना (श्वेतं, अश्वं, वहन्ती) श्वेतवर्णस्य गमनशीलस्य सूर्यस्य गमयित्री (सुदृशीकम्) सर्वातिरिक्तदर्शना (अदर्शि, रश्मिभिः, नयन्ती) अदृश्यरश्मीनांचालिका (व्यक्ता) सर्वत्र विभक्ता (चित्रामघा) नानाविधैश्वर्यसम्पन्ना (उषाः) परमात्मरूपा शक्तिः (विश्वम्) सकलं जगत् (अनु) आधेयरूपेणाश्रित्य (प्रभूता) सविस्तारं विराजते ।।

पदार्थ—(देवानां, चक्षुः) सब दिव्य शक्तियों की प्रकाशक (सुभगा) सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न (श्वेतं, अश्वं, वहन्ती) श्वेतवर्ण के गतिशील सूर्य्य को चलानेवाली (सुदृशीकं) सर्वोपरि दर्शनीय (अदर्शि, रश्मिभिः, नयन्ती) नहीं देखे जानेवाली रश्मियों की चालिका (व्यक्ता) सब में विभक्त (चित्रा-मघा) नाना प्रकार के ऐश्वर्य्य से सम्पन्न (उषाः) परमात्मरूपशक्ति (विश्वं) सम्पूर्ण संसार को (अनु) आधेय रूप से आश्रय करके (प्रभूता) विस्तृतरूप से विराजमान हो रही है ।

भावार्थ—जो दिव्यशक्ति सूर्य्यादि सब तेजों का चक्षुरूप, सब प्रकाशक ज्योतियों को प्रकाश देनेवाली, गतिशील सूर्य्य चन्द्रादिकों को चलानेवाली और जो सम्पूर्ण संसार को आश्रय करके स्थित हो रही है, वही दिव्य शक्ति सम्पूर्ण विश्व का अधिष्ठान है ।।

या यों कहो कि सम्पूर्ण दिव्य शक्तियों की प्रकाशक एकमात्र परमात्म ज्योति ही है उसी के आश्रित हुए सब ब्रह्माण्ड नियमानुसार चलते और उसी के शासन में सब पदार्थ भ्रमण कर रहे हैं, जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि **"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः० ।।"** हे गार्गि ! उसी अक्षर परमातमा की आज्ञा में सूर्य्य चन्द्रमादि सब ब्रह्माण्ड स्थिर हैं और वही सबको धारण कर रहा है, इसी भाव को **"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात्० ।।"** इस मन्त्र में भी प्रतिपादन किया है कि उसी परमात्मज्योति से सब ब्रह्माण्ड प्रकाशित होते हैं, अतएव सिद्ध है उषा काल में उसी के उपासन से पुरुष सद्गति को प्राप्त हो सकता है अन्यथा नहीं ।।३।।

अथ पूर्वाभिहितमैश्वर्यसम्पन्नपरमात्मानं स्वशत्रूनपनेतुं तथा सर्वविधमैश्वर्यं लब्धुं च प्रार्थयते ।।

अब उक्त ऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मा से शत्रु निवारण तथा सब प्रकार के ऐश्वर्य्य प्राप्ति की प्रार्थना कथन करते हैं—

अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छोर्वीं गव्यूतिमभयं कृधी नः ।
यावय द्वेष आ भरा वसूनि चोदय राधो गृणते मघोनि ।।४।।

अन्तिऽवामा । दूरे । अमित्रं । उच्छ । उर्वीं । गव्यूतिं । अभयं । कृधि । नः । यवय । द्वेषः । आ । भर । वसूनि । चोदय । राधः । गृणते । मघोनि ।। ।।४।।

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अन्ति वामा) भवान् मामन्नैः पशुभिश्च समृद्धं कुरुताम् (अमित्रं, दूरे, उच्छ) मच्छत्रूंश्च अपनय (उर्वीं, गव्यूतिम्) मां विस्तृत-भूम्यधिपतिं करोतु (नः) अस्मान् (अभयं, कृधि) निर्भीकान् कुरु (मघोनि) हे दिव्य-शक्ति सम्पन्न भगवन् ? गृणते, भवान् स्वाश्रितान् (राधः) ऐश्वर्याभिमुखं (चोदय) प्रेरयतु, तथा च (यवय, द्वेषः) अस्माकं द्वेषमपहृत्य (वसूनि, आभर) अखिलैर्धनैरस्मान् संवर्धयतु ।।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (अन्तिवामा) आप हमें अन्न तथा पशुओं से सम्पन्न करें अर्थात् प्रशस्तसमृद्धि युक्त करें । **"वामइति प्रशस्तनामसु पठितम्"** ।। निघण्टु ३।८ ।।(अमित्रं, दूरे उच्छ) हमारे शत्रुओं को हमसे दूर करें (उर्वीं, गव्यूतिं) विस्तृतपृथ्वी का हमको अधिपति बनावें (नः) हमको (अभयं, कृधि) भयरहित करें (मघोनि) हे दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवन् ! (गृणते) आप अपने उपासकों को (राधः) ऐश्वर्य्य की ओर (चोदय) प्रेरित करें और (यवय, द्वेषः) हमारे द्वेष दूर करके (वसूनि, आ, भर) सम्पूर्ण धनों से हमें परिपूर्ण करें ।।

भावार्थ—हे सब धनों से परिपूर्ण तथा ऐश्वर्य्यसम्पन्न स्वामिन् ! आप हमें अन्न तथा गवादि पशुओं का स्वामी बनावें, आप हमें विस्तीर्ण भूमिपति बनावें, हमारे शत्रुओं को हमसे दूर करके सब संसार का हमें मित्र बनावें अर्थात् द्वेषबुद्धि को हमसे दूर कर जिससे कोई भी हमसे शत्रुता न करें, अधिक क्या आप उपासकों को शीलसम्पन्न करें, सब प्रकार का धन दें जिससे हम लोग निरन्तर आपकी उपासना तथा आज्ञा पालन में तत्पर रहें ।।४।।

अस्मे श्रेष्ठेभिर्भानुभिर्वि भाह्युषो देवि प्रतिरन्ती न आयुः ।
इषं च नो दधती विश्ववारे गोमदश्वावद्रथवच्च राधः ॥५॥

अस्मे इति । श्रेष्ठेभिः । भानुऽभिः । वि । भाहि । उषः । देवि । प्रऽतिरन्ती । नः । आयुः । इषम् । च । नः । दधती । विश्वऽवारे । गोऽमत् । अश्वऽवत् । रथऽवत् । च । राधः ॥५॥

पदार्थः—(उषः, देवि) भो ज्योतिःस्वरूप दिव्यगुणविशिष्ट भगवन् (अस्मे) अस्मान् (श्रेष्ठेभिः, भानुभिः) शोभनैः प्रकाशैः (वि भाहि) सम्यक् प्रकाशय (नः) अस्माकम् (आयुः प्रतिरन्ती) आयुर्वर्द्धयतु (विश्ववारे) भो जगदुपासनीय ? (नः) अस्माकम् (इषं) ऐश्वर्यं (दधती) दधातु (च) पुनः (गोमत्) गोभिरुपेतम् (अश्ववत्) अश्वैरुपेतम् (रथवत्) अनेकधा यानैरुपेतम् (च) तथा (राधः) इत्थं सर्वविधधनं सम्पादयतु ।।

पदार्थ—(उषः, देवि) हे ज्योतिस्वरूप तथा दिव्यगुणसम्पन्न परमेश्वर ! (अस्मे) हमें (श्रेष्ठेभिः, भानुभिः) सुन्दर प्रकाशों से (विभाहि) भले प्रकार प्रकाशयुक्त करें (नः) हमारी (आयुः, प्रतिरन्ती) आयु को बढ़ावें (विश्ववारे) हे विश्व के उपास्यदेव ! (नः) हमें (इषं) ऐश्वर्य्य (दधती) धारण करावें (च) और (गोमत्) गौओं से युक्त (अश्ववत्) अश्वोंवाला (रथवत्) यानोंवाला (च) और (राधः) सम्पूर्ण धनोंवाला करें ।।

भावार्थ—मन्त्र का भाव स्पष्ट है, इसमें यह वर्णन किया है कि हे परमात्मन् ! आप हमें दीर्घ आयु दें और सब प्रकार के ऐश्वर्य्य से सम्पन्न करें ।।

इस मन्त्र में आयु की प्रार्थना करना इस बात को सिद्ध करता है कि सब प्रकार के ऐश्वर्य्यों में आयु मुख्य है, क्योंकि आयु के बिना ऐश्वर्य्य का भोग नहीं कर सकता, इसी अभिप्राय से "जीवेम शरदः शतं" इस मन्त्र में सौ वर्ष तक जीवन धारण करने की प्रार्थना की गई है अर्थात् साधारण आयु सौ वर्ष पर्य्यन्त है, इसी मन्त्र में आगे "शरदः शतात्" सौ वर्ष से अधिक जीवन की प्रार्थना भी है जिसका तात्पर्य्य यह है कि पुरुष योगसम्पन्न तथा सदाचारयुक्त हुआ सौ वर्ष से अधिक भी जीवन धारण कर सकता है परन्तु यह अवस्था असाधारण है प्रत्येक को प्राप्त नहीं हो सकती, इसी अभिप्राय से वेद में परमात्मा ने सौ वर्ष का नियम रखा है । सारांश यह है कि जितना पुरुष ब्रह्मचारी तथा सदाचारी रहेगा उतनी ही उसकी आयु विशेष होगी और जितना अधिक दुराचार में प्रवृत्त रहेगा उतनी ही आयु कम होगी, जैसा कि वर्त्तमानावस्था में प्रत्यक्ष देखा जाता है, अत एव सिद्ध है कि ऐश्वर्य्य भोगने के लिए आयु का होना आवश्यक है और आयु बढ़ाने के लिए एकमात्र सदाचार का अवलम्बन करना मनुष्यमात्र का कर्तव्य है, यह वेदभगवान् का उपदेश है ।।५।।

सम्प्रतिवेदविद्भिर्ऋषिभिः प्रार्थना वर्ण्यते—

अब वेदवेत्ता ऋषियों द्वारा प्रार्थना कथन करते हैं—

यां त्वा दिवो दुहितर्वर्धयन्त्युषः सुजाते मतिभिर्वसिष्ठाः ।
सास्मासु धा रयिमृष्वं बृहन्तं यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

यां । त्वा । दिवः । दुहितः । वर्धयन्ति । उषः । सुऽजाते । मतिऽभिः । वसिष्ठाः । सा । अस्मासु । धाः । रयिं । ऋष्वं । बृहन्तं । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥६॥

पदार्थः—(दिवः, दुहितः) द्युलोकस्य दुहितुः (उषः) उषसः (वर्धयन्ति) उदयेऽथवा वृद्धौ समर्द्धयन्ति (मतिभिः, वसिष्ठाः) बुद्धिमन्त ऋषयः (सुजाते) सुजन्मवतीमुषसमभिलक्ष्य सम्यक् परमात्मानं ज्ञानविषयीकृत्य (यां, त्वा) यं त्वां ध्यायन्ति सा त्वम् (अस्मासु) अस्मान् (ऋष्वम्) ऐश्वर्ययुक्तान् कुरु (बृहन्तं, रयिम्) महद्धनम् (धाः) धारय, तथा च (नः) अस्मान् (यूयम्) भवन्तः (स्वस्तिभिः) श्रेयस्करैर्वचोभिः (सदा) शश्वत् (पात) पावयन्तु ।।६।।

इति सप्तसप्ततितमं सूक्तं चतुर्विंशो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(दिवः दुहितः) द्युलोक की दुहिता (उषः) उषा के (वर्धयन्ति) उदय होने पर अथवा बढ़ने पर (मतिभिः, वसिष्ठाः) बुद्धिमान ऋषि लोग (सुजाते) सुजन्मवाली उषा को लक्ष्य रख कर भले प्रकार परमात्मा को ज्ञानगोचर करके (यां त्वा) जिस आपका ध्यान करते हैं, (सा) वह आप (अस्मासु) हम लोगों को (ऋष्वं) ऐश्वर्य्ययुक्त करें, (बृहन्तं रयिं) सब से बड़े धन को (धाः) धारण करावें और (नः) हमको (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणयुक्त वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—हे परमात्मा ! उषा काल में विज्ञानी ऋषि महात्मा अपनी ब्रह्मविषयणी बुद्धि द्वारा आपको ज्ञानगोचर करते हुए आपका ध्यान करते हैं, वह आप हमारे पूजनीय पिता हमें धनसम्पन्न तथा ऐश्वर्य्ययुक्त करते हुए सब प्रकार से हमारा कल्याण करें ।।

तात्पर्य यह है कि मन्त्रों द्वारा संस्कृत की हुई बुद्धि द्वारा जब ऋषि महात्मा परमात्मा का ध्यान करते हैं तब उसका साक्षात्कार करके उसी को अपना एकमात्र लक्ष्य बनाते हैं जैसा कि **"दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"** = इत्यादि उपनिषद्वाक्यों में वर्णन किया है कि परमात्मा का दर्शन = साक्षात्कार सूक्ष्मबुद्धि द्वारा सूक्ष्मदर्शी ऋषियों को होता है । अधिक क्या, परमात्मा का ध्यान करने के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, यह तीन मुख्य साधन हैं अर्थात् प्रथम वेदमन्त्रों द्वारा परमात्मा का श्रवण करना, पुनः श्रवण किये हुए परमात्मस्वरूप का युक्तियों द्वारा मनन करना और तीसरे साधन से उसके स्वरूप का निदिध्यासन = ध्यान करना, इसी का नाम ब्रह्मोपासना है, जब पुरुष इस उपासना के तृतीय स्थान तक पहुँच जाता है तब उसको ध्यान करने में कठिनता नहीं होती ।।

और जो कई एक लोग यह कहते हैं कि निराकार पदार्थ ध्यानगोचर नहीं हो सकता, उनसे यह प्रष्टव्य है कि अपना स्वरूप भी तो निराकार है वह ध्यान में कैसे आ जाता है, और सुख दुःख भी तो निराकार हैं उनका अनुभव क्यों होता है ? जिस प्रकार जीव का स्वरूप और सुखादिकों का अनुभव होता है इसी प्रकार परमात्मा के निराकार स्वरूप का अनुभव होने में कोई बाधा नहीं ।।

निराकार परमात्मास्वरूप के अनुभव करने का प्रकार यह है कि पुरुष जपयज्ञ, ज्ञानयज्ञ तथा ध्यानद्वारा मन को स्थिर करके तदनन्तर उस आनन्दस्वरूप निराकार परमात्मा के स्वरूप में लगावे, तब वह स्थिरता को प्राप्त हुआ मन परमात्मा के स्वरूप को इस प्रकार अनुभव

करता है जिस प्रकार जीवात्मा अपने निराकार आनन्द को अनुभव कर लेता है, और जैसे आनन्द के अनुभव करने में उसको कोई सन्देह शेष नहीं रहता इसी प्रकार स्थिर मनवाले पुरुष को आनन्दस्वरूप परमात्मा के अनुभव करने में भी कोई शङ्का नहीं रहती, क्योंकि परमात्मा सर्व-व्यापक है, उसके स्वरूप का आनन्द उसी प्रकार उसके जीवात्मा में व्यापक है जैसा कि जीव का स्वरूपभूत आनन्द उसका है, सो जिस प्रकार जीवात्मा अपने स्वरूपभूत आनन्द को अनुभव करता है इसी प्रकार अत्यन्त सन्निहित होने से परमात्मा का निराकार स्वरूप जीव के अनुभव का विषय होता है । इसका विशेष विवरण दशममण्डल के ईश्वर स्वरूप निरूपण में प्रतिपादन करेंगे, विशेषाभिलाषी वहाँ देखें ।।६।।

७७ वां सूक्त और २४ वां वर्ग समाप्त हुआ

अथ पञ्चर्चस्य अष्टसप्ततितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः । उषा देवता । छन्दः–१, २ त्रिष्टुप् । ३, ४ निचृत्त्रिष्टुप् । ५–बिराट्त्रिष्टुप् ।।

धैवतः स्वरः ।।

सम्प्रति परमात्मनः स्वरूपं वर्ण्यते—

अब परमात्मा का स्वरूप वर्णन करते हैं—

प्रति॑ के॒तवः॑ प्रथ॒मा अ॑दृश्रन्नू॒र्ध्वा अ॒स्या अ॒ञ्जयो॒ वि श्र॑यन्ते ।
उषो॑ अ॒र्वाचा॑ बृह॒ता रथे॑न॒ ज्योति॑ष्मता वा॒मम॒स्मभ्यं॑ वक्षि ॥१॥

प्रति॑ । के॒तवः॑ । प्र॒थ॒माः । अ॒दृ॒श्र॒न् । ऊ॒र्ध्वाः । अ॒स्याः । अ॒ञ्जयः॑ । वि । श्र॒य॒न्ते॒ । उषः॑ । अ॒र्वाचा॑ । बृ॒ह॒ता । रथे॑न । ज्योति॑ष्मता । वा॒मम् । अ॒स्मभ्य॑म् । व॒क्षि॒ ॥१॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अस्याः) अस्या भवदीयमहाशक्तेः (प्रथमाः) आद्याः (केतवः) अनेकहेतवः (ऊर्ध्वाः) अत्युच्चाः (प्रति) मां प्रति (अञ्जयः) प्रसिद्धाः (अदृश्रन्) दृश्यन्ते, अर्थान्मया सुस्पष्टा दृश्यन्ते, ये (वि श्रयन्ते) विस्तीर्य प्रसृताः (उषः) हे ज्योतिःस्वरूपभगवन् ! (अर्वाचा) भवान् मत्संमुखो भवतु अर्थान्मां स्वदर्शन-पात्रं विदधातु (ज्योतिष्मता) तथा च स्वतेजस्विना (बृहता) महता (रथेन) ज्ञानेन (अस्मभ्यम्) अस्मभ्यं (वामं) ज्ञानात्मकधनं (वक्षि) ब्रवीतु—प्रददातु ।।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (अस्याः) आपकी इस महती शक्ति के (प्रथमाः) पहले (केतवः) अनेक हेतु (ऊर्ध्वाः) सब से ऊंचे (प्रति) हमारे प्रति (अञ्जयः) प्रसिद्ध (अदृश्रन्) देखे जाते हैं अर्थात् हमें स्पष्ट दिखाई देते हैं जो (विश्रयन्ते) विस्तार पूर्वक फैले हुए हैं (उषः) हे ज्योति-स्वरूप भगवन् ! (अर्वाचा) आप हमारे सम्मुख आयें अर्थात् हमें अपने दर्शन का पात्र बनायें, और (ज्योतिष्मता) अपने तेजस्वी (बृहता) बड़े (रथेन) ज्ञान से (अस्मभ्यं) हमको (वामं) ज्ञानरूप धन (वक्षि) प्रदान करें ।।

भावार्थ—जब हम इस संसार में दृष्टि फैलाकर देखते हैं तो सब से पहले परमात्म-स्वरूप को बोधन करनेवाले अनन्त हेतु इस संसार में हमारी दृष्टिगत होते हैं जो सब से उच्च

परमात्मस्वरूप को दर्शा रहे हैं, जैसा कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और यह अद्भुत रचना आदि चिह्नों से स्पष्टतया परमात्मा के स्वरूप का बोधन होता है, हे सर्वशक्तिसम्पन्न भगवन् ? आप अपने बड़े तेजस्वी स्वरूप का हमें ज्ञान करायें जिससे हम अपने आपको पवित्र करें ।।१।।

अथ परमात्मस्वरूपमहत्वं कथ्यते—

अब परमात्मस्वरूप का महत्व कथन करते हैं—

प्रति षीमग्निर्जरते समिद्धः प्रति विप्रासो मतिभिर्गृणन्तः ।
उषा याति ज्योतिषा बाधमाना विश्वा तमांसि दुरिताप देवी ।।२।।

प्रति । सीं । अग्निः । जरते । सम्ऽइद्धः । प्रति । विप्रासः । मतिऽभिः । गृणन्तः । उषाः । याति । ज्योतिषा । बाधमाना । विश्वा । तमांसि । दुःऽइता । अप । देवी ।।२।।

पदार्थः—(देवी)परमात्मनो दिव्यस्वरूपं (दुरिता, अप) पापानि दूरीकुर्वत्, तथा (विश्वा, तमांसि) सर्वविधान्यज्ञानानि (बाधमाना) निवर्तयत् (ज्योतिषा) स्वज्ञानेन (उषाः) अभ्युन्नतिं (याति) प्राप्नोति (विप्रासः) ये वेदवेत्तारो ब्राह्मणास्तं (मतिभिः) स्वबुद्धिभिः (गृणन्तः) गृह्णन्ति (प्रति) तान्प्रति परमात्मस्वरूपम् (समिद्धः) समीचीनरीत्या प्रकाशते, तथा च (अग्निः) ज्योतिःस्वरूपः परमात्मा (सीं) स्वीकृत्य **"सीमितिपरिग्रहार्थीयः"** निरु: १।७ ।। (प्रति जरते)प्रतिभावं व्यापकतया प्रकाशते ।।

पदार्थ—(देवी) परमात्मा का दिव्यस्वरूप (दुरिता, अप) पापों को दूर करता तथा (विश्वा, तमांसि) सब प्रकार के अज्ञानों को (बाधमाना) निवृत्त करता हुआ (ज्योतिषा) अपने ज्ञान से (उषाः) उच्च गति को (याति) प्राप्त है (विप्रासः) वेदवेत्ता ब्राह्मण उसको (मतिभिः) स्व बुद्धियों से (गृणन्तः) ग्रहण करते हैं (प्रति) उनको परमात्मस्वरूप (समिद्धः) सम्यक् रीति से प्रकाशित होता और (अग्निः) ज्योतिस्वरूप परमात्मा (सीं) भलीभाँति (प्रति, जरते) प्रत्येक में व्यापकभाव से प्रकाशित हो रहा है ।।

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप परमात्मा का दिव्यस्वरूप सदैव प्रकाशमान हुआ अज्ञानरूप अन्धकार को निवृत्त करके ज्ञानरूप ज्योति का विस्तार करता अर्थात् उषारूप ज्योति के समान उच्चभाव को प्राप्त होता है, वह वेदवेत्ता ब्राह्मणों की बुद्धि का विषय होने से उनके प्रति प्रकाशित होता अर्थात् वे परमात्मस्वरूप को अपनी निर्मल बुद्धि से भलीभाँति अवगत करते हैं, अधिक क्या उसका दिव्य स्वरूप संसार के प्रत्येक पदार्थ में ओतप्रोत हो रहा है, इसलिए सब पुरुषों को उचित है कि वह परमात्मस्वरूप को अपने-अपने हृदय में अवगत करते हुए अपने जीवन को उच्च बनावें, अर्थात् जिस प्रकार उषाकाल अन्धकार को निवृत्त करके प्रकाशमय हो जाता है इसी प्रकार परमात्मा अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके अपने प्रकाश से विद्वानों के हृदय को प्रकाशित करता है ।।२।।

एता उ त्याः प्रत्यदृश्रन्पुरस्ताज्ज्योतिर्यच्छन्ती रुषसो विभातीः ।
अजीजनन्त्सूर्यं यज्ञमग्निमपाचीनं तमो अगादजुष्टम् ॥३॥

एताः । ऊँ इति । त्याः । प्रति । अदृश्रन् । पुरस्तात् । ज्योतिः । यच्छन्तीः । उषसः । विऽभातीः । अजीजनन् । सूर्यं । यज्ञं । अग्निं । अपाचीनं । तमः । अगात् । अजुष्टं ॥३॥

पदार्थः—(उषसः) ज्ञानस्वरूपः परमात्मा (ज्योतिः, यच्छन्तीः) ज्ञानं प्रकटयन् (विभातीः) रोचमानोऽस्ति, तथा तज्ज्ञानम् (प्रति) मनुष्यान्प्रति (पुरस्तात्, अदृश्रन्) सर्वस्मात्पूर्वं दृश्यते (एता, त्याः) इमाः परमात्मशक्तयः (सूर्यं, यज्ञं, अग्निम्) सूर्यं यज्ञं वह्निं च (अजीजनन्) उत्पादयन्ति (उ) तथा (अजुष्टं, तमः) अप्रियं तमः (अपाचीनं) अपहृत्य (अगात्) ज्ञानात्मकप्रकाशम् विस्तृण्वन्ति ॥

पदार्थ—(उषसः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा (ज्योतिः यच्छन्तीः) ज्ञान का प्रकाश करता हुआ (विभातीः) प्रकाशित होता, और उसका ज्ञान (प्रति) मनुष्यों के प्रति (पुरस्तात् अदृश्रन्) सब से पूर्व देखा जाता है, (एताःत्याः) ये परमात्मशक्तियें (सूर्यं, यज्ञं, अग्नि) सूर्य, यज्ञ तथा अग्नि को (अजीजनन्) उत्पन्न करती (उ) और (अजुष्टं तमः) अप्रिय तम को (अपाचीनं) दूर करके (अगात्) ज्ञानरूप प्रकाश का विस्तार करती हैं ॥

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप परमात्मा का ज्ञान सब से पूर्व देखा जाता है वह अपने ज्ञान का विस्तार करके पीछे प्रकाशित होता है, क्योंकि उसके जानने के लिए पहले ज्ञान की आवश्यकता है और उसी परमात्मा से सूर्य्य चन्द्रादि दिव्य ज्योतियाँ उत्पन्न होतीं, उसी से यज्ञ का प्रादुर्भाव होता और उसी से अग्नि आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वही परमात्मा अज्ञानरूप तम का नाश करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अपने ज्ञानरूप प्रकाश का विस्तार करता है, इसलिए सबका कर्तव्य है कि उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर ज्ञानकी वृद्धि द्वारा अपने जीवन को उच्च बनावें ॥३॥

अचेति दिवो दुहिता मघोनी विश्वे पश्यन्त्युषसं विभातीम् ।
आस्थाद्रथं स्वधया युज्यमानमा यमश्वासः सुयुजो वहन्ति ॥४॥

अचेति । दिवः । दुहिता । मघोनी । विश्वे । पश्यन्ति । उषसं । विऽभातीं । आ । अस्थात् । रथं । स्वधया । युज्यमानं । आ । यं । अश्वासः । सुयुजः । वहन्ति ॥४॥

पदार्थः—(सुयुजः) सुष्ठुदीप्तिमत्यः परमात्मशक्तयः (अश्वासः) तीक्ष्णगत्या (यं, रथं) यं स्यन्दनम् (आ) सम्यक् (वहन्ति) गमयन्ति, ताभिः (युज्यमानम्) संमिलितां (दिवः, दुहिता) द्युलोकस्य दुहितरं (उषसं) उषसं (विश्वे, पश्यन्ति) सर्वेऽवलोकन्ते, या (अचेति) दिव्यज्योतिःसम्पन्ना (मघोनी) ऐश्वर्ययुक्ता (विभातीं) प्रकाशमाना (स्वधया) अन्नादिविविधपदार्थसम्पन्ना, तथा या (आ) सम्यक् (अस्थात्) दृढ़तया तिष्ठति ।

पदार्थ—(सुयुजः) सुन्दर दीप्तिवाली परमात्मशक्तियें (अश्वासः) शीघ्र गतिद्वारा (यं, रथं) जिस रथ को (आ) भले प्रकार (वहन्ति) चलाती हैं, उससे (युज्यमानं) जुड़ी हुई (दिवः, दुहिता) द्युलोक की दुहिता (उषसं) उषा को (विश्वे, पश्यन्ति) सब लोग देखते हैं, जो (अचेति) दिव्यज्योतिसम्पन्न (मघोनी) ऐश्वर्य्यवाली (विभाती) प्रकाशयुक्त (स्वधया) अन्नादि पदार्थों से सम्पन्न, और जो (आ) भले प्रकार (अस्थात्) दृढ़तावाली है ।।

भावार्थ—मन्त्र का आशय यह है कि इस ब्रह्माण्डरूपी रथ को परमात्मा की दिव्यशक्तियें चलाती हैं, उसी रथ में जुड़ी हुई द्युलोक की दुहिता उषा को विज्ञानी लोग देखते हैं जो अन्नादि ऐश्वर्य्यसम्पन्न बड़ी दृढ़तावाली है, इस शक्ति को देखकर विज्ञानी महात्मा इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा का अनुभव करते हुए उसी की उपासना में प्रवृत्त होकर अपने जीवन को सफल करते और परमात्मा को अचिन्त्य शक्तियों को विचारते हुए उसी में संलग्न होकर अमृतभाव को प्राप्त होते हैं ।।४।।

अथैश्वर्य्यसम्पन्नः परमात्मा प्रार्थ्यते—

अब ऐश्वर्य्य सम्पन्न परमात्मा की स्तुति कथन करते हुए प्रार्थना करते हैं—

प्रति त्वाद्य सुमनसो बुधन्तास्माकासो मघवानो वयं च ।
तिल्विलायध्वमुषसो विभातीर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

प्रति । त्वा । अद्य । सुऽमनसः । बुधन्त । अस्माकासः । मघऽवानः । वयं । च । तिल्विलायध्वं । उषसः । विऽभाऽतीः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (त्वा, प्रति) भवन्तं प्रति (अद्य) अस्मिन्वर्त्तमाने दिने (सुमनसः) सुचेतसो विज्ञानिनः (अस्माकासः) अस्मदीया ऋत्विगादयश्च (मघवानः) ऐश्वर्यसम्पन्नं भवन्तम् (बुधन्त) बोधयन्ति (च) च पुनः (वयम्) वयम् भवन्महत्वं बुध्यामहे (यूयम्) हे परमात्मन् ! त्वम् (तिल्विलायध्वम्) अस्मासु मिथः प्रेमोत्पादको भव, यतो भवान् (उषसः) प्रकाशस्वरूपज्ञानेन(विभातीः) शश्वत्प्रकाशते (यूयम्) भवन्तः (स्वस्तिभिः) स्वस्तिमयीभिर्वेदवाग्भिः (नः) अस्मान् (सदा) शश्वत् (पात) पुनन्तु ।।

इत्यष्टासप्ततितमं सूक्तं पञ्चविंशो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (त्वा, प्रति) आपके प्रति (अद्य) आज (सुमनसः) सुन्दर मनवाले विज्ञानी और (अस्माकासः) हमारे ऋत्विगादि (मघवानः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न आपको (बुधन्त) बोधन करते (च) और (वयम्) हमलोग आप के महत्त्व को समझते हैं । हे परमात्मन् ! आप (तिल्विलायध्वं) हम में परस्पर प्रेम भाव उत्पन्न करें क्योंकि आप (उषसः) प्रकाशरूप ज्ञान से (विभातीः) सदा प्रकाशमान हैं (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचन रूप वेदवाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—हे भगवन् ! आपको शान्त मनवाले योगीजन बोधन करते तथा बड़े-बड़े ऐश्वर्य्यसम्पन्न आप के यश को वर्णन करते हैं और आपकी प्रेममय रज्जू से बन्धे हुए भक्तजन आपका सदैव कीर्तन करते हैं, कृपा करके हमको कल्याणरूप वाणियों से सदा के लिए पवित्र करें ।।

७८ वां सूक्त और २५ वां वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथ पञ्चर्चस्य एकोनाशीतितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१,४ निचृत्–त्रिष्टुप् । २, ३, विराट्त्रिष्टुप् ॥ ५ आर्ची स्वराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ स्वयंप्रकाशपरमात्मनः सकाशादज्ञान निवृत्तिर्वर्ण्यते—

अब परमात्मा की स्वयं प्रकाशता कथन करते हुए उसी से अज्ञान निवृत्ति का वर्णन करते हैं—

व्यु१॒षा आ॑वः प॒थ्या॒३ जना॑नां॒ पञ्च॑ क्षि॒तीर्मानु॑षीर्बो॒धय॑न्ती ।
सु॒सं॒दृग्भि॑रु॒क्षभि॑र्भा॒नुम॑श्रे॒द्वि सूर्यो॒ रोद॑सी॒ चक्ष॑सावः ॥१॥

वि । उ॒षाः । आ॒वः । प॒थ्या॑ । जना॑नाम् । पञ्च॑ । क्षि॒तीः । मानु॑षीः । बो॒धय॑न्ती । सु॒सं॒दृक्ऽभिः॑ । उ॒क्षऽभिः॑ । भा॒नुम् । अ॒श्रे॒त् । वि । सूर्यः॑ । रोद॑सी॒ इति॑ । चक्ष॑सा । आ॒व॒रित्या॑वः ॥१॥

पदार्थः—(सूर्यः) स्वतःप्रकाशः परमात्मा (रोदसी) पृथ्व्यन्तरिक्षयोर्मध्ये (चक्षसा) स्वप्रकाशेन (आवः) सर्वं प्रकाशयन् (वि, उषाः) स्वविशेषज्ञानेन (पञ्च, जनानाम्) पञ्चविधानपि मनुष्यान् (क्षितीः) भूमौ (मानुषीः) मनुष्यताम् (बोधयन्ती) उपदिशति, यः (आवः पथ्या) सर्वेभ्यो विशेषेण पथ्यो हितकरोऽस्ति, अस्माभिः प्रजाभिः (वि) विशेषतया कर्तव्यमस्ति यद्वयम् (उक्षभिः) अत्यन्तबलवता (सुसंदृग्भिः) स्वसत्यज्ञानेन (भानुम्, अश्रेत्) तं स्वप्रकाशमाश्रयेम ॥

पदार्थ—(सूर्यः) स्वतःप्रकाश परमात्मा (रोदसी) पृथ्वी तथा द्युलोक के मध्य में (चक्षसा) अपने प्रकाश से (आवः) सबको प्रकाशित करता हुआ (वि, उषाः) अपने विशेष ज्ञान से (पञ्च, जनानां) पांचों प्रकार के मनुष्यों को (क्षितीः) इस पृथ्वी पर (मानुषीः) मनुष्यता का (बोधयन्ती) उपदेश कर रहा है, जो (आवः, पथ्या) सब के लिए विशेषरूप से पथ्य है, हम सब प्रजाजनों का (वि) विशेषता से मुख्य कर्तव्य है कि हम (उक्षभिः) अत्यन्तबलयुक्त (सुसंदृग्भिः) अपने सत्यज्ञान से (भानुं, अश्रेत्) उस स्वयंप्रकाश को आश्रयण करें ॥

भावार्थ—वह पूर्ण परमात्मा जो अपनी दिव्य ज्योति से सम्पूर्ण भूमण्डल को प्रकाशित करता हुआ अपने विशेष ज्ञान से "पञ्च जना"=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और दस्यु, इन पांचों प्रकार के मनुष्यों को सत्यज्ञान का उपदेश कर रहा है, जो सब के लिए परम उपयोगी है, हमारा कर्तव्य है कि हम यत्नपूर्वक उस स्वतःप्रकाश परमात्मा के स्वरूप को जान कर उसी का आश्रयण करें ॥

व्य॑ञ्जते दि॒वो अन्ते॑ष्व॒क्तून्विशो॒ न यु॒क्ता उ॒षसो॑ यतन्ते ।
सं ते॒ गाव॒स्तम॒ आ व॑र्तयन्ति॒ ज्योति॑र्यच्छन्ति सवि॒तेव॑ बा॒हू ॥२॥

वि । अ॒ञ्ज॒ते॒ । दि॒वः । अन्ते॑षु । अ॒क्तून् । विशः॑ । न । यु॒क्ताः । उ॒षसः॑ । य॒त॒न्ते॒ । सम् । ते॒ । गावः॑ । तमः॑ । आ । व॒र्त॒य॒न्ति॒ । ज्योतिः॑ । य॒च्छ॒न्ति॒ । स॒वि॒ताऽइ॑व । बा॒हू इति॑ ॥२॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! भवान् (दिवः, अन्तेषु) दिवः पर्यन्तप्रदेशेषु (अक्तून्) सूर्य्यादिप्रकाशैः (न) सदृशः (विशः, अञ्जते) सर्वाः प्रजाः प्रकटयन् (वि) सम्यक् (उषसः, युक्ताः,) प्रकाशिताः (यतन्ते) करोति (ते, गावः) तव ज्ञानस्वरूपप्रकाशः (तमः) अज्ञानस्वरूपान्धकारं (आ) सम्यक् (वर्तयन्ति) नाशयति (सविता, इव, बाहू) सूर्यरश्मिवत् (ज्योतिः) तव तेजः (सं, यच्छन्ति) सर्वं भासयति ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! आप (दिवः, अन्तेषु) द्युलोकपर्यन्त प्रदेशों में (अक्तून) सूर्यादि प्रकाशों के (न) समान (विशः अञ्जते) सम्पूर्ण प्रजाओं को प्रकट करते (वि) भले प्रकार (उषसःयुक्ताः) प्रकाशयुक्त (यतन्ते) कर रहे हैं (ते, गावः) तुम्हारा ज्ञानरूप प्रकाश (तमः) अज्ञान रूप तम को (आ) भले प्रकार (वर्तयन्ति) दूर करता है (सविता, इव, बाहू) सूर्य्य की किरणों के समान (ज्योतिः) तुम्हारी ज्योति (सं, यच्छन्ति) सबको प्रकाशित करती हैं ॥

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप द्युलोकपर्य्यन्त सम्पूर्ण प्रजाओं को अपनी दिव्य ज्योति से प्रकाशित कर रहे हैं अर्थात् आप अपने ज्ञानरूप तप से प्रजाओं को रचकर सूर्य्य की किरणों के समान अज्ञानरूप तम को छिन्नभिन्न करके मनुष्यों को ज्ञानयुक्त बनाते हैं, जैसा कि **"यस्य ज्ञानमयं तपः"** इत्यादि उपनिषद् वाक्यों में इसी मन्त्र को आश्रय करके कहा है कि उस परमात्मा का ज्ञान ही एक प्रकार का तप है, उसी ज्ञानरूप तप से परमात्मा इस ब्रह्माण्ड की रचना करके सबको यथावस्थित नियम में चला रहे हैं ॥२॥

अथोक्तज्ञानप्राप्त्यर्थं परमात्मा प्रार्थ्यते—

अब उस दिव्यज्ञान की प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—

अभूदुषा इन्द्रतमा मघोन्यजीजनत्सुविताय श्रवांसि ।
वि दिवो देवी दुहिता दधात्यङ्गिरस्तमा सुकृते वसूनि ॥३॥

अभूत् । उषाः । इन्द्रऽतमा । मघोनी । अजीजनत् । सुवितायं । श्रवांसि ।
वि । दिवः । देवी । दुहिता । दधाति । अङ्गिरःऽतमा । सुऽकृते । वसूनि ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रतमा) भो ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! त्वदीयम् (वि) विस्तृतं ज्ञानम् (सुविताय) नः कल्याणाय (उषाः, अभूत्) प्रकाशितं भवेत् (मघोनी) हे अखिलैश्वर्ययुक्त भगवन् ! त्वम् (श्रवांसि) स्वज्ञानशक्तिम् (अजीजनत्) प्रकाशय, हे ज्योतिःस्वरूप ! (दिवः, देवी) द्युलोकस्य देवी (दुहिता) तव दुहितृरूपा या दिव्यशक्तिः (अङ्गिरः, तमा) अत्यन्तगमनशीला तमोहन्त्री चाऽस्ति, सा (सुकृते) अस्मत्पुण्यकर्मणे (वसूनि, दधाति) धनानि धारयतु ॥

पदार्थ—(इन्द्रतमा) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आपका (वि) विस्तृत ज्ञान (सुविताय) हमारे कल्याणार्थ (उषाः, अभूत् प्रकाशित हो (मघोनी) हे सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न भगवन् ! आप (श्रवांसि) अपनी ज्ञानशक्ति को (अजीजनत्) प्रकाशित करें, हे ज्योतिःस्वरूप ! (दिवः, देवी) द्युलोक की देवी (दुहिता) तुम्हारी दुहिताख्य दिव्यशक्ति जो (अङ्गिरः, तमा) अत्यन्त गमनशील तमनाशक है वह (सुकृते) हमारे पुण्यों के लिये (वसूनि, दधाति) धनों को धारण करावे ॥

भावार्थ—हे सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मन् ! आपकी दुहितारूप विद्युतादि शक्तियें हमारे लिये कल्याणकारी होकर हमें अनन्त प्रकाश का धन धारण करावें, और आपका ज्ञान हमारे हृदय को प्रकाशित करे ॥

इस मन्त्र में परमात्मरूप शक्ति को "दुहिता" इस अभिप्राय से कथन किया गया है कि "दुहिता दुर्हिता" इस वैदिकोक्ति के समान परमात्मा की विद्युतादि दिव्यशक्तियें दूर देशों में जाकर हित उत्पन्न करती हैं और जो दूर देशों में जाकर हित उत्पन्न करे उसको दुहिता कहते हैं, इसलिये "दुहिता" शब्द से यहां विद्युतादि शक्तियों का ग्रहण है, जहां दुहिता शब्द का दिवः शब्द के साथ सम्बन्ध होता है वहां यह अर्थ होते हैं कि जो द्युलोकादि दूर देशों में जाकर हित उत्पन्न करे उसका नाम 'दिवोदुहिता' है, यहां दुहिता शब्द के अर्थ शक्ति के हैं, पुत्री के नहीं ॥३॥

तावदुषो राधो अस्मभ्यं रास्व यावत्स्तोतृभ्यो अरदो गृणाना ।
यां त्वा जज्ञुर्वृषभस्या रवेण वि दृळ्हस्य दुरो अद्रेरौर्णोः ॥४॥

तावत् । उषः । राधः । अस्मभ्यं । रास्व । यावत् । स्तोतृऽभ्यः । अरदः । गृणाना । यां । त्वा । जज्ञुः । वृषभस्य । रवेण । वि । दृळ्हस्य । दुरः । अद्रेः । और्णोः ॥४॥

पदार्थः—(उषः) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (अस्मभ्यम्) अस्मदर्थम् (अरदः) आदौ (तावत्, राधः, रास्व) तावत् धनं प्रयच्छ (यावत्) यावता वयम् (गृणाना) त्वां गृणतः स्तोतृभ्यः स्तोतृन् विदुषः प्रसादयेम (यां, त्वा) यं त्वाम् (वृषभस्य, रवेण, जज्ञुः) वृषभवत् उच्चस्वरेण प्रकट्यन्ति स्तुवन्ति, तथा चास्मभ्यम् (दृळ्हस्य, दुरः, अद्रेः) दृढतायुक्तानतिकठिनमार्गान् (वि) सम्यक् (और्णोः) विवृतान् कुरु ॥४॥

पदार्थ—(उषः) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (अस्मभ्यं) हमलोगों को (अरदः) प्रथम (तावत्, राधः, रास्व) उतना धन प्रदान करें (यावत्) जितने से हम (गृणाना) आपको ग्रहण करनेवाले (स्तोतृभ्यः) स्तोता विद्वानों को प्रसन्न कर सकें (यां, त्वा) जो आपको (वृषभस्य, रवेण, जज्ञुः) वृषभ के समान उच्चस्वर से प्रकट कर रहे हैं अर्थात् आपकी स्तुति करते हैं, और हमारे लिये (दृळ्हस्य, दुरः, अद्रेः) दृढ़तायुक्त कठिन से कठिन मार्गों को (वि) भलीभाँति (और्णोः) खोल दें ॥

भावार्थ—हे सर्वपालक भगवन् ! आप हमको ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें जिससे हम अपने वेदवेत्ता स्तोता आदि विद्वानों को प्रसन्न करें, जो हमारे प्रति आपकी स्तुति उच्चस्वर से वर्णन करते हैं या यों कहो कि परमात्मस्तुति कीर्तन करते हुए हमको आपकी उपासना में प्रवृत्त करते हैं, हे भगवन् ! आप हम में ऐसी शक्ति प्रदान करें कि कठिन से कठिन मार्गों के द्वारों को खोलकर आपका दर्शन कर सकें ॥४॥

सम्प्रति धनप्राप्तये ईश्वरः प्रार्थ्यते—

अब धनप्राप्ति की प्रार्थना करते हैं—

देवंदेवं राधसे चोदयन्त्यस्मद्र्यक्सूनृता ईरयन्ती ।
व्युच्छन्ती नः सनये धियो धा यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

देवंऽदेवं । राधसे । चोदयन्ती । अस्मद्र्यक् । सूनृताः । ईरयन्ती । विऽउच्छन्ती । नः । सनये । धियः । धाः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (देवं, देवं) सर्वान्स्तोतॄन् (राधसे) धनप्राप्तये (चोदयन्ती) प्रेरयतु (अस्मद्र्यक्) अस्मदभिमुखम् (सूनृताः) उत्तमवेदवाचः प्रति (व्युच्छन्ती) उत्साहयतु, तथा च (नः अस्माकम् (धियः) बुद्धीः (सनये) दानाय (धाः) धारयन् (ईरयन्ती) ताःप्रति प्रेरयतु, यतो वयं प्रदाने समर्था भवेम (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) कल्याणीभिर्वाग्भिः (नः) अस्मान् (सदा) निरन्तरम् (पात) रक्षतु =पुनातु ॥

इत्येकोनाशीतितमं सूक्तं षड्विंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् (देवं देवं) सब श्रोताओं को (राधसे) धनप्राप्ति के लिये (चोदयन्ती) प्रेरित करें, (अस्मद्र्यक्) हम यजमानों को (सूनृताः) उत्तम वेदवाणियों की ओर (व्युच्छन्ती) उत्साहित करें, और (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (सनये) दान के लिये (धाः) धारण करते हुए (ईरयन्ती) उस ओर प्रेरें, जिससे हम दान में समर्थ हों, और (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) कल्याणरूप वाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—हे दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आप अब स्तोताओं को धन-धान्यादि से भले प्रकार समृद्ध करें ताकि वह उत्तमोत्तम वेदवाणियों द्वारा आपका सदा स्तवन करते हुए हमारी बुद्धियों को आपकी ओर प्रेरित करें, और हे भगवन् ! आप हमें दानशील बनावें ताकि हम उत्साहित होकर स्तोता आदि अधिकारियों को दान देने में समर्थ हों, और आप हमें सदा के लिए पवित्र करें, यह प्रार्थना है ॥५॥

७९वां सूक्त और २६वां वर्ग समाप्त हुआ ।

षड्चस्याशीतितमस्य सूक्तस्य—

१–३ वसिष्ठ ऋषिः ॥ उषा देवता ॥ छन्दः—१ त्रिष्टुप् । २ विराट् त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ अखिलभुवननिर्माणं परमात्मनः सकाशादिति वर्ण्यते ॥

अब सब भुवनों तथा दिव्य पदार्थों की रचना परमात्मा से होना कथन करते हैं—

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन् ।
विवर्तयन्तीं रजसी समन्ते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा ॥१॥

प्रति । स्तोमेभिः । उषसं । वसिष्ठाः । गीःऽभिः । विप्रासः । प्रथमाः । अबुध्रन् । विऽवर्तयन्तीं । रजसी इति । सऽमन्ते इति । संऽअन्ते । आविःऽकृण्वतीं । भुवनानि । विश्वा ॥१॥

पदार्थः—(विश्वा, भुवनानि) अत्र संसारे सकलभुवनानि (आविः, कृण्वतीं) प्रकटयन् परमात्मा (प्रथमाः) आदौ (विप्रासः) वेदवेत्तॄन् ब्राह्मणान् (अबुध्रन्) अबोधयत्, तथा (वसिष्ठाः) ते विशेषगुणसम्पन्ना विद्वांसः (प्रति, उषसं) प्रत्युषः-

कालम् (स्तोमेभिः, गीर्भिः,) यज्ञमयीभिः वाग्भिः परमात्मानमस्तुवन् तथा च (समन्ते) अन्ते = विरामकाले (रजसी) रजोगुणप्रधाना परमात्मशक्तिः (विवर्त्तयन्ती) इदं निखिलमपि ब्रह्माण्डं संहरति ॥

पदार्थ—(विश्वा, भुवनानि) इस संसार के सम्पूर्ण भुवनों की (आविः कृण्वतीं) रचना करते हुए परमात्मा ने (विप्रासः) वेदवेत्ता ब्राह्मणों को अबुध्नन्) बोधन किया, और (वसिष्ठाः) उन विशेषगुणसम्पन्न विद्वानों ने (प्रति उषसं) प्रत्येक उषाकाल में (स्तोमेभिः, गीर्भिः) यज्ञरूप वाणियों द्वारा परमात्मा का स्तवन किया, और (समन्ते) अन्त समय में (रजसी) रजोगुणप्रधान परमात्मशक्ति (विवर्तयन्ती) इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को लय करती है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का वर्णन किया गया है अर्थात् संसार की उक्त तीन अवस्थाओं का कारण एकमात्र परमात्मा है, वह परमात्मा इस संसार की रचनाकाल में प्रथम ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है। जिससे सब प्रजा उस रचयिता परमात्मा के नियमों को भले प्रकार जानकर तदनुसार ही आचरण करते हुए संसार में सुखपूर्वक विचरें, वही परमात्मा सब संसार का पालक, पोषक और अन्त समय में वही सबका संहार करने वाला है ॥१॥

एषा स्या नव्यमायुर्दधाना गूढ्वी तमो ज्योतिषोषा अबोधि ।
अग्रं एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूर्यं यज्ञमग्निम् ॥२॥

एषा । स्या । नव्यं । आयुः । दधाना । गूढ्वी । तमः । ज्योतिषा । उषाः । अबोधि । अग्रे । एति । युवतिः । अह्रयाणा । प्र । अचिकितत् । सूर्यं । यज्ञं । अग्निं ॥२॥

पदार्थः—(अग्रे) सृष्टिरचनायाः प्राक् (एषा, गूढ्वी) एषा परमात्मनो गुह्यशक्तिः (ज्योतिषा, तमः) प्रकाशात्मकज्योतिषा तमो निरस्य (सूर्यं, यज्ञं, अग्निम्) सूर्यं यज्ञमग्निंच (प्र) सम्यक् (अचिकितत्) रचितवती तथा (उषाः, अबोधि) उषः-कालं बोधयन्ती सा (अह्रयाणा, युवतिः) प्रकाशवती सदा यौवनसम्पन्नेव विराजते (स्या) सा शक्तिः (नव्यं, आयुः, दधाना) नूतनमायुर्धारयन्ती (एति) तस्मिन्नेव परमात्मनि लीयते ॥

पदार्थ—(अग्रे) सृष्टि रचना से प्रथम (एषा, गूढ्वी) यह परमात्मा की गुह्यशक्ति (ज्योतिषा, तमः) प्रकाशरूप ज्योति से तम का नाश करके (सूर्यं, यज्ञं, अग्निं) सूर्य, यज्ञ तथा अग्नि को (प्र) भले प्रकार (अचिकितत्) रचती और (उषा, अबोधि) उषाकाल का बोधन करती हुई वह (अह्रयाणा, युवतिः) प्रकाशवती सदा युवावस्थासम्पन्न रहती है (स्या) वह शक्ति (नव्यं, आयुः, दधाना) नवीन आयु को धारण करती हुई (एति) उसी परमात्मा में लय हो जाती है ॥

भावार्थ—परमात्मा की दिव्य शक्ति जिससे सृष्टि के आदि काल में पुनः रचना होती है वह परमात्मा की प्रकाशरूप ज्योति से प्रथम अन्धकार का नाश करती है, क्योंकि प्रलयकाल में यह सब संसार अन्धकारमय होता है, तत्पश्चात् सूर्य्य, अग्नि और यज्ञ को रचकर उषाकाल का बोधन कराती है जिससे सब प्रजागण परमात्मा का स्तवन करते हुए अपने कार्यों में प्रवृत्त

होते हैं, परमात्मा की उस दिव्य शक्ति में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, वह युवावस्था को प्राप्त हुई मनुष्यों को कर्मानुसार सदा बल, बुद्धि आदि नूतन भावों को प्रदान करती रहती है और अन्त में उसी परमात्मा में लय हो जाती है ॥

अथ परमात्मनः सकाशात्सुखं प्रार्थ्यते—

अब इस सूक्त के अंत में परमात्मा के दिव्य गुणों का वर्णन करते हुए उससे स्वस्ति की प्रार्थना करते हैं—

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ।
घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥३॥

अश्व॑ऽवतीः । गोऽम॑तीः । नः॒ । उ॒षस॑ः । वी॒रऽव॑तीः । सद॑म् । उ॒च्छ॒न्तु । भ॒द्राः । घृ॒तम् । दुहा॑नाः । वि॒श्वत॑ः । प्रऽपी॑ताः । यू॒यम् । पा॒त । स्व॒स्तिऽभि॑ः सदा॑ । नः॒ ॥३॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! भवान् (अश्वावतीः) सर्वगतीनामाश्रयः (गोमतीः) सर्वज्ञानानामाधारः (वीरवतीः) सर्वेषां शौर्यादिगुणानाञ्च आश्रयोऽस्ति (नः) अस्मान् (उषसः) प्रकाशमानान् (भद्राः) श्रेयस्करागुणान् (सदम्) सर्वदा (उच्छन्तु) प्रापयतु, भवान् (विश्वतः) सर्वतः (घृतम्) हार्दम् (दुहानाः) उत्पादयन् (प्रपीताः) जगदाश्रयोऽस्ति (यूयम्) भवान् (नः) अस्मान् (स्वस्तिभिः) कल्याणवाग्भिः (सदा) निरन्तरम् (पात) रक्षतु=पुनातु ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे ऋक्संहिताभाष्ये सप्तममण्डले पञ्चमाष्टके पञ्चमोऽध्यायोऽशीतितमं सूक्तं सप्तविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! आप (अश्वावतीः) सर्वगतियों का आश्रय (गोमतीः) सब ज्ञानों का आधार (वीरवतीः) सब वीरतादि गुणों का आश्रय हो (नः) हमको (उषसः) प्रकाशवाले (भद्राः) भद्र गुण (सदं) सदा के लिए (उच्छन्तु) प्राप्त करायें, आप (विश्वतः) सब ओर से (घृतं) प्रेम को (दुहानाः) उत्पन्न करनेवाले (प्रपीताः) सबके आश्रय भूत हैं (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा का वर्णन करते हुए यह कथन किया है कि जिस प्रकार वर्तिका=बत्ती सब ओर से स्नेह=चिकनाई को अपने में लीन करके प्रकाश करती है इसी प्रकार सब प्रेमी पुरुषों को परमात्मा प्रकाश=ज्ञान प्रदान करते हैं, वही परमात्मा वीरता, धीरता, ज्ञान तथा गति आदि सब सद्गुणों का आधार और प्रेममय पुरुषों का एकमात्र गति स्थान है ॥

उसी परमात्मा की दिव्य शक्ति से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता उसी की सत्ता का लाभ कर स्थित रहता और अन्त में उसी में लय हो जाता है, इसी कारण उस शक्ति को इस मन्त्र में **"प्रपीता"** सबका आश्रयभूत कहा गया है और इसी भाव को महर्षि व्यास ने **"स्वाप्ययात्"**

।।१।१।९। ब्र० सू०।। में यह वर्णन किया है कि कोई पदार्थ नाश को प्राप्त नहीं होता किन्तु सबका लय एकमात्र परमात्मा में होता है अर्थात् प्रथम प्रकृतिरूप कारण में सब पदार्थों का लय हो जाता और कारण प्रकृति रूप में ब्रह्म में सदा विद्यमान रहता है, इसी प्रकार दूसरी जीवरूप प्रकृति भी जो अनादि काल से विद्यमान है वह भी प्रलय काल में ब्रह्माश्रित रहती है, इस प्रकार चिदचिदीश्वर = चित् जीव, अचित् प्रकृति और ब्रह्म यह तीनों अनादि अनन्त हैं, यही वैदिकसिद्धान्त है जिसका विशेष वर्णन उपनिषद, गीता तथा ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक लिखा गया है ।।३।।

ऋग्वेद के ७ वें मण्डल में ८० वां सूक्त और २७ वां वर्ग समाप्त हुआ,
और पाचवें अष्टक में पाचवां अध्याय समाप्त हुआ ।।

अथ षष्ठोऽध्यायः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव यद्भद्रं तन्न आ सुव ।

अथ षडृचस्य एकाशीतितमस्य सूक्तस्य—

१–६ वसिष्ठ ऋषिः ।। उषा देवता ।। छन्दः—१ विराड् बृहती । २ भुरिग्बृहती । ३ आर्षी बृहती । ४, ६ आर्षीभुरिग्बृहती । ५ निचृद्बृहती ।। मध्यमः स्वरः ।।

अथ सर्वप्रकाशकः परमात्मा वर्ण्यते—

अब सर्वप्रेरक तथा सर्वप्रकाशक परमात्मा का वर्णन करते हैं—

प्रत्यु अदर्श्यायत्यु१च्छन्ती दुहिता दिवः ।
अपो महि व्ययति चक्षसे तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

प्रति । ऊँ इति । अदर्शि । आऽयती । उच्छन्ती । दुहिता । दिवः । अपो इति । महि । व्ययति । चक्षसे । तमः । ज्योतिः । कृणोति । सूनरी ।।१।।

पदार्थः—(ज्योतिः) सर्वप्रकाशकः (महि) महत् (तमः) अन्धकारम् (व्ययति) नाशयति (चक्षसे) प्रकाशाय (दिवः, दुहिता) द्युलोकस्य दुहितरमुषसम् (प्रति, ऊ, अदर्शि) प्रत्येकस्थाने प्रकाशयति (सूनरी, आयती) सुष्ठुप्रकाशं विस्तृताकाशे (उच्छन्ती) प्रसारयन् (अपो) जलेन सर्वविधदुःखं विहन्ति ।।

पदार्थ—(ज्योतिः) सबका प्रकाशक (महि) बड़े (तमः) अन्धकार को (व्ययति) नाश करनेवाला (चक्षसे) प्रकाश के लिए (दिवः, दुहिता) उषा का (प्रति, ऊ, अदर्शि) प्रत्येक स्थान में प्रकाशित करनेवाला (सूनरी, आयती) सुन्दर प्रकाश को विस्तृत आकाश में (उच्छन्ती) फैलाकर (अपो) जलों द्वारा सब दुःखों को दूर करता है ।।

भावार्थ—दिव्य शक्ति सम्पन्न परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से उषादि ज्योतियों का विकास करता हुआ संसार के अन्धकार को दूर करता और विज्ञानी लोगों के लिए अपने प्रभूत ज्ञान का प्रकाश करता है, वही अपनी दिव्यशक्ति से वृष्टि द्वारा संसार का भरण-पोषण करता और वही सबको स्थिति देनेवाला है ।।१।।

उदुस्रियाः सृजते सूर्यः सचाँ उद्यन्नक्षत्रमर्चिवत् ।
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥२॥

उत् । उस्रियाः । सृजते । सूर्यः । सचा । उत्ऽयत् । नक्षत्रं । अर्चिऽवत् । तव । इत् । उषः । विऽउषि । सूर्यस्य । च । सं । भक्तेन । गमेमहि ।।२।।

पदार्थः—(सूर्यः) विश्वोत्पादकः परमात्मा (उस्रियाः, सृजते) तेजोमण्डलं रचयति (उत्) तथा च (सचा) सह (नक्षत्रम्) नक्षत्राणि (उत्, यत्) उत्पादयन्

(अर्चिवत्) प्रकाशवन्ति करोति (तव, इत्, उषः) तद्धि ते तेजः (व्युषि) अस्मान्प्रकाशयतु, यतो वयम् (सूर्यस्य) स्वप्रकाशं भवन्तं (सं, भक्तेन) सम्यक् श्रद्धया (गमेमहि) प्राप्नुयाम ।।

पदार्थ—(सूर्यः) सबका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा (उस्रियाः, सृजते) तेजोमण्डल को रचता (उत्) और (सचा) साथ ही (नक्षत्रं) नक्षत्रों का (उत् यत्) उत्पन्न करता हुआ (अर्चिवत्) प्रकाशित करता है (तव, इत् उषः) तुम्हारा वही तेज (व्युषि) हमको प्रकाशित करे, ताकि हम (सूर्यस्य) स्वतःप्रकाश आपको (सं, भक्तेन) भले प्रकार श्रद्धापूर्वक (गमेमहि) प्राप्त हों ।।

भावार्थ— हे सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मन् ! आपका तेजोमयस्वरूप जो सूर्य्य चन्द्रादि लोकों को प्रकाशित कर रहा है वह हमको भी ज्ञान से प्रकाशित करे ताकि हम आपको भक्तिभाव से प्राप्त हों अर्थात् हमलोग सदैव आपके ही स्वरूप का चिन्तन करते हुए अपने जीवन को पवित्र करें ।।२।।

प्रति त्वा दुहितर्दिव उषो जीरा अभुत्स्महि ।
या वहसि पुरु स्पार्हं वनन्वति रत्नं न दाशुषे मयः ॥३॥

प्रति । त्वा । दुहितः । दिवः । उषः । जीराः । अभुत्स्महि । या । वहसि । पुरु । स्पार्हं । वनन्ऽवति । रत्नं । दाशुषे । मयः ।।३।।

पदार्थः—(वनन्वति) हे सर्वभजनीय परमात्मन् ! (दिवः, दुहितः उषः) द्युलोकस्य दुहित्रा उषसा (जीराः) क्षिप्रम् (त्वा, प्रति) भवन्तम् (अभुत्स्महि) सम्यक् बुध्येमहि, तथा (या) यो भवान् (पुरु, स्पार्हं, वहसि) बहु धनं प्रापयति, तथा (दाशुषे) यजमानाय (रत्नम्) रत्नानि (मयः) सुखं च प्रापयति (न) तादृशमेव अस्मभ्यमपि प्रयच्छतु ।।

पदार्थ—(वनन्वति) हे सर्वभजनीय परमात्मन् ! (दिवः, दुहितः, उषः) द्युलोक की दुहिता उषा के द्वारा (जीराः) शीघ्र ही (त्वा, प्रति) आपको (अभुत्स्महि) भलेप्रकार जानें, और (या) जो आप (पुरु, स्पार्हं वहसि) बहुत धन सबको प्राप्त कराते और (दाशुषे) यजमान के लिए (रत्नं) रत्न (मयः) सुख देते हैं (न) उसी के समान हमें भी प्रदान करें ।।

भावार्थ— हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मदेव ! आप ऐसी कृपा करें कि हम उषाकाल में अनुष्ठान करते हुए आपके समीप हों, आप ही सब सांसारिक रत्नादि ऐश्वर्य्य तथा आत्मसुख देनेवाले हैं, कृपा करके हमको भी अपने प्रिय यजमानों के समान अभ्युदय और निःश्रेयसरूप दोनों प्रकार के सुखों को प्राप्त करायें, यहाँ मन्त्र में "**मयः**" शब्द से आध्यात्मिक आनन्द का ग्रहण है, जैसा कि "**नमः शम्भवाय च मयोभवाय च**" इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया है, इसी आनन्द की यहाँ परमात्मा से प्रार्थना की गई है ।।३।।

उच्छन्ती या कृणोषि मंहना महि प्रख्यै देवि स्वर्दृशे ।
तस्यास्ते रत्नभाज ईमहे वयं स्याम मातुर्न सूनवः ॥४॥

उच्छन्ती । या । कृणोषि । मंहना । महि । प्रऽख्यै । देवि । स्वः । दृशे । तस्याः । ते । रत्नऽभाजः । ईमहे । वयं । स्याम । मातुः । न । सूनवः ।।४।।

पदार्थः—(देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन् ! (दृशे) विज्ञानिज्ञानगोचरः (या) यो भवान् (स्वः, प्रख्यै) स्वख्यातये (मंहना) स्वमहिम्ना (महि, कृणोषि) जगन्निर्माय (उच्छन्ती) अज्ञानात्मकतमोनिरस्य स्वतेजोमयज्ञानं प्रकाशयति (वयम्) वयम् (मातुः) जनन्याः (सूनवः) सुताः (न) इव (स्याम) भवेम, तथा च (तस्याः) उक्तगुणसम्पन्नायाः (ते) तव (ईमहे) उपासनायाः कर्तारः (रत्नभाजः) रत्नपात्राणि भवेम ।।

पदार्थ—(देवि) हे दिव्यस्वरूप परमात्मन् ! (दृशे) विज्ञानियों के ज्ञानगोचर (या) जो आप (स्वः, प्रख्यै) अपनी ख्याति के लिए (मंहना) स्वमहिमा से (महि, कृणोषि) जगत् को रचकर (उच्छन्ती) अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करके अपने तेजोमय ज्ञान का प्रकाश करते हो (वयं) हम लोग (मातुः) माता के (सूनवः) बच्चों के (न) समान (स्याम) हों, और (तस्याः) पूर्वोक्तगुणसम्पन्न (ते) तुम्हारी (ईमहे) उपासना करते हुए (रत्नभाजः) रत्नों के पात्र बनें ।।

भावार्थ—हे परमपिता परमात्मन् ! आपको ज्ञान द्वारा विज्ञानी पुरुष ही उपलब्ध कर सकते हैं साधारण पुरुष नहीं, हे दिव्यस्वरूप भगवन् ! आप हमारे ज्ञानार्थ ही अपनी अपूर्व सामर्थ्य से इस जगत् की रचना करते हैं, आप माता के समान हम पर प्यार करते हुए हमारी सब प्रकार से रक्षा करें और हमें ज्ञानसम्पन्न करके अपनी उपासना का अधिकारी बनावें ताकि हम आपके अनुग्रह से धन धान्य से भरपूर हों ।।४।।

तच्चित्रं राध आ भरोषो यद्दीर्घश्रुत्तमम् ।
यत्ते दिवो दुहितर्मर्तभोजनं तद्रास्व भुनजामहै ।।५।।

तत् । चित्रं । राधः । आ । भर । उषः । यत् । दीर्घश्रुत्ऽतमं । यत् । ते । दिवः । दुहितः । मर्तऽभोजनं । तत् । रास्व । भुनजामहै ।।५।।

पदार्थः—(उषः) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (यत्) यत् (दीर्घश्रुत्तमं) घोरान्धकारमिवाज्ञानमस्ति (तत्) तद्भवान् निवर्त्य (चित्रं, राधः, आ, भर) अनेक विधमुत्तमधनं प्रयच्छतु (यत्) यत् (ते) तव (दिवः, दुहितः) दूरवर्तिदेशानां हितं सामर्थ्यमस्ति, तेन (मर्तभोजनम्) मनुष्येभ्यो भोजनमेव धनम् (रास्व) ददातु, यतः (तत्) तद्धनम् (भुनजामहै) भोगे उपयुनजामहै ।।

पदार्थ—(उषः) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (यत्) जो दीर्घश्रुत्तमं) घोर अन्धकाररूप अज्ञान है (तत्) उसको आप दूर करके (चित्रं, रायः, आ, भर) नाना प्रकार का उत्तम धन प्रदान करें, और (यत्) जो (ते) तुम्हारा (दिवः दुहितः) दूरदेशों में हित करनेवाला सामर्थ्य है उससे (मर्तभोजनं) मनुष्यों का भोजनरूप धन (रास्व) दीजिये ताकि (तत्) वह (भुनजामहै) हमारे उपभोग में आवे ।।

भावार्थ—हे परमात्मन् ! आप महामोहरूप घोर अज्ञान का नाश करके हमें उत्तम ज्ञान की प्राप्ति करायें जिससे हम अपने भरण-पोषण के लिए धन उपलब्ध कर सकें, हे भगवन् ! कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों में आपका सामर्थ्य व्याप्त हो रहा है, आप हमारे पालनकर्ता और नाना प्रकार के ऐश्वर्य्यदाता हैं, कृपा करके हमारे भोजन के लिए अन्नादि धन दें ताकि हम आपकी उपासना में प्रवृत्त रहें ।।५।।

श्रवः सूरिभ्यो अमृतं वसुत्वनं वाजाँ अस्मभ्यं गोमतः ।
चोदयित्री मघोनः सूनृतावत्युषा उच्छदप स्रिधः ॥६॥

श्रवः । सूरिऽभ्यः । अमृतं । वसुऽत्वनं । वाजान् । अस्मभ्यं । गोऽमतः ।
चोदयित्री । मघोनः । सूनृताऽवती । उषाः । उच्छत् । अप । स्रिधः ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन् (सूरिभ्यः, श्रवः) स्तोतृभ्यो विद्वद्भ्यो यशः (अमृतम्) अमृतम्=मुक्तिम् (वसुत्वनम्) श्रेष्ठंधनं तथा (वाजान्) अनेकधाऽन्नानि प्रददातु, तथा च (अस्मभ्यम् (गोमतः) ज्ञानसाधनानि कलाकौशलादीनि (चोदयित्री) सर्वस्य प्रेरयित्रीं शक्तिम् शक्तिम् (उषाः, मघोनः) उषः काले यज्ञसाधकं सामर्थ्यं (सूनृतावती) सत्यप्रियभाषणसाधिकां शक्तिं च प्रयच्छतु, तथा (अप, स्रिधः) अस्मत्सकाशात् संतापम् (उच्छत्) अपनयतु ।।६।।

इत्येकाशीतितमं सूक्तं प्रथमो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—हे भगवन् (सूरिभ्यः, श्रवः) विद्वानों के लिए यश (अमृतं) अमृत (वसुत्वनं) उत्तम धन, तथा (वाजान्) नानाप्रकार के अन्न प्रदान करें और (अस्मभ्यं) हमको (गोमतः) ज्ञान के साधन कलाकौशलादि (चोदयित्री) सबको प्रेरण करनेवाली शक्ति (उषाः, मघोनः) उषाकाल में यज्ञ करने का सामर्थ्य, और (सूनृतावती) उत्तम भाषण करने की शक्ति दें, और (अप, स्रिधः) हमसे संताप को (उच्छत्) दूर करें ॥

भावार्थ—हे सर्वशक्तिसम्पन्न भगवन् ! आप शूरवीरों की वीरता रूप सामर्थ्य देनेवाले, विज्ञानियों को विज्ञानरूप सामार्थ्य देते, आपही नानाप्रकार के अन्न तथा ज्ञान के साधन कलाकौशलादि के प्रदाता हैं, आपही सब शोकों को दूर करके अमृत पद देनेवाले हैं अर्थात् आप ही अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार के उपभोग देते हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि ऋषियों ने शोक-मोह की निवृत्तिरूप मुक्ति पद तथा सांसारिक ऐश्वर्यों का प्रदाता एक मात्र परमात्मा को ही माना है अर्थात् परमात्मज्ञान से ही शोक-मोह की निवृत्ति होती है जैसा कि "**तत्र कोमोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः**" जो परमात्मस्वरूप को एक रस, अविनाशी और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदशून्य मानता है उसको कोई शोक-मोह नहीं होता, और "**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति**" उसी को जानकर पुरुष मृत्यु से अतिक्रमण कर जाता है, इस वाक्य में परमात्मज्ञान को ही एकमात्र मुक्ति पद का साधन कथन किया गया है, इसलिए जिज्ञासुओं को शोक-मोह की निवृत्ति तथा परमानन्द प्राप्ति के लिए एकमात्र उसी का अवलम्बन करना चाहिए ।।६।।

८१ वां सूक्त और पहिला वर्ग समाप्त हुआ ।

दशर्चस्य द्व्यशीतितमस्य सूक्तस्य–

१–१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः–१, २, ६, ७, ६ निचृज्जगती । ३ आर्ची भुरिग्जगती । ४, ५, १० आर्षी विराड्जगती । ८ विराड्जगती ॥ निषादः स्वरः ॥

अथ परमात्मा प्रजाजनान् राजधर्ममुपदिशतिः–

अब परमात्मा प्रजाजनों को राजधर्म का उपदेश करते हैं—

इन्द्रा॑वरुणा यु॒वम॑ध्व॒राय॑ नो वि॒शे जना॑य॒ महि॒ शर्म॑ यच्छतम् ।
दी॒र्घप्र॑यज्यु॒मति॒ यो व॑नु॒ष्यति॑ व॒यं ज॑येम॒ पृत॑नासु दू॒ढ्यः॑ ॥१॥

इन्द्रा॑वरुणा । यु॒वं । अ॒ध्व॒राय॑ । नः॒ । वि॒शे । जना॑य । महि॑ । शर्म॑ । य॒च्छ॒तं॒ । दी॒र्घऽप्र॑यज्युं । अति॑ । यः । व॒नु॒ष्यति॑ । व॒यं । ज॒ये॒म॒ । पृत॑नासु । दुः॒ऽध्यः॑ ॥१॥

पदार्थः—(दुः, ध्यः) दुर्बुद्धयः (पृतनासु) युद्धस्थलेषु (यः) ये (वनुष्यति) अनुचितं व्यवहृत्य जिगीषन्ति, तथा (दीर्घप्रयज्युम्) अप्रयोज्यपदार्थान् (अति) प्रयुञ्जते, तान् (वयम्, जयेम) वयं रणक्षेत्रे पराभवेम (इन्द्रावरुणा) हे अध्यापकोपदेशकौ ! (युवम्) भवन्तौ (नः) अस्माकम् (अध्वरा) संग्रामरूप यज्ञाय (विशे, जनाय) प्रजाभ्यश्च (महि, शर्म) अतिशान्तिकारकसाधनम् (यच्छतम्) दत्ताम्, येन वयं तान् जयेम ।

पदार्थ—(दुःऽध्यः) दुर्बुद्धि लोग (पृतनासु) युद्धों में (यः) जो (वनुष्यति) अनुचित व्यवहार द्वारा जीतने की इच्छा करते और (दीर्घप्रयज्युं) प्रयोग न करने योग्य पदार्थों का (अति) प्रयोग करते हैं उनको (वयं, जयेम) हम जीतें (इन्द्रावरुणा) हे अध्यापक तथा उपदेशको ! (युवं) आप (नः) हमारे (अध्वरा) संग्रामरूप यज्ञ और (विशे, जनाय) प्रजाजनों के लिए (महि, शर्म) बड़ा शान्तिकारक साधन (यच्छतं) दें, जिससे हम उनको विजय कर सकें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम युद्ध में अप्रयुक्त पदार्थों का प्रयोग करनेवाले दुष्ट शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करो और युद्धविद्यावेत्ता अध्यापक तथा उपदेशकों से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें युद्ध के लिए उपयोगी अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों की शिक्षा दें जिससे तुम दुष्ट शत्रुओं का हनन करके जगत् में शान्ति फैलाओ ॥१॥

स॒म्राळ॒न्यः स्व॒राळ॒न्य उ॑च्यते वां म॒हान्ता॒विन्द्रा॒वरु॑णा म॒हाव॑सू ।
विश्वे॑ दे॒वासः॑ पर॒मे व्यो॑मनि॒ सं वा॒मोजो॑ वृषणा॒ सं बलं॑ दधुः ॥२॥

स॒म्ऽराट् । अ॒न्यः । स्व॒ऽराट् । अ॒न्यः । उ॒च्य॒ते॒ । वा॒म् । म॒हान्तौ॑ । इन्द्रा॒वरु॑णा । म॒हाव॑सू॒ इति॑ म॒हाऽव॑सू । विश्वे॑ । दे॒वासः॑ । प॒र॒मे । वि॒ऽओ॑मनि । सम् । वा॒म् । ओजः॑ । वृ॒ष॒णा॒ । सम् । बल॑म् । द॒धुः॒ ॥२॥

पदार्थः—हे राजपुरुषाः ! यूयम् (अन्यः) एकम् (सम्राट्) सम्राजम् (अन्यः, स्वराट्) अन्यं स्वराजं विधत्त (महान्तौ) भो महानुभावौ ! (मित्रावरुणा)

अध्यापकोपदेशकौ (वाम्) युवभ्यम् (उच्यते) वक्ष्यमाणमुपदिश्यते (वाम्) युवाम् (विश्वेदेवासः) सकलविद्वद्भिः सार्धं (ओजः) स्वशक्त्या (परमे व्योमनि) अस्मिन् महत्याकाशे (सं) सुष्ठु (महावसू) अतिधनिकौ भवेताम् (वृषणा) सर्वे भवन्तः समेत्य (सं) सर्वातिरिक्तम् (बलं, दधुः) बलं दधतु ॥

पदार्थ—हे राजपुरुषो ! तुम (अन्यः) एक को (सम्राट्) सम्राट् (अन्यः, स्वराट्) एक को स्वराट् बनाओ (महान्तौ) हे महानुभाव (इन्द्रा वरुणा) अध्यापक तथा उपदेशको (वां) तुम्हें (उच्यते) यह उपदेश किया जाता है कि (वां) तुम (विश्वे, देवासः) सम्पूर्ण विद्वान् (ओजः) अपनी सामर्थ्य से (परमे, व्योमनि) इस विस्तृत आकाशमण्डल में (सं) उत्तमोत्तम (महावसू) बड़े धनों के स्वामी होओ, और (वृषणा) आप सब लोग मिलकर (सं) सर्वोपरि (बलं, दधुः) बल को धारण करो ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा ने राजधर्म के संगठन का उपदेश किया है कि हे राजकीय पुरुषो ! तुम अपने में से एक को सम्राट्=प्रजाधीश और एक को स्वराट् बनाओ, क्योंकि जब तक उपरोक्त दोनों शक्तियें अपने-अपने कार्यों को विधिवत् नहीं करतीं तब तक प्रजा में शान्ति का भाव उत्पन्न नहीं होता न प्रजागण अपने-अपने धर्मों का यथावत् पालन कर सकते हैं **"सम्यक् राजतइति सम्राट्"**=जो भली भाँति अभिषेक करके राजा बनाया गया हो वह **"सम्राट्"** और **"स्वयं राजत इति स्वराट्"**=जो अपने कार्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय करे उसका नाम **"स्वराट्"** अर्थात् प्रजातन्त्र का नाम **"स्वराट्"** है,जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने लिए सुख दुःख का विचार कर सके, इस प्रकार सम्राट् और स्वराट् जब परस्पर एक दूसरे के सहायक हों तभी दोनों बलों की सदैव वृद्धि होती है ॥

हे अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम अपने उपदेशों द्वारा दोनों बलों की वृद्धि सदैव करते रहो जिससे राजा और प्रजा में द्वेष उत्पन्न होकर अशान्ति न हो, तुम मिलकर सर्वोपरि बल धारण करो और तुम्हारा ऐश्वर्य्य सम्पूर्ण नभोमण्डल में व्याप्त हो ॥२॥

अन्वपां खान्यतृन्तमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम् ।
इन्द्रावरुणा मदे अस्य मायिनोऽपिन्वतमपितः पिन्वतं धियः ॥३॥

अनु । अपां । खानि । अतृन्तं । ओजसा । आ । सूर्यं । ऐरयतं । दिवि । प्रऽभुं । इन्द्रावरुणा । मदे । अस्य । मायिनः । अपिन्वतं । अपितः । पिन्वतं । धियः ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो राजपुरुषाः ! यूयम् (अस्य, मदे) अस्मिन् राज्यप्रभुत्वे (धियः, पिन्वतम्) स्वमात्मानं कर्मयोगेण पोषयत (अनु) तत्पश्चात् (ओजसा) स्वतेजसा (अपां, खानि) शत्रूणां जलदुर्गाणि (आ, अतृन्तम्) सम्यक् विमर्द्य (दिवि, प्रभुम्) दिनाधिपं (सूर्यं) सूर्यं (ऐरयतम्) स्वधूम्रशरैराच्छाद्य (मायिनः) मायाविनः (अपितः) सर्वतः (अपिन्वतम्) पराजयत ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे राजपुरुषो ! तुम (अस्य, मदे) इस राज्यप्रभुत्व में (धियः, पिन्वतं) अपने आपको कर्मयोग से पुष्ट करो (अनु) तदनन्तर (ओजसा) अपने तेज से (अपां,

ानि) शत्रु के जलदुर्गों को (आ, अतृन्तं) भले प्रकार नष्ट भ्रष्ट करके (दिवि, प्रभुं) दिन के प्रभु (सूर्य्यं) सूर्य को (ऐरयतं) अपने धूम्रवाणों से आच्छादन कर (मायिनः) मायावी शत्रुओं को (अपितः) सब ओर से (अपिन्वतं) परास्त करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो! तुम अपने उग्र कर्मों द्वारा शक्ति-सम्पन्न होकर मायावी शत्रुओं का मर्दन करो अर्थात् प्रथम अपनी जलयन्त्रविद्या द्वारा उनके जलदुर्गों को विजय करो तदनन्तर अपनी पदार्थ विद्या से सूर्य्य के तेज को आच्छादन करके अर्थात् यन्त्रों द्वारा दिन को रात्रि बनाकर शत्रुओं पर विजय करो, जो संसार में न्याय का भङ्ग करते हुए अपनी माया से प्रजाओं में नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करते हैं, उनका सर्वनाश तथा श्रेष्ठों का रक्षण करना तुम्हारा परम कर्त्तव्य है ॥३॥

युवामिद्युत्सु पृतनासु वह्नयो युवां क्षेमस्य प्रसवे मितज्ञवः।
ईशाना वस्व उभयस्य कारव इन्द्रावरुणा सुहवा हवामहे ॥४॥

युवां। इत्। युत्ऽसु। पृतनासु। वह्नयः। युवां। क्षेमस्य। प्रऽसवे। मितऽज्ञवः। ईशाना। वस्वः। उभयस्य। कारवः। इन्द्रावरुणा। सुऽहवा। हवामहे ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो विद्वांसः! वयं युष्मान् (सुहवा) सुखेन हातव्यान् (हवामहे) आहूय उपदिशामि, यत् यूयं (कारवः) कर्मशीलाः सन्तः (उभयस्य) राज्ञः प्रजानां च कल्याणाय (वस्वः) प्रयतध्वम् (ईशाना) ऐश्वर्यसम्पन्ना भूत्वा (मितज्ञवः) संकुचितजानुकाः=व्यायामादि प्रयत्नसम्पादितलघुशरीराः सन्त (क्षेमस्य, प्रसवे) क्षेमोत्पादने निमित्तं भवत (युवां) यूयं (पृतनासु) शत्रुसेनासु (वह्नयः) सोत्साहाः सन्तः (युत्सु) युद्धेषु (युवां) युष्माकम् (इत्) ज्ञानं वर्धतामिति युष्माभिः कर्तव्यम् ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे विद्वान् पुरुषो! मैं तुम्हें (सुहवा) प्रेमपूर्वक (हवामहे) बुलाकर उपदेश करता हूँ कि तुम लोग (कारवः) कर्मशील बनकर (उभयस्य) राजा तथा प्रजा दोनों के कल्याण में (वस्वः) प्रयत्न करो, और (ईशाना) ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर (मितज्ञवः) व्यायाम साधित लघुशरीरवाले (क्षेमस्य, प्रसवे) सबके लिए सुख की वृद्धि करो (युवां) आप लोगों को उचित है कि (पृतना) युद्धों में (वह्नयः) उत्साही होकर (युत्सु) राज्य के संगठन में (युवां) तुम्हारा (इत्) ज्ञान वृद्धि को प्राप्त हो॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अध्यापक तथा उपदेशको! मैं तुम्हें बुलाकर अर्थात् ज्ञान द्वारा मेरे समीप स्थित हुए तुम्हें उपदेश करता हूँ कि तुम अनुष्ठानी बनकर राजा तथा प्रजा दोनों के हित में प्रयत्न करो क्योंकि अनुष्ठानशील पुरुष ही उपदेशों द्वारा संसार का कल्याण कर सकता है अन्य नहीं, हे विद्वानो! तुम युद्धविद्या के ज्ञाता बनकर सदैव अपने ज्ञान को बढ़ाते रहो, और युद्ध में उत्साहपूर्वक शत्रुओं का दमन करते हुए राज्य के संगठन में सदा प्रयत्न करते रहो ॥४॥

इन्द्रावरुणा यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना ।
क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते ॥५॥२॥

इन्द्रावरुणा । यत् । इमानि । चक्रथुः । विश्वा । जातानि । भुवनस्य । मज्मना । क्षेमेण । मित्रः । वरुणं । दुवस्यति । मरुत्ऽभिः । उग्रः । शुभं । अन्यः । ईयते ॥५॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) हे अग्निजलसम्बन्धिविद्यावेत्तारो विद्वांसः ! यूयम् (मज्मना) आत्मीयेन बलेन (विश्वा, जातानि) सकल वस्तूनि (क्षेमेण) सकुशलम् (भुवनस्य) जगति स्थितानि रक्षत (यत्) यदिदं (इमानि, चक्रथुः) युद्धविषयककार्यं कुरुथ तत् (मित्रः) जगतः सुखकारकं भवतु तथा च (वरुणम्) सर्वस्याच्छादने शक्तं जलमयं वायुम् (दुवस्यति) अपवार्य (उग्रः) संग्रामकुशलाः सैनिकाः (मरुद्भिः) नभसि प्रसरणशीलैर्वायुभिः शत्रूञ्जयन्तु (अन्यः) अन्ये सैनिकाः (शुभं) शुभैः साधनैः शत्रून् (ईयते) प्राप्नुवन्तु तत्समक्षं गच्छन्तु ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे अग्नि तथा जलविद्यावेत्ता विद्वानो ! तुम लोग (मज्मना) अपने आत्मिक बल से (विश्वा, जातानि) सम्पूर्ण विश्व के अनुभव द्वारा (क्षेमेण) कुशलपूर्वक (भुवनस्य) संसार की रक्षा करो (यत्) जो (इमानि, चक्रथुः) यह युद्धविद्याविषयक कार्य्य करते हो वह (मित्रः) संसार को सुखकारक हो, और (वरुणं) सबको आच्छादन करनेवाली जलमय वायु को (दुवस्यति) दूर करके (उग्रः) युद्धविद्या में निपुण सैनिक पुरुष(मरुद्भिः) आकाश मण्डल में फैलनेवाली वायुओं द्वारा शत्रुओं को जीतें (अन्यः) अन्य सैनिक पुरुष (शुभं) शुभ साधनों द्वारा शत्रु को (ईयते) प्राप्त हों अर्थात् उसके सम्मुख जायें ॥

भावार्थ—हे आग्नेय तथा तथा जलीय अस्त्र शस्त्रों के वेत्ता विद्वानो ! तुम लोग अपने अनुभव द्वारा राज्य विरोधी शत्रुओं को विजय करके सम्पूर्ण संसार की रक्षा करो, तुम कलाकौशल के ज्ञान द्वारा युद्ध विषयक अस्त्र शस्त्र निर्माण करो, और ऐसे अस्त्रों का प्रयोग करो जो आकाश मण्डल में फैल जाने वाली वायुओं द्वारा शत्रु का विजय करें अर्थात् प्रबल शत्रु को आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्र द्वारा विजय करो और साधारण शत्रु को शुभ साधनों से अपने वश में करो जिससे उसको घोर कष्ट न हो ॥५॥

महे शुल्काय वरुणस्य नु त्विष ओजो मिमाते ध्रुवमस्य यत्स्वम् ।
अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद्दभ्रेभिरन्यः प्र वृणोति भूयसः ॥६॥

महे । शुल्काय । वरुणस्य । नु । त्विषे । ओजः । मिमाते । इति । ध्रुवं । अस्य । यत् । स्वं । अजामिं । अन्यः । श्नथयन्तं । आ । अतिरत् । दभ्रेभिः । अन्यः । प्र । वृणोति । भूयसः ॥६॥

पदार्थः—(वरुणस्य) वारुणास्त्रस्य प्रयोक्ता (नु) निश्चयम् (महे, शुल्काय) महत ऐश्वर्याय (त्विषे, ओजः) स्वेन तेजसा बलेन च (मिमाते) शत्रूञ्जयति (अतिरत्) अभिहन्ति (अस्य) अस्य शत्रोः (यत्) यत् किंचित् (ध्रुवम्) स्थिरम् (स्वं) धनमस्ति तत् (अजामिम्) अबन्धुं=स्वीयं करोति (श्नथयन्तम्)

स्वप्रतिपक्षिणं च जय (अन्य:) अन्यद्बलं च हन्ति (अन्य:) अन्यैः (दभ्रेभिः) अल्पैरेवसाधनैः (भूयसः) बहून् शत्रून् (प्र, वृणोति) स्ववशमानयति ।।

पदार्थ—(वरुणस्य) वारुणास्त्र का प्रयोग करनेवाला पुरुष (नु) निश्चय करके (महे, शुल्काय) बड़े ऐश्वर्य्य के लिए (त्विषे, ओजः) अपने तेज तथा बल द्वारा (मिमाते) शीघ्र ही शत्रु का (अतिरत्) हनन करता (अस्य) उनका (यत्) जो (ध्रुवं) निश्चल (स्वं) धन है वह (अजामिम्) शत्रु को (श्नथयन्त) नाश करदेता और (अन्य:) अन्य जो बल है वह (अतिरत्) हनन करता है, वह (अन्य:) अन्य (दभ्रेभिः) अल्प साधनों से ही (भूयसः) बहुत से शत्रुओं को (प्र, वृणोति) भले प्रकार अपने वश में करलेता है ।।६।।

भावार्थ—वारुणास्त्र का प्रयोग करनेवाला विद्वान् अल्प साधनों से ही शत्रुसेना का विजय करके उसकी सामग्री पर अपना अधिकार जमा लेता है, उसका शस्त्र अस्त्ररूप धन शत्रुओं के नाश का कारण होता है अर्थात् उसके इस अपूर्व धन के सम्मुख कोई शत्रु नहीं ठहर सकता, वह अनेक शत्रुओं को विजय करके बड़ा ऐश्वर्य्य सम्पन्न होता है ।।

अथ दुराधषस्य राज्ञो विभूतिः कथ्यते—

अब दुराधर्ष राजा की विभूति कथन करते हैं—

न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन ।
यस्य देवा गच्छथो वीथो अध्वरं न तं मर्तस्य नशते परिह्वृतिः ।।७।।

न । तं । अंहः । न । दुःइतानि । मर्त्यं । इन्द्रावरुणा । न । तपः । कुतः । चन । यस्य । देवा । गच्छथः । वीथः । अध्वरं । न । तं । मर्तस्य । नशते । परिऽह्वृतिः ।।७।।

पदार्थः—(यस्य) यस्य राज्ञः (अध्वरम्) यज्ञम् (देवा) शस्त्रास्त्रादिविद्यासम्पन्नाः विद्वांसः (वीथः) समेत्य (गच्छथः) यान्ति (तं) तं राजानम् (मर्तस्य) मनुष्यं वा (परिह्वृतिः) काचिदपि बाधा (नशते न) न नाशयति, तथा (नापि) कुतः चन) कुतोऽपि (तपः) कश्चित्तापो नाशयति (मर्त्यं) यं मनुष्यम् (इन्द्रा, वरुणा) वैद्युतजलीयविद्ययोर्ज्ञातारः प्राप्नुवन्ति (तं) तं नरम् (न, अंहः) न किञ्चित्पापम् (न दुरितानि) नापि दुष्कर्माणि नाशयन्ति ।।

पदार्थ—(यस्य) जिस राजा के (अध्वरं) यज्ञ को (देवा) शस्त्रास्त्रादिविद्यासम्पन्न विद्वान् (वीथः) संगत होकर (गच्छथः) जाते हैं (तं) उस राजा को अथवा (मर्तस्य) मरणधर्मा मनुष्य को (परिह्वृति) कोई बाधा (नशते, न) नाश नहीं कर सकती, और (न) नाही (कुतः, चन) किसी ओर से (तपः) कोई ताप उसका नाश कर सकता है (मर्त्यं) जिस मनुष्य को (इन्द्रावरुणा) विद्युत् तथा जलीय विद्या जाननेवाले विद्वान् प्राप्त होते हैं (तं) उसको (न, अंहः) न कोई पाप (न, दुरितानि) न कोई दुष्कर्म नाश कर सकता है ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजा तथा यजमानो ! तुम लोग अस्त्रशस्त्र-विद्यासम्पन्न विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलाओ, क्योंकि वारुणास्त्र तथा आग्नेयास्त्र आदि अस्त्र-विद्या वेत्ता विद्वान् जिस राजा वा यजमान के यज्ञ में जाते हैं अथवा जिनका उपरोक्त विद्वानों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है उनको न कोई ताप और न कोई अन्य बाधा नाश को प्राप्त कर सकती है, उनको न कोई शत्रु पीड़ा दे सकता और न कोई पाप उनका नाश कर सकता है अर्थात्

विद्वानों के सत्संग से उनके पाप क्षय होकर जीवन पवित्र हो जाता है, इसलिए राजाओं को उचित है कि विद्वानों का सत्कार करते हुए उनको अपना समीपी बनावें जिससे वह किसी विपत्ति को न देखें ॥७॥

अर्वाङ्नरा दैव्येनावसा गतं शृणुतं हवं यदि मे जुजोषथः ।
युवोर्हि सख्यमुत वा यदाप्यं मार्डीकमिन्द्रावरुणा नि यच्छतम् ॥८॥

अर्वाक् । नरा । दैव्येन । अवसा । आ । गतं । शृणुतं । हवं । यदि । मे । जुजोषथः । युवोः । हि । सख्यं । उत । वा । यत् । आप्यं । मार्डीकं । इन्द्रावरुणा । नि । यच्छतं ॥८॥

पदार्थः—(नरा) भो जनाः ! यूयम् (अर्वाक्) मम समक्षमागच्छत (उत्) तथा (दैव्येन, अवसा) दिव्यत्राणेन (आगतम्) आयातान्युष्मान् (हवम्) उपदिशामि, तत् (शृणुतम्) अवधानपराः शृणुत (इन्द्रावरुणा) हे विद्वांसः ! (यत्) यत् यूयं (यदि) चेत् (नियच्छतम्) निष्कपटाः सन्तो मनो निधाय (मे) मयि (जुजोषथः) योक्ष्यध्वे प्रेमपरा भविष्यथ, तर्हि अहम् (हि) निश्चयेन (युवोः सख्यम्) युष्मन्मैत्रीमभिरक्षिष्यामि (वा) यद्वा (आप्यम्) युष्मभ्यम् युष्मत्प्रापणीयम् (मार्डीकम्) सुखं दास्यामि ॥

पदार्थ—(नरा) हे मनुष्यो ? तुम (अर्वाक्) मेरे सम्मुख आओ (उत) और (दैव्येन, अवसा) दिव्य रक्षा से (आगतं) आये हुए तुमको (हवं) उपदेश करता हूँ जिसको (शृणुतं) ध्यानपूर्वक सुनो (इन्द्रावरुणा) हे विद्वानो ! (यत्) जो आप (यदि) (नियच्छतम्) निष्कपट भाव से मनोदान देकर (मे) मेरे में (जुजोषथः) जुड़ोगे = प्रीति करोगे तो मैं (हि) निश्चय करके (युवोः, सख्यं) तुम्हारी मैत्री का पालन करूंगा (वा) अथवा (आप्यं) तुम्हें प्राप्त होने योग्य (मार्डीकं) सुख दूंगा ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्र आदि अस्त्र शस्त्रों की विद्या में निपुण विद्वानो ! तुम सरलभाव से मेरे में प्रीति करो अर्थात् शुद्ध हृदय से वेदाज्ञा का पालन करते हुए मेरे सम्मुख आओ मैं तुम्हें सुखसम्पन्न करूंगा ॥८॥

अस्माकमिन्द्रावरुणा भरेभरे पुरोयोधा भवतं कृष्ट्योजसा ।
यद्वां हवन्त उभये अध स्पृधि नरस्तोकस्य तनयस्य सातिषु ॥९॥

अस्माकं । इन्द्रावरुणा । भरेऽभरे । पुरःऽयोधा । भवतं । कृष्टिऽओजसा । यत् । वां । हवन्ते । उभये । अध । स्पृधि । नरः । तोकस्य । तनयस्य । सातिषु ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो विद्वांसः ! यूयम् (भरे भरे) संग्रामे संग्रामे (अस्माकम्) अस्माकम् (पुरोयोधा) पुरस्ताद्योद्धारः (भवतम्) भवत (कृष्टचोजसा) हे शत्रुनाशक्षमबलबन्तः ? (यत्) ये (नरः) मनुष्याः (वाम्) युष्मान् (स्पृधि) युद्धे (तोकस्य, तनयस्य) पुत्रपौत्रादीनाम् (सातिषु) रक्षायै (हवन्ते) आह्वयन्ति तान् रक्षत ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे विद्वानो ! तुम (भरे भरे) प्रत्येक संग्राम में (अस्माकं) हमारे (पुरोयोधा) सम्मुख (भवतं) होओ (कृष्ट्योजसा) हे शत्रुओं के नाशक बलवालो ! (यत्) जो (नरः) नेतारः (वां) तुम्हारा (स्पृधि) युद्ध में (तोकस्य, तनयस्य, सातिषु) पुत्र पौत्र की रक्षा के निमित्त (हवन्ते) आह्वान करते हैं, तुम उनकी रक्षा करो ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! तुम प्रत्येक संग्राम में मेरे सम्मुख होओ अर्थात् मुझसे विजय प्राप्ति के लिए प्रार्थना करो क्योंकि मेरी सहायता के बिना कोई किसी को जय नहीं कर सकता, हे बड़े बलवान योद्धाओ ! जो तुम्हारे साथ ईर्ष्या करते हैं वह भी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए है परन्तु प्रजा और धर्म की रक्षा करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य होने से तुम किसी का पक्षपात मत करो, सदा राजधर्म का पालन करना और राजा की आज्ञा में सदैव रहना तुम्हारा धर्म है, जिसका अनुष्ठान करते हुए परमात्मा के समीपी होओ ।।९।।

अथ राजपुरुषेभ्यो धनं परमात्मनो रक्षा च प्रार्थ्यते—

अब राजपुरुषों से धन और परमात्मा से रक्षा की प्रार्थना करते हैं—

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ।।१०।।

अस्मे, इति । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । द्युम्नं । यच्छन्तु । महि । शर्म । सऽप्रथः । अवध्रं । ज्योतिः । अदितेः । ऋतऽवृधः । देवस्य । श्लोकं । सवितुः । मनामहे ।।१०।।

पदार्थः—(इन्द्रः) वैद्युतविद्यावेत्तारः (वरुणः) जलविद्यावेत्तारः (मित्रः) जगतः सुहृदः (अर्यमा) न्यायकर्तारश्च ये राजपुरुषास्ते (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्युम्नम्) ऐश्वर्यम् (यच्छन्तु) ददतु, तथा च (सप्रथः, महि, शर्म) सुप्रसिद्धं महत् सुखम् (ज्योतिः) परमात्मा नित्यं ददातु (अवध्रम्) अस्मान्सदा रक्षतु, यस्माद्ध्रुवम् (अदितेः) अखण्डनोयस्य (ऋतावृधः) सत्यरूपयज्ञस्याधारम् (देवस्य) दिव्यशक्तिसम्पन्नम् (सवितुः) स्वतःप्रकाशम् (श्लोकम्) पुण्यस्तुतिं (मनामहे) गायेम शश्वत् ।।

इति त्र्यशीतितमस्य सूक्तं तृतोयो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(इन्द्रः) वैद्युतविद्या वेत्ता (वरुणः) जलीयविद्या के ज्ञाता (मित्रः) सबके मित्र (अर्यमा) न्याय करनेवाले, जो राजकीय पुरुष हैं वे (अस्मे) हमें (द्युम्नं) ऐश्वर्य्य (यच्छन्तु) प्राप्त करायें और (सप्रथः, महि, शर्म) सब से बड़ा सुख (ज्योतिः) स्वयं प्रकाश परमात्मा हमको नित्य प्रदान करे (अवध्रं) हमको नाश न करें ताकि हम (अदितेः) अखण्डनीय (ऋतावृधः) सत्यरूपयज्ञ के आधार (देवस्य) दिव्यशक्तिसम्पन्न (सवितुः) स्वतःप्रकाश परमात्मा के (श्लोकं) यश को (मनामहे) सदा गान करते रहें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र का आशय यह है जिस प्रकार ऋग्, यजु, साम, अथर्व यह चारों वेद परमात्मा की आज्ञा पालन कराने के लिए चार विभागों में विभक्त हैं, इसीप्रकार राज्य-शासन भी चार विभागों में विभक्त जानना चाहिए अर्थात् आग्नेयास्त्र तथा वारुणास्त्रविद्या जाननेवालों से सैनिक रक्षण और राजमन्त्री तथा न्यायाधीश इन दोनों से राज्य प्रबन्ध इस प्रकार उक्त चारों से धन की याचना करते हुए सदा ही इनके कल्याण का शुभचिन्तन करते

रहो अर्थात् सम्राट् के राष्ट्रप्रबन्ध के उक्त चारों से सांसारिक सुख की अभिलाषा करो और दिव्यशक्तिसम्पन्न परमात्मा से नित्य सुख की प्रार्थना करते हुए उनके दिव्य गुणों का सदा गान करते रहो, जिससे तुम्हें सद्‌गति प्राप्त हो ॥१०॥

८२ वां सूक्त और तीसरा वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य त्र्यशीतितमस्य सूक्तस्य—

वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्दः—१, ३, ९ विराड्जगती ॥ २, ४, ६ निचृज्जगती । ५ आर्ची जगती । ७, ८, १० आर्षीजगती ॥ निषादः स्वरः ॥

अथ राजधर्मं वर्णयन्तः सैनिकेभ्यो रक्षां प्रार्थयन्ते—

अथ राजधर्म का वर्णन करते हुए सैनिक पुरुषों से रक्षा की प्रार्थना करते हैं—

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः ।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ॥१॥

युवां । नरा । पश्यमानासः । आप्यं । प्राचा । गव्यन्तः । पृथुऽपर्शवः । ययुः । दासा । च । वृत्रा । हतं । आर्याणि । च । सुऽदासं । इन्द्रावरुणा । अवसा । अवतं ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो शूरा योद्धारः ! (युवाम्) यूयम् (आप्यम्) सर्वेषां सुलभा अर्थात् रक्षका भवत (पश्यमानासः) युष्मद्वीरतां प्रेक्षमाणाः (पृथुपर्शवः) सर्वतः पुष्टशरीराः (नरा) जनाः (गव्यन्तः) स्वं स्वमात्मानं समर्पयन्तः (ययुः) युष्मान् प्राप्नुवन्ति (च) तथा च (प्राचा, दासा) प्राचीनसेवकाः (च) तथा (आर्याणि) आर्यजनाश्च युष्मान् शरणमन्विच्छन्ति (वृत्रा, हतम्) यूयं शत्रूनपनीय (अवसा) रक्षन्तः (अवतं, सुदासम्) दयालुं नृपं प्राप्नुत ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे शूरवीर योद्धाओ ! (युवां) तुम (आप्यं) सबको प्राप्त होने योग्य अर्थात् सबके रक्षक हो (पश्यमानासः) तुम्हारी वीरता देखकर (पृथुपर्शवः) सब ओर से हृष्ट-पुष्ट वीर (नरा) मनुष्य (गव्यन्तः) अपना आत्मसमर्पण करते हुए (ययुः) तुम्हें प्राप्त होते हैं (च) और (प्राचा, दासा) प्राचीन सेवक (च) और (आर्याणि) आर्य्य पुरुष भी तुम्हारी शरण चाहते हैं, तुम (वृत्रा, हतं) शत्रुओं का हनन करके (अवसा) रक्षा करते हुए (अवतं, सुदासं) दयावान् राजा को प्राप्त हो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे शूरवीर विद्वानो ! तुम दास=शूद्र और आर्य्य=कर्मानुष्ठानपरायण पुरुषों की रक्षा करो, तुम इनके शत्रुओं का हनन करके इन्हें अभयदान दो, क्योंकि इनके होने से प्रजाजन वैदिकमर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, सब अपनी मर्यादा में रह कर धर्म का पालन करते हैं, और हृष्ट-पुष्ट शूरवीर तुम्हें प्राप्त होकर युद्ध द्वारा आत्मसमर्पण करते हुए तुम्हारे उत्साह को बढ़ाते हैं, इसलिए इन्हें भी सुरक्षित रखो, क्योंकि

शूरवीरों के अभाव से भी प्रजा में अनेक प्रकार के अनर्थ फैल जाते हैं जिससे मनुष्यों के जीवन में पवित्रता नहीं रहती ।।१।।

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् ।।२।।

यत्र । नरः । सम्ऽअयन्ते । कृतऽध्वजः । यस्मिन् । आजा । भवति । किं । चन । प्रियम् । यत्र । भयन्ते । भुवना । स्वःऽदृशः । तत्र । नः । इन्द्रावरुणा । अधि वोचतं ।।२।।

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन्संग्रामे (नरः) मनुष्याः (कृतध्वजः) उच्छ्रायितध्वजाः (समयन्ते) सुष्ठु आयान्ति (यस्मिन, आजा) यत्र संग्रामे (किंचन, प्रियं, भवति) किंचित् सुखं स्यात् (यत्र) यस्मिन्संग्रामे प्रबला योद्धारः (भयन्ते) विभ्यति तथा च (स्वर्दृशः, भुवना) यत्र देवाः स्वर्गप्राप्ति न बहु मन्यन्ते (इन्द्रावरुणा) भो युद्धकुशला विद्वांसः ! (तत्र) तस्मिन्संग्रामे (नः) अस्मान् (अधिवोचतम्) सविस्तरमुपदिशत ।।

पदार्थ—(यत्र) जिस संग्राम में (नरः) मनुष्य (कृतध्वजः) ध्वजा उठाये हुए (समयन्ते) भले प्रकार आगमन करते (यस्मिन्, आजा) जिस संग्राम में (किंचन, प्रियं, भवति) कुछ सुख हो (यत्र) जिस संग्राम में बड़े-बड़े योद्धा (भयन्ते) भयभीत होते, और (स्वर्दृशः, भुवना) जहाँ देवता लोग स्वर्गप्राप्ति को अधिक नहीं मानते (इन्द्रावरुणा) हे युद्धविद्या में निपुण विद्वानो ! (तत्र) वहाँ (नः) हमको (अधिवोचतं) भले प्रकार उपदेश करें ।।

भावार्थ—जिस संग्राम में शत्रु लोग ध्वजा उठाये हुए हम पर आक्रमण करते हों अथवा जिस संग्राम में हमारा कुछ प्रिय हो, या यों कहो कि जब शत्रु हम पर चढ़ाई करें वा हम दुष्टों के दमन अथवा प्रजा का प्रिय करने के लिए शत्रु पर चढ़ाई करें, हे अस्त्रशस्त्रवेत्ता विद्वानो ! उक्त दोनों अवस्थाओं में आप हमारी शत्रु से रक्षा करें ।।

तात्पर्य्य यह है कि राजपुरुषों की सहायता के बिना प्रजा में कदापि सुख उत्पन्न नहीं हो सकता, इसी लिए मन्त्र में राजपुरुषों की सहायता वर्णन की गई है कि वह राजपुरुष आपत्तिकाल में उपदेशों तथा शस्त्रों द्वारा हमारी रक्षा करें ।।२।।

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत् ।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुता गतम् ।।३।।

सं । भूम्याः । अन्ताः । ध्वसिराः । अदृक्षत । इन्द्रावरुणा । दिवि । घोषः । आ । अरुहत् । अस्थुः । जनानां । उप । मां । अरातयः । अर्वाक् । अवसा । हवनऽश्रुता । आ । गतं ।।३।।

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो युद्धपण्डिता राजपुरुषाः ! (घोषः, दिवि, आरुहत्) युष्मच्छस्त्रशब्दः आकाशे प्रसरतु (सं, भूम्याः, अन्ताः) अखिलभूमेरन्तः (ध्वसिराः) योद्धृभिर्विनाशितारिः (अदृक्षत) दृश्येत (अरातयः) शत्रवश्च (मां) माम् (जनानाम्) सर्वेषां जनानां समक्षम् (उप, अस्थुः) प्राप्नुयुः, तथा (अवसा) आत्मानं रिरक्षयिषवः (हवनश्रुता) अस्मद्यज्ञगिरं श्रुत्वा (अर्वाक्, आगतम्) अस्मदभिमुखमागच्छन्तु ।।

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे युद्धविद्या में निपुण राजपुरुषो ! (घोषः, दिवि, आरुहत्) तुम्हारे शस्त्रों का शब्द आकाश में व्याप्त हो (सं, भूम्याः, अन्ताः) सम्पूर्ण भूमि का अन्त (ध्वसिराः) योद्धाओं से विनाश होता हुआ (अदृक्षत) देखा जाय (अरातयः) शत्रु (माँ) मुझको (जनानां) सब मनुष्यों के समक्ष (उप, अस्थुः) आकर प्राप्त हो, और (अवसा) रक्षा चाहते हुए (हवनश्रुता) वैदिकवाणियों के श्रवण द्वारा (अर्वाक्, आगतम्) हमारे सम्मुख आवें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजधर्म का पालन करनेवाले विद्वानो ! तुम शत्रुसेना पर ऐसा घोर आक्रमण करो कि तुम्हारे अस्त्रों-शस्त्रों का शब्द आकाश में गूँज उठे जिससे तुम्हारे शत्रु वेदवाणी का आश्रयण करते हुए तुम्हारी शरण को प्राप्त हों अर्थात् अपने दुष्टभावों का त्याग करते हुए सब प्रजाजनों के समक्ष वेद की शरण में आवें, और तुम्हारे योद्धा लोग सीमान्तों में विजय प्राप्त करते हुए शत्रुओं के दुर्गों को छिन्न-भिन्न करके सर्वत्र अपना अधिकार स्थापन करें जिससे प्रजा वैदिकधर्म का भले प्रकार पालन कर सके ।।३।।

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम् ।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत्पुरोहितिः ॥४॥

इन्द्रावरुणा । वधनाभिः । अप्रति । भेदं । वन्वन्ता । प्र । सुऽदासं । आवतं । ब्रह्माणि । एषां । शृणुतं । हवीमनि । सत्या । तृत्सूनां । अभवत् । पुरःऽहितिः ।।४।।

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो राजधर्मपालका विद्वांसः ! यूयम् (वधनाभिः) अनेकविधैः शस्त्रैः (अप्रतिभेदम्) दुर्वार्यशत्रून् (वन्वन्ता) हिंसन्तः (सुदासं) अतिशयेन नम्रीभूतंराजानम् (आवतम्) प्राप्नुत (एषां, तृत्सूनाम्) एषां विदुषाम् (ब्रह्माणि) वेदपाठान् (शृणुतम्) आकर्णयन्तः (पुरोहितिः) हितकारिणो भवत, येन (हवीमनि) यज्ञे (सत्या, अभवत्) सत्यस्वरूपं फलमुत्पद्यताम् ।।

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे राजधर्म का पालन करनेवाले विद्वानो ! तुम (वधनाभिः) अनन्त प्रकार के शस्त्रों द्वारा (अप्रति, भेदं) प्रबल शत्रुओं को (वन्वन्ता) हनन करके (सुदासं, आवतं) भलीभाँति नम्रभाव को प्राप्त राजा को प्राप्त होओ, और (एषां, तृत्सूनां) इन विद्वानों के (ब्रह्माणि) वेदपाठों को (शृणुतं)श्रवण करते हुए(पुरोहितिः) हितकारी बनो जिससे(हवीमनि) यज्ञों में (सत्या, अभवत्) सत्यरूप फल हो ।।

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम वेद से बहिर्मुख शत्रुओं का हनन करके वेदवेत्ता विद्वानों का सत्कार करो और उनका निरन्तर हित करते हुए उनके सत्संग से अपने जीवन को उच्च बनाओ, उनके यज्ञों की रक्षा करो जिससे उनका सत्यरूप फल प्रजा के लिए शुभ हो ।।४।।

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः ।
युवं हि वस्व उभयस्य राजथोऽध स्मा नोऽवतं पार्ये दिवि ॥५॥४॥

इन्द्रावरुणौ । अभि । आ । तपन्ति । मा । अघानि । अर्यः । वनुषां । अरातयः । युवं । हि । वस्वः । उभयस्य । राजथः । अध । स्म । नः । अवतं । पार्ये । दिवि ॥५॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणौ) भो विद्यावन्तो राजपुरुषाः ! (मा) माम् (अर्यः) शत्रूणाम् (अरातयः, वनुषाम्) हिंसकानां मध्ये येऽरातयस्तेषां च (अघानि) अहन्तृणि आयुधानि (अभि, आतपन्ति) सर्वतः क्लिश्नन्ति (हि) निश्चयेन (युवम्) यूयम् (वस्वः) तेषां सर्वस्वमपहृत्य (उभयस्य, राजथः) द्विविधानपि बलवतः शत्रून् (अध) अधः पातयत, तथा च (नः स्म, अवतम्) अस्मान् तेभ्यो रक्षन्तः (पार्ये, दिवि) विजयस्वरूपं पारं गमयत ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणौ) हे विद्यासम्पन्न राजपुरुषो ! (मा) मुझको (अर्यः) शत्रु और (अरातयः, वनुषां) हिंसक शत्रुओं के (अघानि) पापरूपशस्त्र (अभि, आतपन्ति) चारों ओर से तपाते हैं (हि) निश्चय करके (युवं) आप लोग (वस्वः) उनका सर्वस्व हरण करके (उभयस्य, राजथः) दोनो प्रकार के बलवान् क्षत्रुओं को (अध) नीचे गिरायें, और (नः, स्म, अवतं) हमारी उनसे रक्षा करते हुए (पार्ये, दिवि) विजयरूप पार को प्राप्त करायें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुणसमान युद्धविशारद विद्वानो ! तुम हिंसक तथा अन्य शत्रुओं का सर्वस्व हरण करके उनका नाश करो जो वेदविहितमर्यादा पर चलनेवाले विद्वानों को तपाते=दुःख देते हैं। हे भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें कि उन शत्रुओं का युद्ध में अधः पतन हो और हम विजयरूप पार को प्राप्त हों ॥५॥

युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥६॥

युवां । हवन्ते । उभयासः । आजिषु । इन्द्रं । च । वस्वः । वरुणं । च । सातये । यत्र । राजऽभिः । दशऽभिः । निऽबाधितं । प्र । सुऽदासं । आवतं । तृत्सुऽभिः । सह ॥६॥

पदार्थः—भो इन्द्रवरुणस्वरूपा योद्धारः ! (युवाम्) युष्मान् वयम् (उभयासः, आजिषु) उभयविधेषु युद्धेषु (हवन्ते) आह्वयामः (इन्द्रं, च वस्वः) इन्द्रं धनाय (च) तथा (वरुणं, सातये) वरुणं च विजयप्राप्त्यै (यत्र) यस्मिन्युद्धे (दशभिः, राजभिः) दशसंख्याकैराजभिः (निबाधितम्) आक्रान्तम् (तृत्सुभिः, सह) त्रिविधैर्ज्ञानिभिः सह (सुदासं) सुनृपम् (आवतम्) प्राप्नुत—रक्षत ॥

पदार्थ—हे इन्द्र तथा वरुणरूप योद्धाओ ! (युवां) आपको हम लोग (उभयासः, आजिषु) दोनो प्रकार के युद्धों में (हवन्ते) बुलाते हैं (इन्द्रं, च, वस्वः) इन्द्र को धन के लिए (च) और (वरुणं, सातये) वरुण को विजयप्राप्ति के लिए (यत्र) जिस युद्ध में (दशभिः, राजभिः) दश-प्रकार के राजाओं से (निबाधितं) पीड़ा को प्राप्त (तृत्सुभिः, सह) तीनों प्रकार के ज्ञानियों के साथ (सुदासं) योग्य राजा को (आवतं) प्राप्त होओ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे इन्द्र तथा वरुणरूप विद्वानो ! तुम युद्धों में विजयप्राप्त करते हुए कर्मानुष्ठानी तथा वेदविद्याप्रकाशक विद्वानों की रक्षा करो अर्थात् कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा भक्तिभाव को प्राप्त पुरुषों की सेवा में सदा तत्पर रहो, जिससे उन्हें कोई कष्ट प्राप्त न हों ॥६॥

सम्प्रतिवेदानुयायियोद्धुः अतिशायिबलं वर्ण्यते—

अब वेदानुयायी योद्धा का अपरिमित्त बल कथन करते हैं—

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देवहूतिषु ॥७॥

दश । राजानः । सम्ऽइताः । अयज्यवः । सुऽदासं । इन्द्रावरुणा । न । युयुधुः । सत्या । नृणां । अद्मऽसदां । उपऽस्तुतिः । देवाः । एषां । अभवन् । देवऽहूतिषु ॥७॥

पदार्थः—(अयज्यव) अवैदिकाः (दश, राजानः) दशसंख्याका राजानः (समिता) सम्मिलिताः सन्तः (सुदासम्) वेदानुयायिनैकेन राज्ञा (न, युयुधुः) युद्धं न कर्तुं शक्नुवन्ति (देवहूतिषु) युद्धेषु (अद्मसदां, देवाः) याजका विद्वांसः (एषाम्) एषां वेदानुयायिनाम् (नृणाम्) मनुष्याणाम् (सत्या) सत्यतया (उपस्तुतिः) उपस्तुतिम् (अभवन्) कुर्वन्ति (इन्द्रावरुणा) भो विद्याभिरलङ्कृता राजपुरुषाः ! यूयमीदृक् साधनसम्पन्नपुरुषाणां सहाया भवत ॥

पदार्थ—(अयज्यवः) अवैदिक (दश, राजानः) दश राजा (समिताः) इकट्ठे होकर (सुदासं) वेदानुयायी राजा से (न, युयुधुः) युद्ध नहीं कर सकते (देवहूतिषु) युद्धों में (अद्मसदां, देवाः,) यज्ञशील विद्वान् पुरुष (एषां) इन (नृणां) वेदानुयायी पुरुषों की (सत्या) सत्यरूप से (उपस्तुतिः) स्तुति (अभवन्) करते हैं (इन्द्रावरुणा) हे विद्यासम्पन्न राजपुरुषो ! तुम ऐसे साधनसम्पन्न पुरुषों की सहायता करो ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह उपदेश किया है कि राजा तथा राजकीय पुरुषों को सदा वैदिक धर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि व्रत, तप तथा अनुष्ठानशील राजा को दश राजा भी मिलकर युद्ध में पराजय नहीं कर सकते, दृढव्रती, कर्मकाण्डी तथा धीर-वीर राजा की सब विद्वान् प्रशंसा करते और वही अपने सब कार्यों को विधिवत् करता हुआ संसार में कृतकार्य्य होता है, ऐसे धर्मज्ञ राजा की सब विद्वानों को सहायता करनी चाहिए ॥७॥

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सवः ॥८॥

दाशऽराज्ञे । परिऽयत्ताय । विश्वतः । सुऽदासे । इन्द्रावरुणौ । अशिक्षतं । श्वित्यञ्चः । यत्र । नमसा । कपर्दिनः । धिया । धीऽवन्तः । असपन्त । तृत्सवः । ॥८॥

पदार्थः—(यत्र) यस्मिन्युद्धे (नमसा) प्रभुत्वेन (कपर्दिनः) स्वलङ्कृताः (धीवन्तः) बुद्धिमन्तः (तृत्सवः) कर्मकाण्डिनः (श्वित्यञ्चः) सदाचारिणः (असपन्त धिया) युद्धकर्मसु बुद्धया प्रवर्त्तन्ते, तत्र युद्धे (विश्वतः) सर्वतः दाशराज्ञे, परियत्ताय)

दशभिर्नृपैराक्रान्तान् (सुदासे) वेदानुयायिनो नृपस्य (इन्द्रावरुणौ) हे शस्त्रास्त्र-विद्यावेत्तारो विद्वांसः (अशिक्षतम्) पर्याप्तिबलान् कुरुत ॥

पदार्थ—(यत्र) जिस युद्ध में (नमसा) प्रभुता से (कपर्दिनः) उत्तम अलङ्कारयुक्त (धीवन्तः) बुद्धिमान् (तृत्सवः) कर्मकाण्डी (श्वित्यञ्चः) सदाचारी (असपन्त) युद्धरूप कर्म में (धिया) बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है, उस युद्ध में (विश्वतः) सब ओर से (दशराज्ञे, परियत्ताय) दश राजाओं के आक्रमण करने पर (सुदासे) वेदानुयायी राजा को (इन्द्रावरुणौ) हे अस्त्र-शस्त्रों की विद्या में कुशल विद्वानो ! (अशिक्षतं) बल प्रदान करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि राजा लोगो ! तुम कर्मकाण्डयुक्त तथा सदाचार सम्पन्न होकर अपने कार्यों को विधिवत् करो और युद्धरूप कर्म में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होओ, जो सदाचार सम्पन्न राजा बुद्धिपूर्वक युद्ध करता है उसको अनेक राजा सब ओर से आक्रमण करने पर भी विजय नहीं कर सकते । परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे धनुर्विद्यासम्पन्न अध्यापक तथा उपदेशको ! तुम ऐसे धर्मपरायण राजा की सदा सहायता करो जिससे वह शीघ्र कृतकार्य हो ॥८॥

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा ।
हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥९॥

वृत्राणि । अन्यः । सम्ऽइथेषु । जिघ्नते । व्रतानि । अन्यः । अभि । रक्षते । सदा । हवामहे । वां । वृषणा । सुवृक्तिऽभिः । अस्मे इति । इन्द्रावरुणा । शर्म । यच्छतं ॥९॥

पदार्थः—(अन्यः, समिथेषु) एको योद्धा युद्धक्षेत्रे (वृत्राणि, जिघ्नते) शत्रूञ्जयति (अन्यः) एकः (सदा) सततम् (अभि) सर्वथा (व्रतानि) नियमान् (रक्षते) संसेव्य रक्षति (इन्द्रावरुणा) भो इन्द्रवरुणस्वरूपा योद्धारः ! (माम्) यूयम् (अस्मे) अस्मभ्यम् (शर्म, यच्छतम्) सुखं प्रयच्छत यतो यूयम् (वृषणा) योद्धुरभि-लाषप्रदातारः (सुवृक्तिभिः) शुभमार्गप्रवर्त्तकाश्च स्थः, अतः (हवामहे) वयं युष्माना-ह्वयामः ॥

पदार्थ—(अन्यः, समिथेषु) एक शूरवीर युद्धों में (वृत्राणि, जिघ्नते) शत्रुओं को विजय करता (अन्यः) एक (सदा) सदैव (अभि) सर्वप्रकार से (व्रतानि) नियमों की (रक्षते) रक्षा करता है (इन्द्रावरुणा) इन्द्र तथा वरुणरूप योद्धाओं ! (वां) आप (अस्मे) हमको (शर्म, यच्छतं) सुख प्राप्त करायें, क्योंकि आप (वृषणा) युद्ध की कामना पूर्ण करनेवाले और (सुवृक्तिभिः) शुभ मार्गों में प्रवृत्त करानेवाले हैं, इसलिये (हवामहे) हम आपका आह्वान करते हैं ॥

भावार्थ—जो राजा लोग व्रतों की रक्षा करते और दुष्ट शत्रुओं का दमन करते हैं, हे अस्त्रशस्त्रविद्यावेत्ता विद्वानों ! तुम उनकी सहायता करो, क्योंकि व्रत पालन तथा दुष्टदमन किये बिना प्रजा में सुख का संचार कदापि नहीं हो सकता, इसी अभिप्राय से वेद मे अन्य उपदेश किया है कि—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ।। यजु० ।। १ ।। ५ ।।

अर्थ—हे व्रतों के पति परमात्मा ! मैं आपकी कृपा से व्रत का पालन करूँ ताकि असत्य-मार्ग को त्याग कर सत्य पथ को प्राप्त होऊँ, इस प्रकार वेदों में सर्वत्र नियमपालनरूप व्रत का बलपूर्वक उपदेश किया गया है उसी की दृढ़ता का इस मन्त्र में वर्णन किया है, या यों कहो कि परमात्मा दृढ़व्रती लोगों के सदैव सहायक होते हैं और परमात्मा के नियम पर चलनेवाले पुरुषों को भी उचित है कि वह ऐसे भावोंवाले पुरुषों के सहायक बनें ।।९।।

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः ।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे ।।१०।।

अस्मे इति । इन्द्रः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । द्युम्नं । यच्छन्तु । महि । शर्म । सऽप्रथः । अवध्रं । ज्योतिः । अदितेः । ऋतऽवृधः । देवस्य । श्लोकं । सवितुः । मनामहे ।।१०।।

पदार्थः—(इन्द्रः) वैद्युतविद्याऽभिज्ञः (वरुणः) जलीयविद्यावेत्ता (मित्रः) राजमन्त्री (अर्यमा) न्यायाधीशः (अस्मे) अस्मभ्यम् (द्युम्नम्) दीप्तिमत् (महि) महत् (सप्रथः) सुप्रख्यातं(शर्म) सुखम् (यच्छन्तु) ददतु (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूपः (अवध्रम्) नित्यः (अदितेः) अखण्डनीयो विभुः (ऋतावृधः) सत्यस्वरूपः (देवस्य) दिव्यात्मा (सवितुः) विश्वजनको यो भगवान् तस्य (श्लोकम्) स्तुतिम् (मनामहे) कुर्महे ।।

इति त्र्यशीतितमं सूक्तं पञ्चमो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(इन्द्रः) वैद्युतविद्यावेत्ता (वरुणः) जलीयविद्या के ज्ञाता (मित्रः) राजमन्त्री (अर्यमा) न्यायाधीश (अस्मे) हमको (द्युम्नं) दीप्तिवाला (महि) बड़ा (सप्रथः) विस्तृत (शर्म) सुख (यच्छन्तु) प्राप्त करायें (ज्योतिः) हे दिव्यस्वरूप (अवध्रं) नित्य (अदितेः) अखण्डनीय (ऋतावृधः) सत्यस्वरूप (देवस्य) दिव्य स्वरूप (सवितुः) सबके उत्पादक परमात्मन् ! मैं आपकी (श्लोकं) स्तुति (मनामहे) करता हूँ ।।

भावार्थ—हे न्यायाधीश परमात्मन् ! आप इन्द्रादि विद्वानों द्वारा हमको नित्य सुख की प्राप्ति करायें, और ऐसी कृपा करें कि हम आपके सत्यादि गुणों का गान करते हुए सदैव आपकी स्तुति में तत्पर रहें ।।१०।।

८३वां सूक्त और ५वां वर्ग समाप्त हुआ ।

पञ्चर्चस्य चतुरशीतितमस्य सूक्तस्य

वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ छन्द—१, २, ४, ५ निचृत्त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ परमात्मा प्रकारान्तरेण राजधर्ममुपदिशति—

अब परमात्मा प्रकारान्तर से राजधर्म का उपदेश करते हैं—

आ वां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः ।
प्र वां घृताची बाह्वोर्दधाना परि त्मना विषुरूपा जिगाति ॥१॥

आ । वां । राजानौ । अध्वरे । ववृत्यां । हव्येभिः इन्द्रावरुणा । नमःऽभिः । प्र । वां । घृताची । बाह्वोः । दधाना । परि । त्मना । विषुऽरूपा । जिगाति ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) भो इन्द्रावरुणौ देवौ ! (वां, राजानौ) प्रकाशवन्तौ युवाम् (अध्वरे) संग्रामे (ववृत्याम्) आह्वयामि (हव्येभिः, नमोभिः) नम्राभिर्वाग्भिः युवां सत्करोमि (वां) युवाम् (बाह्वोः) भुजयोः (आ) सुरीत्या (घृताची) स्रुवम् (दधाना) धारयन्तः (परि त्मना) सम्यक् स्वयमेव (विषुरूपा) बहुविधद्रव्यैः (जिगाति) संबोधयामि ॥

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) हे इन्द्र तथा वरुण ! (वां, राजानौ) प्रकाशवाले आप दोनों (अध्वरे) संग्राम में (ववृत्यां) आवें (हव्येभिः, नमोभिः) हम नम्र वाणियों द्वारा आपका सत्कार करते हैं (वां) आपको (बाह्वोः) हाथों में (आ) भले प्रकार (घृताची) स्रुवा (दधाना) धारण कराते हुए (परि, त्मना) शुभ संकल्प से (विषुरूपा) नानाप्रकार के द्रव्यों द्वारा (जिगाति) उद्बोधन करते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यज्ञमानो ! तुम अग्निविद्यावेत्ता तथा जल वायु आदि तत्त्वों की विद्या जाननेवाले विद्वानों को दुष्ट दमनरूप संग्राम में बुलाओ और नम्रवाणियों द्वारा उनका सत्कार करते हुए उनको उद्बोधन करो कि हे भगवन् ! जिस प्रकार घृतादि पदार्थों से अग्नि देदीप्यमान होती है इसी प्रकार आप हमारे सम्मानादि भावों से देदीप्यमान होकर शत्रुरूप समिधाओं को शीघ्र ही भस्म करें जिससे हमारी शुभकामानायें पूर्ण हों ॥

तात्पर्य्य यह कि इस मन्त्र में युद्धविद्यावेत्ता सैनिक पुरुषों का सत्कार कथन किया गया है अर्थात् राजा अपने सैनिक तथा विद्वान् पुरुषों का सत्कार सदैव करे जिससे वे राजधर्म का अङ्ग बनकर राजा की रक्षा में सदा तत्पर रहें ॥१॥

सम्प्रति प्रेमरज्जुबद्धस्य राष्ट्रस्य दार्ढ्यं वर्ण्यते—

अब प्रेम रज्जू से बंधे हुए राष्ट्र की दृढ़ता का वर्णन करते हैं—

युवो राष्ट्रं बृहदिन्वति द्यौर्यौ सेतृभिररज्जुभिः सिनीथः ।
परि नो हेळो वरुणस्य वृज्या उरुं न इन्द्रः कृणवदु लोकम् ॥२॥

युवोः । राष्ट्रं । बृहत् । इन्वति । द्यौः । यौ । सेतृऽभिः । अरज्जुऽभिः । सिनीथः । परि । नः । हेळः । वरुणस्य । वृज्याः । उरुं । नः । इन्द्रः । कृणवत् । ऊं इति । लोकं ॥२॥

पदार्थः—(युवोः) हे नृपास्तथा राजपुरुषाः ! युष्माकम् (राष्ट्रम्) राज्यम् (द्यौः, बृहत्, इन्वति) द्युलोकपर्यन्तं सुविस्तीर्यताम् (यौ) युवां द्वावपि (परि) अभितः (सेतृभिः, अरज्जुभिः, सिनीथः) रज्जुरहितरज्जुसदृशप्रेमात्मकबन्धनैर्बद्धौ (नः) अस्मान् प्राप्नुयातम् (ऊ) तथा च (लोकम्) युवयोर्भुवनम् (इन्द्रः) विद्युद्विद्यावेत्ता (कृणवत्) रक्षतु (वरुणस्य, हेळः) जलीयविद्याभिज्ञविदुष आक्रमणम् (वृज्याः) युष्मदुपरि न भवेत् युवां प्रार्थयेथाम् (नः) अस्माभिः (उरुम्) विस्तृतलोकाः प्राप्यन्ताम् ॥

पदार्थ—(युवोः) हे राजा तथा राजपुरुषो ! तुम्हारा (राष्ट्रं) राज्य (द्यौः, बृहत्, इन्वति) द्युलोकपर्य्यन्त बड़ा विस्तृत हो (यौ) तुम दोनों (परि)सब ओर से (सेतृभिः, अरज्जुभिः, सिनीथः) प्रेमरूप रज्जुओं में बंधे हुए (नः) हमको प्राप्त हों (उ) और (लोकं) तुम्हारे लोक को (इन्द्रः) विद्युद्विद्यावेत्ता विद्वान् (कृणवत्) रक्षा करें (वरुणस्य, हेळः) जलविद्यावेत्ता विद्वान् का आक्रमण (वृज्याः) तुम पर न हो, और तुम प्रार्थना करो कि (नः) हमको (उरुं) विस्तृत लोकों की प्राप्ति हो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो ! तुम सदैव अपने राष्ट्र की वृद्धि में लगे रहो और उसको प्रेमरूप रज्जु के बन्धन से ऐसा बांधो कि वह किसी प्रकार से भी शिथिलता को प्राप्त न हो, अधिक क्या जिनके राष्ट्र दृढ़ बन्धनों से बंधे हुए हैं उन पर न कोई जलयानों द्वारा आक्रमण कर सकता और न कोई विद्युत् आदि शक्तियों से उसको हानि पहुँचा सकता है । जो राजा अपने राष्ट्र को दृढ़ बनाने के लिए प्रजा में प्रेम उत्पन्न करता अर्थात् अन्याय और दुराग्रह का त्याग करता हुआ अपने को विश्वासार्ह बनाता है तब वह दोनों परस्पर उन्नत होते और पृथिवी से लेकर द्युलोकपर्य्यन्त सर्वत्र उनका अटल प्रभाव हो जाता है, इसलिए उचित है कि राजा अपने राष्ट्र को दृढ़ बनाने के लिए प्रजा में प्रेम उत्पन्न करे, प्रजा में प्रेम का संचार करनेवाला राजा ही अपने सब कार्यों को विधिवत् करता और वही अन्ततः परमात्मा को प्राप्त होता है ॥२॥

कृतं नो यज्ञं विदथेषु चारुं कृतं ब्रह्माणि सूरिषु प्रशस्ता ।
उपो रयिर्देवजूतो न एतु प्र णः स्पार्हाभिरूतिभिस्तिरेतम् ॥३॥

कृतं । नः । यज्ञं । विदथेषु । चारुं । कृतं । ब्रह्माणि । सूरिषु । प्रऽशस्ता । उपो इति । रयिः । देवऽजूतः । नः । एतु । प्र । नः । स्पार्हाभिः । ऊतिऽभिः । तिरेतं ॥३॥

पदार्थः—भो नानाविधविद्यावेत्तारः ! (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) क्रतुम् (विदथेषु) अस्मद्यज्ञशालायाम् (चारुं, कृतम्) शोभनं विधत्त=सफलं कुरुत (ब्रह्माणि) वैदिकस्तोत्राणि (सूरिषु) ज्ञातिषु मध्ये (प्रशस्ता, कृतम्) प्रशंसनीयं कुरुत (नः) अस्माभिः (देवजूतः) युष्मत्कर्तृकाभिरक्षया (उपो, एतु, रयिः) सुस्थिरं पुष्कलं धनं प्राप्यताम् (नः) अस्मान् (प्र) नानाविधाभिः (स्पार्हाभिः) स्वाभिलषिताभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (तिरेतम्) समुन्नमयत ।

पदार्थ—हे विद्वान् राजपुरुषो ! (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञ को (विदथेषु) हमारे गृहों में (चारुं, कृतं) सुन्दर बनायें (ब्रह्माणि) वैदिकस्तोत्रों को (सूरिषु) शूरवीरों में (प्रशस्ता, कृतं) प्रशंसनीय बनाओ (नः) हमारे (देवजूतः) आपकी रक्षा से (उपो, एतु, रयिः) उत्तमोत्तम पुष्कल धन प्राप्त हो, और (नः) हमको (प्र) सर्व प्रकार की (स्पार्हाभिः) अभिलषित (ऊतिभिः) रक्षाओं से (तिरेतम्) उन्नत करो ।।

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देते हैं कि हे न्यायाधीश तथा सेनाधीश राजपुरुषो ! तुम प्रजाजनों को प्राप्त होकर उनके घरों को यज्ञों द्वारा सुशोभित करो और शूरवीरों को वैदिक-शिक्षा दो ताकि वह वेदवाणीरूप ब्रह्मस्तोत्रों का प्रजा में भलीभाँति प्रचार करें और राजा तथा प्रजा दोनों ऐश्वर्य्ययुक्त पदार्थों से भरपूर हों, और प्रजाजन भी उन विद्वानों से प्रार्थना करें कि हे भगवन् ! आपकी रक्षा से हमको पुष्कल धन प्राप्त हो और हम आपकी रक्षा में रहकर मनोभिलषित उन्नति करें ।।३।।

अस्मे इन्द्रावरुणा विश्ववारं रयिं धत्तं वसुमन्तं पुरुक्षुम् ।
प्र य आदित्यो अनृता मिनात्यमिता शूरो दयते वसूनि ।।४।।

अस्मे इति । इन्द्रावरुणा । विश्वऽवारं । रयिं । धत्तं । वसुऽमन्तं । पुरुऽक्षुं । प्र । यः । आदित्यः । अनृता । मिनाति । अमिता । शूरः । दयते । वसूनि ।।४।।

पदार्थः—(इन्द्रावरुणा) इन्द्रः परमैश्वर्यसम्पन्नः तथा वरुणः सर्वेषामुपास्यः परमात्मा (विश्ववारम्) जगत्संभजनीयः (वसुमन्तम्) विविधरत्नसम्पन्नम् (रयिं, धत्तं) सकलसम्पदं दधानः (पुरुक्षुम्) बहुविधान्नयुक्तः तथा (यः) यः (प्र) सम्यक् (आदित्यः) अज्ञानध्वंसकश्चास्ति सः (अनता, मिनाति) असत्यवादिनो दण्डयति, तथा (शूरः) शूरान् (अमिता, वसूनि, दयते) अपरिमितधनवतः करोति (अस्मे) सदयमस्मानपि तथाविधसम्पत्तिसमृद्धान् करोतु ।।

पदार्थ—(इन्द्रावरुणा) इन्द्र=परमैश्वर्य्ययुक्त तथा वरुण=सब का उपास्यदेव परमात्मा (विश्ववारं) सबको रुचिकर (वसुमन्तं) सबप्रकार के धनों से युक्त (रयिं, धत्तं) सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य को धारण करनेवाला (पुरुक्षुं) नाना प्रकार के अन्नों से युक्त और (यः) जो (प्र) भले प्रकार (आदित्यः) अज्ञान का नाश करनेवाला है वह (अनृता, मिनाति) असत्यवादियों को दण्ड देता और (शूरः) शूरवीरों को (अमिता, वसूनि, दयते) यथेष्ट धन देता है (अस्मे) कृपा करके हमें भी ऐश्वर्य्ययुक्त करें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम सबप्रकार के ऐश्वर्य्य तथा धन की याचना उसी परमात्मा से करो, क्योंकि वही परमैश्वर्य्ययुक्त, नानाप्रकार के अन्नरूप धनों का स्वामी और वही सब संसार को यथाभाग देनेवाला है, वह अनृतवादियों को दण्ड देता और

धर्मात्मा शूरवीरों को यथेष्ट धन का स्वामी बनाता है, इसलिए उचित है कि सब प्रजाजन सत्यपरायण होकर परमात्मा से ही धन की प्रार्थना करें ॥४॥

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना ।
सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

इयं । इन्द्रं । वरुणं । अष्ट । मे । गीः । प्र । आवत् । तोके । तनये । तूतुजाना । सुऽरत्नासः । देवऽवीतिं । गमेम । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—(मे) मम (इयम्) इयमुच्चार्यमाणा (गीः) वेदवाग् (इन्द्रं वरुणम्) सर्वैश्वर्यशालिनं सर्वैः संभजनीयं च परमात्मानम् (अष्ट) अश्नुताम् व्याप्नोतु (तूतुजाना) मया प्रेर्यमाणेयं वाणी (तोके) पुत्रे (तनये) पौत्रे च विषये (प्र, आवत्) प्ररक्षतु, वयं च (सुरत्नासः) शोभनधनसम्पन्नाः सन्तः (देववीतिम्) विदुषां यज्ञशालां (गमेम) प्राप्नुयाम, हे भगवन् ! (यूयम्) भवन्तः (नः) अस्मान् (स्वस्तिभिः) आशीर्वाग्भिः (सदा) निरन्तरं (पात) रक्षन्तु ॥

चतुरशीतितमं सूक्तं षष्ठो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(मे) मेरी (इयं) यह (गीः) वेदरूप वाणी (इन्द्रं, वरुणं) सर्वैश्वर्य्ययुक्त तथा सर्वोपरि परमात्मा को (अष्ट) प्राप्त हो (तूतुजाना) यह ईश्वरीयवाणी (तोके) पुत्र (तनये) पौत्र के लिए (प्र, आवत्) भले प्रकार रक्षा करे, और हम लोग (सुरत्नासः) धनादि ऐश्वर्य्य-सम्पन्न होकर (देववीतिं) विद्वानों की यज्ञशालाओं को (गमेम) प्राप्त हों, और हे परमात्मन् ! (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) आशीर्वादरूप वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यजमान की ओर से प्रार्थना कथन की गई है कि हे भगवन् ! हमारा किया हुआ स्वाध्याय तथा वैदिककर्मों का अनुष्ठान, यह सब आप ही का यश है, क्योंकि इन्हीं कर्मों के अनुष्ठान से हमारे पुत्र पौत्रादि सन्तानों की वृद्धि होती और हम ऐश्वर्य्य-सम्पन्न होकर आपके भक्तिभाजन बनते हैं अर्थात् वैदिककर्मों के अनुष्ठान द्वारा ही मनुष्य को पुत्र पौत्रादि सन्तति प्राप्त होती और इसी से धनादि ऐश्वर्य्य की वृद्धि होती है, इसलिए जिज्ञासुओं को उचित है कि वह धनप्राप्ति तथा ऐश्वर्य्यवृद्धि के लिए वैदिक कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें और सन्तति अभिलाषियों के लिए भी यही कर्म उपादेय है ॥

८४वां सूक्त और छठवां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चर्चस्य पञ्चाशीतितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः ।। इन्द्रावरुणौ देवते ।। छन्दः—१, ४ आर्षीत्रिष्टुप् ।। २, ३, ५ निचृत्त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अथ राजधर्म्ममुपदिशन् सैनिकसाहाय्यं वर्ण्यते—

अब राजधर्म का वर्णन करते हुए सैनिक पुरुषों के सहायार्थ सोमादि द्रव्यों का प्रदान कथन करते हैं—

पुनीषे वामरक्षसं मनीषां सोममिन्द्राय वरुणाय जुह्वत् ।
घृतप्रतीकामुषसं न देवीं ता नो यामन्नुरुष्यतामभीके ॥१॥

पुनीषे । वां । अरक्षसं । मनीषां । सोमं । इन्द्राय । वरुणाय । जुह्वत् । घृतऽप्रतीकां । उषसं । न । देवीं । ता । नः । यामन् । उरुष्यतां । अभीके ॥१॥

पदार्थः—भो मनुष्याः ! यूयम् (अभीके) अत्र धर्म्ये युद्धे (इन्द्रस्य, वरुणस्य) इन्द्रसम्बन्धि च (सोमं जुह्वत्) सोमाख्यं हविर्ददतः इदं प्रार्थयध्वम्-यत् (वां) युवयोः (अरक्षसम्) आसुरभावं त्यक्त्वा (घृतप्रतीकाम्) घृतसदृशस्निग्धया (मनीषाम्) बुद्ध्या प्रार्थनां कृत्वा (पुनीषे) पुनाम् (उषसम्) उषसा (न) सदृश्या (देवीं) दिव्यस्वरूपया (ता) तया बुद्ध्या (यामन्) युद्धाभिगमे (नः) अस्मान् (उरुस्यताम्) सेवेताम् ।।

पदार्थ—हे मनुष्यो ! तुम (अभीके) इस धर्मयुद्ध में (इन्द्रस्य, वरुणस्य) इन्द्र तथा वरुण के लिए (सोमं, जुह्वत्) सोमरसप्रदान करके यह कथन करो कि (वां) आपको (अरक्षसं) आसुरभावरहित (घृतप्रतीकां) घृत के समान स्नेहवाली (मनीषां) बुद्धिद्वारा प्रार्थना करके (पुनीषे) पवित्र करें (उषसं) उषा के (न) समान (देवीं) दिव्यरूपा (ता) बुद्धिद्वारा (यामन) युद्ध की चढ़ाई के समय (नः) हमको (उरुष्यतां) सेवन करें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे प्रजाजनो ! तुम इन्द्र=परमैश्वर्य्ययुक्त शूरवीर तथा वरुण=शत्रुसेना को शस्त्रों द्वारा आच्छादन करनेवाले वीर पुरुषों का सोमादि उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार करके उन्हें प्रसन्न करते हुए अपनी स्नेहपूर्ण शुद्ध बुद्धि द्वारा सदैव उनकी रक्षा के लिए प्रार्थना करो, जिससे वह शत्रुओं का पराजय करके तुम्हारे लिए सुखदायी हों, तुम युद्ध में चढ़ाई के समय उनके सहायक बनो और उनको सदा प्रेम की दृष्टि से देखो, क्योंकि जहाँ प्रजा राजपुरुषों में परस्पर प्रेम होता है वहाँ सदैव आनन्द बना रहता है, इसलिए तुम दोनों परस्पर प्रेम की वृद्धि करो ।।१।।

अथान्यायकारिणः शत्रून् पराजेतुमुपदिशति—

अब अन्यायकारी शत्रुओं को परास्त करने का उपदेश करते हैं—

स्पर्धन्ते वा उ देवहूये अत्र येषु ध्वजेषु दिद्यवः पतन्ति ।
युवं ताँ इन्द्रावरुणावमित्रान्हतं पराचः शर्वा विषूचः ॥२॥

स्पर्धन्ते । वै । ऊं इति । देवऽहूये । अत्र । येषु । ध्वजेषु । दिद्यवः । पतन्ति । युवं । तान् । इन्द्रावरुणौ । अमित्रान् । हतं । पराचः । शर्वा । विषूचः । ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रावरुणौ) हे इन्द्रावरुणौ ! युवाम् (अमित्रान्) शत्रून् (पराचः) पराजित्य (शर्वा, विषूचः) हिंसकशस्त्रेण तान् कुटिलगतीन् (हतम्) हिंस्तम् तथा (देवहूये) अस्मिन्देवासुरसंङ्ग्रामे (येषु, ध्वजेषु) यासु पताकासु (दिद्यवः, पतन्ति) विपक्षैः क्षिप्तानि शस्त्राणि पतन्ति (वै) निश्चयेन (अत्र) तत्र तादृशस्थले ता रक्षताम् तथा च ये (युवाम्) भवन्तौ प्रति (स्पर्धन्ते) ईर्ष्यन्ति तान् (ऊ) सम्यक् हतम् ।।

पदार्थ—(इन्द्रावरुणौ) हे इन्द्र तथा वरुण ! तुम (अमित्रान्) शत्रुसेना को (पराचः) पराजय करके (शर्वा, विषूचः) हिंसक शस्त्रों से (हतं) उनको हनन करो, और (देवहूये) इस देवासुर संग्राम में (येषु, ध्वजेषु) जिन ध्वजाओं में (दिद्यवः, पतन्ति) शत्रुओं के फेंके हुए शस्त्र गिरते हैं (वै) निश्चय करके (अत्र) उन स्थलों में ध्वजाओं की रक्षा करो, और जो (युवं) तुम दोनों से (स्पर्धन्ते) ईर्षा करते हैं उनका (ऊ) भलीभाँति हनन करो ।।

भावार्थ—इन्द्र = विद्युत् की शक्ति जाननेवाला, वरुण = जलयानों की विद्या जाननेवाला हे विद्युत् तथा जलीय विद्याओं के जाननेवाले सेनाध्यक्षो ! तुम असुर सेना के हनन करने के लिए सदा उद्यत रहो, और युद्ध करते हुए अपनी सेना के झण्डों की बड़े प्रयत्न से रक्षा करो, और अपने साथ ईर्षा करनेवालों को सदा परास्त करते रहो ताकि कोई अन्यायकारी पुरुष तुम्हें कभी दबाकर अन्याय न कर सके, यह तुम्हारे लिए ईश्वरीय आदेश है ।।२।।

आपश्चिद्धि स्वयंशसः सदःसु देवीरिन्द्रं वरुणं देवता धुः ।
कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अंप्रतीनि हन्ति ।।३।।

आपः । चित् । हि । स्वयऽशसः । सदःसु । देवीः । इन्द्रं । वरुणं । देवता । धुरिति धुः । कृष्टीः । अन्यः । धारयति । प्रऽविक्ताः । वृत्राणि । अन्यः । अप्रतीनि । हन्ति ।।३।।

पदार्थः—भोः सेनानीः ! (हि) निश्चयेन (आपः, चित्) सर्वत्र व्याप्य (स्वयशसः) स्वकीयेन यशसा (सदःसु) उपासनीयस्थानेषु (देवीः) दिव्यशक्तिसम्पन्नम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तम् (वरुणम्) विश्वं स्वशक्त्याऽवस्थापयन्तम् परमात्मानम् (देवता) संप्रार्थ्य तदीय दिव्यशक्तिं (धुः) संधार्य (अन्यः) कश्चित् (कृष्टीः) प्रजाः (धारयति) दधाति, यः (प्रविक्ताः) भिन्नप्रकृतिकानां मनुष्याणां कर्माणि बुध्यते (अन्यः) अन्यः कश्चित् (वृत्राणि) मेघवत् नभोमण्डले प्रसृतान् (अप्रतीनि) वशीकर्तुमशक्यान् (हन्ति) हिनस्ति ।।

पदार्थ—हे सेनाधीश (हि) निश्चय करके (आपः, चित्) सर्वत्र व्यापक होकर (स्वयशसः) अपने यश से (सदःसु) उपासनीय स्थानों में (देवीः) दिव्यशक्तिसम्पन्न (इन्द्रं) परमैश्वर्यवान् (वरुणं) सबको स्वशक्ति में रखनेवाले परमात्मा की (देवता) दिव्यशक्तियों को (धुः) धारण कर (अन्यः) कोई (कृष्टीः) प्रजा को (धारयति) धारण करता है जो (प्रविक्ताः) भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के कर्मों को जानता है (अन्यः) अन्य (वृत्राणि) मेघों के समान नभोमण्डल में फैले हुए (अप्रतीनि) वश में न आनेवाले शत्रुओं को (हन्ति) हनन करता है ।।

भावार्थ—जो पुरुष परमात्मशक्तियों को धारण करके भिन्न-भिन्न कर्मों के ज्ञाता हैं वह परमैश्वर्य्ययुक्त परमात्मा की उपासना करते हुए न्यायाधीश के पद पर स्थित होते हैं और जो युद्धविद्याविशारद होते हैं वह आकाशस्थ शत्रु की सेना को मेघमण्डल के समान अपने प्रबल वायुसदृश वेग से छिन्नभिन्न करते हैं अर्थात् दिव्यशक्तिसम्पन्न राजपुरुष न्यायाधीश बनकर प्रजा में उत्पन्न हुए दोषों को नाश करके उसको धर्मपथ पर चलाते और दूसरे सेनाधीश बनकर वश में न आनेवाले शत्रुओं को विजय करके प्रजा में शान्ति फैलाते हुए परमात्मा की आज्ञा का पालन करते हैं ॥३॥

स सुक्रतुॠतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान् ।
आववर्तदवसे वां हविष्मानसदित्स सुविताय प्रयस्वान् ॥४॥

सः । सुऽक्रतुः । ऋतऽचित् । अस्तु । होता । यः । आदित्या । शवसा । वां । नमस्वान् । आऽववर्तत् । अवसे । वां । हविष्मान् । असत् । इत् । सः । सुविताय प्रयस्वान् ॥४॥

पदार्थः—(सः) स पुरुषः (सुक्रतुः) शुभकर्मकर्त्ता (ऋतचित्) तथा सत्यवादी (होता) च पुनः स एव यज्ञकर्ता (अस्तु) अस्तु=स्यात् (यः) यः पुरुषः (आदित्या) आदित्य इव तेजस्वी भूत्वा (शवसा) स्वसामर्थ्येन (वां) इन्द्रावरुणौ (नमस्वान्) लोकोत्तरतेजस्कौ नमस्करणीयौ मन्यते, तथा यः (वाम्) तावेव (अवसे) रक्षायै (आववर्तत्) आवर्तयेत् (हविष्मान्) यश्च हविर्भिर्युक्तो भवति (सः) स पुरुषः (इत्) निश्चयम् (प्रयस्वान्) ऐश्वर्यसम्पन्नो भूत्वा (सुविताय) शोभनफलप्राप्त्यै (असत्) भवतु ॥

पदार्थ—(सः) वह पुरुष (सुक्रतुः) उत्तम कर्मों के करने वाला (ऋतचित्) वही सत्यवादी (होता) वही यज्ञ करनेवाला (अस्तु) है (यः) जो (आदित्या) आदित्य के समान तेजस्वी होकर (शवसा) अपने सामर्थ्य से (वां) इन्द्र तथा वरुणरूप शक्ति को (नमस्वान्) सबसे बड़ी समझता और जो (वां) इन्द्र तथा वरुण शक्ति को (अवसे) रक्षा के लिए (आववर्तत्) वर्ताव में लाता है, और जो (हविष्मान्) सदैव यज्ञादिकर्म करता है (सः) वह (इत्) निश्चय करके (प्रयस्वान्) ऐश्वर्य्ययुक्त होकर (सुविताय) संसार में यशस्वी (असत्) होता है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम इन्द्र=विद्युत् तथा वरुण=वायुरूपशक्ति को काम में लाओ, जो इन शक्तियों को व्यवहार में लाता है वह ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर सम्पूर्ण संसार में फैलता अर्थात् उसकी अतुल कीर्ति होती है और वही पुरुष तेजस्वी बनकर अमित्र सेना का हनन करनेवाला होता है ॥४॥

अथोक्तशक्त्यर्थं परमात्मानः प्रार्थ्यते—

अब उक्त शक्तिसम्पन्न होने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—

इयमिन्द्रं वरुणमष्ट मे गीः प्रावत्तोके तनये तूतुजाना ।
सुरत्नासो देववीतिं गमेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

इयं । इन्द्रं । वरुणं । अष्ट । मे । गीः । प्र । आवत् । तोके । तनये । तूतुजाना । सुऽरत्नासः । देवऽवीतिं । गमेम । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—(मे) मदीयां (इयम्) इयमुच्चार्यमाणा (गीः) वेदवाक् (इन्द्रं, वरुणं) इन्द्रावरुणात्मकशक्तिम् (अष्ट) व्याप्नोतु (तूतुजाना) मया प्रेर्यमाणेयं वाणी (तोके, तनये,) पुत्रे पौत्रे च विषये (प्र, आवत्) सम्यग् रक्षतु, वयं च (सुरत्नासः) धनाद्यैश्वर्यसम्पन्नाः सन्तः (देववीतिम्) विदुषां यज्ञशालाम् (गमेम) गच्छेम, हे भगवन् ! (यूयम्) भवान् (नः) अस्मान् (स्वस्तिभिः) आशीर्वाग्भिः (सदा) शश्वत् (पात) रक्षतु ॥

इति पञ्चाशीतितमं सूक्तं सप्तमो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(मे) मेरी (इयं) यह (गीः) वेदरूपवाणी (इन्द्रं, वरुणं) इन्द्र तथा वरुणरूप शक्ति को (अष्ट) प्राप्त हो (तूतुजाना) यह प्रार्थनारूप वाणी (तोके, तनये) पुत्र पौत्रों के लिए (प्र, आवत्) भले प्रकार सफल हो, और हम लोग (सुरत्नासः) धनादि ऐश्वर्य्यसम्पन्न होकर (देववीतिं) विद्वानों की यज्ञशालाओं को (गमेम) प्राप्त हों, और हे परमात्मन् ! (यूयं) आप (नः) हमको (स्वस्तिभिः) आशीर्वादरूप वाणियों से (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—हे जगदीश्वर ! हम आपकी कृपा से विद्युत् तथा वायुरूप शक्तियों की विद्या जाननेवाले विद्वानों को सदैव प्राप्त होते रहें अर्थात् ऐसी कृपा करें कि हम उन विद्वानों के संग से उक्त विद्या की वृद्धि द्वारा अपने जीवन को उच्च बनावें और हमारा किया हुआ वेदपाठ तथा यज्ञादि सत्कर्म हमारी सन्तानों को पवित्र करें और आप हमको मङ्गलमय वाणियों से सदैव पवित्र करते रहें, यह हम यजमानों की प्रार्थना है ॥

८५वां सूक्त और ७वां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथाष्टर्चस्य षडशीतितमस्य सूक्तस्य—

१—८ वसिष्ठ ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः १, ३, ५, ८ निचृत् त्रिष्टुप् । २, ७ विराट् त्रिष्टुप् । ६ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ वरुणरूपपरमात्मन उपासनया मनुष्यजन्मनः फलं निरूप्यते—

अब वरुणरूप परमात्मा की उपासना से मनुष्यजीवन की पवित्रता कथन करते हैं—

धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।
प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥१॥

धीरा । तु । अस्य । महिना । जनूंषि । वि । यः । तस्तम्भ । रोदसी इति । चित् । उर्वी इति । प्र । नाकं । ऋष्वं । नुनुदे । बृहन्तं । द्विता । नक्षत्रं । पप्रथत् । च । भूम ॥१॥

पदार्थः—(यः) य ईश्वरः (वि) सम्यक् (उर्वी) विस्तीर्णे (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (चित्) निश्चयम् (तस्तम्भ) स्तब्धे अकरोत्, तथा यः (बृहन्तम्) महान्ति (नक्षत्रम्) नक्षत्राणि (च) पुनः (भूम) भूमिम् (पप्रथत्) अररचत् तथा (नाकम्)

स्वर्गम् (ऋष्वम्) नरकं च (द्विता) द्विधा (नुनुदे) व्यररचत् (तु) निश्चयेन (अस्य) इमं वरुणस्वरूपं परमात्मानम् (धीरा) धैर्यवन्तो जनाः (महिना) महत्त्वेन (जनूंषि) तज्जन्मना सह बुध्यन्ते ॥

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (वि) भलीभाँति (रोदसी) द्युलोक (चित्) और (उर्वी) पृथिवी लोक को (तस्तम्भ) थाम्हे हुए है और जो (बृहन्तं) बड़े-बड़े (नक्षत्रं) नक्षत्रों को (च) और (भूम) पृथिवी को (पप्रथत्) रचता, तथा (नाकं) स्वर्ग (ऋष्वं) नरक को (द्विता) दो प्रकार से (नुनुदे) रचता है (तु) निश्चय करके (अस्य) इस वरुणरूप परमात्मा को (धीरा) पुरुष (महिना) महत्त्व द्वारा (जनूंषि) जानते अर्थात् उसके ज्ञान का लाभ करते हैं ॥

भावार्थ—जो परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता है और जिसने कर्मानुसार स्वर्ग=सुख और नरक=दुःख को रचा है उसके महत्त्व को धीर पुरुष ही विज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा कि अन्यत्र भी वर्णन किया है कि—

"तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः ।
तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" यजु० ॥३१॥१९ ॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की योनि=उत्पत्तिस्थान परमात्मा को धीर पुरुष ही ज्ञान द्वारा अनुभव करते हैं जो सबको अपने वश में किये हुए है, इसी भाव को महर्षि व्यास ने **"योनिश्चेह-गीयते"** ॥ ब्र० सू० १।४।२७॥ में वर्णन किया है कि एकमात्र परमात्मा ही सब भूतों की योनि=निमित्त कारण है, और **"अनीतवातं स्वधया तदेकं"** ॥ ऋग् ० मं. १०।२९।२ ॥ में भलीभाँति वर्णन किया है कि स्वधा=माया=प्रकृति के साथ वह एक है अर्थात् परमात्मा निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है इसी भाव को श्वेताश्वरोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है कि **"मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्, मायिनन्तु महेश्वरं"**=माया को प्रकृति जान अर्थात् माया तथा प्रकृति यह दोनों उस उपादान कारण के नाम हैं और **"मायिनं"** प्रकृतिवाला उस महेश्वर=परमात्मा को जानो, इससे सिद्ध है कि वही परमात्मा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का रचयिता और वही सबका नियन्ता=नियम में चलानेवाला है उसकी महिमा को ज्ञान द्वारा अनुभव करके उसी की उपासना करनी चाहिए, अन्य की नहीं ॥१॥

अथ परमात्मोपासनाप्रकारः कथ्यते—

अब परमात्मा की उपासना का प्रकार कथन करते हैं—

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम् ॥२॥

उत । स्वया । तन्वा । सं । वदे । तत् । कदा । नु । अन्तः । वरुणे । भुवानि । किं । मे । हव्यं । अहृणानः । जुषेत । कदा । मृळीकं । सुऽमनाः । अभि । ख्यम् ॥२॥

पदार्थः—(उत्) किम् (स्वया, तन्वा) स्वशरीरेण (सं) सम्यक् (तत्) तेनोपास्येन सह (वेदे) आलापं करवाणि (कदा) कस्मिन्काले (नु) निश्चयम् (वरुणे, अन्तः) तस्य भजनीयस्य स्वरूपे (भुवानि) प्रविशानि (किं) किमीश्वरः (मे) मम (हव्यम्) उपासनारूपमुपहारम् (अहृणानः) अक्रुध्यन् (जुषेत) स्वीकुर्यात् (कदा) क्व

काले (मृळीकम्) तं सर्वसुखप्रदातारम् (सुमनाः) शोभनमनस्कः (अभि, ख्यम्) अभितः पश्येयम् ॥

पदार्थ—(उत) अथवा (स्वया, तन्वा) अपने शरीर से (सं) भले प्रकार (तत्) उस उपास्य के साथ (वेद) आलाप करूं (कदा) कब (नु) निश्चय करके (वरुण, अन्तः) उस उपास्य देव के स्वरूप में (भुवानि) प्रवेश करूंगा (किं) क्या परमात्मा (मे) मेरी (हव्यं) उपासनारूप भेंट को (अहृणानः) प्रसन्न होकर (जुषेत) स्वीकार करेंगे (कदा) कब (मृळीकं) उस सर्व सुख-दाता को (सुमनाः) संस्कृत मन द्वारा (अभि, ख्यं) सब ओर से ज्ञानगोचर करूंगा ॥

भावार्थ—उपासक पुरुष उपासना काल में उस दिव्यज्योति परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे भगवन् ! आप मुझे ऐसी शक्ति प्रदान करें कि मैं आपके समीप होकर आपसे आलाप करूं, हे सर्वनियन्ता भगवन् ! आप मेरी उपासना रूप भेंट को स्वीकार करके ऐसी कृपा करें कि मैं सर्वसुखदाता आपको अपने पवित्र मन द्वारा ज्ञानगोचर करूं, आप ही की उपासना में निरन्तर रत रहूँ और एकमात्र आपही मेरे सम्मुख लक्ष्य हों अर्थात् उपासक पुरुष नानाप्रकार की तर्क-वितर्कों से यह निश्चय करता है कि मैं ऐसे साधन सम्पादन करूं जिनसे उस आनन्द-स्वरूप में निमग्न होकर आनन्द का अनुभव करूं ॥२॥

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ॥३॥

पृच्छे । तत् । एनः । वरुण । दिदृक्षु । उपो इति । एमि । चिकितुषः । विऽपृच्छं । समानं । इत् । मे । कवयः । चित् । आहुः । अयं । ह । तुभ्यं । वरुणः । हृणीते ॥३॥

पदार्थः—(वरुणः) भोः सर्वभजनीय परमात्मन् ! (तत्) तत् (एनः) पापम् (पृच्छे) भवन्तं पृच्छामि (उपो, दिदृक्षु) भवन्तं दिदृक्षुरहम् (चिकितुषः) सर्वथा निर्बन्धनः (एमि) भवन्तं प्राप्नुयाम् (कवयः) विद्वांसः (विपृच्छम्) साधपृष्टाः (समानम्) भवद्विषये (मे) माम् (चित्) निश्चयम् (आहुः) ब्रुवन्ति वक्ष्यमाणम् (ह) प्रसिद्धमिदं यत् (अयम्) अयम् (वरुणः) समर्थ ईश्वरः (तुभ्यम्) त्वामुपासकम् (इत्) निश्चयेन (हृणीते) पापेभ्य उद्धृत्य सुखं प्रति नयति ॥

पदार्थ—(वरुण) हे सर्वरक्षक परमात्मन् ! (तत्) वह (एनः) पाप (पृच्छे) आप से पूछता हूँ (उपो, दिदृक्षु) आपके दर्शन का अभिलाषी मैं (चिकितुषः) सर्वथा बन्धनरहित होकर (एमि) आपको प्राप्त होऊं (कवयः) विद्वान् पुरुष (विपृच्छं) भले प्रकार पूछने पर (समानं) आपके विषय में (मे) मुझको (चित्) निश्चयपूर्वक (आहुः) यह कहते हैं (ह) प्रसिद्ध है कि (अयं) यह (वरुणः) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (तुभ्यं) उपासकों को (इत्) निश्चय करके (हृणीते) पापों से उभारकर सुख की ओर ले जाना चाहता है ॥

भावार्थ—हे सर्वव्यापक ! मैं उन पापों को कैसे जानूं जिनके कारण आपके दर्शन से वञ्चित हूँ हे सर्वपालक ! ऐसी कृपा कर कि मैं उन पापों से छूटकर आपको प्राप्त होऊं । यह प्रसिद्ध है कि वेदों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष पूछने पर निश्चयपूर्वक यह कहते हैं कि परमात्मा सबका मङ्गल, कल्याण चाहते हैं, यदि उपासक अंशमात्र भी उनकी ओर झुके तो वह दयालु भगवान्

स्वयं उसका उद्धार करते हैं, इसलिए पुरुष को चाहिए कि वह साधनसम्पन्न होकर परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हो तभी उसका उद्धार हो सकता है, अन्यथा नहीं ।।३।।

किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ।।४।।

किं । आगः । आस । वरुण । ज्येष्ठं । यत् । स्तोतारं । जिघांससि । सखायं । प्र । तत् । मे । वोचः । दुःऽलभ । स्वधाऽवः । अव । त्वा । अनेनाः । नमसा । तुरः । इयाम् ।।४।।

पदार्थः—(वरुण) हे मङ्गलस्वरूप परमात्मन् ! तत् (किम्) किम् (ज्येष्ठम्) महत् (आगः) पापम् = अपराधः (आस) बभूव मया (यत्) येन हेतुना (सखायम्) मित्रभूतम् (स्तोतारम्) स्वोपासकम् (जिघांससि) हन्तुमिच्छसि (तत्) तत्पापम् (प्र) विशेषेण (मे) मां प्रति (वोचः) ब्रूयाः (दूळभ) हे जेतुमशक्य ! (त्वा) त्वम् (स्वधावः) सुतेजोमयोऽसि, अतः (अनेनाः) मां निष्पापं विधाय (अव) रक्ष, यतोऽहम् (नमसा) नम्रतया (तुरः) सत्वरम् (इयाम्) त्वां प्राप्नुयाम् ।।

पदार्थ—(वरुण) हे मङ्गलमय परमात्मन् ! वह (किं) क्या (ज्येष्ठं) बड़े (आगः) पाप (आस) हैं (यत्) जिनके कारण (सखायं) मित्ररूप आप (स्तोतारं) उपासकों को (जिघांससि) हनन करना चाहते हैं (तत्) उनको (प्र) विशेषरूप से (मे) मेरे प्रति (वोचः) कथन करें (दूळभ) हे सर्वोपरि अजेय परमात्मन् ! (त्वा) आप (स्वधावः) ऐश्वर्य्यसम्पन्न हैं, इसलिए (अनेनाः) ऐसे पापों से (अव) रक्षा करें, ताकि मैं (नमसा) नम्रतापूर्वक (तुरः) शीघ्र ही (इयां) आपको प्राप्त होऊं ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में उपासक अपने पापों के मार्जननिमित्त परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे महाराज ! वह मैंने कौन बड़े पाप किये हैं जिनके कारण मैं आपको प्राप्त नहीं हो सकता अथवा आपकी प्राप्ति में विघ्नकारी हैं । हे मित्ररूप परमेश्वर ! आप मेरा हनन न करते हुए अपनी कृपा द्वारा उन पापों से मुझे निर्मुक्त करें ताकि मैं शीघ्र ही आपको प्राप्त होऊं ।।

तात्पर्य्य यह है कि पुरुष जब तक अपने दुर्गुणों को आप अनुभव नहीं करता तब तक वह अपना सुधार नहीं कर सकता मनुष्य का सुधार तभी होता है जब वह अपने आपको आत्मिक उन्नति में निर्बल पाता है परमात्मा आज्ञा देते हैं कि जिज्ञासु जनो ! तुम अघमर्षणादि मन्त्रों के पाठद्वारा अपने आपको पवित्र बनाकर मेरे समीप आओ, तुम्हें आनन्द प्राप्त होगा ।।५।।

अथ पित्र्यपापनि मार्ष्टुं प्रार्थ्यते—

अब पैत्रप्रकृतिद्वारा आये हुए पापों के मार्जनार्थ प्रार्थना कथन करते हैं—

अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः ।
अव राजन्पशुतृपं न तायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् ।।५।।

अव । द्रुग्धानि । पित्र्या । सृज । नः । अव । या । वयं । चकृम । तनूभिः । अव । राजन् । पशुऽतृपं । न । तायुं । सृज । वत्सं । न । दाम्नः । वसिष्ठम् ।।५।।

पदार्थः—(राजन्) भो विराजमान भगवन् ! भवान् (द्रुग्धानि, पित्र्या) मातापित्रोः प्रकृतेः (नः) आगता अस्माकं दोषाः, तथा (या) यानि (वयम्) वयम् (तनूभिः) शरीरेण (चकृम) अकार्ष्म (अव) तानि मुञ्चतु (पशुतृपम्) पशूनामिवास्माकं विषयवासनाः तथा (तायुं, न) तस्कराणामिव मद्भावाः सन्ति तान् (सृज) अपनयतु (दाम्नः) रज्जुना बद्धेन (वत्सम्) वत्सेन सदृशम् (वसिष्ठम्) विषयानुविद्धं माम् (अवसृज) मुञ्चतु ।।

पदार्थ—(राजन्) हे सर्वोपरि विराजमान जगदीश्वर ! आप (द्रुग्धानि,पित्र्या) माता-पिता की प्रकृति से (नः) हम में आये हुए दोष और (या) जिनको (वयं) हमने (तनूभिः) शरीर द्वारा (चकृम) किया है (अव) और जो (पशुतृपं) पशुओं के समान हमारी विषयवासनारूप वृत्ति तथा (तायुं, न) चोरों के समान हमारे भाव हैं उनको (सृज) दूर करके (दाम्नः) रज्जु के साथ बंधे हुए (वत्स) वत्स के (न) समान (वसिष्ठं) विषय वासनाओं में लिप्त मुझको (अव, सृज) मुक्त करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में विषयवासना में लिप्त जीवन की ओर से यह प्रार्थना की गई है कि हे जगदीश्वर ! जो स्वभाव मेरे माता-पिता की ओर से मुझ में आया है अथवा मैंने अपने दुष्कर्मों से जो प्रकृति बना ली है उसको आप अपनी कृपा से दूर करके मुझको अपना समीपी बनावें, जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ वत्स अपनी माता का दूध नहीं पी सकता इसी प्रकार विषयवासनारूप रज्जु में बंधा हुआ मैं आपके स्वरूपरूपी कामधेनु का दुग्धपान नहीं कर सकता, हे प्रभो ! आपसे विमुख करनेवाले विषयवासनारूप बन्धनों से मुक्त करके मुझको आनन्द का भोक्ता बनायें, यह मेरी आपसे प्रार्थना है ।।५।।

अथ प्रारब्धजन्यकुप्रवृत्तेरागतान् स्वापराधान्मोचयितुं प्रार्थ्यते—

प्रारब्धजन्य कुप्रवृत्ति से आये हुए पापों के मार्जनार्थ प्रार्थना कथन करते हैं—

न स स्वो दक्षो॑ वरुण ध्रुतिः सा सुरा॑ मन्युर्वि॑भीद॑को अचि॑त्तिः ।
अस्ति ज्याया॑न्कनी॑यस उपा॑रे स्वप्न॑श्चनेदनृ॑तस्य प्रयो॑ता ॥६॥

न । सः । स्वः । दक्षः॑ । वरुण । ध्रुतिः॑ । सा । सुरा॑ । मन्युः । विऽभीद॑कः । अचि॑त्तिः । अस्ति॑ । ज्याया॑न् । कनी॑यसः । उपऽअरे । स्वप्नः॑ । चन । इत् । अनृ॑तस्य । प्रऽयो॑ता ॥६॥

पदार्थः—(वरुण) भोः स्वशक्त्या विश्वस्य वेष्टयितः भगवन् ! (स्वः) स्वप्रकृत्या (दक्षः) यत्किञ्चित्कर्म क्रियते (सः) तदेव पापप्रवृत्याम् कारणं (न) न भवति, किम्पुनस्तदुच्यते (ध्रुतिः)मन्दकर्मसु या दृढा प्रवृत्तिः (सा)सैव (सुरा)सुरावत्वाद्धेतोः (मन्युः) क्रोध एव तत्प्रवृत्तौ कारणम् (विभीदकः) अन्यदपि यत् द्यूतादिव्यसनं, तथा (अचित्तिः) अज्ञानं च (अस्ति) विद्यते (ज्यायान्, कनीयसः, उपारे) अस्य तुच्छ जीवस्य हृदि सर्वज्ञः पुरुषोऽप्यस्ति यः सुकर्मविधातन् सुकर्म कारयितुं प्रोत्साहयति दुष्कर्मविधातन् दुष्कर्म कारयितुं च, (स्वप्नः, चन, इत्) स्वप्नावस्थायां कृतमपि कर्म (अनृतस्य, प्रयोता) अनृतस्य प्रयोजकं भवति ।।

पदार्थ—(वरुण) हे सबको स्वशक्ति में वेष्ठन करनेवाले परमात्मन् ! (स्वः) अपनी प्रकृति से जो (दक्षः) कर्म किया जाता है (सः) वही पापप्रवृत्ति में कारण (न) नहीं होता, किन्तु (ध्रुतिः) मन्दकर्मों में जो दृढ़ प्रवृत्ति है (सा) वह (सुरा) मद के तुल्य होने से (मन्युः) क्रोध, पापप्रवृत्ति का कारण है, और (विभीदकः) द्यूतादि व्यसन तथा (अचित्तिः) अज्ञान (अस्ति) है (ज्यायान्, कनीयसः, उपारे) इस तुच्छ जीवन के हृदय में अन्तर्यामी पुरुष भी है जो शुभकर्मी को शुभकर्मों की ओर उत्साह देता और मन्दकर्मी को मन्दप्रवाह की ओर प्रवाहित करता है (स्वप्नः, चन, इत्) स्वप्न का किया हुआ कर्म भी (अनृतस्य, प्रयोता) अनृत की ओर लेजानेवाला होता है ॥

भावार्थ—इस मन्त्र का आशय यह है कि अपने स्वभाव द्वारा किया हुआ कर्म ही पाप की ओर नहीं लेजाता किन्तु (१) जीव की प्रकृति=स्वभाव (२) मन्दकर्म (३) अज्ञान (४) क्रोध (५) ईश्वर का नियमन, यह पांच जीव की सद्गति वा दुर्गति में कारण होते हैं, जैसाकि कौषीतकी उप० में वर्णन किया है कि **"एष एव साधुकर्म कारयति, तं यमधो निनीयते"** ॥ कौ० ३।३।८।=जिसको वह देव अधोगति को प्राप्त करना चाहता है उसको नीचे की ओर लेजाता और जिसको उच्च बनाना चाहता है उसको उन्नति के पथ पर चलाता है, यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा करने से ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्यरूप दोष आते हैं अर्थात् ईश्वर ही अपनी इच्छा से किसी को नीचा और किसी को ऊँचा बनाता है ? इसका उत्तर यह है कि ईश्वर पूर्वकृत कर्मों द्वारा फलप्रदाता है और उस फल से स्वयंसिद्ध ऊँच नीचपन आजाता है, जैसे किसी पुरुष को यहाँ नीचकर्म करने का दण्ड मिला, उतने काल जो वह स्वकर्म करने से वञ्चित रहा इससे वह दूसरों से पीछे रह गया, इस भाव से ईश्वर जीव की उन्नति तथा अवनति का हेतु है, वास्तव में जीव के स्वकृतकर्म ही उसकी उन्नति तथा अवनति में कारण होते हैं, इसी भाव से जीव को कर्म करनेमें स्वतन्त्र और भोगने में परतन्त्र माना है, कर्मानुसार फल देने से ईश्वर में कोई दोष नहीं आता ॥६॥

सम्प्रति जीव ईश्वरं स्वकल्याणं प्रार्थयते—

अब जीव ईश्वर से स्वकल्याण की प्रार्थना करता है—

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥७॥

अरं । दासः । न । मीळ्हुषे । कराणि । अहं । देवाय । भूर्णये । अनागाः ।
अचेतयत् । अचितः । देवः । अर्यः । गृत्सं । राये । कविऽतरः । जुनाति ॥७॥

पदार्थः—(अहम्) तवोपासकोऽहम् (अनागाः) निरपराधःसन् (देवाय) परमात्मानम् (दासः, न) सेवक इव (अरं, करवाणि) स्वकामनायै प्रार्थये (मीळ्हुषे) स कर्मफलदाता (अचितः, अचेतयत्) अजानतश्चेतयतु (अर्यः) विश्वेशः (देवः) दिव्यगुणसम्पन्नः (कवितरः) महाविचक्षणः (गृत्सम्) स्वोपासकं (राये, जुनाति) सर्वविधधनाप्तये प्रेरयतु ॥

पदार्थ—(अहं) मैं (अनागाः) निष्पाप होकर (देवाय) परमात्मदेव से (दासः न) दास के समान (अरं, कराणि) अपनी कामनाओं के लिए प्रार्थना करता हूँ (मीळ्हुषे) वह कर्मों का फलप्रदाता (अचितः, अचेतयत्) अज्ञानियों को मार्ग बतलानेवाला (अर्यः) सबका स्वामी (देवः)

दिव्यगुणस्वरूप और (कवितरः) सर्वज्ञ परमात्मा (गृत्सं) यजन करनेवालों को (राये, जुनाति) ऐश्वर्य्य की ओर प्रेरित करे ॥

भावार्थ—परमात्मा के अज्ञानियों का पथप्रदर्शक होने से जीव अपने कल्याण की प्रार्थना करता हुआ यह कथन करता है कि हे परमात्मदेव ! मैं आपके निमित्त यजन करता हुआ प्रार्थी हूँ कि कृपा करके आप मेरे कल्याणार्थ मुझे ऐश्वर्य्यसम्पन्न करें ॥७॥

अथ परमात्मा जीवान्प्रति तेषां कल्याणाय प्रार्थनाप्रकारमुपदिशति—

अब परमात्मा जीवों को उनके योगक्षेम के लिये प्रार्थना करने का कथन करते हैं—

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥

अयं । सु । तुभ्यं । वरुण । स्वधाऽवः । हृदि । स्तोमः । उपऽश्रितः । चित् । अस्तु । शं । नः । क्षेमे । शं । ऊं इति । योगे । नः । अस्तु । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥८॥

पदार्थः—(वरुण) हे विश्वभजनीय परमात्मन् ! (तुभ्यम्) त्वाम् (अयम्) अयम् (सु, स्तोमः) सुयज्ञः (उपश्रितः, अस्तु) प्रापयतु (स्वधावः) भो अन्नादिप्रदातः ! (चित्) चेतनरूप ! (हृदि) इयं मम हृदा प्रार्थनाऽस्ति या वक्ष्यते (नः) भवान् मह्यम् (शं) शर्मदो भवतु (ऊ) तथा (योगे, क्षेमे) योगप्राप्तिः तद्रक्षा च क्रियताम्, येन (नः) मह्यम् (शं) सुखम् (अस्तु) उत्पद्यताम्, तथा (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) मङ्गलकरीभिर्वाग्भिः (नः) अस्मान् (सदा) शश्वत् (पात) रक्षतु ॥

षडशीतितमं सूक्तमष्टमो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(वरुण) हे सर्वोपरि वरणीय परमात्मन् ! (तुभ्यं) आपको (अयं) यह (सु, स्तोमः) सुन्दर यज्ञ (उपश्रितः, अस्तु) प्राप्त हो (स्वधावः) हे अन्नादि के दाता (चित्) चेतन-स्वरूप (हृदि) यह मेरी आपसे हार्दिक प्रार्थना है कि आप (नः) हमारे लिए (शं) सुखकारी हों (ऊ) और (योगे, क्षेमे) योग=अप्राप्त की प्राप्ति तथा क्षेम प्राप्त की रक्षा कीजिए जिससे (नः) हमको (स्वस्तिभिः) मङ्गलमयवाणियों से (नः) हमको (सदा) सदा (पात) पवित्र करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह प्रार्थना की गई है कि हे परमात्मन् ! यह हमारा किया हुआ यज्ञ आपको प्राप्त हो, आप कृपा करके हमारे योग क्षेम की रक्षा करते हुए हमारे भावों को पवित्र करें, अधिक क्या, जो परमात्मा में सदैव रत रहते हैं उनके योगक्षेम निर्वाह के लिए परमात्मा स्वयं उद्यत होते हैं ॥८॥

८६वां सूक्त और ८वां वर्ग समाप्त ॥

सप्तर्चस्य सप्ताशीतितमस्य सूक्तस्य—

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ।। वरुणो देवता । छन्दः—
१ विराट्त्रिष्टुप् ।। २, ३, ५ आर्षी
त्रिष्टुप् । ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ।।
धैवतः स्वरः ।।

अथ परमात्मासकाशात् सकलब्रह्माण्डोत्पत्तिः कथ्यते—

अब परमात्मा से सूर्य्य चन्द्रादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति कथन करते हैं—

रद॑त्प॒थो वरु॑णः॒ सूर्या॑य॒ प्रार्णां॑सि समु॒द्रिया॑ न॒दीना॑म् ।
सर्गो॑ न सृ॒ष्टो अर्व॑तीर्ऋ॒ताय॑ञ्च॒कार॑ म॒हीर॒वनी॒रह॑भ्यः ॥१॥

रद॑त् । प॒थः । वरु॑णः । सूर्या॑य । प्र । अर्णां॑सि । स॒मु॒द्रियाः॑ । न॒दीना॑म् । सर्गः॑ । न । सृ॒ष्टः । अर्व॑तीः । ऋ॒त॒ऽयन् । च॒कार॑ । म॒हीः । अ॒वनीः॑ । अहः॑ऽभ्यः ।
॥१॥

पदार्थः—(वरुणः) सर्वेषामधिष्ठाता परमात्मा (सूर्याय) सूर्याय गन्तुम् (पथः) मार्गं (रदत्) ददाति, तथा च (प्र) सम्यक् (समुद्रिया, अर्णांसि) अन्तरिक्षस्थं जलम्, तथा (नदीनाम्) नदीः (सर्गः, नः) अश्वमिव गच्छन्तीः (अवतीः) वेगवतीः (ऋतायन्) सत्वरं गमयिष्यन् (सृष्टः) सृजति, तथा (अहृभ्यः) दिनेभ्यः (महीः) महान्तम् (अवनीः) चन्द्रं चोत्पादयामास ।।

पदार्थ—(वरुणः) सबका अधिष्ठान परमात्मा (सूर्याय) सूर्य्य के लिए (पथः) मार्ग (रदत्) देता और (प्र) भले प्रकार (समुद्रिया, अर्णांसि) अन्तरिक्षस्थ जल तथा (नदीनां) नदियों को (सर्गः, न) घोड़े के समान (अवतीः) वेगवाली (ऋतायन्) शीघ्र गमन की इच्छा से (सृष्टः) रचता, और उसी ने (अहृभ्यः) दिन से (महीः) महान् (अवनीः) चन्द्रमा को (चकार) उत्पन्न किया ।।

भावार्थ—सब संसार को वशीभूत रखनेवाले परमात्मा ने चन्द्रमा, अन्तरिक्षस्थ जल और शीघ्रगामिनी नदियों को रचा, और उसी ने तेजोपुञ्ज सूर्य्य को रचकर उसमें गति प्रदान की जिससे सम्पूर्ण भूमण्डल में गति उत्पन्न हो जाती है, इसी अभिप्राय से अन्यत्र भी वर्णन किया है कि—

सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋग्० ।।१०।१९१।३।।

अर्थ—धाता=सबको धारण पोषण करनेवाले परमात्मा ने सूर्य्य चन्द्रमा, पृथिवी, आकाश और सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों को पहले की न्यांई बनाया ।।१।।

**आत्मा ते वातो रज आ नवीनोत्पशुर्न भूर्णिर्यवसे ससवान् ।
अन्तर्मही बृहती रोदसीमे विश्वा ते धाम वरुण प्रियाणि ॥२॥**

आत्मा । ते । वातः । रजः । आ । नवीनोत् । पशुः । न । भूर्णिः । यवसे । ससऽवान् । अन्तः । मही इति । बृहती इति । रोदसी इति । इमे इति । विश्वा । ते । धाम । वरुण । प्रियाणि ॥२॥

पदार्थः—(वरुण) हे वरुणरूपपरमात्मन् ! (वातः) वायुः (ते) तव (आत्मा) आत्मस्वरूपोऽस्ति तथा त्वमेव (रजः) जलम् (आ) सम्यक् (नवीनोत्) नवीनभावेन प्रेरयसि (न) यथा (यवसे) तृणादिना (पशुः) पशुगवादिः (ससवान्) समृद्धो भवति तथैव प्राणात्मको वायुः सर्वेषां जन्तूनाम् (भूर्णिः) पोषकः, (बृहती, मही) अनयोरतिदीर्घयोः (रोदसी) द्यावापृथिव्योः (अन्तः) मध्ये (इमे, विश्वा) सव इमे लोकाः (ते) तव (धाम) प्रतिष्ठास्थानानि सन्ति, ये (प्रियाणि) सर्वजीवप्रियाः सन्ति ।।

पदार्थ—(वरुण) हे वरुणरूप परमात्मन् ! (वातः) वायु (ते) तुम्हारा (आत्मा) आत्मवत् है, आप ही (रजः) जलों को (आ) भले प्रकार (नवीनोत्) नवीन भावों द्वारा प्रेरित करते हैं (न) जिस प्रकार (यवसे) तृणादिकों से (पशुः) पशु (ससवान्) सम्पन्न होता है इसीप्रकार प्राणरूप वायु सब जीवों का (भूर्णिः) पोषक होता है (बृहती मही) इस बड़ी पृथिवी और (रोदसी) द्युलोक के (अन्तः) मध्य में (इम, विश्वा) यह सब विश्व (ते) तुम्हारे (धाम) स्थान हैं जो (प्रियाणि) सब जीवों को प्रिय हैं ।।

भावार्थ—**"वृणोति सर्वमिति वरुणः"**=जो इस चराचर ब्रह्माण्ड को अपनी शक्तिद्वारा आच्छादन करे उसका नाम **"वरुण"** है । एकमात्र परमात्मा ही ऐसा महान् है जो सब विश्ववर्ग को अपनी शक्तिद्वारा आच्छादन करके अपनी महत्ता से सर्वत्र ओत प्रोत हो रहा है इसीलिए उसका नाम वरुण है, जैसा कि **"ईशावास्यमिद ँ सर्वं यत्किं जगत्यां जगत्"** ।। यजु० ४०।१।। इत्यादि मन्त्रों में अन्यत्र भी वर्णन किया है कि इस संसार में जो कुछ वस्तुमात्र दृष्टिगत हो रहा है वह सब ईश्वर की सत्ता से व्याप्त है, यही भाव इस मन्त्र में प्रकारान्तर से वर्णन किया है कि वायु उस वरुण परमात्मा के प्राणसमान और यह निखिल ब्रह्माण्ड उसके स्थान हैं जो जीवमात्र को प्रिय हैं ।।

तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा की रचनारूप ये ब्रह्माण्ड ऐसे अद्भुत हैं कि जीवमात्र इनको अमृततुल्य मानते हुए आनन्दपूर्वक उपभोग करते हैं परन्तु जो प्राणी उस परब्रह्म के आज्ञापालक हैं उन्हीं को यह ब्रह्माण्ड सदैव अमृतमय प्रतीत होता है, इसी अभिप्राय से कहा है कि **"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति"** उसी आनन्दस्वरूप परमात्मा से यह सब प्राणी उत्पन्न होते और आनन्द से ही जीते हैं । अर्थात् जिसप्रकार सुषुप्ति अवस्था में जीव आनन्द का भोक्ता होता है इसी प्रकार प्रलयावस्था में भी आनन्द का भोग करता है, इसका नाम प्रकृतिलय अवस्था है इसमें और मुक्ति अवस्था में इतना भेद है कि इस अवस्था में आविद्यिक=अविद्या की वृत्ति बनी रहती है और मुक्ति अवस्था में यह वृत्ति नहीं होती, यद्यपि प्रलय और सुषुप्ति में आनन्द होता है, परन्तु वह मुक्ति के समान अविद्या रहित आनन्द नहीं होता, **"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते०"** मुक्त जीव आनन्द भोगते हुए

ही इस संसार में आते और सदाचारी होने के कारण यहाँ भी आनन्द भोगते और अन्त में उसी चिद्घन आनन्दस्वरूप ब्रह्म में लय हो जाते हैं, इस प्रकार सदाचारपूर्वक परमात्मा की आज्ञापालन करनेवाले पुरुषों को यह संसार सदैव आनन्दमय होता है ।।२।।

परि स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके ।
ऋतावानः कवयो यज्ञधीराः प्रचेतसो य इषयन्त मन्म ॥३॥

परि । स्पशः । वरुणस्य । स्मत्ऽइष्टाः । उभे इति । पश्यन्ति । रोदसी इति । सुमेके । ऋतऽवानः । कवयः । यज्ञऽधीराः । प्रऽचेतसः । ये । इषयन्त । मन्म ।।३।।

पदार्थः—(ये) ये जनाः (ऋतावानः) सत्यवादिनः (यज्ञधीराः) कर्मकाण्डिनः (प्रचेतसः) मेधाविनः (कवयः) विद्वांसः (मन्म, इषयन्त) परमात्मानं स्तुवन्ति, तान् (उभे, रोदसी) द्यावापृथिव्यावेते उभे (पश्यन्ति) ईक्षेते, ये हि (सुमेके, परि) दृष्टिसुखदे दिव्यचक्षुत्वात् (वरुणस्य) ईश्वरस्य (स्मदिष्टाः) प्रशंसनीये (स्पशः) दूतिके स्तः ।।

पदार्थ—(ये) जो (ऋतावानः) सत्यवादी (यज्ञधीराः) कर्मकाण्डी (प्रचेतसः) मेधावी (कवयः) विद्वान् (मन्म, इषयन्त) ईश्वर की स्तुति करते हैं जो उनको (उभे, रोदसी) द्युलोक तथा पृथिवी लोक दोनों (पश्यन्ति) देखते हैं जो (सुमेके, परि) देखने में सर्वोपरि सुन्दर अर्थात् दिव्यदृष्टिवाले होने से (वरुणस्य) परमात्मा के (स्मदिष्टाः) प्रशंसनीय (स्पशः) दूत हैं ।।

भावार्थ—जो पुरुष परमात्मपरायण होते हैं उनका यश पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में फैल जाता, इसी अभिप्राय से उक्त लोकों को साक्षीरूप से वर्णन किया है । लोकों का देखना यहाँ उपचार से वर्णन किया गया है वास्तविक नहीं, क्योंकि वास्तव में देखने तथा साक्षी देने का धर्म पृथिवी तथा द्युलोक में न होने से तत्रस्थ मनुष्यों की लक्षणा कर लेनी चाहिए । पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सब प्राणीवर्ग उन मनुष्यों की साक्षी देते हैं जो सदाचारी तथा ईश्वरपरायण होते हैं अर्थात् वह कभी छिप नहीं सकते, इसलिए प्रत्येक पुरुष को उचित है कि वह ईश्वरपरायण होकर संसार में अपना यश विस्तृत करे ।।३।।

अथ परमात्मना एकविंशतिधा वाक्यं निरूप्यते—

अब परमात्मा की ओर से इक्कीस प्रकार की यज्ञीय वाणी का उपदेश कथन करते हैं—

उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामाघ्न्या बिभर्ति ।
विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद्युगाय विप्र उपराय शिक्षन् ॥४॥

उवाच । मे । वरुणः । मेधिराय । त्रिः । सप्त । नाम । अघ्न्या । बिभर्ति । विद्वान् । पदस्य । गुह्या । न । वोचत् । युगाय । विप्रः । उपराय । शिक्षन् ।।४।।

पदार्थः—(वरुणः) अखिलविद्याधिष्ठानं परमात्मा (मे) माम् (मेधिराय) मेधाविनं शिष्यम् (उवाच) अब्रवीत् (त्रिः, सप्त, नाम) त्रिवारं सप्त एकविंशति नामेत्यर्थः नामानि (अघ्न्या, बिभर्ति) वेदवाग्धारयति (न) तथा (विद्वान्) सर्वज्ञः परमात्मा (पदस्य) मुक्तिधाम्नः (गुह्या) गुप्तमार्गानुपदिशन् (वोचत्) उक्तवान्

(विप्रः, युगाय) हे मेधाविन् सदाचारवान् ! अहं त्वा (उपराय) स्वसांनिध्याय (शिक्षन्) उपदिशामि ।।

पदार्थ—(वरुणः) सर्वविद्याभाण्डार परमात्मा (मे) मुझे (मेधिराय) मेधावी शिष्य को (उवाच) बोला कि (त्रिः, सप्त, नाम) इक्कसी नामों को (अघ्न्या, बिभर्ति) वेदवाणी ने धारण किया है, (न) और (विद्वान्) सब विद्याओं के वेत्ता परमात्मा ने (पदस्य) मुक्तिधाम के (गुह्या) गुप्त मार्गों का उपदेश करते हुए (वोचत्) कहा कि (विप्रः, युगाय) हे मेधावी योग्य शिष्य ! मैं तुझे (उपराय) अपनी समीपता के लिए (शिक्षन्) यह उपदेश करता हूँ ।।

भावार्थ—परमात्मा अपने ज्ञान के पात्र मेधावी भक्तों को अपनी भक्ति का मार्ग बतलाते हुए उपदेश करते हैं कि तुम इक्कीस नामोंवाले यज्ञ जिनको वेदवाणी ने धारण किया है उनका अनुष्ठान करो अर्थात् ब्रह्मयज्ञादि पांच महायज्ञ और उपनयनादि षोडशसंस्काररूप यज्ञ, इन इक्कीस यज्ञों का करनेवाला मुक्तिधाम का अधिकारी होता और वही परमात्मा की समीपता को उपलब्ध करके सुख का अनुभव करता है, यह परमात्मा का उपदेश मनुष्यमात्र के लिए ग्राह्य है कि उक्त इक्कीस यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए अपने जीवन को उच्च बनावें ।।४।।

सम्प्रति परमात्मविभूतिरुपदिश्यते—

अब परमात्मविभूति कथन करते हैं—

तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः ।
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्ययं शुभे कम् ॥५॥

तिस्रः । द्यावः । निऽहिताः । अन्तः । अस्मिन् । तिस्रः । भूमीः । उपराः । षट्ऽविधानाः । गृत्सः । राजा । वरुणः । चक्रे । एतं । दिवि । प्रऽइङ्खं । हिरण्ययं । शुभे । कम् ।।५।।

पदार्थः—(तिस्रः, द्यावः) त्रिधा द्युलोकः (अस्मिन्) अस्य परमात्मनः (अन्तः) स्वरूपे (निहिताः) स्थितोऽस्ति (तिस्रः, भूमीः) त्रिधा भूमिश्च (उपराः) यस्या उपरि (षड्विधानाः) षोढा ऋतव उत्तरोत्तर विनिमयेन वर्त्तन्ते (एतम्) एतस्सर्वम् (गृत्सः) विश्वोपदेशकः (वरुणः) जगद्वशमानयन् (राजा) विराजमान ईश्वरः (दिवि, प्रेङ्खं) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (हिरण्ययम्) ज्योतिः स्वरूपं सूर्यं (शुभे) आकाशे प्रकाशयितुम् (चक्रे) विनिर्ममे ।।

पदार्थ—तिस्रः, द्यावः) तीन प्रकार का द्युलोक (अस्मिन्) इस परमात्मा के (अन्त) स्वरूप में (निहिताः) स्थिर है (तिस्रः, भूमीः) तीन प्रकार की पृथिवी जिसके (उपराः) ऊपर (षड्विधानाः) षड्ऋतुओं का परिवर्तन होता है (एतं) इन सबको (गृत्सः) परमपूजनीय (वरुणः) सबको वश में रखनेवाले (राजा) प्रकाशस्वरूप परमात्मा ने (दिवि, प्रेङ्खं) द्युलोक और पृथिवी लोक के मध्य में हिरण्ययं) ज्योतिर्मय सूर्य्य को (शुभे, कं) दीप्ति=प्रकाशार्थ (चक्रे) बनाया ।।

भावार्थ—एकमात्र परमात्मा का ही यह ऐश्वर्य्य है जिसने नभोमण्डल में अणुरूप बालु, अन्तरिक्ष निर्वातस्थान तथा द्युलोक प्रकाशस्थान, यह तीन प्रकार का द्युलोक और उपरितल, मर्त्य तथा रसातल यह तीन प्रकार की पृथिवी जिसमें षड् ऋतुयें चक्रवत् घूम-घूम कर आती

है और पृथिवी तथा द्युलोक के मध्य में सबसे विचित्र तेजोमण्डलमय सूर्य्यलोक का निर्माण किया जो सम्पूर्ण भूमण्डल तथा अन्य लोकलोकान्तरों को प्रकाशित करता है, इत्यादि विविध रचना से ज्ञात होता है कि परमात्मा का ऐश्वर्य्य अकथनीय है इस मन्त्र में विभूतिसम्पन्न वरुण को विराट्रूप से वर्णन किया गया है ।।५।।

अथ परमात्मशक्तिः प्रकारान्तरेण वर्ण्यते—

अब परमात्मा की शक्ति का प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं—

अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद्द्रप्सो न श्वेतो मृगस्तुविष्मान् ।
गम्भीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा ।।६।।

अव । सिन्धुम् । वरुणः । द्यौःऽइव । स्थात् । द्रप्सः । न । श्वेतः । मृगः । तुविष्मान् । गम्भीरऽशंसः । रजसः । विऽमानः । सुपारऽक्षत्रः । सतः । अस्य । राजा ।।६।।

पदार्थः—(द्यौरिव) सूर्य एव स्वतो भासमानः (वरुणः) परमात्मा (सिन्धुम्) समुद्रम् (अवस्थात्) सुस्थिरमकरोत् (न, द्रप्सः) सोऽपि च न संचलति (श्वेतः) शुद्धस्वरूपः सः (तुविष्मान्) दुराचारिषु विषये (मृगः) मृग पतिरिव भवति (गम्भीर-शंसः) अकथनीयोऽस्ति (रजसः, विमानः) सूक्ष्मतरानपि जलकणानुत्पादयति, यस्य (सुपारक्षत्रम्) साम्राज्यमपारम्, तथा च यः (सतः, अस्य, राजा) सत्तावतोऽस्य जगतो राजा प्रभुः ।।

पदार्थ—(द्यौरिव) सूर्य के समान स्वतःप्रकाश (वरुणः) परमात्मा (सिन्धुं) समुद्र को (अव, स्थात्) भले प्रकार मर्यादा में रखता (न, द्रप्सः) वह चलायमान नहीं होता, वह (श्वेतः) शुद्धस्वरूप (तुविष्मानः) कुटिलगतिवालों के लिए (मृगः) सिंह समान है (गम्भीरशंसः) वह अकथनीय है, वह (रजसः, विमानः) सूक्ष्म से सूक्ष्म जलकणों का भी निर्माता है, जिसका (सुपारक्षत्रं) राज्य बल अपार और जो (सतः, अस्य, राजा) इस सत् = विद्यमान जगत् का स्वामी है ।।

भावार्थ—वह पूर्ण परमात्मा जिसने समुद्रादि अगाध जलाशयों की मर्यादा बांध दी है, वह रेणु आदि सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों का निर्माता, वह अनन्तशक्तिसम्पन्न और वही इस सद्रूप जगत् का राजा है ।।

स्मरण रहे कि जो लोग इस संसार को मिथ्या मानते हैं वह **"सतो अस्य राजा"** इस वाक्य से शिक्षा लें जिसमें वेद भगवान ने मिथ्यावादियों के मत का स्पष्ट खण्डन किया है कि यह जगत् सद्रूप है, मिथ्या नहीं ।।६।।

संप्रति परमात्मा पापनिवर्तनप्रकारमुपदिशति—

अब परमात्मा निष्पाप होने का प्रकार कथन करते हैं—

यो मृळयाति चक्रुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागाः ।
अनु व्रतान्यदितेर्ऋधन्तो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।७।।

यः । मृळयाति । चक्रुषे । चित् । आगः । वयं । स्याम । वरुणे । अनागाः ।
अनु । व्रतानि । अदितेः । ऋधन्तः । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥

पदार्थः—(यः) यो हीश्वरः (आगः, चक्रुषे) अपराधं कुर्वन्तम् (चित्) अपि (मृळयाति) पापान्निवर्त्य सुखयति, तस्य (वरुणे) परमात्मनः समक्षम् (वयम्) वयम् (अनागाः) निरपराधाः (स्याम) भवाम (अदितेः) तस्य विभोः (व्रतानि) नियमान् (अनु, ऋधन्तः) शश्वत्पालयन्तः प्रार्थयेमहि, यत् हे परमात्मन् ! (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) मङ्गलवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ॥

इति सप्ताशीतितमं सूक्तं नवमो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (आगः, चक्रुषे) अपराध करते हुए को (चित्) भी (मृळयाति) अपनी दया से क्षमा कर देता है उस (वरुणे) वरुणरूप परमात्मा के समक्ष (वयं) हम (अनागाः) निरपराध (स्याम) हों (अदितेः) उस अखण्डनीय परमात्मा के (व्रतानि) नियमों को (अनु, ऋधन्तः) निरन्तर पालन करते हुए प्रार्थना करें कि हे परमात्मन् (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) मङ्गल वाणियों से (सदा) सदैव (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में जो यह वर्णन किया है कि वह अपराध करते हुए को अपनी दया से क्षमा कर देता है, इसका आशय यह है कि वह अपने सम्बन्ध में हुए पापों को क्षमा कर देता है परन्तु जिन पापों का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है उनको कदापि क्षमा नहीं करता। जैसे कोई प्रमादवश किसी दिन सन्ध्या न करे तो प्रार्थना करने पर उस पाप को क्षमा कर सकता है परन्तु चोरी अथवा असत्य भाषणादि पापों को वह कदापि क्षमा नहीं करता उनका दण्ड अवश्य देता है यद्यपि परमात्मा में इतनी उदारता है कि वह अपराधों को क्षमा भी कर सकता है परन्तु हमको उसके समक्ष सदैव निरपराध होकर जाना चाहिये, जब हम उस परमात्मा के नियमों को पालन करते हुए उससे क्षमा की प्रार्थना करते हैं तभी वह हमारे ऊपर दया कर सकता है, अन्यथा नहीं ॥

इस मन्त्र में परमात्मा की आज्ञारूप व्रतों के पालन करने का सर्वोपरि उपदेश पाया जाता है, जैसा कि **"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि० ॥" यजु० १।५ ॥**

इत्यादि मन्त्रों में व्रतपालन की प्रार्थना की गई है, जो पुरुष व्रत पालन नहीं कर सकता उससे संसार में कुछ भी नहीं होता, उसका जीवन निष्फल जाता है, इसलिये ईश्वरीय नियमों का पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लिये अवश्य कर्त्तव्य है ॥ ७ ॥

८७वां सूक्त और नवां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य अष्टाशीतितमस्य सूक्तस्य—
१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः—१–३, ६ निचृत् त्रिष्टुप् । ४, ५, ७ विराट् त्रिष्टुप् ॥
॥ धैवतः स्वरः ॥

अथेश्वरस्वरूपप्राप्तिरुपदिश्यते—
अब ईश्वर की भक्ति कथन की जाती है—

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व ।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥१॥

प्र । शुन्ध्युवम् । वरुणाय । प्रेष्ठाम् । मतिम् । वसिष्ठ । मीळ्हुषे । भरस्व । यः । ई । अर्वाञ्चम् । करते । यजत्रम् । सहस्रऽमघम् । वृषणम् । बृहन्तम् ॥१॥

पदार्थः—(वसिष्ठ) भोः सद्गुणसम्पन्न विद्वान् ! भवान् (वरुणाय) सर्वाधिष्ठानाय (मीळ्हुषे) सर्वान् बिभ्रते परमात्मने (प्रेष्ठाम्) प्रियतमाम् (शुन्ध्युवम्) अविद्यानाशिनीम् (मतिम्) बुद्धिम् (प्र, भरस्व) दधातु (यः) योऽसौ परमात्मा (यजत्रम्) प्राकृतयज्ञं कुर्वन्तम् (सहस्रामघम्) अनन्तबलदम् (वृषणम्) वृष्टिकर्त्तारम् (बृहन्तम्) सर्वतोऽधिकम् (ईम्, अर्वाञ्चम् इमं) प्रत्यक्षदेवं सूर्यम् (करते) जनयति तमेवानन्यचेताः सन्नुपास्व ।

पदार्थ—(वसिष्ठ) हे सर्वोत्तम गुणवाले विद्वान् ! आप (वरुणाय) सर्वाधार परमात्मा (मीळ्हुषे) जो भरण-पोषण करनेवाला है उसके लिये (प्रेष्ठाम्) प्रेममयी (शुन्ध्युवम्) अविद्या के नाश करनेवाली (मतिम्) बुद्धि को (प्र, भरस्व) धारण करें (यः) जो परमात्मा (यजत्रम्) प्राकृतयज्ञ करनेवाले (सहस्रामघम्) अनन्त प्रकार के बल को देनेवाले (वृषणम्) वृष्टि करनेवाले (बृहन्तम्) सबसे बड़े (ई, अर्वाञ्चम्) इस प्रत्यक्ष सिद्ध सूर्य को जो (करते) उत्पन्न करता है तुम एकमात्र उसी की उपासना करो ॥

भावार्थ— परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे स्नातक विद्वानो ! तुम उसकी उपासना करो जिसने सूर्य चन्द्रमा को निर्माण किया है, और जो इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय का कारण है, जिसके भय से अग्न्यादि तेजस्वी पदार्थ अपने अपने तेज को धारण किये हुये हैं जैसा कि **'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपतिसूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः"** ॥ कठ० ६, ३ ॥ उसके भयसे अग्नि तपती है और उसीके भय से सूर्य प्रकाश करता है, विद्युत् और वायु इत्यादि शक्तियें उसीके बल से परिभ्रमण करती हैं । **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** ॥ ऋग् मं० १० सू० १९०।३ ॥ जिसने सूर्यचन्द्रादि पदार्थों को रचा है उसी धाता सब निर्माता परमात्मा की उपासना पूर्व मन्त्र में कथन की गयी है ॥ १ ॥

अधा न्वस्य सन्दृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि ।
स्वर्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोऽभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥२॥

अध । नु । अस्य । सम्ऽदृशम् । जगन्वान् । अग्नेः । अनीकम् । वरुणस्य । मंसि । स्वः । यत् । अश्मन् । अधिऽपाः । ऊं इति । अन्धः । अभि । मा । वपुः । दृशये । निनीयात् ॥२॥

पदार्थः—(अध) अधुना (नु) सत्वरम् [अस्य] पूर्वोक्तपरमात्मनः [संऽदृशम्] साक्षात्कारम् (जगन्वान्] अनुभवन् [वरुणस्य, अग्नेः] ज्ञानस्वरूपपरमात्मनः [अनीकम्] स्वरूपम् [मंसि] लभे [अश्मन्] हे सर्वग परमात्मन् ! [अधिपाः] सर्वस्येश्वर ! [अन्धः] अखिलजगदधिष्ठान ! [ऊं] तथा [यत्, स्वः] यद्भवत आनन्दस्वरूपम् तत् [मा] मम [अभि] सम्यक् [वपुः] स्वरूपम् [दृशये] प्रत्यक्षम् [निनीयात्] कारय ।।

पदार्थ—(अध) अब (नु) शीघ्र (अस्य) उक्त परमात्मा के (संऽदृशम्) साक्षात्कार को (जगन्वान्) अनुभव करता हुआ (वरुणस्य, अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मा के (अनीकम्) स्वरूप को (मंसि) प्राप्त करता हूं (अश्मन्) अश्नुते व्याप्नोति सर्वमिति अश्मा परमात्मा, जो व्यापक परमात्मा है उसका नाम यहाँ अश्मा है, हे अश्मन् परमात्मन् ! (अधिपाः) सबके स्वामिन् ! (अन्धः) सर्वाधिष्ठान (ऊं) और (यत्, स्वः) जो आपका आनन्दस्वरूप है वह (मा) मुझको (अभि) भलीभांति (वपुः) उस स्वरूप की (दृशये) प्राप्ति के (निनीयात्) योग्य बनायें ।।

भावार्थ—हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आप मेरी चित्तवृत्ति को निर्मल करके अपने स्वरूप प्राप्ति के योग्य बनायें ।। २ ।।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ।।३।।

आ । यत् । रुहाव । वरुणः । च । नावम् । प्र । यत् । समुद्रम् । ईरयाव । मध्यम् । अधि । यत् । अपाम् । स्नुऽभिः । चराव । प्र । प्रऽईङ्खे । ईङ्खयावहै । शुभे । कम् ।।३।।

पदार्थः—[यत्] यदा वयम् [वरुणः] परमात्मनः [नावं] इच्छाम् [आ, रुहाव] आरोहामः, [यत्] यदा [समुद्रं] कर्मणामधिष्ठातुः परमात्मनः [मध्यं] रूपम् [ईरयाव] अवगच्छामः [यत्] यदा च [अपां] कर्मणाम् [स्नुभिः] प्रेरयितुः ईश्वरस्य [प्रेङ्खे] इच्छायाम् [चराव] विचरामः तदा [प्र] प्रकर्षेण [शुभे] माङ्गलिकवासनासु [कं] ब्रह्मानन्दम् [ईङ्खयावहै] अनुभवामः ।।

पदार्थ—(यत्) जब हम (वरुणः, च) परमात्मा की (नावं) इच्छा पर (आ, रुहाव) आरूढ़ होते हैं और (यत्) जब (समुद्रं) कर्मों के अधिष्ठाता परमात्मा के (मध्यं) स्वरूप का (ईरयाव) अवगाहन करते हैं और (यत्) जब (अपां) कर्मों के (स्नुभिः) प्रेरक परमात्मा की (प्रेङ्खे) इच्छा में (चराव) विचरते हैं तब (प्र,) प्रकर्षता से (शुभे) उस मङ्गल वासना में (कं) ब्रह्मानन्द को (ईङ्खयावहै) अनुभव करते हैं ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में कर्मयोग का वर्णन किया है कि जब पुरुष अपनी इच्छाओं को ईश्वराधीन कर देता है वा यों कहो कि जब निष्काम कर्मों को करता हुआ उनके फल की इच्छा नहीं करता तब परमात्मा के भावों में विचरता हुआ पुरुष एक प्रकार के अपूर्व आनन्द को अनुभव करता है ।।३।।

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः ।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन्यादुषासः ॥४॥

वसिष्ठम् । ह । वरुणः । नावि । आ । अधात् । ऋषिम् । चकार । सुऽअपाः । महःऽभिः । स्तोतारम् । विप्रः । सुदिनऽत्वे । अह्नाम् । यात् । नु । द्यावः । ततनन् । यात् । उषसः ॥४॥

पदार्थः—(वसिष्ठं) उत्तमगुणविशिष्टं विद्वांसं (ह) खलु (वरुणः) सर्वपूज्यः परमात्मा (नावि) कर्म्मरूपायां नौकायां (आ, अधात्) आरोपयत् (महोभिः) उत्तमैः साधनैः तं वसिष्ठं (ऋषिं) मन्त्रद्रष्टारं चकार तथा (स्वपाः) सुकर्माणं चकार (विप्रः) मेधावी वरुणः तं (स्तोतारं) स्तुतिकर्तारं चकार (अह्नां) दिवसानां मध्ये (सुदिनत्वे) शोभने दिने तमस्थापयत् अन्यच्च (द्यावः) दिवसान् (यात्) गच्छतः तथा (उषसः) प्रकाशान् (यात्) गच्छतः (ततनन्) विस्तारयन् सन् तं वसिष्ठं ऋषिं करोतीति शेषः ॥

पदार्थ—(वरुणः) सर्वपूज्य परमात्मा (वसिष्ठं) उत्तमगुणवाले विद्वान् को (नावि) कर्मों के आधार पर (आधात्) स्थिर करता है (ह) निश्चय करके (ऋषिं) ऋषि (चकार) बनाता है और (महोभिः) उत्तम साधनों द्वारा (स्वपाः) सुन्दर कर्मोंवाला बनाता है, (विप्रः) मेधावी परमात्मा (स्तोतारं) स्तुति करनेवाला बनाता है और (अह्नां) उक्त विद्वान् के दिनों को (सुदिनत्वे) अच्छे दिनों में परिणत करता है तथा (उषसः) प्रातःकाल के प्रकाशों को और (द्यावः) दिन के प्रकाश को (नु) अच्छी तरह (यात्) प्राप्त करता हुआ (ततनन्) विस्तार करता है।

भावार्थ—परमात्मा जिस पुरुष के शुभ कर्म देखता है उसको उत्तम विद्वान् बनाता है और कर्मानुसार ही परमात्मा ऋषि, विप्र, ब्राह्मणादि पदवियें प्रदान करता है। इस मन्त्र में वर्णव्यवस्था भी गुणकर्मानुसार कथन की गई है, यही भाव "तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणं" ॥ ऋग् अ० ८ अ० ६ व० ४॥ "तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्" ॥ ऋ० ८।७।११।४॥ इत्यादि मन्त्रों में भी कर्मानुसार परमात्मा की कामना से ही ब्राह्मणादि पदवियें प्राप्त होती हैं, यही भाव है। उपनिषद् में भी कर्मानुसार ही ऊंच-नीच व्यवस्था कथन की है। जैसा कि "एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष मेवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" ॥ कौ० ३।८॥ परमात्मा कर्मों द्वारा ही ऊंच-नीच अवस्था को प्राप्त कराता है यही व्यवस्था उक्त मन्त्र में कथन की है ॥४॥

क्व१ त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥५॥

क्व । त्यानि । नौ । सख्या । बभूवुः । सचावहे इति । यत् । अवृकम् । पुरा । चित् । बृहन्तम् । मानम् । वरुण । स्वधाऽवः । सहस्रऽद्वारम् । जगम । गृहम् । ते ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (त्यानि) सा (नौ) अस्माकम् (सख्या मैत्री (क्व) कुत्र (बभूवुः) अस्ति (यत्) या (पुरा) पूर्वस्मिन्काले (अवृकम्) हिंसारहिताऽभूत् (सचावहे) तां सेवेमहि (चित्) तथा च (ते) तव (सहस्रद्वारम्) अनेकोपायलभ्यम् (गृहम्) स्वरूपं (जगम) प्राप्नुयाम यदैश्वर्यम् (बृहन्तं, मानम्) असीमास्ति (स्वधावः, वरुण) हे स्वैश्वर्येण विराजमान परमात्मन् ! वयं भवत उक्तस्वरूपं प्राप्नुयाम ।।

पदार्थ—हे परमात्मन् (त्यानि) वह (नौ) हमारी (सख्या) मैत्री (क्व) कहां (बभूवुः) है, (यत्) जो (पुरा) पूर्वकाल में (अवृकं) हिंसारहित थी (सचावहे) उसकी हम सेवा करें (चित्) और (ते) तुम्हारे (सहस्रद्वारं) अनन्त ऐश्वर्य्यवाले (गृहं) स्वरूप को (जगम) प्राप्त हों, जो (बृहन्तं, मानम्) सीमारहित है (स्वधावः, वरुण) हे अनन्तैश्वर्य्ययुक्त परमात्मन् ! हम आपके उक्त स्वरूप को प्राप्त हों ।

भावार्थ—जो जिज्ञासु सब कर्मों को हिंसारहित करता है और परमात्मा के साथ निष्पापादि गुणों को धारण करके उसकी मैत्री को उपलब्ध करता है वह उसके अनन्त ऐश्वर्य्ययुक्त स्वरूप को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि जब तक जिज्ञासु अपने आपको उसकी कृपा का पात्र नहीं बनाता तब तक वह उसकी स्वरूपप्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता ।।५।।

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन्त्वामागांसि कृणवत्सखा ते ।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन्भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम् ।।६।।

यः । आपिः । नित्यः । वरुण । प्रियः । सन् । त्वाम् । आगांसि । कृणवत् । सखा । ते । मा । ते । एनस्वन्तः । यक्षिन् । भुजेम । यन्धि । स्म । विप्रः । स्तुवते । वरूथम् ।।६।।

पदार्थः—(वरुण) परमात्मन् ! (ते) तव (प्रियः, सन्) कृतसेवो भवन् (याः) यो नरः (नित्यः) शश्वत् (ते) त्वयि (सखा, आपिः) सख्यं जनयन् (आगांसि) अपराधान् (कृणवत्) कुर्यात् (यक्षिन्) हे यजनीय परमात्मन्, सः (एनस्वन्तः) पापेषु (मा) न लिप्येत (विप्रः) हे सर्वज्ञ ! (स्तुवते) स्तुतिकर्त्रे (वरुथम्) वरणीयं स्वरूपम् (यन्धि) भासय यतो वयं ब्रह्मानन्दम् (भुजेम) भुञ्जाम ।।

पदार्थ—(वरुण) हे परमात्मन् ! (ते) तुम्हारे साथ (प्रियः, सन्) प्यार करता हुआ (यः) जो पुरुष (नित्यः) सर्वदा (ते) तुम्हारे साथ (सखा, आपिः) सखिभाव रखता हुआ (आगांसि) पाप (कृणवत्) करता है, (यक्षिन्) हे यजनीय परमात्मन् ! वह (एनस्वन्तः) पापों में (मा) मत प्रविष्ट हो, (विप्रः) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (स्तुवते) स्तुति करने वाले उस पुरुष के लिए (वरूथं) वरणीय सर्वोपरि अपने स्वरूप को (यन्धि) आप प्रकाश करें ताकि हम लोग आपके ब्रह्मानन्द का (भुजेम) भोग करें ।।

भावार्थ—जो पुरुष कुछ भी परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखता है वह यदि स्वभाववश कभी पाप में पड़ जाता है परमात्मा की कृपा से फिर भी उन पापों से निकल सकता है क्योंकि परमात्मा के आराधन का बल उसे पापप्रवाह से निकाल सकता है । इसी अभिप्राय से कहा है कि परमात्मा परमात्मपरायण पुरुषों के लिए अवश्यमेव शुभस्थान देते हैं ।।६।।

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्य१स्मत्पाशं वरुणो मुमोचत् ।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

ध्रुवासु । त्वा । आसु । क्षितिषु । क्षियन्तः । वि । अस्मत् । पाशं । वरुणः । मुमोचत् । अवः । वन्वानाः । अदितेः । उपऽस्थात् । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥

पदार्थः—(ध्रुवासु, त्वासु, क्षितिषु) अस्यां नित्यायां दृढायां च पृथिव्याम् (क्षियन्तः) निवसताम् (वन्वानाः) भजमानानाम् (अस्मत्पाशम्) अस्माकं पाशम् (वरुण) हे भगवन् ! (वि) निश्चयम् (मुमोचत्) मुञ्च (अदितेः) अस्मिन्नखण्ड-मातृभूमि स्थले (उपस्थात्) निवसतामस्माकम् (अवः) रक्षां कुरु तथा च (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) कल्याणवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥

॥ इत्यष्टाशीतितमं सूक्तं दशमो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(ध्रुवासु, त्वासु, क्षितिषु) इस दृढ़ और नित्य पृथिवी में (क्षियन्तः) निवास करते हुए (अस्मत्पाशं) हम लोगों के बन्धनों को (वरुण) सर्वपूज्य परमात्मा (वि) अवश्य (मुमोचत्) मुक्त करें (अदितेः) इस अखण्डनीय मातृभूमि के (उपस्थात्) अङ्क में रहते हुए हम लोगों की (अवः) आप रक्षा करें और विद्वान् लोगों से हम सदैव (वन्वानाः) भजन करते हुए यह प्रार्थना करें कि (यूयं) आप लोग सदा सदैव (स्वस्तिभिः) कल्याणप्रद वाणियों से (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में जो पृथिवी को नित्य कथन किया है इससे यह तात्पर्य्य है कि यह संसार मिथ्या नहीं क्योंकि ध्रुव पदार्थ मिथ्या नहीं होता, किन्तु दृढ़ होता है ॥७॥

८८वां सूक्त और १०वां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चर्चस्यैकोननवतितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ वरुणो देवता ॥ छन्दः १–४ आर्षीगायत्री । ५ पादनिचृज्जगती ॥ स्वरः १–४ षड्जः । ५ निषादः ॥

अथास्मिन् एकोननवतितमे सूक्त ईश्वरो जीवार्थं ऐश्वर्य्यं निरूपयति—

अब इस सूक्त में परमात्मा जीव को ऐश्वर्य्यप्राप्ति का उपदेश करते हैं—

मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥१॥

मो इति । सु । वरुण । मृत्ऽमयं । गृहं । राजन् । अहं । गमं । मृळ । सुऽक्षत्र । मृळय ॥१॥

पदार्थः—(वरुण) हे सर्वशक्तिमन् (मृन्मयम्) मृदानिर्मितं (गृहम्) गृहमस्मभ्यं मा दाः (राजन्) हे तेजोमय ! मृन्मये गृहे वयं (मोषु) मा वात्स्म (मृळय) अस्मान् सुखय (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक ! (मृळय) सर्वदाऽस्मान् रक्ष ॥१॥

पदार्थ—(वरुण) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! (मृन्मयं) मृत्तिकाके (गृहं) घर आप हमको मत दें (राजन्) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, हम मट्टी के गृहों में (मोषु) मत निवास करें (मृळय) हे जगदीश्वर आप हम को सुख दें (सुक्षत्र) हे सबके रक्षक परमात्मन् (मृळय) आप हम पर सदैव दया करें ॥

भावार्थ—परमात्मा ने उक्त ऐश्वर्य्य का उपदेश किया है कि हे जीवो ! तुम सदैव अपने जीवन के लक्ष्य को ऊँचा रक्खा करो और तुम यह प्रार्थना किया करो कि हम मट्टी के घरों में मत रहें किन्तु हमारे रहने के स्थान अति मनोहर स्वर्णजटित सुन्दर हों तथा उनमें परमात्मा हमको सब प्रकार के ऐश्वर्य्य दें ॥१॥

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥२॥

यत् । एमि । प्रस्फुरन्ऽइव । दृतिः । न । ध्मातः । अद्रिऽवः । मृळ । सुऽक्षत्र । मृळय ॥२॥

पदार्थः—(यत्) यस्मात् (दृतिः) भस्त्रा (न) इव (ध्मातः) वायुनेवान्यबुद्धया प्रेरितः (एमि) स्वजीवनरक्षां करोमि सा (स्फुरन्निव) केवलं श्वासोच्छ्वासमात्रमस्ति यतो न जीवनप्रयोजनं तत्र (अद्रिवः) हे सर्वशक्तिमन् ! (मृळ) मां रक्ष (सुक्षत्र) हे परमरक्षक, (मृळय) मां सुखय ॥२॥

पदार्थ—(यत्) जो मैं (दृतिः) धौंकनी के (न) समान (ध्मातः) दूसरों की वायुरूप बुद्धि से प्रेरित किया गया (एमि) अपनी जीवनयात्रा करता हूँ वह यात्रा (स्फुरन्निव) केवल श्वासोच्छ्वासरूप है उसमें जीने का कुछ प्रयोजन नहीं (अद्रिवः) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, (मृळ) आप हमारी रक्षा करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन्, (मृळय) आप हमको सुख दें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो पुरुष मनुष्यजन्म के धर्म, अर्थ काम, मोक्ष इन चारों फलों से विहीन हैं वे पुरुष लोहनिर्म्माता की धौंकनी के समान केवल श्वासमात्र से जीवित प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे पुरुष चर्म्म निर्मित (दृतिः) चमड़े की खाल के समान निर्जीव हैं, इसलिए पुरुष को चाहिये कि वह सदैव उद्योगी और कर्म्मयोगी बनकर सदैव अपने लक्ष्य के लिए कटिबद्ध रहे । अपुरुषार्थी होकर जीना केवल चर्म्मपात्र के समान प्राणयात्रा करना है । इस अभिप्राय से इस मन्त्र में उद्योग=अर्थात् कर्म्मयोग का उपदेश किया है ॥२॥

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥३॥

क्रत्वः । समह । दीनता । प्रतिऽईपं । जगम । शुचे । मृळ । सुऽक्षत्र । मृळय ॥३॥

पदार्थः—(समह) हे सर्वशक्तिमन् ! परमात्मन् ! (क्रत्वः) सत्कर्माचरणेन (दीनता) दैन्येन (प्रतीपम्) प्रतिकूलमाचरम् (मृळ) हे परमात्मन् ! रक्ष (सुक्षत्र) हे विश्वपालक ! (मृळय) मां सुकर्मयोग्यं विधाय सुखय येन त्वां सेवय ।।३।।

पदार्थ—(समह) हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्, ! (क्रत्वः) सत्कर्मों के आचरण से (दीनता) दीनता करके (प्रतीपं) मैं प्रतिकूल आचरण करता रहा (मृळ) हे परमात्मन् आप मेरी रक्षा करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन् ! आप (मृळय) मुझे योग्य बनायें ताकि मैं कर्मों का अनुष्ठान कर सकूं ।।

भावार्थ—पुरुष अपनी निर्बलता से शुभकर्मों को जानता हुआ भी उनका अनुष्ठान नहीं कर सकता प्रत्युत अपनी दीनता से उनके विरुद्ध आचरण करता है, इसलिए इस मन्त्र में परमात्मा ने उपदेश किया है कि हे वैदिक धर्म्मानुयायी पुरुषो ! तुम उद्योगी बनने के लिए परमात्मा से सदैव प्रार्थना करो कि हे परमात्मन् ! आप हमको आत्मिक बल दें ताकि हम कर्मानुष्ठानी बनकर अकर्म्मण्यतारूप दोष को दूर करके सत्कर्मी बनें ।।३।।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।
मृळा सुक्षत्र मृळय ।।४।।

अपां । मध्ये । तस्थिऽवांसं । तृष्णा । अविदत् । जरितारं । मृळ । सुऽक्षत्र । मृळय ।।४।।

पदार्थः—(अपाम्) कर्मणाम् (मध्ये) विषये (तस्थिवांसम्) स्थितम् (जरितारम्) वृद्धावस्थां गतम् माम् (तृष्णा) पिपासा (अविदत्) व्याप्तवती (मृळा) हे परमात्मन् ! सुखय (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक ! (मृळय) सर्वथा सुखय ।।

पदार्थ—(अपां) कर्म्मों के (मध्ये) मध्य में (जरितारं) वृद्धावस्था को प्राप्त (तस्थिवांसं) स्थित मुझको (तृष्णा, अविदत्) तृष्णा व्याप्त हो गयी है । (मृळा) हे परमात्मन् ! आप मुझको इससे सुखी करें (सुक्षत्र) हे सर्वरक्षक परमात्मन् ! आप मुझे (मृळय) सुखी बनाएँ ।।

भावार्थ—कर्म्मों के मनोरथरूपी सागर में पड़ा-पड़ा मनुष्य बूढ़ा हो जाता है और कर्म्मों का अनुष्ठान नहीं कर सकता, जिस पर परमात्मदेव की कृपा होती है वही कर्म्मों का अनुष्ठान करके कर्म्मयोगी बनता है, अन्य नहीं, वा यों कहो कि उद्योगी पुरुष को ही परमात्मा अपनी कृपा का पात्र बनाते हैं, अन्य को नहीं । इसी अभिप्राय से परमात्मा ने इस मन्त्र में कर्म्मयोग का उपदेश किया है ।

कई एक लोग उक्त मन्त्र का यह अर्थ करते हैं कि समुद्र के जल में डूबता हुआ पुरुष इस मन्त्र में वरुण देवता की उपासना करता है, और यह कहता है कि **"लवणोत्कटस्य समुद्रजलस्य पानानर्हत्त्वात्"** ।। कि मैं समुद्र के जल के क्षार होने के कारण इसे पी नहीं सकता । यह अर्थ सर्वथा वेद के आशय से बाह्य है, क्योंकि यहाँ जल में डूबने का क्या प्रकरण ? यहाँ तो इससे प्रथम मन्त्र में कर्मों के प्रतिकूल आचरण का प्रकरण था इसलिए यहाँ भी यही प्रकरण है । अन्य युक्ति यह है कि इस ११वें वर्ग के प्रारम्भ से ही कर्म्मों का प्रकरण है और (अपां मध्ये) इस वाक्य में (अप) शब्द से कर्म्मों का ग्रहण है क्योंकि अपनाम निरुक्त में कर्म्मों का जैसा कि (अपः) **अप्नः—दंसः इत्यादीनि षड्विंशति कर्म्मनामानि** । निघं० ।२।१।४।।४।।

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥५॥

यत् । किं । च । इदं । वरुण । दैव्ये । जने । अभिऽद्रोहं । मनुष्याः । चरामसि । अचित्ती । यत् । तव । धर्म । युयोपिम । मा । नः । तस्मात् । एनसः । देव । रिरिषः ॥५॥

पदार्थः—(वरुण) हे परमात्मन् ! (दैव्ये, जने) सतां समुदाये (यत्, किंच) यत् किञ्चिदपि (इदम्) एतत् (अभि, द्रोहम्) द्वेषभावम् (मनुष्याः) वयं नरः (चरामसि) कुर्मः, तथा (अचित्ती ज्ञानरहितः सन् (यत्) यत्किञ्चित् (तव) ते (धर्मा) धर्मम् (युयोपिम) त्यजामि (तस्मात्, एनसः) ततोऽपराधात् (देव) हे दिव्यात्मन् (नः) अस्मान् (मा, रीरिषः) मा हिंसीः ॥

एकोननवतितमं सूक्तं पञ्चमोऽनुवाक एकादशो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(वरुण) हे परमात्मन् ! (दैव्ये, जने) मनुष्यसमुदाय में (यत्, किञ्च) जो कुछ (इदं) यह (अभिद्रोहं) द्वेष का भाव (मनुष्याः) हम मनुष्य लोग (चरामसि) करते हैं और (अचित्ती) अज्ञानी होकर (यत्) जो (तव) तुम्हारे (धर्म्मा) धर्म्मों को (यूयोपिम) त्यागते हैं, (तस्मादेनसः) उन पापों से (देव) हे देव ! (नः) हमको (मा, रीरिषः) मत त्यागिये ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में उन पापों से क्षमा मांगी गई है जो अज्ञान से किये जाते हैं अथवा यों कहो कि जो प्रत्यवायरूप पाप हैं उनके विषय में यह क्षमा की प्रार्थना है । परमात्मा ऐसे पाप को क्षमा नहीं करता जिससे उसके न्यायरूपी नियम पर दोष आवे किन्तु यदि कोई पुरुष परमात्मा के सम्बन्ध-विषयक अपने कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता उस पुरुष को अपने सम्बन्ध-विषयक परमात्मा क्षमा कर देता है । अन्य विषयक किये हुए पाप को क्षमा करने से परमात्मा अन्यायी ठहरता है ।

वैदिक धर्म्म में यह विशेषता है कि इसमें अन्यधर्म्मों के समान सब पापों की क्षमा करने से परमात्मा अन्यायकारी ठहरता है इसी अभिप्राय से मन्त्र में 'तव धर्म्मा' यह कथन किया है कि परमात्मा के सम्बन्ध में सन्ध्यावन्दनादि जो कर्म्म हैं उनमें त्रुटि होने से भी परमात्मा क्षमा कर देता है । अन्यों से नहीं ।।

जो लोग आर्य्यधर्म्म में यह दोष लगाया करते हैं कि वैदिक धर्म्म में परमात्मा सर्वथा निर्दयी है वह किसी विषय में भी दया नहीं करता । यह उनकी अत्यन्त भूल है और अज्ञान से किये हुए पाप में भी परमात्मा क्षमा कर देता है इस बात को मन्त्र में स्पष्ट रीति से वर्णन किया है ।

कई एक टीकाकारों ने इस प्रकरण को वरुण देवता की उपासना करने में और जल में डूबते हुए पुरुष के बचाने के विषय में लगाया है और ऐसे अर्थ करने में उन्होंने अत्यन्त भूल की है । जब इस प्रकरण में ऐसी ऐसी दर्शन की उच्च बातों का वर्णन है कि परमात्मा किन किन पापों को क्षमा करता है और किन किन को नहीं, तो इस में जल में डूबनेवाले पुरुष की क्या कथा ? इसलिये पूर्व मन्त्र में 'अपां मध्ये' के अर्थ प्राणमय कोष के हैं अथवा 'अपां' के अर्थ कर्मों में बद्ध जीव के हैं क्योंकि यह संगति इस ११वें वर्ग के प्रति मन्त्र से है और इस वर्ग की समाप्ति तक यही प्रकरण है ।

जो लोग यह कहा करते हैं कि वेदों में कर्त्तव्य कर्म्मों का विधान नहीं, वेद प्राकृत बातों का वर्णन करते हैं, उनको ऐसे सूक्तों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है ॥५॥

८९वां सूक्त, ५वां अनुवाक और ११वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य नवतितमस्य सूक्तस्य—

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–४ वायुः । ५–७ इन्द्रवायू देवते ॥ छन्दः–१, २, ७ विराट् त्रिष्टुप् । ३ त्रिष्टुप् । ४–६ निचृत् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ वायुविद्याविदुष ऐश्वर्यं वर्ण्यते—

अथ वायुविद्या को जाननेवाले विद्वान् का ऐश्वर्य वर्णन करते हैं—

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः ।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय ॥१॥

प्र । वीरऽया । शुचयः । दद्रिरे । वां । अध्वर्युऽभिः । मधुऽमन्तः । सुतासः । वह । वायो इति । निऽयुतः । याहि । अच्छ । पिब । सुतस्य । अन्धसः । मदाय ॥१॥

पदार्थः—(वायो) हे वायुविद्यावेत्तः ! भवान् (सुतस्य) संस्कृतस्य (अन्धसः) अन्नस्य रसम् (मदाय) आह्लादाय (पिब) पिबन्तु (नियुतः) स्वपदे नियुक्तः (अच्छ) सुविधया (वह) यथाकामम् विहरतु तथा (याहि) केनाप्यप्रतिषिद्धो विचरतु, यतः (प्र) सम्यक् (वीरया) वीरतायै (वाम्) तुभ्यम् (अध्वर्युभिः) वैदिकैः (मधुमन्तः) मधुराः (सुतासः) श्रोत्रतर्पणाः (शुचयः) शुद्धाः (दद्रिरे) उपदेशा दत्ताः ॥

पदार्थ—(वायो) हे वायुविद्या के वेत्ता विद्वान् आप (सुतस्य) संस्कार किए हुए (अन्धसः) अन्नों के रसों को (मदाय) आह्लाद के लिये (पिब) पियें "और" (नियुतः) अपने पद पर नियुक्त हुए (अच्छ) भली प्रकार (वह) सर्वत्र प्राप्त होओ तथा (याहि) बिना रोक टोक से सर्वत्र जाओ क्योंकि (प्र) भलीभांति (बीरया) वीरता के लिये (वाम्) तुमको (अध्वर्युऽभिः) वैदिक लोगों ने (मधुमन्तः) मीठे (सुतासः) सुन्दर सुन्दर (शुचयः) पवित्र (दद्रिरे) उपदेश दिये हैं ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे वायु आदि तत्त्वों की विद्या को जाननेवाले विद्वान् पुरुषो ! आप वैदिक पुरुषों से उपदेश लाभ करके सर्वत्र भूमण्डल में अव्याहतगति होकर विचरें ॥१॥

ईशानाय प्रहुतिं यस्त आनट् छुचिं सोमं शुचिपास्तुभ्यं वायो ।
कृणोषि तं मर्त्येषु प्रशस्तं जातोजातो जायते वाज्यस्य ॥२॥

ईशानाय । प्रऽहुतिं । यः । ते । आनट् । शुचिं । सोमं । शुचिऽपाः । तुभ्यं । वायो इति । कृणोषि । तं । मर्त्येषु । प्रऽशस्तं । जातःऽजातः । जायते । वाजी । अस्य ॥२॥

पदार्थः—(वायो) हे वायुविद्याज्ञातः ! (शुचिपाः) शुद्धद्रव्यपातः ! (तुभ्यम्) त्वदर्थम् (सोमं) सोमरसम् (शुचिम्) पवित्रम् (यः) यो जनः (ते) तव (आनट्) ददाति (तम्) तं नरम् (मर्त्येषु) लोकेषु (प्रशस्तम्) उत्कृष्टम् करोमि (जातः जातः) जन्मनि जन्मनि (अस्य) अस्य सोमदातुः (वाजी) बलम् (जायते) उत्पद्यते, यश्च (ईशानाय) ईश्वराय (प्रहुतिम्) ऐश्वर्यं समर्पयति तम् (कृणोषि) ऐश्वर्यशालिनम् करोमि ॥२॥

पदार्थ—(वायो) हे वायुविद्यावेत्ता विद्वन् ! (शुचिपाः) सुन्दर पदार्थों को पान करनेवाले (तुभ्यं) तुम्हारे लिये (सोमं) सोम रस (शुचिं) जो पवित्र है उसका (यः) जो (ते) तुम्हारे लिये (आनट्) देता है (तं) उसको मैं (मर्त्येषु) मनुष्यों में (प्रशस्तं) उत्कृष्ट बनाता हूं (जातः जातः) जन्म जन्म में (अस्य) उसको (वाजी) बहुत बल वाला (जायते) उत्पन्न करता हूं और जो (ईशानाय) ईश्वर के लिये (प्रहुतिं) ऐश्वर्य अर्पण करता है उसको मैं (कृणोषि) ऐश्वर्यशाली बनाता हूं ॥

भावार्थ—जो लोग विद्वानों को धन देते हैं वह सर्वदा ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं और जो लोग ईश्वरार्पण कर्म करते हैं अर्थात् निष्काम कर्म करते हैं, परमात्मा उनको सदा ऐश्वर्यशाली बनाता है ॥२॥

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ।
अध वायुं नियुतः सश्चत स्वा उत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥३॥

राये । नु । यं । जज्ञतुः । रोदसी इति । इमे इति । राये । देवी । धिषणा । धाति । देवं । अध । वायुं । निऽअयुतः । सश्चत । स्वाः । उत । श्वेतं । वसुऽधितिं । निऽरेके ॥३॥

पदार्थः—(यम्) पदार्थविद्यावेत्तारं यं पुरुषम् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (राये) ऐश्वर्याय (जज्ञतुः) उत्पादयामासतुः, तथा (देवं) दिव्यशक्तिसम्पन्नं पुरुषम् (धिषणा) स्तुतिरूपा (देवी) दिव्यशक्तिः (धाति) धारयति (वायुम्) तं पदार्थविद्यावेत्तारम् (नियुतः) यो हितद्विद्यायां नियुक्तः तं (सश्चत) सेवताम् (उत) तथा (निरेके) दरिद्रं विनाशयितुम् (अध) तथा (श्वेतम्) पवित्रम् (वसुधितिम्) धनं च लब्धुम् (स्वाः) आत्मभूतं तं विद्वांसमुत्पादयितुं यतस्व ॥

पदार्थ—(यं) जिस पदार्थविद्यावेत्ता पुरुष को (रोदसी) द्युलोक और पृथ्वीलोक ने (राये) ऐश्वर्य के लिये उत्पन्न किया है और (देवं) जिस दिव्यशक्तिसम्पन्न पुरुष को (धिषणा) स्तुतिरूप (देवी) दिव्यशक्ति (धाति) धारण करती है (वायुं) उस पदार्थविद्यावेत्ता विद्वान् को

(नि युत:) जो पदार्थ विद्या के लिये नियुक्त किया गया है (सश्चत) तुम सेवन करो (उत) और (निरेके) दरिद्र के दूर करने के लिये (अध) और (श्वेतं) पवित्र (वसुऽधितिं) धन को (स्वा:) उस आत्मभूत विद्वान् के लिये तुम उत्पन्न करने का यत्न करो ॥

भावार्थ—स्वभावोक्ति अलङ्कार द्वारा इस मन्त्र में परमात्मा यह उपदेश करते हैं कि मानो प्रकृति ने ही ऐसे पुरुष को उत्पन्न किया है जो संसार के दरिद्र का नाश करता है, ऐसा पुरुष जिस देश में उत्पन्न होता है उस देश में अनैश्वर्य और दरिद्रता का गन्ध भी नहीं रहता ॥३॥

उच्छन्नुषसः सुदिना अरिप्रा उरु ज्योतिर्विविदुर्दीध्यानाः ।
गव्यं चिदूर्वमुशिजो वि वव्रुस्तेषामनु प्रदिवः सस्रुरापः ॥४॥

उच्छन् । उषसः । सुऽदिनाः । अरिप्राः । उरु । ज्योतिः । विविदुः । दीध्यानाः । गव्यं । चित् । ऊर्वं । उशिजः । वि । वव्रुः । तेषां । अनु । प्रऽदिवः । सस्रुः । आपः ॥४॥

पदार्थः—(उषसः) वायुविद्यावेत्तृसंगतानां जनानाम् प्रभातकालेन सह (सुदिनाः) शोभनदिनानि (अरिप्राः) निष्पापानि (उच्छन्) वियन्ति, तथा च ते (दीध्यानाः) ध्यायन्तः (उरु) सर्वातिशायि (ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूपं ब्रह्म जानन्ति, तथा (प्रदिवः) द्युलोकः (आपः) जलम् (सस्रुः) वर्षति तथा (अनु) विद्वांस (तेषाम्) तेभ्यः (अनुः वव्रुः) उपदिशन्ति ॥

पदार्थ—जो लोग उक्त वायुविद्यावेत्ता विद्वान् की संगति में रहते हैं उनके (उषसः) प्रभातवेलाओं सहित (सुदिनाः) सुन्दर दिन (अरिप्राः) निष्पाप (उच्छन्) व्यतीत होते हैं और वे (दीध्यानाः) ध्यान करते हुए (उरु) सर्वोपरि (ज्योतिः) ज्योतिःस्वरूप ब्रह्म को जान लेते हैं और (प्रदिवः) द्युलोक (आपः) जलों की (सस्रुः) वृष्टि करते हैं तथा विद्वान् लोग (तेषाम्) उनको (अनुः वव्रुः) सुन्दर उपदेश करते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! जो लोग वायुवत् सर्वत्र गतिशील विद्वानों की संगति में रहते हैं उनके लिये सूर्योदय काल सुन्दर प्रतीत होते हैं और उनके लिये सुवृष्टि और सम्पूर्ण ऐश्वर्य उपलब्ध होते हैं । बहुत क्या, योगी जनों की संगति करनेवाले पुरुष ध्यानावस्थित होकर उस परम ज्योति को उपलब्ध करते हैं जिसका नाम परब्रह्म है ॥

तात्पर्य यह है कि विद्वानों की संगति के बिना उस पूर्णपुरुष का बोध कदापि नहीं हो सकता, इसलिये पुरुष को उचित है कि सदैव विद्वानों की संगति में रहे ॥४॥

अथ विद्युद्वाय्वोरुभयोर्विद्वांसो वर्ण्यन्ते ।

अब विद्युद्विद्यावेत्ता और वायुविद्यावेत्ता दोनों प्रकार की विद्यावेत्ता विद्वानों के गुण वर्णन करते हैं—

ते सत्येन मनसा दीध्यानाः स्वेन युक्तासः क्रतुना वहन्ति ।
इन्द्रवायू वीरवाहं रथं वामीशानयोरभि पृक्षः सचन्ते ॥५॥

ते । सत्येन । मनसा । दीध्यानाः । स्वेन । युक्तासः । क्रतुना । वहन्ति । इन्द्रवायू इति । वीरऽवाहं । रथं । वां । ईशानयोः । अभि । पृक्षः । सचन्ते ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे विद्युद्विद्यावेत्तः ! वायुविद्यावेत्तश्च (वाम्) युवयोः (अभि) सर्वतः (पृक्षः) ऐश्वर्याणि (सचन्ते) संगच्छन्ते तथा च भवन्निर्मितानि (रथम्) यानानि (वीरवाहम्) वीर्यवन्ति भवन्ति तथा (ते) तानि यानानि (सत्येन) यथार्थेन (मनसा) चेतसा (दीध्यानाः) दीप्यमानानि (स्वेन, युक्तासः) ऐश्वर्ययुक्तानि तानि (क्रतुना) यज्ञेन (वहन्ति) दिव्यैश्वर्यं प्रापयन्ति ।।

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे विद्युत् और वायुविद्या को जाननेवाले विद्वानो ! (वाम्) आप लोगों को (ईशानाय) जो ईश्वर की विद्या जाननेवाले हैं आपको अभी चारों ओर से (पृक्षः) ऐश्वर्य (सचन्ते) संगत होते हैं और आपके बनाये हुए (रथं) यान (वीरऽवाहम्) वीरता को प्राप्त करनेवाले होते हैं और (ते) वे (सत्येन) सत्य (मनसा) मन से (दीध्यानाः) दीप्त हुए (स्वेन युक्तासः) ऐश्वर्य के साथ जुड़े हुए (क्रतुना) यज्ञों द्वारा (वहन्ति) उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! विद्युत् विद्या के जाननेवाले तथा वायु आदि सूक्ष्म तत्त्वों के जाननेवाले विद्वान् जिन यानों को बनाते हैं वे यान उत्तम से उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं और वीर लोगों को नभोमण्डल में ले जानेवाले एकमात्र वही यान कहला सकते हैं, अन्य नहीं ।।५।।

ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्हिरण्यैः ।
इन्द्रवायू सूरयो विश्वमायुरर्वद्भिर्वीरैः पृतनासु सह्युः ।।६।।

ईशानासः । ये । दधते । स्वः । नः । गोभिः । अश्वेभिः । वसुऽभिः । हिरण्यैः । इन्द्रवायू इति । सूरयः । विश्वं । आयुः । अर्वत्ऽभिः । वीरैः । पृतनासु । सह्युः ।।६।।

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे विद्युद्वाय्वादिविषयकसूक्ष्मविद्यावेत्तारः ! यूयम् (ईशानासः) ईश्वरतत्परान् ऐश्वर्यवतः कुरुत (ये) येहि (गोभिः) गोभिः साधनैः तथा (अश्वेभिः) अश्वैः साधनैः (वसुभिः) धनैः साधनैः (हिरण्यैः) दीप्तिमद्भिः सुरत्नैश्च (स्वर्ण, दधते) स्वर्णादिसाररत्नानि धारयन्ति (सूरयः) ते च विद्वांसः सन्तः (विश्वम्) पूर्णम् (आयुः) वयः प्राप्नुवन्तु, तथा (अर्वद्भिः, वीरैः) गतिप्रवरैर्वीरैः (पृतनासु) युद्धेषु (सह्युः) पराभवेयुः ।।

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे विद्युत् और वायु आदि तत्त्वों की सूक्ष्मविद्या जाननेवाले विद्वानो ! तुम (ईशानासः) ईश्वरपरायण लोगों को ऐश्वर्यसम्पन्न करो (ये) जो लोग (गोभिः) गौओं द्वारा (अश्वेभिः) अश्वों द्वारा (वसुभिः) धनों द्वारा (हिरण्यैः) दीप्तिमात्र वस्तुओं द्वारा (स्वर्णं दधते) स्वर्णादि रत्नों को धारण करते हैं और (सूरयः) वे शूरवीर लोग (विश्वं) सम्पूर्ण (आयुः) आयु को प्राप्त हों और (अर्वद्भिः वीरैः) वीर सन्तानों से (पृतनासु) युद्धों में शत्रुओं को (सह्युः) परास्त करें ।।

भावार्थ—विद्युत् आदि विद्याओं की शक्तिओं को जाननेवाले विद्वान् ही प्रजाओं को ऐश्वर्यसम्पन्न बना सकते हैं, ऐश्वर्यसम्पन्न होकर ही प्रजा पूर्ण आयु को भोग सकती है, ऐश्वर्य-सम्पन्न लोग ही युद्धों में पर पक्षों को परास्त करते हैं । परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानों ! तुम सबसे पहिले अपने देश को ऐश्वर्यसम्पन्न करो ताकि तुम्हारी प्रजायें वीर सन्तान उत्पन्न करके शत्रुओं को परास्त करें ।।

जो लोग यह कहते हैं कि वैदिक समय में भारतवर्ष में ऐश्वर्य नहीं था उनको उक्त मन्त्र की रचना पर अवश्य दृष्टि डालनी चाहिये। इस मन्त्र में केवल गौ, घोड़े और धनादि वस्तुओं के ऐश्वर्य का ही वर्णन नहीं किया प्रत्युत (हिरण्य) बड़े बड़े दिव्य रत्नों का वर्णन स्पष्टरीति से उक्त मन्त्र में किया गया है, इतना ही नहीं किन्तु स्वर्ण शब्द भी इसमें स्पष्ट रीति से आया है जिसमें किसी को भी विवाद नहीं ॥

वेदों में एक प्रकार के ऐश्वर्य की तो कथा ही क्या किन्तु नाना प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन पाया जाता है जैसा कि मं० २ सू० १५ मन्त्र ३ में रत्नों के धारण करने का उपदेश है। इसी प्रकार मं० १ सू० २० मन्त्र १ में रत्नों का वर्णन है। एक दो उदाहरणों से क्या सहस्रों मन्त्र वेदों में ऐसे पाये जाते हैं जिनमें रत्नादि निधियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। बहुत क्या ऋग्वेद के पहिले मन्त्र में ही अग्नि को "रत्नधातमम्" का विशेषण दिया गया है; अर्थात् भौतिक अग्नि वा परमात्मा नाना प्रकार के रत्नों को धारण करनेवाले हैं, इसी भाव का उपदेश इस मन्त्र में है कि परमात्मा ईश्वरपरायण लोगों को नाना प्रकार की निधियों का स्वामी बनाता है किन्तु केवल ईश्वर अविश्वासी और उद्योगरहित लोगों को नहीं किन्तु कर्मयोगी और ईश्वरविश्वासी लोगों को ईश्वर ऐश्वर्यसम्पन्न करता है, इसी अभिप्राय से परमात्मा ने इस मन्त्र में विद्युदादि विद्याओं के वेत्ता कर्मयोगी पुरुषों का वर्णन किया है ॥६॥

सम्प्रति परमात्मा सूक्ष्मताविज्ञैः जनरक्षां कल्याणं चोपदिशति—

अब परमात्मा सूक्ष्मविद्या वेत्ता विद्वानों द्वारा प्रजा की रक्षा तथा कल्याण का उपदेश करते हैं—

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥१२॥

अर्वन्तः । न । श्रवसः । भिक्षमाणाः । इन्द्रवायू इति । सुस्तुतिऽभिः । वसिष्ठाः । वाजऽयन्तः । सु । अवसे । हुवेम । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥१२॥

पदार्थः—भो नरः ! (वाजयन्तः) बलमिच्छन्तो यूयम् (स्ववसे) स्वरक्षणाय प्रार्थयध्वम् यत् (वयम्) वयं सर्वे (हुवेम) विदुष आहूय स्वयज्ञे वक्ष्यमाणं प्रार्थयामहै किं च (यूयम्) भो विद्वांसो ! यूयम् (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाग्भिः (नः) अस्मान् (सदा) निरन्तरम् (पात) रक्षतेति, परन्तु (अर्वन्तः, न) कर्मयोगिन इव (श्रवसः) अन्नादीन् (भिक्षमाणाः इच्छतः नः) तथा (इन्द्रवायू) कर्मयोगिज्ञानयोगिनोरुभयोरपि (सुष्टुतिभिः) शोभनस्तवनैः (वसिष्ठाः) वसिष्ठाः भवन्तो यूयं कल्याणं प्रार्थयध्वम् ॥७॥

इति नवतितमं सूक्तं द्वादशो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—हे लोगो ! (वाजयन्तः) बल की इच्छा करते हुए तुम (स्ववसे) अपनी रक्षा के लिये यह प्रार्थना करो कि (वयं) हमलोग (हुवेम) विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलायें और यह कहें कि (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (नः) हमारी (सदा) सदा के लिये (पात) रक्षा करें परन्तु (अर्वन्तः) कर्मयोगियों के (न) समान (श्रवसः) अन्नादि पदार्थों को (भिक्षमाणाः) चाहते हुए और (इन्द्र-वायू) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों प्रकार के विद्वानों

की सुष्टुतिभिः) सुन्दर स्तुतियों द्वारा (वसिष्ठाः) वसिष्ठ हुए आप लोग विद्वानों से कल्याण की प्रार्थना करें ।।

भावार्थ—जो लोग वेदवेत्ता विद्वानों से उपदेश लाभ करते हैं वे ही बल तथा ऐश्वर्यसम्पन्न होकर अपना और अपने देश का कल्याण कर सकते हैं, अन्य नहीं ।।७।।

९० सूक्त और १२वां वर्ग समाप्त हुआ ।

अथ सप्तर्चस्य एकनवतितमस्य सूक्तस्य

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ।। १–३ वायुः । २, ४–७ इन्द्रवायू देवते ।। छन्दः–१, ४, ७ विराट् त्रिष्टुप् ।। २, ५, ६ आर्षी त्रिष्टुप् । ३ निचृत् त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अथ पूर्वोक्तविद्वद्भ्यः प्रकारान्तरेण विद्याऽऽदानमुपदिश्यते—

अब उक्त विद्वानों से प्रकारान्तर से विद्याग्रहण करने का उपदेश कथन करते हैं—

**कुविदङ्ग नमसा ये वृधासः पुरा देवा अनवद्यास आसन् ।
ते वायवे मनवे बाधितायावासयन्नुषसं सूर्येण ॥१॥**

कुवित् । अङ्ग । नमसा । ये । वृधासः । पुरा । देवाः । अनवद्यासः । आसन् । ते । वायवे । मनवे । बाधिताय । अवासयन् । उषसं । सूर्येण ॥१॥

पदार्थः—(पुरा) पूर्वकाले (ये) ये (देवाः) विद्वांसः (वृधासः) ज्ञानवृद्धाः तथा (अनवद्यासः) दोषरहिताः (आसन्) अभूवन् ते (कुवित्) अति (अङ्ग) शीघ्रम् (नमसा) नम्रतया (वायवे, मनवे) शिक्षाप्राप्तये (बाधिताः) स्वसन्तानरक्षणाय च (सूर्येण) सूर्योदये (उषसम्) उषःकालमभिलक्ष्य (अवासयन्) स्वयज्ञादिकं प्रारप्सत ।।

पदार्थ—(पुरा) पूर्वकाल में (ये) जो (देवाः) विद्वान् (वृधासः) ज्ञानवृद्ध और (अनवद्यासः) दोषरहित (आसन्) थे, वे (कुवित्) बहुत (अङ्ग) शीघ्र (नमसा) नम्रता से (वायवे) शिक्षा के (मनवे) लाभ के लिये (बाधिताः) स्वसन्तानों की रक्षा के लिये (सूर्येण) सूर्योदय के (उषसम्) उषाकाल को लक्ष्य रख कर (अवासयन्) अपने यज्ञ आदि कर्मों का प्रारम्भ करते थे ।।

भावार्थ—जो लोग आलस्य आदि दोषरहित और ज्ञानी हैं, वे उषाकाल में उठ कर अपने यज्ञादि कर्मों का प्रारम्भ करते हैं । मन्त्र में जो भूतकाल की क्रिया दी है वह **"व्यत्ययो बहुलम्"** इस नियम के अनुसार वर्तमान काल की बोधिका है इसलिये वेदों से प्रथम किसी अन्य देव के होने की आशङ्का इससे नहीं हो सकती । अन्य युक्ति यह कि **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" "देवाभागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते"** इत्यादि मन्त्रों में पूर्व काल के देवों की सूचना जैसे दी गई है इसी प्रकार उक्त मन्त्र में भी है, इसलिये कोई दोष नहीं ।।

तात्पर्य यह है कि वैदिक सिद्धान्त में सृष्टि प्रवाहरूप से अनादि है इसलिये उसमें भूतकाल का वर्णन करना कोई दोष की बात नहीं ॥१॥

उशन्ता दूता न दभाय गोपा मासश्च पाथः शरदश्च पूर्वीः । इन्द्रवायू सुष्टुतिर्वामियाना मार्डीकमीट्टे सुवितं च नव्यम् ॥२॥

उशन्ता । दूता । न । दभाय । गोपा । मासः । च । पाथः । शरदः । च । पूर्वीः । इन्द्रवायू इति । सुऽस्तुतिः । वां । इयाना । मार्डीकं । ईट्टे । सुवितं । च । नव्यम् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे कर्मज्ञानयोगसम्पन्ना विद्वांसः ! (उशन्ता) अस्मत्कल्याणं वाञ्छन्तः (दूता) शुभमार्गस्य दर्शितारः (न) इव (दभाय) अस्मत्कल्याणाय (गोपाः) नो रक्षका भवन्तो भवन्तु (शरदश्च पूर्वीः) बहूनि वर्षाणि यावत् (पाथः) अस्मत्सन्मार्गम् (मासश्च) शुभसमयं च रक्षन्तु (सुस्तुभिः) अस्मत्कृता शोभनस्तुतिः (वाम्) युष्मान् (इयाना) प्राप्नुवती सती (मार्डीकम्) सुखम् (ईट्टे) प्रार्थयते (च) तथा च (नव्यम्) नूतनम् (सुवितम्) सुष्ठु प्राप्यं धनं च याचते ॥

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे कर्मयोग और ज्ञानयोगसम्पन्न विद्वानो ! (उशन्ता) आप हमारे कल्याण की इच्छा करते हुए (दूता) शुभ मार्ग दिखलानेवाले दर्शक के (न) समान (दभाय) हमारे कल्याण के लिये (गोपाः) आप हमारे रक्षक बनें (शरदश्च पूर्वीः) और अनन्त काल तक (पाथः) हमारे शुभ मार्ग की ओर (मासश्च) शुभ समयों की आप रक्षा करें (सुऽस्तुतिः) हमारी स्तुति (वाम्) आप लोगों को (इयाना) प्राप्त होती हुई (मार्डीकम्) सुख की (ईट्टे) याचना करती है (च) और (नव्यं) नवीन (सुवितं) धन की याचना करती है ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो लोग कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वानों को अपना नेता बनाते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं और उनको नवीन से नवीन धनादि वस्तुओं की सदैव प्राप्ति होती है ॥३॥

पीवोअन्नाँ रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः । ते वायवे समनसो वि तस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥३॥

पीवःऽअन्नान् । रयिऽवृधः । सुऽमेधाः । श्वेतः । सिसक्ति । निऽयुतां । अभिऽश्रीः । ते । वायवे । सऽमनसः । वि । तस्थुः । विश्वा । इत् । नरः । सुऽपत्यानि । चक्रुः ॥३॥

पदार्थः—(सुमेधाः) ज्ञानयोगिनो नरः (पीवः, अन्नान्) पुष्टतराण्यन्नानि लभन्ते (रयिवृधः) ऐश्वर्यसम्पन्नाश्च भवन्ति (श्वेताः) सुकर्माणि च (सिसक्ति) सेवन्ते (अभि, श्रीः) शोभा (नियुताम्) या नरेषु नियुक्ता ताम् प्राप्नुवन्ति, तथा (ते, समनसः) ते स्वायत्तीकृतमानसाः (वायवे) विज्ञानाय (तस्थुः) संतिष्ठन्ते (विश्वा, इत्, नरः) इत्थं सर्वे नराः (स्वपत्यानि) शुभकर्माणि (चक्रुः) कुर्वन्ति ॥

पदार्थ—(सुमेधाः) ज्ञानयोगी पुरुष (पीवोऽन्नान्) पुष्ट से पुष्ट अन्नों को लाभ करते हैं (रयिवृधः) और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं (श्वेतः) और उत्तम कर्मों को (सिसक्ति) सेवन करते हैं

(अभिश्रीः) शोभा (नियुतां) जो मनुष्य के लिये नियुक्त की गई है उसको प्राप्त होते हैं तथा (ते, समनसः) वे वशीकृत मनवाले (वायवे) विज्ञान के लिये अर्थात् ज्ञानयोग के लिये (तस्थुः) स्थिर होते हैं (विश्वेन्नरः) ऐसे सम्पूर्ण मनुष्य (स्वपत्यानि) शुभ कर्मों को (चक्रुः) करते हैं ॥

भावार्थ—जो पुरुष ज्ञानयोगी बन कर बुद्धिरूपी श्री को उत्पन्न करते हैं वे संयमी पुरुष ही कर्मयोगी बन सकते हैं, अन्य नहीं ॥

तात्पर्य यह है कि जिन पुरुषों के अपना मन वशीभूत है वे ही पुरुष कर्मयोग और ज्ञानयोग के अधिकारी होते हैं, अन्य नहीं, इस भाव को उपनिषदों में इस प्रकार वर्णन किया है कि—

"यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते" ॥कठ० ३ ।८॥

जो पुरुष समनस्क वशीकृत मनवाला होता है वही विज्ञानवान् ज्ञानयोगी और शुभ कर्मों द्वारा पवित्र अर्थात् कर्मयोगी बन सकता है, फिर वह प्राकृत संसार में नहीं आता ॥

समनस्क, समनस और वशीकृतमन, संयमी ये सब एकार्थवाची शब्द हैं और इनका तात्पर्य कर्मयोग और ज्ञानयोग में है । इस प्रकार उक्त मन्त्र में कर्मयोग और ज्ञानयोग का वर्णन किया है ॥३॥

यावत्तरस्तन्वो३ यावदोजो यावन्नरश्चक्षसा दीध्यानाः ।
शुचिं सोमं शुचिपा पातमस्मे इन्द्रवायू सदतं बर्हिरेदम् ॥४॥

यावत् । तरः । तन्वः । यावत् । ओजः । यावत् । नरः । चक्षसा । दीध्यानाः । शुचिं । सोमं । शुचिऽपा । पातं । अस्मे इति । इन्द्रवायू इति । सदतं । बर्हिः । आ । इदम् ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे कर्मयोगिनः ज्ञानयोगिनश्च ! यूयम् मम यज्ञेष्वागत्य (इदम्) अस्मिन् (बर्हिः) आसने (आसदतम्) उपविशत तथा च (यावत्) यावत् कालपर्यन्तम् (तन्वः) अस्मच्छरीरे (तरः) स्फूर्तिरस्ति तावत् तथा (यावत्) यावत्कालपर्यन्तम् (ओजः) ब्रह्मचर्यप्रभावोऽस्ति तथा (यावत्, नरः, चक्षसः) यावद्वयम् नरा ज्ञानिनः स्मः (दीध्यानाः) दीप्तिमन्तश्च स्मः तावत् (अस्मे) अस्माकम् (सोमम्) स्वभावम् (शुचिम्) पवित्रं कुरुत, यतः (शुचिपाः) यूयम् शुचिकर्मणां रक्षितारः स्थ अतएव (पातं) सर्वथा यज्ञेष्वागत्य रक्षत ॥

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषो ! तुम लोग हमारे यज्ञों में आकर (इदम्) इस (बर्हिः) आसन पर (आसदतम्) बैठो और (यावत्) जब तक (तन्वः) हमारे शरीर में (तरः) स्फूर्ति है तब तक और (यावत्) जब तक (ओजः) ब्रह्मचर्य का प्रभाव है और (यावन्नरः, चक्षसः) हम ज्ञानी हैं (दीध्यानाः) दीप्तिवाले हैं तब तक आप (अस्मे) हमारे (सोमं) स्वभाव को (शुचिं) पवित्र बनायें क्योंकि (शुचिपा) आप हमारे शुभ कर्मों की रक्षा करनेवाले हैं इसलिये (पातं) आप हमारे यज्ञों में आकर हमको पवित्र करें ॥

भावार्थ—जब तक मनुष्य के शरीर में कर्म करने की शक्ति रहती है और जब तक ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न हुआ ओज रहता है और जब तक सत्य के समझने की शक्ति रहती

है तब तक उसे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषों से सदैव यह प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन्, आप मेरे समक्ष आकर मुझे सत्कर्मों का उपदेश करके साधु स्वभाववाला बनाइये ।

जो लोग यह शङ्का किया करते हैं कि वेदों में सदाचार का उपदेश नहीं उनको ऐसे सदाचार के बोधक उक्त मन्त्रों पर अवश्य ध्यान देना चाहिये । वेद में ऐसे सहस्रों मन्त्र हैं जिनमें केवल सदाचार की शिक्षा का वर्णन किया गया है ।।४।।

नियुवाना नियुतः स्पार्हवीरा इन्द्रवायू सरथं यातमर्वाक् ।
इदं हि वां प्रभृतं मध्वो अग्रमध प्रीणाना वि मुमुक्तमस्मे ॥५॥

निऽयुवाना । निऽयुतः । स्पार्हऽवीराः । इन्द्रवायू इति । सऽरथं । यातं । अर्वाक् । इदं । हि । वां । प्रऽभृतं । मध्वः । अग्रं । अध । प्रीणाना । वि । मुमुक्तं । अस्मे इति ।।५।।

पदार्थः—(इन्द्रवायू) **"इदंकरणादित्याग्रयणः"** ।। नि० १०, ८, ९ ।। अर्थात् सर्वकर्मसु व्यापकः **'वाति सर्वं जानातीति वायुः'**, हे कर्मयोगिनः ज्ञानयोगिनः विद्वांसः ! (अर्वाक्) अस्मदभिमुखम् (सरथम्) स्वज्ञानयोगकर्मयोगमार्गमभिलक्ष्य (यातम्) आगच्छन्तु (स्पार्हवीराः) भवन्तः सर्वैरभिलषणीया अतः (नियुवाना) उपदेशे नियुक्ताः (नियुतः) यश्च स्वयोगमार्गस्तमुपदिशत (वाम्) युष्मभ्यमेव (मध्वः) मधुरः (इदम्) अयम् (अग्रम्) मुख्यः सारभूतः उपह्रियते तं गृह्णीत (अथ) अन्यच्च (प्रीणाना) प्रसन्नाः सन्तः (अस्मे) अस्मान् (वि, मुमुक्तम्) बन्धनान्मोचयत ।।

पदार्थ—(इन्द्रवायू) "इदङ्करणादित्याग्रयणः" ।। नि० १०, ८, ९ ।। अर्थात् सब कर्मों में जो व्याप्त हो उसे इन्द्र कहते हैं "वातीतिवायुः" जो सर्व विषय को जानता है वह वायु है । हे कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषो ! (अर्वाक्) हमारे सम्मुख (सरथं) अपने कर्मयोग और ज्ञानयोग के मार्ग को लक्ष्य मानते हुए (यातं) हमारे सामने आयें (स्पार्हवीराः) आप सर्वप्रिय हैं और (नियुवाना) उपदेश के मार्ग में नियुक्त किये गये हैं और (नियुतः) जो तुम्हारा योगमार्ग है उसका आकर हमें उपदेश करो (वाम्) तुम्हारे लिये ही निश्चय करके (मध्वः) मीठे पदार्थ का (इदम्) ये (अग्रम्) सार भेंट किया जाता है आप इसे ग्रहण करें (अथ) और (प्रीणाना) प्रसन्न हुए आप (अस्मे) हम लोगों को (विमुमुक्तम्) पापरूपी बन्धनों से छुड़ायें ।।

भावार्थ—यजमान कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वानों से यह प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन् ! आप हमारे यज्ञों में आकर हमको कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का उपदेश करें ताकि हम उद्योगी तथा ज्ञानी बन कर निरुद्योगिता और अज्ञानरूपी पापों से छूट कर मोक्ष फल के भागी बनें ।।५।।

या वां शतं नियुतो याः सहस्रमिन्द्रवायू विश्ववाराः सचन्ते ।
आभिर्यातं सुविदत्राभिरर्वाक्पातं नरा प्रतिभृतस्य मध्वः ॥६॥

याः । वां । शतं । निऽयुतः । याः । सहस्रं । इन्द्रवायू इति । विश्वऽवाराः । सचन्ते । आ । आभिः । यातं । सुऽविदत्राभिः । अर्वाक् । पातं । नरा । प्रतिऽभृतस्य । मध्वः ।।६।।

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे ज्ञानयोगिनः कर्मयोगिनश्चः कर्मयोगिनश्च ! (वाम्) युष्मान् (याः) ये यूयम् (विश्ववाराः) विश्वैर्वरणीयास्तान् (याः) ये नराः (शतम्) शतशः (सहस्रम्) सहस्रशश्च (नियुतः) नियुक्ताः (सचन्ते) सेवन्ते ते सङ्गतिं प्राप्नुवन्ति (नरा) हे वैदिक नरः ! (अर्वाक्) अस्मदभिमुखम् (आभिः) एभिः (सुविदत्राभिः) शोभमार्गैः (यातम्) आगच्छत तथा (मध्वः प्रतिभृतस्य) भवदर्थे निहितं मधुरं रसम् (पातम्) पिबत ।।

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषो ! (वाम्) तुम लोगों को (याः) जो आप (विश्ववाराः) सबके वरणीय हो ऐसे आपको (याः) जो लोग (शतम्) सैकड़ों वार (सहस्रं) सहस्रों वार (नियुतः) नियुक्त हुए (सचन्ते) सेवन करते हैं वे सङ्गति को प्राप्त होते हैं इसलिये (नरा) वैदिक मार्ग के नेता लोगो ! (अर्वाक्) हमारे सम्मुख (आभिः) सुन्दर मार्गों से (यातं) आओ और (मध्वः, प्रतिभृतस्य) आपके निमित्त जो मीठा रस रक्खा गया है इसे आकर (पातं) पिओ ।।

भावार्थ—जो लोग कर्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषों की सैकड़ों और सहस्रों वार संगति करते हैं वे लोग उद्योगी और ब्रह्मज्ञानी बन कर जन्म के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी चारों फलों को प्राप्त होते हैं ।।६।।

अर्वन्तो न श्रवसो भिक्षमाणा इन्द्रवायू सुष्टुतिभिर्वसिष्ठाः ।
वाजयन्तः स्ववसे हुवेम यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।७।।

अर्वन्तः । न । श्रवसः । भिक्षमाणाः । इन्द्रवायू इति । सुस्तुतिऽभिः । वसिष्ठाः । वाजऽयन्तः । सु । अवसे । हुवेम । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ।।७।।

पदार्थः—(इन्द्रवायू) हे पूर्वोक्तयोगद्वयविशिष्टाः ! वयम् (अर्वन्तः) जिज्ञासवः (न) इव (श्रवसः) ज्ञानम् (भिक्षमाणाः) याचमानाः (सुस्तुतिभिः, वसिष्ठाः) युष्मत्स्तुतितत्पराः (स्ववसे) स्वरक्षणाय (वाजयन्तः) बलं कामयमानाः (हुवेम) शब्दयामहे याचामहे (यूयम्) यूयम् सर्वे (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ।।

एकोननवतितमं सूक्तं त्रयोदशो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(इन्द्रवायू) हे ज्ञानयोगी और कर्मयोगी पुरुषो ! हम (अर्वन्तः) जिज्ञासुओं के (न) समान (श्रवसः) ज्ञान की (भिक्षमाणाः) भिक्षा मांगते हुए (सुस्तुतिभिः, वसिष्ठाः) आपकी स्तुतिपरायण हुए अपनी रक्षा के लिये (वाजयन्तः) आपसे बल की याचना करते हैं और (हुवेम) ह्वेञ् शब्दार्थक धातु होने से यहां याच्ञाविषयक शब्दार्थ हैं" हम यह दान मांगते हैं कि (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाचनों से (नः) हमारी (सदा) सदैव (पात) रक्षा करें ।।

भावार्थ—जो लोग ज्ञान और विज्ञान के भिक्षु बन कर ज्ञानी और विज्ञानी लोगों से सदैव ज्ञानयोग और कर्मयोग की भिक्षा मांगते हैं, परमात्मा उनको अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करता है ।।७।।

।। ९१ सूक्त और १३ वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथ पञ्चर्चस्य द्वानवतितमस्य सूक्तस्य—

१–५ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १, ३, ५ वायुः । २ इन्द्रवायू देवते ॥ छन्दः १ निचृत् त्रिष्टुप् २, ३, ४ विराट् त्रिष्टुप् । ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ सोमरसपानार्थं कर्मयोगिनो यज्ञेष्वाह्वानमुपदिश्यते—

अब कर्मयोगी पुरुष को सोमरस पीने के लिये बुलाना कथन करते हैं—

आ वायो भूष शुचिपा उप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम् ॥१॥

आ । वायो इति । भूष । शुचिऽपाः । उप । नः । सहस्रं । ते । निऽयुतः । विश्वऽवार । उपो इति । ते । अन्धः । मद्यं । अयामि । यस्य । देव । दधिषे । पूर्वऽपेयम् ॥१॥

पदार्थः—(वायो) हे कर्मयोगिन् ! भगवन् अस्मद्यज्ञम् (आ, भूष) आगत्य भूषयतु (शुचिपाः) शुचिपदार्थस्यपाताऽस्ति (विश्ववार) हे लोकभजनीय ! (ते) तव (सहस्रं, नियुतः) अनेकधा कर्मप्रकाराः सन्ति (नः) अस्माकम् (अन्धः) अन्नादिकैः (मद्यम्) आह्लादनीयं सोमरसम् (उप, अयामि) पात्रे निदधामि (देव) हे दिव्यशक्तिमन् ! (पूर्वपेयम्) भवतैव पूर्वपेयमिमं रसं (दधिषे) गृह्णातु ॥

पदार्थ—(वायो) हे कर्मयोगिन् "वाति = गच्छति स्वकर्मणा ऽभिप्रेतं प्राप्नोतीति वायुः" जो कर्मों द्वारा अपने कर्तव्यों को प्राप्त हो उसको वायु कहते हैं "वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद्गतिकर्मणः" वायु शब्द गतिकर्मवाली धातुओं से सिद्ध होता है (निरुक्त दैवत काण्ड १०-३) । इस प्रकार यहां वायु का नाम कर्मयोगी का है । हे कर्मयोगिन् ! आप आकर हमारे यज्ञ को (आभूषः) विभूषित कीजिये और (शुचिपाः) आप पवित्र वस्तुओं का पान करनेवाले हैं । (विश्ववारः) आप सबके वरणीय हैं (ते) तुम्हारे (सहस्रं नियुतः) हजारों कर्म के प्रकार हैं (नः) हमारा (अन्धः) अन्नादि वस्तुओं से (मद्यम्) आह्लादक जो सोमरस है उसको (उपअयामि) मैं पात्र में रखता हूं (देव) हे दिव्यशक्तिवाले विद्वन् ! (पूर्वऽपेयं) पहिले पीने योग्य इसको (दधिषे) तुम धारण करो ॥

भावार्थ—यजमान लोग अपने यज्ञों में कर्मयोगी पुरुषों को बुलाकर उत्तमोत्तम अन्नादि-पदार्थों के आह्लादकरस उनकी भेंट करके उनसे सदुपदेश ग्रहण करें, वायु शब्द से इस मन्त्र में कर्मयोगी का ग्रहण है किसी वायुतत्व या किसी अन्य वस्तु का नहीं, यद्यपि वायु शब्द के अर्थ कहीं ईश्वर के कहीं वायुतत्त्व के भी हैं तथापि यहां प्रसङ्ग से वायु शब्द कर्मयोगी का बोधक है क्योंकि इसके उत्तर मन्त्र में "शचीभिः" इत्यादिक कर्मबोधक वाक्यों से कर्मप्रधान पुरुष का ही ग्रहण है और जहां **"वायवा याहि दर्शते इमे सोमा अरं कृता"** ॥१।२।१॥ इत्यादि मन्त्रों में वायु शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है वहां ईश्वर का प्रसङ्ग पूर्वोक्त सूक्तों की संगति से वायु शब्द ईश्वर का प्रतिपादक है अर्थात् **"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्"** ॥१।१।१॥ इस ईश्वर प्रकरण में पढ़े जाने के कारण वहां वायु शब्द ईश्वर का बोधक है, क्योंकि "शन्नो

मित्रः शं वरुणः" ।। तैत्तिरीय ब्रा. १ ।। इस मन्त्र में वायु शब्द ईश्वर के प्रकरण में पढ़ा गया है। जिस प्रकार वहां ईश्वर प्रकरण है इसी प्रकार यहां विद्वानों से शिक्षालाभ करने के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण वायु शब्द विद्वान् का बोधक है, किसी अन्य वस्तु का नहीं ।।१।।

प्र सोता जीरो अध्वरेष्वस्थात्सोममिन्द्राय वायवे पिबध्यै ।
प्र यद्वां मध्वो अग्रियं भरन्त्यध्वर्यवो देवयन्तः शचीभिः ।।२।।

प्र । सोता । जीरः । अध्वरेषु । अस्थात् । सोमं । इन्द्राय । वायवे । पिबध्यै । प्र । यत् । वां । मध्वः । अग्रियं । भरन्ति । अध्वर्यवः । देवऽयन्तः । शचीभिः ।।२।।

पदार्थः—(अध्वर्यवः) यज्ञं बिभ्राणा वैदिकाः (अध्वरेषु) यज्ञेषु (सोमं) सोमरसम् (अस्थात्) स्थिरीकुर्वन्ति, यतः (इन्द्राय) कर्मयोगिनः (वायवे) ज्ञानयोगिनः (पिबध्यै) पानार्थम्, अध्वर्यवश्च (शचीभिः) कर्मभिः (देवयन्तः) प्रार्थनां कुर्वन्तः (अग्रियम्) सारमिमं सोमरसम् (भरन्ति) धारयन्ति (यत्) यः (मध्वम्) मधुरः तथा (वाम्) भवदर्थं मया निर्मितः ।।

पदार्थ—(अध्वर्यवः) यज्ञों के धारण करनेवाले अध्वर्यु लोग (अध्वरेषु) यज्ञों में (सोमं) सोम रस को (अस्थात्) स्थिर करते हैं क्योंकि (इन्द्राय) कर्मयोगी, (वायवे) ज्ञानयोगी के (पिबध्यै) पिलाने के लिए और अध्वर्यु लोग (शचीभिः) कर्मों के द्वारा (देवयन्तः) प्रार्थना करते हुए (अग्रियम्) सार भूत इस सोमरस को (भरन्ति) धारण करते हैं (यत्) जो (मध्वं) मीठा है और (वाम्) तुम विद्वान् लोगों के निमित्त बनाया गया है।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमान लोगो ! तुम सुन्दर-सुन्दर पदार्थों के रस निकाल कर विद्वानों को तृप्त करो ताकि वे प्रसन्न होकर तुमको उपदेश दें ।।२।।

प्र याभिर्यासि दाश्वांसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे ।
नि नो रयिं सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ।।३।।

प्र । याभिः । यासि । दाश्वांसं । अच्छ । नियुत्ऽभिः । वायो इति । इष्टये । दुरोणे । नि । नः । रयिं । सुऽभोजसं । युवस्व । नि । वीरं । गव्यं । अश्व्यं । च । राधः ।।३।।

पदार्थः—(वायो) हे ज्ञानयोगिन् ! (इष्टये) यज्ञाय (दुरोणे) यज्ञशालायाम् (नियुद्भिः) याज्ञिकैराहूतः (यासि) तत्र गच्छ गत्वा च (वीरम्) वीरपुरुषम् (गव्यम्) गोसंघम् (अश्व्यम्) अश्वसंघं च (च) च पुनः (राधः) अन्नादिपदार्थम् (युवस्व) देहि (सुभोजसम्) सुष्ठुभोज्यपदार्थम् (रयिम्) धनानि च देहि ।।

पदार्थ—(वायो) हे ज्ञानयोगी विद्वन् ! (इष्टये) यज्ञ के लिए (दुरोणे) यज्ञ मण्डपों में जाकर (नियुद्भिः) याज्ञिक लोगों द्वारा आह्वान किये हुए आप (यासि) जाकर प्राप्त होओ और वहाँ जाकर (वीरं) वीरतायुक्त पुरुष (गव्यं) गौएँ (अश्व्यं) घोड़े (च) और (राधः) धन को (युवस्व) दें और (सुभोजसम्) सुन्दर-सुन्दर भोजन (रयिं) धनादि पदार्थ दें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि यजमानों से आह्वान किये हुए विद्वान् लोग यज्ञमण्डपों में जाकर जनता को गौएँ, घोड़े और धनादि ऐश्वर्यों के उत्पन्न करने का उपदेश करें ।।३।।

ये वायवं इन्द्रमादनास आदेवासो नितोशनासो अर्यः ।
घ्नन्तो वृत्राणि सूरिभिः ष्याम सासह्वांसो युधा नृभिरमित्रान् ॥४॥

ये । वायवे । इन्द्रऽमादनासः । आऽदेवासः । निऽतोशनासः । अर्यः । घ्नन्तः । वृत्राणि । सूरिऽभिः । स्याम । ससह्वांसः । युधा । नृऽभिः । अमित्रान् ॥४॥

पदार्थः—(ये) ये पुरुषाः (वायवे) कर्मयोगिषु विश्वसन्ति (इन्द्रमादनासः) ज्ञानयोगिनश्च सत्कुर्वन्ति तथा (आदेवासः) विदुषश्च सत्कुर्वन्ति, ते (अर्यः नितोशनासः) शत्रून् घ्नन्तः तथा (सूरिभिः) विद्वद्भिः (वृत्राणि) अज्ञानानि नाशयन्त इति ब्रुवन्ति (स्याम) वयं सत्यपरा भवेम (अमित्रान्) अन्यायमाचरतः शत्रून् (युधा) युद्धे (नृभिः) न्यायपथे सुदृढैर्जनैः (ससह्वांसः) हन्यामेति ।।

पदार्थ—(ये) जो पुरुष (वायवे) कर्मयोगी विद्वानों पर विश्वास रखते हैं (इन्द्रमादनासः) ज्ञानयोगी विद्वान् का सत्कार करते हैं तथा (आदेवासः) विद्वान् पुरुषों का सत्कार करते हैं वे (अर्य्यः) शत्रुओं को (नितोशनासः) नाश करते हुए और (सूरिभिः) विद्वानों से (घ्नन्तः) अज्ञानों का नाश करते हुए यह कथन करते हैं कि (स्याम) हम लोग सत्यपरायण होकर (अमित्रान्) अन्यायकारी शत्रुओं को (युधा) युद्ध में (नृभिः) न्याय पथ पर दृढ़ रहनेवाले मनुष्यों के द्वारा (ससह्वांसः) नाश करें ।।

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमात्मा पर विश्वास रख कर अन्यायकारियों के दमन के लिए उद्यत होते हैं वे सदैव विजयलक्ष्मी का लाभ करते हैं अर्थात् उनके गले में विजयलक्ष्मी अवश्यमेव जयमाला पहनाती है ।।४।।

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरं सहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम् ।
वायो अस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५॥

आ । नः । नियुत्ऽभिः । शतिनीभिः । अध्वरं । सहस्रिणीभिः । उप । याहि । यज्ञं । वायो इति । अस्मिन् । सवने । मादयस्व । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥५॥

पदार्थः—(वायो) हे कर्मयोगिन् ! (अध्वरं, नः) अस्माकमहिंसयज्ञे (शतिनीभिः) शतधा शक्तिभिर्व सह (सहस्रणीभिः) सहस्रधाशक्तिभिः (उपयाहि) अस्मदन्तिकमागच्छ (वायो) हे सर्वविधविद्यासु संचरिष्णो विद्वन् ! (अस्मिन्, सवने) अस्मिन्ममानेकपदार्थोत्पादने यज्ञे (मादयस्व) आनन्दं लभस्व (यूयम्) भवन्तः (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षत ।।

पदार्थ—(वायो) हे कर्मयोगिन् विद्वन् ! (नः) हमारे (अध्वरं) इस अहिंसारूपयज्ञ में आप आएँ (शतिनीभिः) अपने क्रियाकौशल के सैकड़ों प्रकार की शक्तियों को लेकर (सहस्त्र-

णीभिः) सहस्रों प्रकार की शक्तियों को लेकर (उपयाहि) आएँ (वायो) हे सर्वविद्या में गतिशील विद्वन् ! (अस्मिन्) हमारे इस (सवने) पदार्थ विद्या के उत्पन्न करनेवाले यज्ञ में आकर आप (मादयस्व) आनन्द को लाभ करें और (यूयम्) आप विद्वान् लोग स्वस्तिवाचनों से (नः) हमको (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा ने सैकड़ों और सहस्त्रों शक्तियों वाले कर्म्मयोगी विद्वानों के आवाहन करने का उपदेश किया है कि हे यजमानो ! तुम अपने यज्ञों में ऐसे विद्वानों को बुलाओ जिनकी पदार्थ विद्या में सैंकड़ों प्रकार की शक्तियें हैं, उनको बुलाकर तुम उनसे सदुपदेश सुनो ।।५।।

९२ सूक्त और १४ वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथाष्टर्चस्य त्रिनवतितमस्य सूक्तस्य—

१–८ वसिष्ठ ऋषिः ।। इन्द्राग्नी देवते ।। छन्दः—१, ८ निचृत्त्रिष्टुप् । २, ५ आर्षी त्रिष्टुप् । ३, ४, ६, ७ विराट् त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

शुचिं नु स्तोमं नवजातमद्येन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् ।
उभा हि वां सुहवा जोहवीमि ता वाजं सद्य उशते धेष्ठा ॥१॥

शुचिं । नु । स्तोमं । नवऽजातं । अद्य । इन्द्राग्नी इति । वृत्रऽहना । जुषेथां ।
उभा । हि । वां । सुऽहवा । जोहवीमि । ता । वाजं । सद्यः । उशते । धेष्ठा ।।१।।

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञानिविज्ञानिनौ विद्वांसौ ! (वृत्रहणा) शत्रूणां हन्तारौ ! (अद्य) संप्रति भवन्तौ (नवजातम्) नूतनम् (स्तोमम्) यज्ञम् (जुषेथाम्) सेवेताम्, यदर्थम् (उभा, हि, वाम्) द्वावपि युवां (सुहवा) सुखाहूतौ (जोहवीमि) भृशमाह्वयामि, अतः (ता) तौ भवन्तौ (शुचि) पवित्रमिमं यज्ञम् (सद्यः) शीघ्रम् (उशते) इष्टमिच्छते यजमानाय (वाजम्) बलम् (धेष्ठा) यच्छताम् ।

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञानी विज्ञानी विद्वानो ! आप अन्यायकारी (वृत्रहणा) शत्रुओं को हनन करनेवाले हैं, आप हमारे (नवजातम्) इस नवीन (स्तोमं) यज्ञ को (जुषेथां) सेवन करें (हि) जिसलिये (उभा, वां) तुम दोनों को (सुह, वा) सुखपूर्वक बुलाने योग्य आपको (जोहवीमि) पुनः पुनः मैं बुलाता हूँ, इसलिये (ता) आप दोनों (शुचि) इस पवित्र यज्ञ को (सद्यः, उशते) कामनावाले यजमान के लिये शीघ्र ही (वाजं) बल के देनेवाला (धेष्ठा) धारण करायें ।।१।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! आप यजमानों के यज्ञ को बल देनेवाला तथा कलाकौशलादि विद्याओं से शीघ्र ही फल का देनेवाला बनायें ।।१।।

ता सानसी शवसाना हि भूतं साकंवृधा शवसा शूशुवांसा ।
क्षयन्तौ रायो यवसस्य भूरेः पृङ्क्तं वाजस्य स्थविरस्य घृष्वेः ॥२॥

ता । सानसी इति । शवसाना । हि । भूतं । साकंऽवृधा । शवसा । शूशुऽवांसा । क्षयन्तौ । रायः । यवसस्य । भूरेः । पृङ्क्तं । वाजस्य । स्थविरस्य । घृष्वेः ॥२॥

पदार्थः—(हि) यतः (ता, सानसी) तादृशौ भवन्तौ सर्वैर्भजनीयौ स्तः (शवसाना, भूतम्) ज्ञानबलेन विराजन्तौ च (साकंवृधा) स्वाभाविकबलोपपन्नौ च (शूशुवांसा) ज्ञानवृद्धौ (भूरेः, रायः) भूरिधनस्य (यवसस्य) ऐश्वर्यस्य च (क्षयन्तौ) निवासौ स्तः (स्थविरस्य) परिपक्कज्ञानस्य (वाजस्य) यद्बलं तस्येश्वरौ स्तः (घृष्वेः) शत्रुन् घर्षयितु (पृङ्क्तम्) नियुज्येते भवन्तौ ॥

पदार्थ—(हि) क्योंकि आप (सानसी) प्रत्येक पुरुष के सत्सङ्ग करने योग्य हैं और (शवसाना) ज्ञान, विज्ञान की विद्या के बल से सुशोभित (भूतं) हो और (साकंवृधा) स्वाभाविक बलवाले हो (शूशुवांसा) ज्ञानवृद्ध हो (भूरेः रायः) बहुत धन और (यवसस्य) ऐश्वर्य्य के (क्षयन्तौ) ईश्वर हो (स्थविरस्य) परिपक्क ज्ञान का जो (वाजस्य) बल है उसके स्वामी हो (घृष्वेः) अन्यायकारी दुष्टों के दमन के लिये (पृङ्क्तम्) आकर आप हमारे यज्ञ को भोगो ॥२॥

भावार्थ—यजमानों को चाहिये कि वे अपने भौतिक तथा आध्यात्मिक यज्ञों में अनुभवी विद्वानों को बुला कर उनसे शिक्षा ग्रहण करें और उनसे ज्ञान और विज्ञान की विद्याओं का काम करायें ।

यज्ञ का वास्तव में यही फल है कि उससे ज्ञान तथा विज्ञान की वृद्धि हो तथा विद्वानों की सत्सङ्गति और उनका सत्कार हो ॥२॥

उपो ह यद्विदथं वाजिनो गुर्धीभिर्विप्राः प्रमतिमिच्छमानाः ।
अर्वन्तो न काष्ठां नक्षमाणा इन्द्राग्नी जोहुवतो नरस्ते ॥३॥

उपो इति । ह । यत् । विदथं । वाजिनः । गुः । धीभिः । विप्राः । प्रऽमतिं । इच्छमानाः । अर्वन्तः । न । काष्ठां । नक्षमाणाः । इन्द्राग्नी इति । जोहुवतः । नरः । ते ॥३॥

पदार्थः—(वाजिनः) ब्रह्मविद्याविषयकबलवन्त ऋत्विजः (यत्) यस्मात् (उपो, गुः) भवत्सकाशमागच्छन्ति उ इति पूरकः (विदथम्) यज्ञं च प्राप्नुवन्ति (विप्राः) मेधाविनः धीभिः कर्मभिः (प्रमतिम्, इच्छमानाः) बुद्धिं कामयमानाः (काष्ठाम्, अर्वन्तः, न) बलिनः परां काष्ठामिव प्राप्ताः (नक्षमाणाः) कर्मज्ञानोभययोगिनः (जोहुवतः) कृतावाहूताः (ते, नरः) ते नराः संसारस्य नेतारो भवन्ति ॥३॥

पदार्थ—(वाजिनः) ब्रह्मविद्या के बलवाले ऋत्विग् लोग (यत्) जो (उपो, गुः) आपको आकर प्राप्त होते हैं और (विदथं) यज्ञ को "विदन्ति जानन्ति देवान्यत्र स विदथो यज्ञः" "जिसमें देव = विद्वानों की सङ्गति हो उसको विदथ = यज्ञ कहते हैं" **विदथ इति यज्ञनामसु-पठितम् निघं०** । नित्य प्राप्त होते हैं (विप्राः) मेधावी लोग (धीभिः) कर्म्मों द्वारा (**प्रमतिमि-**

च्छमानाः) बुद्धि की इच्छा करते हुए (काष्ठां, अर्वन्तः, न) जैसे कि बलवाला पुरुष अपने व्रत की पराकाष्ठा अन्त को प्राप्त होता है इस प्रकार (नक्षमाणाः) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वान् अर्थात् जो कर्म्म तथा ज्ञान में व्याप्त हैं (जोहुवतः) सत्कारपूर्व्वक यज्ञ में बुलाये हुए (ते, नरः) संसार के नेता होते हैं ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमानो ! तुम ऐसे विद्वानों को अपने यज्ञों में बुलाओ, जो कर्म्म और ज्ञान दोनों प्रकार की विद्या में व्याप्त हों और आत्मिक बल रखने के कारण दृढ़व्रती हों क्योंकि दृढ़व्रती पुरुष ही अपने लक्ष्य को प्राप्त हो सकता है, अन्य नहीं ।

इसी अभिप्राय से वेद में अन्यत्र भी कथन किया है कि "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" हे परमात्मन्, आप व्रतों के पति हैं, कृपा करके मुझे भी दृढ़व्रती होने की शक्ति दें ताकि मैं असत्य का त्याग करके सत्य पथ को ग्रहण करूं । इसी भाव का उपदेश उक्त मन्त्र में किया गया है ॥३॥

गीर्भिर्विप्रः प्रमतिमिच्छमान ईट्टे रयिं यशसं पूर्वभाजम् ।
इन्द्राग्नी वृत्रहणा सुवज्रा प्र नो नव्येभिस्तिरतं देष्णैः ॥४॥

गीःऽभिः । विप्रः । प्रऽमतिं । इच्छमानः । ईट्टे । रयिं । यशसं । पूर्वऽभाजं । इन्द्राग्नी इति । वृत्रऽहना । सुऽवज्रा । प्र । नः । नव्येभिः । तिरतं । देष्णैः ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) कर्मयोगिन् ज्ञानयोगिन् ! भवन्तौ (विप्रः) मेधावी नरः (ईट्टे गीर्भिः) अतः स्तुतिभिः स्तौति यतो भवन्तौ (वृत्रहणा) मोहनाशकौ स्तः (सुवज्रा) शोभनविद्यारूपशस्त्रहस्तौ च (प्रमतिम्, इच्छमानः) स च स्तोता बुद्धिकामयमानोऽतः स्तौति (रयिम्) धनम् (यशसम्) कीर्तिम् च (पूर्वभाजम्) प्रथममेव भजनीयं (देष्णेभिः) दातव्यैः (नव्येभिः) नूतनैः (प्रतिरतम्) पूर्वोक्तपदार्थैः नो वर्धयताम् ॥४॥

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आपकी (ईट्टे) स्तुति (विप्रः) बुद्धिमान् लोग इसलिये करते हैं कि आप (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करनेवाले हैं (सुवज्रा) सुन्दर विद्यारूपी शस्त्र आपके हाथ में है (प्रमतिमिच्छमानः) बुद्धि की इच्छा करते हुए (गीर्भिः) सुन्दर वाणियों से तुम्हारी स्तुति विद्वान् लोग करते हैं और (रयिं) धन की इच्छा करते हुए तथा (यशसं) यश की इच्छा करते हुए जो (पूर्वभाजं) सबसे प्रथम भजने योग्य अर्थात् प्राप्त करने योग्य है (देष्णैः) देने योग्य (नव्येभिः) नूतन धनों से (प्रतिरतं) हमको आप बढ़ाएँ ।

भावार्थ—यश और ऐश्वर्य्य के चाहनेवाले लोगों को चाहिये कि कर्म्मयोगी और ज्ञानयोगी पुरुषों को अपने यज्ञों में बुलाएँ और बुलाकर उनसे सुमति की प्रार्थना करें, क्योंकि विद्वानों के सत्कार के बिना किसी देश में भी सुमति उत्पन्न नहीं हो सकती । इसी अभिप्राय से परमात्मा ने इस मन्त्र में विद्वानों से सुमति लेने का उपदेश किया है ॥४॥

सं यन्मही मिथती स्पर्धमाने तनूरुचा शूरसाता यतैते ।
अदेवयुं विदथे देवयुभिः सत्रा हतं सोमसुता जनेन ॥५॥१५॥

सं । यत् । मही इति । मिथती इति । स्पर्धमाने इति । तनूऽरुचा । शूरऽसाता । यतैते इति । अदेवऽयुं । विदथे । देवयुऽभिः । सत्रा । हतं । सोमऽसुता । जनेन । ॥५॥१५॥

पदार्थः—हे विद्वांसः ! (सोमसुता) शुक्लबुद्धेरुत्पादयित्र्याः ओषध्याः (जनेन) निर्मात्रा जनेन वयं भवतः सत्कुर्मः (यत् एते) यतो भवन्तः (शूरसाता) शौर्यप्रधानयज्ञं रचयितारः (तनूरुचा) तनुमात्रपोषकेण सह (स्पर्धमाने) ईर्ष्यितारः सन्ति (मही) महति (मिथती) युद्धे निपुणाश्च (विदथे) यज्ञे (सं, सत्रा, हतं,) अविद्यादिदोषरहितम् (अदेवयुम्) परमात्मस्वभावम् (देवयुभिः) ज्ञानिजनसंगत्या प्राप्ताश्च ।।५।।

पदार्थ—विद्वानो, (सोमसुता) सौम्यस्वभाव को उत्पन्न करनेवाले ओषधियों को बनानेवाले (जनेन) मनुष्य द्वारा हम आपका सत्कार करते हैं, (यत्) जो आप (शूरसाता) वीरतारूपी यज्ञों के रचयिता हैं (तनूरुचा) केवल तनुपोषक लोगों के साथ (स्पर्धमाने) स्पर्धा करनेवाले हैं (मही) बड़े-बड़े (मिथती) युद्धों में आप निपुण हैं (विदथे) आध्यात्मिक यज्ञों में (सं, सत्रा, हतं) अविद्यादिदोषरहित (अदेवयुम्) परमात्मा के स्वभाव को (देवयुभिः) ज्ञानी पुरुषों की सङ्गति से आप प्राप्त हैं ।

भावार्थ—इस मन्त्र में आध्यात्मिक ज्ञान का उपदेश किया है कि हे विद्वान् पुरुषो ! तुम लोग आहार व्यवहार द्वारा सौम्यस्वभाव बनानेवाले विद्वानों का सङ्ग करो तथा जो पुरुष ज्ञानयोगी हैं उनकी सङ्गति में रह कर अपने आपको परमात्मपरायण बनाओ ।।५।।

इमामु षु सोमसुतिमुप न एन्द्राग्नी सौमनसाय यातम् ।
नू चिद्धि परिमम्नाथे अस्माना वां शश्वद्भिर्ववृतीय वाजैः ।।६।।

इमां । ऊं इति । सु । सोमऽसुतिं । उप । नः । आ । इन्द्राग्नी इति । सौमनसाय । यातं । नु । चित् । हि । परिमम्नाथे इति परिऽमम्नाथे । अस्मान् । आ । वां । शश्वत्ऽभिः । ववृतीय । वाजैः ।।६।।

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञानविज्ञानविद्यावेत्तारः ! (नः) अस्माकम् (इमाम्) इदम् (सोमसुतिम्) विज्ञानविद्याया यन्त्रनिर्माणस्थानम् (सौमनसाय) अस्मन्मनः प्रसादाय (उपयातम्) आगत्य पश्यत (हि) यतः (अस्मान्) अस्मान्सर्वान् (आ) सम्यक् (नु, चित्) निश्चयेन (सु, परिमम्नाथे) आत्मसात्कुर्वन्ति भवन्तः, वयं च (वाजैः) उपयुक्तसत्कारैः (शश्वद्भिः) अनेकैः (ववृतीय) निमन्त्रयामः (वाम्) युष्मान् ।।

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञान विज्ञान विद्याओं के ज्ञाता विद्वानो ! (नः) हमारे (इमां) इस (सोमसुतिं) विज्ञानविद्या के यन्त्रनिर्माण स्थान को (सौमनसाय) हमारे मन की प्रसन्नता के लिए (उपयातं) आकर दृष्टिगोचर करें । (हि) क्योंकि (अस्मान्) हमको (आ) सब प्रकार से (नु, चित्) निश्चय करके (सु, परिमम्नाथे) आप अपनाते हैं और (वां) आपको हम लोग (वाजैः) आपके योग्य सत्कारों से (शश्वद्भिः) निरन्तर (ववृतीय) निमन्त्रित करते हैं ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे यजमानो ! आप लोग ज्ञान विज्ञान के ज्ञाता विद्वानों को अपनी विज्ञानशालाओं में बुलाएँ क्योंकि ज्ञान तथा विज्ञान से बढ़कर मनुष्य के मन को प्रसन्न करनेवाली संसार में कोई अन्य वस्तु नहीं, इसलिए तुम विद्वानों की सत्संगति से मन के (सौमनस्य) अर्थात् विज्ञानादि भावों को बढ़ाओ, यही मनुष्य जन्म का सर्वोपरि फल है ।

सायणाचार्य्य ने यहाँ (मन्त्र) के अर्थ मेरे ही यज्ञ में आने के किये हैं, सो ठीक नहीं क्योंकि यज्ञान्त में ऋत्विगादि विद्वान् और यजमान मिलकर परमात्मा से पापनिवृत्यर्थ यह प्रार्थना करें ।।६।।

सो अ॑ग्न ए॒ना नम॑सा॒ समि॒द्धोऽच्छा॑ मि॒त्रं वरु॑ण॒मिन्द्रं॑ वोचेः ।
यत्सी॒माग॑श्चकृ॒मा तत्सु मृ॑ळ॒ तद॑र्य॒मादि॑तिः शिश्रथन्तु ॥७॥

सः । अ॒ग्ने॒ । ए॒ना । नम॑सा । सम्ऽइ॑द्धः । अच्छ॑ । मि॒त्रं । वरु॑णं । इन्द्रं॑ । वो॒चेः । यत् । सीं॑ । आग॑ः । च॒कृ॒म । तत् । सु । मृ॒ळ॒ । तत् । अ॒र्य॒मा । अदि॑तिः । शि॒श्र॒थ॒न्तु॒ ॥७॥

पदार्थः—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! भवान् (नमसा) विनयेन (समिद्धः) प्रसन्नः सन् (इन्द्रम् मित्रं, वरुणं,) अध्यापकानुपदेशकांश्च श्रेष्ठान् (अच्छ, वोचेः) इदमुपदिश यत् ते यजमानं पापकर्मणः (शिश्रथन्तु) वियोजयन्तु (यत्, सीम्) यत् किञ्चित् (आगः) पापम् (चकृम) अकृष्महि (तत्) तत् पापकर्म (सु, मृळ) अपहृत्य शुष्कयन्तु (अर्यमा) तन्निवृत्तिं च न्यायकारिणः (अदितिः) विभोश्च परमात्मनः वाञ्छामः ॥७॥

पदार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (सः) आप (नमसा) विनय से (समिद्धः) प्रसन्न हुए (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं) श्रेष्ठ अध्यापक और उपदेशक को (अच्छ, वोचेः) यह श्रेष्ठ उपदेश करो कि वे लोग यजमानों से पापकर्मों को (शिश्रथन्तु) वियुक्त करें और (यत्) जो (सीं) कुछ हम ने (आगः) पापकर्म्म (चकृम) किये हैं (तत्) वह (सुमृळ) दूर करें और उनकी निवृत्ति हम (अर्य्यमा) न्यायकारी और (अदितिः) अखण्डनीय परमात्मा से न्यायपूर्वक चाहते हैं ॥७॥

भावार्थ—पापों की निवृत्ति पश्चात्ताप से होती है, परमात्मा जिस पर अपनी कृपा करते हैं वही **पुरुष** अपने मन से पापों की निवृत्ति के लिये प्रार्थना करता है, अर्थात् मनुष्य में परमात्मा की कृपा से विनीतभाव आता है अन्यथा नहीं; यहां सञ्चित और क्रियमाण कर्म्मों की निवृत्ति से तात्पर्य्य है, प्रारब्ध कर्म्मों से नहीं ॥७॥

ए॒ता अ॑ग्न आशु॒षा॒णास॑ इ॒ष्टीर्यु॒वोः सचा॒भ्य॑श्याम॒ वाजा॑न् ।
मेन्द्रो॑ नो॒ विष्णु॑र्म॒रुतः॒ परि॑ ख्यन्यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥८॥

ए॒ताः । अ॒ग्ने॒ । आ॒शु॒षा॒णासः॑ । इ॒ष्टीः । यु॒वोः । सचा॑ । अ॒भि । अ॒श्या॒म॒ । वाजा॑न् । मा । इन्द्रः॑ । नः॒ । विष्णुः॑ । म॒रुतः॑ । परि॑ । ख्य॒न् । यू॒यं । पा॒त॒ । स्व॒स्तिऽभिः॑ । सदा॑ । नः॒ ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्रः) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (विष्णुः) सर्वव्यापकः (एताः मरुतः) सर्वरक्षकः (नः) अस्मान् (मा) न (परिख्यन्) त्यजेत् (अग्ने) हे कर्मयोगिन् विद्वन्, (आशुषाणासः) भवता सहचारेण (युवोः) भवतः (इष्टीः) ज्ञानयज्ञं भवतः सहचारित्वं च (सचाभ्यश्याम) कदापि नो जह्याम् (वाजान्) भवतो बलप्रदोपदेशान् कदापि न त्यजेयम् (यूयम्) भवन्तः (स्वस्तिभिः) कल्याणवाग्भिः (सदा) निरन्तरं (नः) अस्मान् (पात) रक्षन्तु ॥८॥

इति त्रिनवतितमं सूक्तं षोडशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(इन्द्रः) सर्वशक्तिमान् (विष्णुः) सर्वव्यापक (एताः, मरुतः) सर्वरक्षक परमात्मा (नः) हमको (मा) मत (परिख्यन्) छोड़े, (अग्ने) हे कर्म्मयोगिन् तथा ज्ञानयोगिन् विद्वन्, (आशुषाणासः) आपकी संगति में रहते हुए हमको (युवोः) आपकी (इष्टीः) यह ज्ञानयज्ञ और आपकी सङ्गति को हम लोग (सचाभ्यश्याम) कभी न छोड़ें तथा (वाजान्) आपके बलप्रद उपदेशों का हम कदापि त्याग न करें, और ईश्वर की कृपा से (यूयं) आप लोग (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवचनों से (नः) हमको (सदा) सदैव (पात) पवित्र करें ॥८॥

भावार्थ—इस मन्त्र में इस बात की शिक्षा है कि पुरुष को चाहिये कि वह सत्पुरुषों की सङ्गति से बाहर कदापि न रहे और ईश्वर परमात्मा के आगे हृदय खोल कर निष्पाप होने की सदैव प्रार्थना किया करे, इसी से मनुष्य का कल्याण होता है। केवल अपने उद्योग के भरोसे पर ईश्वर और विद्वान् पुरुषों की (उपेक्षा) अर्थात् उनमें उदासीन दृष्टि कदापि न करे ॥८॥

९३वां सूक्त १६वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ द्वादशर्चस्य चतुर्नवतितमस्य सूक्तस्य—
१–१२ वसिष्ठ ऋषिः ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ छन्दः १, ३, ८, १०, आर्षी निचृद् गायत्री २, ४–६, ७, ६, ११ आर्षी गायत्री । १२ आर्षी निचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः १–११ षड्जः । १२ गान्धारः ॥

अथ सद्गुणान् ग्रहीतुं यज्ञेषु कर्मयोग्यादीनामावाहनमुपदिश्यते—

अब सद्गुणों के ग्रहण के लिये कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगियों का यज्ञ में आवाहन कथन करते हैं—

इयं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः ।
अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥१॥

इयम् । वाम् । अस्य । मन्मनः । इन्द्राग्नी इति । पूर्व्यऽस्तुतिः । अभ्रात् । वृष्टिःऽइव । अजनि ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगिन् ज्ञानयोगिंश्च विद्वांसौ ! (वाम्) युवयोः (इयं) क्रियमाणा (पूर्व्यस्तुतिः) मुख्यस्तुतिः (अभ्रात्) मेघमण्डलात् (वृष्टिः, इव) वर्षणमिव (अजनि) सद्भावमुत्पादयति (अस्य, मन्मनः) अस्य स्तुतिकर्तुर्हृदयमपि शोधयति ॥

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! (वां) आपकी (इयं) यह (पूर्व्यवंस्तुतिः) मुख्यस्तुति (अभ्रात्) मेघमण्डल से (वृष्टिः, इव) वृष्टि के समान (अजनि) सद्भावों को उत्पन्न करती है (अस्य) इस (मन्मनः) स्तोता के हृदय को भी शुद्ध करती है ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो लोग अपने विद्वानों के सद्गुणों को वर्णन करते हैं, वे मानों सद्गुणकीर्तनरूप वृष्टि से अङ्कुरों के समान प्रादुर्भाव को प्राप्त होते हैं ॥

तात्पर्य्य यह है कि जब जिज्ञासु लोगों की वृत्ति विद्वानों के सद्गुणों की ओर लगती है तब वे स्वयं भी सद्भावसम्पन्न होते हैं और प्रजा में भी सद्भावों की वृष्टि करते हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह विद्वानों के गुणों का कीर्तन करे ।।१।।

शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी वनतं गिरः ।
ईशाना पिप्यतं धियः ।।२।।

शृणुतं । जरितुः । हवं । इन्द्राग्नी इति । वनतं । गिरः । ईशाना । पिप्यतं । धियः ।।२।।

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे विद्वांसौ पूर्वोक्तौ ! भवन्तौ (जरितुः) जिज्ञासूनाम् (हवम्) आह्वानम् (शृणुतम्) आकर्णयताम् (ईशाना) ऐश्वर्यसम्पन्ना भवन्तः (गिरः) तद्वाणीः (वनतम्) शोधयताम् तथा तेषाम् (धियः) बुद्धीः (पिप्यतम्) वर्द्धयतां च ।।२।।

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (जरितुः) जिज्ञासु लोगों के (हवं) आह्वानों को (शृणुतं) सुनें, (ईशाना) ऐश्वर्य्यसम्पन्न आप (गिरः) उनकी वाणियों को (वनतं) संस्कृत अर्थात् शुद्ध करें और उनके (धियः) कर्मों को (पिप्यतं) बढ़ायें ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! तुम अपने जिज्ञासुओं की वाणिओं पर ध्यान दो और उनके कर्मों के सुधार के लिए उनको सदुपदेश दो, ताकि वे सत्कर्मी बन कर संसार का सुधार करें ।।२।।

सम्प्रत्युक्त विदुषां सद्गुणग्रहणं कथ्यते—

अब उक्त विद्वानों से सद्गुणों का ग्रहण करना कथन करते हैं—

मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये ।
मा नो रीरधतं निदे ।।३।।

मा । पापऽत्वाय । नः । नरा । इन्द्राग्नी इति । मा । अभिऽशस्तये । मा । नः । रीरधतं । निदे ।।३।।

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मज्ञानोभययोगिनौ विद्वांसौ ! भवन्तौ (नरा) शुभमार्गनेतारौ स्तः अतः भवत्सुसंसर्गेण (अभिशस्तये) दमनयोग्यः (मा) न स्याम्, तथा (नः) मां (मा, रीरधतम्) हिंसकं मा कार्ष्टाम् (निदे) निन्दकम् (पापत्वाय) पापाचारिणं च माम् (मा) मा कार्ष्टाम् ।।३।।

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (नरा) शुभमार्गों के नेता हैं; आपके सत्सङ्ग से (अभिशस्तये) शत्रुदमन के योग्य हम (मा) मत हों और (नः) हमको (मा, रीरधतं) हिंसा के भागी न बनायें और (निदे) निन्दा के भागी मत बनायें (पापत्वाय) पाप के लिए हमारा जीवन (मा) मत हो ।।

भावार्थ—विद्वानों से मिलकर जिज्ञासुओं को यह प्रार्थना करनी चाहिए कि आपके सङ्ग से हम में ऐसा बल उत्पन्न हो कि हमको शत्रु कभी दबा न सकें और हम कोई ऐसा काम न करें, जिससे हमारी संसार में निन्दा हो । और हमारा मन कदापि पाप की ओर न जाय ।।३।।

इन्द्रे॑ अ॒ग्ना नमो॑ बृ॒हत्सु॑वृ॒क्तिमेर॑यामहे ।
धि॒या धेना॑ अव॒स्यव॑: ॥४॥

इन्द्रे॑ । अ॒ग्ना । नम॑: । बृ॒हत् । सु॒ऽवृ॒क्तिं । आ । ई॒र॒या॒म॒हे॒ । धि॒या । धेना॑: । अ॒व॒स्यव॑: ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रे) वयं कर्मयोगिनं (अग्ना) ज्ञानयोगिनं च (नमः) नमस्कुर्याम तथा (बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे) ताभ्यां सह नम्रीभूय समाचरेम (धिया, धेनाः) अनुष्ठानरूपवाण्या (अवस्यवः) रक्षायै तौ याचेमहि च ॥४॥

पदार्थ—हम (इन्द्रे) कर्मयोगी (अग्ना) ज्ञानयोगी के लिए (नमः) नमस्कार करें और (बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे) हम उनके साथ बड़ी नम्रतापूर्वक बर्ताव करें। (धिया धेनाः) अनुष्ठान-रूपवाणी से हम उनसे (अवस्यवः) रक्षा की याचना करें ॥

भावार्थ—जो लोग विद्वानों के साथ रह कर अपनी वाणी को अनुष्ठानमयी बनाते हैं अर्थात् कर्मयोगी बन कर उक्त विद्वानों की सङ्गति करते हैं वह संसार में सदैव सुरक्षित होते हैं ॥४॥

ता हि शश्व॑न्त॒ ईळ॑त इ॒त्था विप्रा॑स ऊ॒तये॑ ।
स॒बाधो॑ वाज॑सातये ॥५॥

ता । हि । शश्व॑न्तः । ईळ॑ते । इ॒त्था । विप्रा॑सः । ऊ॒तये॑ । स॒ऽबाधः॑ । वाज॑ऽसातये ॥५॥

पदार्थः—(विप्रासः) मेधाविनः (ऊतये) स्वरक्षायै (इत्था) इत्थम् (शश्वतः) सदैव (ता हि) निश्चयेन (सबाधः, वाजसातये) विघ्नबाधिता स्वबलाय सुखाय च (ईळते) ज्ञानयोगिनं कर्मयोगिनं च स्तुवन्ति ॥५॥

पदार्थ—(सबाधः) पीड़ित हुए (वाजसातये) यज्ञों में (विप्रासः) मेधावी लोग (ऊतये) अपनी रक्षा के लिए (इत्था) इस प्रकार (शश्वन्तः) निरन्तर (ता, हि) निश्चय करके उक्त कर्मयोगी, ज्ञानयोगी की (ईळते) स्तुति करते हैं ॥

भावार्थ—जो लोग इस भाव से यज्ञ करते हैं कि उनकी बाधायें निवृत्त होवें, अपने यज्ञों में कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानों को अवश्यमेव बुलायें, ताकि उनके सत्सङ्ग द्वारा ज्ञान और कर्म से सम्पन्न होकर सब बाधाओं को दूर कर सकें ॥५॥

ता वां॑ गी॒र्भिर्वि॑प॒न्यव॒: प्रय॑स्वन्तो हवामहे ।
मे॒धसा॑ता सनि॒ष्यव॑: ॥६॥१७॥

ता । वां॒ । गी॒ःऽभिः । वि॒प॒न्यव॑: । प्रय॑स्वन्तः । ह॒वा॒म॒हे॒ । मे॒धऽसा॑ता । स॒नि॒ष्यव॑: ॥६॥१७॥

पदार्थः—(सनिष्यवः) आत्मानमुन्निनीषवः (विपन्यवः) साहित्यमिच्छन्तश्च वयं (प्रयस्वन्तः) प्रयत्नवन्तो भूत्वा (ता, वां) कर्मज्ञानोभययोगिनं (मेधसाता) स्वयज्ञेषु (गीर्भिः) स्वनम्रवाग्भिः (हवामहे) आह्वयामः सदुपदेशार्थम् ॥६॥

पदार्थ—(सनिष्यवः) अभ्युदय चाहनेवाले (विपन्यवः) साहित्य चाहनेवाले हम (प्रयस्वन्तः) अनुष्ठानी बन कर (ता, वां) कर्मयोगी और ज्ञानयोगी को (मेधसाता) अपने यज्ञों में गीर्भिः) अपनी नम्र वाणियों से (हवामहे) बुलाते हैं ताकि वे आकर हमको सदुपदेश करें ॥

भावार्थ—संसार में अभ्युदय और शोभन साहित्य उन्हीं लोगों का बढ़ता है, जो लोग अपने यज्ञों में सदुपदेष्टा कर्मयोगी और ज्ञानयोगियों को बुलाकर सदुपदेश सुनते हैं ॥६॥

इन्द्राग्नी अवसा गतमस्मभ्यं चर्षणीसहा ।
मा नो दुःशंस ईशत ॥७॥

इन्द्राग्नी इति । अवसा । आ । गतं । अस्मभ्यं । चर्षणिऽसहा । मा । नः । दुःऽशंसः । ईशत ॥७॥

पदार्थः—(चर्षणीसहा) हे दुष्टनाशकाः (इन्द्राग्नी) कर्मयोगिनो ज्ञानयोगिनश्च विद्वांसः ! भवन्तः (अवसा) सहैश्वर्येण (आगतम्) आयान्तु, (दुःशंसः) दुष्टाः (नः) अस्माकम् (मा, ईशत) अभिभवितारो न स्युः ॥७॥

पदार्थ—(चर्षणीसहा) हे दुष्टों के दमन करनेवाले (इन्द्राग्नी) कर्मयोगी ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (अवसा) ऐश्वर्य्य के साथ (आगतं) हमारे यज्ञों में आवें और हमारे (दुःशंसः) शत्रु (नः) हमको (मा, ईशत) न सतावें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि याज्ञिक लोगो ! तुम अपने यज्ञों में ऐसे विद्वानों को बुलाओ जो दुष्टों के दमन करने और ऐश्वर्य्य के उत्पन्न करने में समर्थ हों ॥७॥

मा कस्य नो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य ।
इन्द्राग्नी शर्म यच्छतम् ॥८॥

मा । कस्य । नः । अररुषः । धूर्तिः । प्रणक् । मर्त्यस्य । इन्द्राग्नी । शर्म । यच्छतम् ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे पूर्वोक्ता विद्वांसः ! (कस्य) कस्यचिदपि (अररुषः, मर्त्यस्य) दुष्टमनुजस्य (धूर्तिः) अनिष्टैषिणम् (नः) माम् (मा, प्रणक्) मा विदधतु (शर्म) सुखं च (यच्छतम्) ददतु ॥८॥

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानो ! (कस्य) किसी (अररुषो मर्त्यस्य) दुष्ट मनुष्य का भी (नः) हमको (धूर्तिः) अनिष्टचिन्तन करनेवाला (मा प्रणक्) मत बनाएँ और (शर्म) शमविधि (यच्छतं) दें ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जिज्ञासु जनो ! तुम अपने विद्वानों से 'शमविधि' की शिक्षा लो अर्थात् तुम्हारा मन किसी में भी दुर्भावना का पात्र न बने किन्तु तुम सबके कल्याण की सदैव इच्छा करो । इस भाव को अन्यत्र भी वर्णन किया है कि "मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" यजु० तुम सबको मित्रता की दृष्टि से देखो ॥८॥

गोमद्धिरण्यवद्वसु यद्वामश्वावदीमहे ।
इन्द्राग्नी तद्वनेमहि ॥९॥

गोऽमत् । हिरण्यऽवत् । वसु । यत् । वां । अश्वऽवत् । ईमहे । इन्द्राग्नी इति । तत् । वनेमहि ॥९॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे ज्ञानयोगिन् कर्मयोगिन् च ! भवत्सदुपदेशेनाहम् (गोमत्) गोसमृद्धम्, (हिरण्यवत्) सुवर्णसमृद्धम् (अश्वावत्) अश्वसमृद्धं च (यद्, वसु) यद्धनम् तदवाप्तये (ईमहे) प्रार्थयामहे (तद्, वनेमहि) तदवाप्नुयाम ॥९॥

पदार्थ—(इन्द्राग्नी) हे कर्मयोगी, ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप के सदुपदेश से हम (हिरण्यवत्) रत्न, (अश्वावत्) अश्व, (गोमत्) गौवें इत्यादि अनेक प्रकार के (यद् वसु) जो धन हैं उनकी प्राप्ति के लिए हम (ईमहे) यह प्रार्थना करते हैं कि (तद्, वनेमहि) उनको हम प्राप्त हों ॥

भावार्थ—उक्त विद्वानों के सदुपदेश से हम सब प्रकार के धनों को प्राप्त हों ॥९॥

यत्सोम आ सुते नर इन्द्राग्नी अजोहवुः ।
सप्तीवन्ता सपर्यवः ॥१०॥

यत् । सोमे । आ । सुते । नरः । इन्द्राग्नी इति । अजोहवुः । सप्तिऽवन्ता । सपर्यवः ॥१०॥

पदार्थः—(इन्द्राग्नी) हे कर्मज्ञानयोगिनौ ! (नरः) यज्ञस्य नेतारः ऋत्विगादयः (यत्) यदा (सोमे, सुते) सोमरसे सिद्धे (सपर्यवः) भवदुपासकाः (अजोहवुः) आह्वयेयुः (सप्तीवन्ताः) तदा सदुपदिश्य तान् सप्तविधैरनेकाविधैर्धनैर्योजयताम् ॥१०॥

पदार्थ—हे (इन्द्राग्नी) कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! (नरः) यज्ञों के नेता ऋत्विगादि, (यत्) यदा जब (सोमे) सोम औषधि के (सुते) बनने के समय (सपर्यवः) आपके उपासक जब उक्त समय में (अजोहवुः) आपको बुलाएँ तो आप वहाँ जाकर उनको सदुपदेश करें, (सप्तीवन्तः) आप ज्ञानसंपन्न हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! आप ऋत्विगादिक विद्वानों के यज्ञों में जाकर उनकी शोभा को अवश्यमेव बढ़ाएँ ॥१०॥

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा ।
आङ्गूषैराविवासतः ॥११॥

उक्थेभिः । वृत्रहन्ऽतमा । या । मन्दाना । चित् । आ । गिरा । आङ्गूषैः । आऽविवासतः ॥११॥

पदार्थः—(वृत्रहन्तमा) हे अज्ञाननाशकौ ज्ञानकर्मयोगिनौ ! (उक्थेभिः) परमात्मस्तुतिपरकैर्वेदमन्त्रैः (मन्दाना) प्रसीदन्तः (चिदा) अथवा (गिरा) भवदाह्वानप्रयोज्यवाग्भिः (आङ्गुषैः) तारमुच्चार्यमाणाभिः (आविवासतः) समेत्य ज्ञानकर्मयज्ञं विभूषयताम् ॥११॥

पदार्थ—(वृत्रहन्तमा) हे अज्ञान के नाश करनेवाले कर्म्मयोगी तथा ज्ञानयोगी विद्वानो ! आप (उक्थेभिः) परमात्मस्तुतिविधायक वेदमन्त्रों द्वारा (मन्दाना) प्रसन्न होते हुए (चिदा) अथवा (गिरा) आपके आवाहनविधायक वाणियों से (आङ्गूषैः) जो उच्चस्वर से पढ़ी गई हैं उनसे आकर ज्ञानयज्ञ तथा कर्म्मयज्ञ को अवश्यमेव विभूषित करें ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कर्मयोगी और ज्ञानयोगियों से अज्ञान के नाश करने की प्रार्थना का विधान है ॥११॥

ताविद्दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम् ।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम् ॥१२॥१८॥

तौ । इत् । दुःऽशंसं । मर्त्यं । दुःऽविद्वांसं । रक्षस्विनं । आऽभोगं । हन्मना । हतं । उदऽधिं । हन्मना । हतम् ॥१२॥१८॥

पदार्थः—(इद्दुःशंसम्) हे विद्वांसः ! दुष्ट पुरुषान् (दुर्विद्वांसम्) वेदे दुरूपयोगं निरूपयतः (रक्षस्विनम्) रक्षःस्वभावान् (आभोगम्) बलवदादाय परद्रव्यस्य भोक्तॄन् (हन्मना) स्वशस्त्रविद्यया (हतम्) नाशयत यथा (उदधिम्) समुद्रः (हन्मना) विद्वन्निर्मितयन्त्रेण (हतम्) मथ्यते तद्वत् ॥१२॥

चतुर्नवतितमं सूक्तमष्टादशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—हे विद्वानो, आप (इद्दुःशंसं) दुष्ट पुरुषों को जो (दुर्विद्वांसं) विद्या का दुरुपयोग करते हैं उनको (रक्षस्विनं) जो राक्षसभावोंवाले हैं (आभोगं) अन्य अधिकारियों से छीन कर जो स्वयं भोग करते हैं (हन्मना) उनको अपनी विद्या से (हतम्) नाश करो, जिस प्रकार (उदधिम्) समुद्र, विद्वानों की विद्या द्वारा (हन्मना, हतम्) यन्त्रों से मथा जाता है इस प्रकार आप अपने विद्याबल से राक्षसों का दमन करो ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! आप राक्षसी वृत्तिवाले दुष्टाचारी पुरुषों का अपने विद्याबल से नाश करो क्योंकि अन्यायाचारी अधर्म्मात्माओं का दमन विद्याबल से किया जा सकता है, अन्यथा नहीं, अतः आप इस संसार में से पापपिशाच को विद्याबल से भगाओ ॥१२॥

९४वां सूक्त और १८वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ षड्वचस्य पञ्चनवतितमस्य सूक्तस्य—

१-६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १, २, ४-६ सरस्वती, ३ सरस्वान् देवता ॥ छन्दः १ पादनिचृत् त्रिष्टुप् । २, ५, ६ आर्षी त्रिष्टुप् ३, ४ विराट् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ सरस्वतीपदवाच्याया ब्रह्मविद्याया गुणा उपदिश्यन्ते—

अब प्रसङ्गसंगति से सरस्वती देवी विद्या को वर्णन करते हैं, जिसकी प्राप्ति से पुरुष कर्मयोगी और ज्ञानयोगी बनते हैं—

प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः ।
प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥१॥

प्र । क्षोदसा । धायसा । सस्रे । एषा । सरस्वती । धरुणं । आयसी । पूः । प्रऽबाबधाना । रथ्याऽइव । याति । विश्वाः । अपः । महिना । सिन्धुः । अन्याः ।
॥१॥

पदार्थः—(सरस्वती) सरस्वती विद्या (धरुणाम्) अखिलज्ञानाधारोऽस्ति (आयसी) लोहमिव दृढा चास्ति (पूः) अभ्युदये च नगरीव (प्र, क्षोदसा) अज्ञाननाशकेन (धायसा) वेगेन (सस्रे) सततप्रवाहेण संसारं सिञ्चतीव (एषा) इयं ब्रह्मविद्यात्मिका (प्र, बाबधाना) अत्यन्त वेगेन (रथ्या, इव) नदीव (याति) गच्छति तथा (महिना) स्वमहिम्ना (सिन्धुः) स्यन्दमाना (विश्वा, अपः) सर्वजलानां नेत्री (अन्याः) इतराऽस्ति ॥१॥

पदार्थ—(सरस्वती) यह निघण्टु २।२३। ५७ वाणी के नामों में पढ़ा है, इसलिए सरस्वती यहां विद्या का नाम है। व्युत्पति इसकी इस प्रकार **"सरो ज्ञानं विद्यतेऽस्या असौ सरस्वती"** जो ज्ञानवाली हो उसका नाम सरस्वती है। सरस्वती विद्या (धरुणम्) सब ज्ञानों का आधार है (आयसी) ऐसी दृढ़ है कि मानों लोहे की बनी हुई है (पूः) सब प्रकार के अभ्युदयों के लिए एक पुरी के सदृश है (प्र, क्षोदसा) अज्ञानों के नाश करनेवाले (धायसा) वेग से (सस्रे) अनवरत प्रवाह से संसार को सिञ्चन कर रही है (एषा) यह ब्रह्मविद्यारूप (प्र, बाबधाना) अत्यन्त वेग से (रथ्या, इव) नदी के समान (याति) गमन करती और (महिना) अपने महत्त्व से (सिन्धुः) स्यन्दन करती हुई (विश्वा, अपः) सब जलों को ले जानेवाली (अन्याः) और है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! ब्रह्मविद्यारूपी नदी सब प्रकार के अज्ञानादि पाप पङ्कों को बहा ले जाती है और यही नदी भुवनत्रय को पवित्र करती अर्थात् अन्य जो भौतिक नदियें हैं वे किसी एक प्रदेश को पवित्र करती हैं और यह सबको पवित्र करनेवाली है, इसलिए इसकी उनसे बिलक्षणता है। तात्पर्य यह है कि यह विद्यारूपी नदी आध्यात्मिक पवित्रता का संचार और भौतिक नदी बाह्य पवित्रता का संचार करती है।

कई एक टीकाकारों ने सरस्वती शब्द के वास्तविक अर्थ को न समझ कर यहां भौतिक नदी के अर्थ किये हैं, उन्होंने अत्यन्त भूल की है जो निघण्टु में ५७ प्रकार के वाणी के अर्थों में रहते हुए भी सरस्वती शब्द को एक जलनदी के अर्थों में लगा दिया। इस प्रकार की भारी

भूलों के भरजाने से ही वेदार्थ कलङ्कित हो रहा है। अस्तु। सरस्वती शब्द से यहां ब्रह्म-विद्यारूपी नदी ग्रहण है। मालूम होता है कि वेद के ऐसे गूढ़स्थलों को न समझने से ही भारतवर्ष में नादियों की पूजा होने लग गयी ॥१॥

एकाचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय ॥२॥

एका। अचेतत्। सरस्वती। नदीनाम्। शुचिः। यती। गिरिऽभ्यः। आ। समुद्रात्। रायः। चेतन्ती। भुवनस्य। भूरेः। घृतं। पयः। दुदुहे। नाहुषाय ॥२॥

पदार्थः—(नदीनाम्) आसु भौतिकनदीषु (एका) नदी (सरस्वती, अचेतत्) सरस्वतीरूपेण सत्वमलब्ध तथा या (गिरिभ्यः) गिरेः निःसृत्य (आसमुद्रात्) समुद्रपर्यन्तमेति सा (रायः, चेतन्ती) धनस्य दात्री (शुचिः, यती) पवित्ररूपेण वहन्ती तथा च सा (भुवनस्य) संसारस्य (नाहुषाय) मनुष्यान् (भूरेः) बहुतरेण (घृतम्) जलेन (पयः) क्षीरेण च (दुदुहे) पिपर्ति ॥२॥

पदार्थ—(नदीनाम्) इन भौतिक नदियों के मध्य में (एका) एक ने (सरस्वती, अचेतत्) सरस्वतीरूप से सत्ता को लाभ किया, अर्थात् **"सरांसि सन्ति यस्याः सा सरस्वती"** जिस में बहुत सी क्षुद्र नदियाँ मिले उनका नाम सरस्वती है और जो (गिरिभ्यः) हिमालय से निकल कर (आ, समुद्रात्) समुद्र तक जाती है, वह सरस्वती (रायः, चेतन्ती,) धन को देनेवाली है, (शुचिः यती) पवित्ररूप से बहती है और वह (भुवनस्य) सांसारिक (नाहुषाय) मनुष्यों को (भूरेः) बहुत (घृतं) जल और (पयः) दूध से (दुदुहे) पूर्ण करती है ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो! यह भौतिक नदियें केवल सांसारिक धनों को और संसार में सुखदायक जल तथा दुग्धादि पदार्थों को देती हैं, और विद्यारूपी सरस्वती आध्यात्मिक धन और ऐश्वर्य को देनेवाली है। बहुत से टीकाकारों ने इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं कि **सरस्वती नदी** नहुष राजा के यज्ञ करने के लिए संसार में आयी अर्थात् जिस प्रकार यह जनप्रवाद है कि भगीरथ के तप करने से भागीरथी गङ्गा निकली यह भी इसी प्रकार का एक अर्थवादमात्र है, क्योंकि यदि यह भी भागीरथी के समान आती तो इसका नाम भी नाहुषी, होना चाहिए था, अस्तु। इस प्रकार की कल्पित अनेक कथायें अज्ञान के समय में वेदार्थ में भर दी गयीं जिनका वेदों में गन्ध भी नहीं। क्योंकि 'नहुष' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि **"नह्यति कर्मसु इति नहुषस्तदपत्यं नाहुषः"** इससे 'नाहुष' शब्द का अर्थ यहाँ मनुष्य सन्तान है कोई राजा विशेष नहीं, इसी से निरुक्तकार ने भी कहा है कि वेदों में शब्द यौगिक और योगरूढ़ हैं, केवल रुढ़ नहीं। इस बात को सायण ने भी अपनी भूमिका में माना है फिर न मालूम क्यों यहाँ राजा विशेष मान कर एक कल्पित कथा भर दी ॥२॥

अथ प्रसङ्ग संगत्या पूर्वोक्ताध्यात्मिकविद्यारूपसरस्वत्याः ज्ञानमयत्वमुच्यते—

अब प्रसङ्गसंगति से पूर्वोक्त आध्यात्मिक विद्यारूप सरस्वती का ज्ञानरूप से कथन करते हैं—

स वावृधे नर्यो योषणासु वृषा शिशुर्वृषभो यज्ञियासु।
स वाजिनं मघवद्भ्यो दधाति वि सातये तन्वं मामृजीत ॥३॥

सः। वावृधे। नर्यः। योषणासु। वृषा। शिशुः। वृषभः। यज्ञियासु। सः। वाजिनं। मघवत्ऽभ्यः। दधाति। वि। सातये। तन्वं। ममृजीत ॥३॥

पदार्थः—(सः) स बोधः (नर्यः) मनुष्येभ्यः (योषणासु) स्त्रीभ्यश्च (वावृधे) वृद्धिमाप, तथा (यज्ञियासु) यज्ञीयबुद्धिभूमिषु (वृषा) वर्षितास्ति (शिशुः) अज्ञानच्छेदकः (वृषभः) ऋतानन्दस्य वर्षिता चास्ति, स एव च (मघवद्भ्यः) याज्ञिकेभ्यः (वाजिनम्) बलं (दधाति) प्रयच्छति, स एव च (सातये) युद्धाय (वि) निश्चयम् (तन्वम्) शरीरम् (मामृजीत) संशोध्य योग्यं करोति ।।

पदार्थ—(सः) वह बोध (नर्यः) मनुष्यों के लिए और (योषणासु) स्त्रियों के लिए (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त हुआ है, और वह बोध (यज्ञियासु) यज्ञीय बुद्धिरूपी भूमियों में (वृषा) वृष्टि करनेवाला है, और (शिशुः) अज्ञानादिकों को छेदन करनेवाला है "**श्यतिअज्ञानादिकमिति शिशुः शो तनूकरणे** (वृषभः) और आध्यात्मिक आनन्दों की वृष्टि करनेवाला है, और वही (मघवद्भ्यः) याज्ञिक लोगों को (वाजिनं) बल (दधाति) देता है और (सातये) युद्ध के लिये (तन्वं) शरीर को (विमामृजीत) मार्जन करता है ।।

भावार्थ—सरस्वती विद्या से उत्पन्न हुआ प्रबोधरूप पुत्र स्त्री पुरुष को संस्कार करके देवता बनाता है और यज्ञकर्मा लोगों को याज्ञिक बनाता है । बहुत क्या जो युद्धों में आत्मत्याग करके शूरवीर बनते हैं उनको इतने साहसी और निर्भीक एकमात्र सरस्वती विद्या से उत्पन्न हुआ प्रबोधरूप पुत्र ही शूरवीर बनाता है, अन्य नहीं ।।३।।

उत स्या नः सरस्वती जुषाणोप श्रवत्सुभगा यज्ञे अस्मिन् ।
मितज्ञुभिर्नमस्यैरियाना राया युजा चिदुत्तरा सखिभ्यः ॥४॥

उत । स्या । नः । सरस्वती । जुषाणा । उप । श्रवत् । सुऽभगा । यज्ञे । अस्मिन् । मितज्ञुऽभिः । नमस्यैः । इयाना । राया । युजा । चित् । उत्ऽतरा । सखिऽभ्यः ॥४॥

पदार्थः—(स्या, उत, सरस्वती) सा सरस्वती (नः) अस्मभ्यम् (जुषाणा) हितं चरन्ती (अस्मिन्) एतस्मिन् (यज्ञे) ऋते (श्रवत्, सुभगा) शोभमाना विराजते (नमस्यैः) स्तोतृभिः (मितज्ञुभिः) संयमीभिः (इयाना) प्राप्यमाणा (राया) धनेन (सखिभ्यः) मित्राणि (चित्, उत्तरा) उत्तरोत्तरं हि (युजा) संयोज्य वर्द्धयति ।

पदार्थ=(स्या, सरस्वती) वह सरस्वती (नः) हमारे लिए (जुषाणा) सेवन की हुई (अस्मिन्) इस ब्रह्मविद्यारूपी (यज्ञे) यज्ञ में (श्रवत्) आनन्द की वृष्टि करती है (उत) और (मितज्ञुभिः) संयमी पुरुषों द्वारा (इयाना) प्राप्त हुई (सुभगा, राया) धन से मित्रों को वृद्धियुक्त करती है (चिदुत्तरा) उत्तरोत्तर सौन्दर्य्य को देनेवाली (नमस्यैः) नमस्कार से और (सखिभ्यः) मित्रों को सदैव वृद्धियुक्त करती है ।।

भावार्थ—सरस्वती विद्या यदि संयमी पुरुषों द्वारा अर्थात् सदाचारी पुरुषों द्वारा उपदेश की जाय तो पुरुष को ऐश्वर्य्यशाली बनाती है सदा के लिए अभ्युदय सम्पन्न करती है ।।४।।

इमा जुह्वाना युष्मदा नमोभिः प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व ।
तव शर्मन्प्रियतमे दधाना उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम् ॥५॥

इमा । जुह्वानाः । युष्मत् । आ । नमःऽभिः । प्रति । स्तोमं । सरस्वति । जुषस्व । तव । शर्मन् । प्रियऽतमे । दधानाः । उप । स्थेयाम । शरणं । न । वृक्षम् ॥५॥

पदार्थः—(इमा) इमे याज्ञिकाः (जुह्वानाः) हवनं कुर्वन्तः (नमोभिः) नमोवाग्भिः (युष्मदा) त्वामाह्वयन्ति (सरस्वति) हे विद्ये ! (प्रतिस्तोमम्) प्रतियज्ञम् (जुषस्व) प्रियताम् (प्रियतमे) हे हितकारिणि ! (वृक्षं, न) वृक्षमिव (तव, शरणम्) भवतीम्, शरणम् (स्थेयाम) याम (शर्मन्) सुखं च (उप दधानाः) भुञ्जन्तः ॥५॥

पदार्थ—(इमा) ये याज्ञिक लोग (जुह्वाना) हवन करते हुए (युष्मदा) तुम्हारी प्राप्ति में रत (नमोभिः) नम्र वाणियों के द्वारा तुम्हारा आवाहन करते हैं। (सरस्वति) हे विद्ये ! (प्रतिस्तोमं) इनके प्रत्येक यज्ञ को (जुषस्व) सेवन कर। हे विद्ये ! (तव प्रियतमे) तुम्हारे प्रियपन में (शर्म्मन्) सुख को (दधाना) धारण करते हुए (उप) निरन्तर (स्थेयाम) सदैव तुम्हारी (शरणं) शरण (वृक्षः, न) आधार के समान हमको आश्रायण करे।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि, हे याज्ञिक पुरुषो ! तुम इस प्रकार विद्यारूप कल्पवृक्ष का सेवन करो जिस प्रकार धूप से संतप्त पक्षिगण आकर छायाप्रद वृक्ष का आश्रयण करते हैं एवं आप इस सरस्वती विद्या का सब प्रकार से आश्रयण करें ॥५॥

अयमु ते सरस्वति वसिष्ठो द्वारावृतस्य सुभगे व्यावः।
वर्ध शुभ्रे स्तुवते रासि वाजान्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥६॥

अयं । ऊं इति । ते । सरस्वति । वसिष्ठः । द्वारौ । ऋतस्य । सुऽभगे । वि । आवरित्यावः । वर्ध । शुभ्रे । स्तुवते । रासि । वाजान् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥६॥१९॥

पदार्थः—(सरस्वति) हे विद्ये ! (सुभगे) हे ऐश्वर्यशालिनि ! (अयं, ते, वसिष्ठः) अयं तवोपासको विद्वान् (ऋतस्य, द्वारौ, व्यावः) भवत्याः सत्यस्य द्वारं विवृणोति (शुभ्रे) हे कल्याणिनि ! (स्तुवते) स्तुतिकर्त्रे (वाजान्, रासि) विविधधनं प्रयच्छ (वर्ध) विद्वत्सु प्रसर च (यूयम्) भवती (स्वस्तिभिः) कल्याणवाग्भिः (सदा) निरन्तरं (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥६॥

॥ इति पञ्चनवतितमं सूक्तमेकोनविंशतितमो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(सरस्वति) हे ब्रह्मविद्ये ! (अयं) यह उपासक (वसिष्ठः) विद्यागुणसम्पन्न (ते) तुम्हारे (द्वारौ) द्वारों को (सुभो) हे ऐश्वर्य के देने वाली अर्थात् और पारलौकिक अभ्युदय के देने वाली वेद विद्ये ! (व्यावः) ब्रह्मवेत्ता पुरुष बोलता है, हे (शुभ्रे) कल्याणिनि ! तू (वर्ध) बढ़ (स्तुवते) जो पुरुष तुम्हारी स्तुति करते हैं उनके लिये तथा उनको (वाजान्) सम्पूर्ण प्रकार के बल दे और (यूयं) तू (स्वस्तिभिः) मङ्गल वाणियों से उनको सदा पवित्र कर।

भावार्थ—जो लोग विद्या को चाहते हैं और प्रतिदिन विद्या में रत हैं उनके ब्रह्मविद्यारूप यज्ञ के दरवाजे खुल जाते हैं तथा वे सब प्रकार के सुखों को प्राप्त होते हैं ॥६॥

॥ ९५वां सूक्त और १९वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ षण्णवतितमस्य षड्चस्य सूक्तस्य—

१–६ वसिष्ठ ऋषिः ॥ १–३ सरस्वती । ४–६ सरस्वान् देवता ॥ छन्दः १ आर्ची भुरिग्बृहती । २ आर्षी भुरिग्बृहती । ३ निचृत्पङ्क्ति । ४, ५ निचृद्गायत्री । ६ आर्षी गायत्री ॥ स्वरः १, २ मध्यमः । ३ पञ्चमः । ४–६ षड्जः ॥

अथोक्त विद्यां नदीरूपेण वर्ण्यते—

अब उक्त विद्या को नदी का रूपक बांध कर वर्णन करते हैं—

बृहदु गायिषे वचोऽसुर्या नदीनाम् ।
सरस्वतीमिन्महया सुवृक्तिभिः स्तोमैर्वसिष्ठ रोदसी ॥१॥

बृहत् । ऊं इति । गायिषे । वचः । असुर्या । नदीनां । सरस्वतीं । इत् । महय । सुवृक्तिऽभिः । स्तोमैः । वसिष्ठ । रोदसी इति ॥१॥

पदार्थः—(नदीनां) नदीनां मध्ये याः फलपुष्पसम्पादिकाः तथा (असुर्या) बलवत्यः ताः (वचः) वाणीः (वसिष्ठ) हे विद्वन् ! (गायिषे) स्तुहि (सुवृक्तिभिः) सुप्रयोगैः (रोदसी) द्युपृथ्वीलोकयोः । (सरस्वतीम्) विद्याम् (इत) एव (महय) वर्द्धय (स्तोमैः) यज्ञैश्च ॥१॥

पदार्थ—(नदीनां) नदियों में से जो प्रफुल्लित पुष्पित करनेवाली है और (असूर्या) बलवाली है उस (वचः) वाणी को (वसिष्ठ) हे विद्वन् ! (गायिषे) तू गायन कर (बृहत्) और (रोदसी) द्यु और पृथ्वी लोक में (सरस्वतीं, इत्) सरस्वती विद्या की ही तुम लोग (महय) पूजा करो और वह पूजा (सुवृक्तिभिः) निर्दोष (स्तोमैः) यज्ञों से करो ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वान् लोगो ! आपके लिये पूजा योग्य एकमात्र सरस्वती विद्या है, उनकी पूजा करनेवाला विद्वान् कदापि अवनति को प्राप्त नहीं होता किन्तु सदैव अभ्युदय को प्राप्त होता है, तात्पर्य यह है कि सत्कर्तव्य एकमात्र परमात्मा का ज्ञान है, उसी का नाम (ब्रह्मविद्या) सरस्वती व ज्ञान है क्योंकि विद्या, ज्ञान, सरस्वती ये तीनों पर्य्याय शब्द हैं । परमात्मा का ज्ञान तादात्म्यसम्बन्ध से परमात्मा में रहता है इसलिये वह भी परमात्मा का रूप है, इसलिये जहां जड़ोपास्ति का दोष नहीं आता ॥१॥

उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ति पूरवः ।
सा नो बोध्यवित्री मरुत्सखा चोद राधो मघोनाम् ॥२॥

उभे इति । यत् । ते । महिना । शुभ्रे । अन्धसी इति । अधिऽक्षियन्ति । पूरवः । सा । नः । बोधि । अवित्री । मरुत्ऽसखा । चोद । राधः । मघोनां । ॥२॥

पदार्थः—(शुभ्रे) हे शुद्धे ! (पूरवः) मनुष्याः त्वत्तः (उभे) द्वे फले लभन्ते (यत्, ते) ये फले ते (अन्धसी) दिव्ये स्तः अभ्युदयनिःश्रेयाख्ये च (सा) सा ब्रह्मविद्या (नः) अस्माकम् (बोध्यवित्री) बोधनकर्त्री भवति (मघोनाम्) ऐश्वर्याणां सर्वोपरि (राधः) यद्धनमस्ति, हे विद्ये ! (चोद) तन्मह्यं प्रयच्छ। (मरुत्सखा) त्वं ज्ञानाधारोऽसि (महिना, अधिक्षियन्ति) तव महिम्ना तत्र ज्ञाने ते भक्ता निवसन्ति ॥२॥

पदार्थ—(शुभ्रे) हे पवित्र स्वभाववाली विद्ये ! (पूरवः) मनुष्य लोग तुम से (उभे) दो प्रकार के फल लाभ करते हैं (यत्ते) तुम्हारे वे दोनों (अन्धसी) दिव्य हैं अर्थात् एक अभ्युदय और दूसरा निश्रेयस (सा) वह ब्रह्मविद्या (नः) हमारी (बोध्यवित्री) बोधन करनेवाली है (मघोनां) ऐश्वर्य्य में से सर्वोपरि ऐश्वर्य्य (राधः) जो धनरूप हैं, हे विद्ये ! तू वह (चोद) हमको दो ॥२॥

भद्रमिद्भद्रा कृणवत्सरस्वत्यकवारी चेतति वाजिनीवती।
गृणाना जमदग्निवत्स्तुवाना च वसिष्ठवत् ॥३॥

भद्रं। इत्। भद्रा। कृणवत्। सरस्वती। अकवऽअरी। चेतति। वाजिनींऽवती। गृणाना। जमदग्निऽवत्। स्तुवाना। च। वसिष्ठऽवत्। ॥३॥

पदार्थः—(भद्रा) प्राप्तव्या (सरस्वती) विद्या (भद्रम्, इत्) कल्याणमेव (कृणवत्) कुर्यात् (अकवारी) या कुज्ञानादेर्विरोधिनी (चेतति) सर्वं बोधयति (वाजिनीवती) ऐश्वर्यशालिनी (गृणाना) अविद्या तमोहन्त्री (जमदग्निवत्) जमदग्निरिव (च) तथा (वसिष्ठवत्) विद्वान् इव (स्तुवाना) स्तूयमाना सती हि अभीष्ट फलदा ॥३॥

पदार्थ—(भद्रा) प्राप्त करने योग्य (सरस्वती) विद्या (भद्रम्, इत्) कल्याण ही (कृणवत्) करे, जो विद्या (अकवारी) कुत्सित अज्ञानादि पदार्थों की विरोधिनी (चेतति) सबको जगाती है (वाजिनीवती) ऐश्वर्यवाली (गृणाना) अविद्यान्धकार की नाश करनेवाली और वह विद्या (जमदग्निवत्) जमदग्नि के समान (च) और (वसिष्ठवत्) सर्वोपरि विद्वान् के समान (स्तुवाना) स्तुति की हुई फलदायक होती है ॥

भावार्थ—सरस्वती ब्रह्मविद्या जो सब ज्ञानों का स्रोत हैं वह यदि ऋषि मुनियों के समान स्तुति की जाय अर्थात् उनके समान यह भी ध्यान का विषय बनाई जाय तो मनुष्य के लिये फलदायक होती है 'जमदग्नि' यहां कोई ऋषिविशेष नहीं किन्तु **"जमन् अग्निरिव"** जो जमन् प्रकाश करता हुआ अग्नि के समान देदीप्यमान हो अर्थात् तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी हो उसको 'जमदग्नि' कहते हैं, एवम् 'वसिष्ठ' यह नाम भी वेद में गुणप्रधान है व्यक्तिप्रधान नहीं जैसा कि **"धर्मादिकर्तव्येषु अतिशयेन वसतीति वसिष्ठः"** जो धर्मादिकर्तव्यों के पालन करने में रहे। अर्थात् जो अपने यम नियमादिव्रतों को कभी भङ्ग न करे उसका नाम यहां 'वसिष्ठ' है।

तात्पर्य यह है कि पुरुष उक्त विद्वानों के समान विद्या को पूजनार्ह और सत्कर्तव्य समझता है वह इस संसार में कृतकार्य होता है, अन्य नहीं ॥३॥

अथ उक्तब्रह्मविद्याफलरूपं ज्ञानं स्तूयते—

अब उक्त ब्रह्म विद्या के फलरूप ज्ञान का कथन करते हैं—

जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः ।
सरस्वन्तं हवामहे ॥४॥

जनिऽयन्तः । नु । अग्रवः । पुत्रिऽयन्तः । सुऽदानवः । सरस्वन्तं । हवामहे ॥४॥

पदार्थः—(जनीयन्तः) शुभं कुटुम्बमिच्छन्तः (पुत्रीयन्तः) शुभसन्तानमिच्छन्तः (अग्रवः) ब्रह्मपदमिच्छन्तः (सुदानवः) सुदातारः वयम् (नु) अद्य (सरस्वन्तम्) सरस्वतीसुतं ज्ञानम् (हवामहे) आह्वयामः ॥४॥

पदार्थ—(जनीयन्तः) शुभ सन्तान की इच्छा करते हुये (पुत्रीयन्तः) पुत्रवाले होने की इच्छा करते हुए (सुदानवः) दानी लोग (अग्रवः) ब्रह्म की समीपता चाहनेवाले (नु) आज (सरस्वन्तम्) सरस्वती के पुत्ररूपी ज्ञान को (हवामहे) आवाहन करते हैं ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम ब्रह्मज्ञान का आवाहन करो, जो विद्यारूपी सरस्वती माता से उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण प्रकार के अनिष्टों को दूर करनेवाला है, परन्तु उसके पात्र वे पुरुष बनते हैं जो उदारता के भाव और वेदरूपी विद्या के अधिकारी हों, अर्थात् जिनके मल विक्षेपादि दोष सब दूर हो गये हों और यम-नियमादि सम्पन्न हों, वे ही ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते हैं, अन्य नहीं, या यों कहो कि जो अङ्ग और उपाङ्गों के साथ वेद का अध्ययन करते और यमनियमादिसम्पन्न होते हैं ॥ ४ ।

अथ ज्ञानं स्रोतोरूपेण वर्ण्यते—

अब ज्ञान को स्रोतरूप से वर्णन करते हैं—

ये ते सरस्व ऊर्मयो मधुमन्तो घृतश्चुतः ।
तेभिर्नोऽविता भव ॥५॥

ये । ते । सरस्वः । ऊर्मयः । मधुऽमन्तः । घृतऽश्चुतः । तेभिः । नः । अविता । भव ॥५॥

पदार्थः—(सरस्वः) हे सरस्वः ! (ये, ते) ये तव (मधुमन्तः) मधुराः (घृतश्चुतः) मसृणाः अनेकस्रोतसः (ऊर्मयः) वीचयः (तेभिः) तैः (नः) अस्माकम् (अविता) रक्षिता (भव) एधि ॥५॥

पदार्थ—(सरस्वः) हे सरस्वः "मतुवसोरुसंबुद्धौ छन्दसि" (ये) जो (ते) तुम्हारी (ऊर्मयः) लहरें हैं (मधुमन्तः) वे बड़ी मीठी (घृतश्चुतः) और जिनमें से नाना प्रकार के स्त्रोत बह रहे हैं, "घृतमिति उदकनामसु पठितम् ।" निघ० १।१२॥ (तेभिः) उनसे (नः) हमारे (अविता) तुम रक्षक (भव) बनो ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! ब्रह्मविद्यारूपी सरित् की लहरें अत्यन्त मीठी हैं, और आप विद्याप्राप्ति के लिये सदैव यह विनय किया करें कि वह विद्या अपने विचित्र भावों से आपकी रक्षक बने ॥ ५ ॥

पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥६॥२०॥

पीपिऽवांसं । सरस्वतः । स्तनं । यः । विश्वऽदर्शतः । भक्षीमहि । प्रऽजां । इषम् ॥६॥२०॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (सरस्वतः) ब्रह्मविद्यायाः (स्तनम्) तं पयोधरम् (पीपिवांसम्) यो हि अमृतेन पूर्णः पीनः (यः) यश्च (विश्वदर्शतः) सर्वविधज्ञानदाता तं पीत्वा (प्रजाम्, इषम्) प्रजामन्नादिकं च (भक्षीमहि) श्रयेम ॥६॥

॥ इति षण्णवतितमं सूक्तं विंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (सरस्वतः) ब्रह्मविद्या के (स्तनम्) उस स्तन को (पीपिवांसम्) जो कि अमृत से भरा हुआ है, और (यः) जो (विश्वदर्शतः) सब प्रकार के ज्ञानों को देनेवाला है अर्थात् जिसको पीकर सब प्रकार की आँखें खुलती हैं, उसको पीकर (प्रजाम् इषम्) प्रजा के सब ऐश्वर्य को (भक्षीमहि) हम भोगें ।

भावार्थ—जीव प्रार्थना करता है कि परमात्मन् ! मैं ब्रह्मविद्या के स्तन का पान करूँ, जिस अमृत को पीकर पुरुष दिव्य दृष्टि हो जाता है और संसार के सब ऐश्वर्यों के भोगने योग्य बनता है ॥ ६ ॥

॥ ९६वां सूक्त और २०वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ दशर्चस्य सप्तनवतितमस्य सूक्तस्य—
१—१० वसिष्ठ ऋषिः ॥ १ इन्द्रः । २, ४—८ बृहस्पतिः ।
३, ९ इन्द्रा-ब्रह्मणस्पति । १० इन्द्राबृहस्पती देवते ॥
छन्दः १ आर्षी त्रिष्टुप् । २, ४, ७ विराट् त्रिष्टुप् ।
३, ५, ६, ८—१० निचृत् त्रिष्टुप् ॥
धैवतः स्वरः ॥

अथ प्रसङ्गसङ्गत्या विद्यापतिर्ब्रह्मणस्पतिर्वर्ण्यते—

अथ प्रसङ्गसङ्गति से ब्रह्मणस्पति विद्या के पति परमात्मा का वर्णन करते हैं—

यज्ञे दिवो नृषदने पृथिव्या नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
इन्द्राय यत्र सवनानि सुन्वे गमन्मदाय प्रथमं वयश्च ॥१॥

यज्ञे । दिवः । नृऽसदने । पृथिव्याः । नरः । यत्र । देवऽयवः । मदन्ति । इन्द्राय । यत्र । सवनानि । सुन्वे । गमत् । मदाय । प्रथमं । वयः । च ॥१॥

पदार्थः—(यत्र यज्ञे) यस्मिन्यज्ञे (देवयवः) ईश्वरं कामयमानाः (नरः) मनुष्याः (मदन्ति) हृष्यन्ति, तथा च (नृसदने) यत्र यज्ञे (दिवः) द्युलोकात् (पृथिव्याः)

पृथिव्याम् (गमत्) विद्वांस आयान्ति, यत्र च (वयः) ब्रह्मणो जिज्ञासवः (प्रथमम्) प्राक् (मदाय) ब्रह्मानन्दायोपतिष्ठन्ते, तत्र (इन्द्राय) परमात्मने (सवनानि) उपासनाः (सुन्वे) कुर्याम् ॥१॥

पदार्थ—(यत्र, यज्ञे) जिस यज्ञ में (देवयवः) देव ईश्वर परमात्मा को चाहनेवाले (नरः) मनुष्य (मदन्ति) आनन्द को प्राप्त होते हैं और (नृषदने) जिस यज्ञ में (दिवः) द्युलोक से (पृथिव्याः) पृथिवी पर (गतम्) विद्वान् लोग विमानों द्वारा आते हैं, और जिस यज्ञ में (वयः) ब्रह्म के जिज्ञासु (प्रथमम्) सबसे पहले (मदाय) ब्रह्मानन्द के लिये आकर उपस्थित होते हैं, उसमें (इन्द्राय) **"इन्दतीतीन्द्रः परमात्मा"** परमात्मा की (सवनानि) उपासनायें (सुन्वे) करूँ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जिज्ञासु जनो ! तुम उपासनारूप यज्ञों में परस्पर मिल कर उपासना करो और द्युलोकद्वारा विमानों पर आये हुये विद्वानों का आप भली भाँति सत्कार करें, यहाँ जो **'सुन्वे'** उत्तम पुरुष का एक वचन देकर जीव की ओर से प्रार्थना कथन की गयी हैं यह शिक्षा का प्रकार है, अर्थात् जीव की ओर से यह परमात्मा का वचन है यही प्रकार **'अग्निमीळे पुरोहितम् ऋक् १, १ १'** मैं परमात्मा की स्तुति करता हूँ इत्यादि मन्त्रों में भी दर्शाया गया है । इससे यह सन्देह सर्वथा निर्मूल है कि यह वाक्य जीवनिर्मित है ईश्वर निर्मित नहीं, क्योंकि उपासना प्रार्थना के विषय (में) सर्वत्र जीव की ओर से प्रार्थना बतलायी गयी है ।

अन्य उत्तर इसका यह भी है कि ग्रन्थ में पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष दोनों ही ग्रन्थकर्त्ता की ओर से होते हैं फिर भी पूर्व पक्ष अन्य की ओर से और उत्तर पक्ष ग्रन्थकर्त्ता की तरफ से कथन किया जाता है, यही प्रकार यहाँ भी है और ऋग्वेद के दशवें मण्डल के अन्त में **"संगच्छध्वम् संवदध्वं"** ॥ ऋ. मं. १० सू. १९१-२ ॥ यह तुम्हारा मन्तव्य और कर्तव्य एक सा हो और **"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः"** ॥ ऋ, १०।१।९१।४ ॥ तुम्हारा भाषण और तुम्हारे हृदय एक से हों, इस स्थल में ईश्वर ने अपनी ओर से विधिवाद को स्पष्ट कर दिया, जिसमें गन्ध मात्र भी सन्देह नहीं ॥ १ ॥

आ दैव्या वृणीमहेऽवांसि बृहस्पतिर्नो मह आ सखायः ।
यथा भवेम मीळ्हुषे अनागा यो नो दाता परावतः पितेव ॥२॥

आ । दैव्या । वृणीमहे । अवांसि । बृहस्पतिः । नः । महे । आ । सखायः । यथा । भवेम । मीळ्हुषे । अनागाः । यः । नः । दाता । पराऽवतः । पिताऽइव ॥२॥

पदार्थः—(सखायः) हे मित्राणि ! (बृहस्पतिः) परमात्मा (नः) अस्मान् (दैव्या, अवांसि) दिव्यतया, रक्षेत् वयं च स्वयज्ञे (आवृणीमहे) तं वृणिमहि (यथा) येन विधिना (मीळहुषे) विश्वंभरस्य पुरः (अनागाः) निर्दोषाः (भवेम) स्याम (यः) यः परमात्मा (नः) अस्माकम् (परावतः, पितेव) शत्रोस्त्रायमाणः/पितेव (दाता) जीवनदातास्ति ॥२॥

पदार्थ—(सखायः) हे मित्र लोगो ! (बृहस्पतिः) **"बृहता पतिः बृहस्पतिः" ब्रह्म वै बृहस्पतिः" शतपथ काण्ड ९, प्रपा० ३ । ब्रा० २ । क० १८** ॥ यहाँ बृहस्पति नाम 'ब्रह्म' का है (नः)वह परमात्मा हम लोगों की (दैव्या, अवांसि) रक्षा करें, हम लोग अपने यज्ञों में (आवृणीमहे)

वरण करें अर्थात् उसको स्वामीरूप से स्वीकार करें (यथा) जिस प्रकार (मीळ्हुषे) विश्वम्भर के लिये (अनागाः) हम निर्दोष (भवेम) सिद्ध हों (यः) जो परमात्मा (नः) हमको (परावतः, पितेव) शत्रुओं से बचानेवाले पिता के समान (दाता) जीवनदाता है ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे मनुष्यो ! तुम उस बृहस्पति की उपासना करो जो तुमको सब विघ्नों से बचाता है और पिता के समान रक्षा करता है । इस मन्त्र में बृहस्पति शब्द परमात्मा के लिये आया है जैसा कि **"शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा । शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः"** यजुः ३६।९।। इस मन्त्र में 'बृहस्पति' शब्द परमात्मा के अर्थ में है ।।२।।

तमु ज्येष्ठं नमसा हविर्भिः सुशेवं ब्रह्मणस्पतिं गृणीषे ।
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ॥३॥

तं । ऊं इति । ज्येष्ठं । नमसा । हविःऽभिः । सुऽशेवं । ब्रह्मणः । पतिं । गृणीषे । इन्द्रं । श्लोकः । महि । दैव्यः । सिसक्तु । यः । ब्रह्मणः । देवऽकृतस्य । राजा ॥३॥

पदार्थः—(तम्, उ) तमेव (ज्येष्ठम्) सर्वस्मात्परम् (ब्रह्मणस्पतिम्) वेदानां पतिम् (नमसा, गृणीषे) गृह्णामि (इन्द्रं, महि) तमैश्वर्यवन्तं महात्मानम् (दैव्यः, श्लोकः) इयं दिव्यस्तुतिः (सिसक्तु) सेवताम् (यः) यो हि (देवकृतस्य ब्रह्मणः) ईश्वरनिर्मित वेदस्य (राजा) प्रकाशकः (सुशेवम्) स सर्वेषामुपास्योऽस्ति ।।३।।

पदार्थ—(तम्, उ) उसी (ज्येष्ठम्) सबसे बड़े और (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद के पति परमात्मा को (नमसा, गृणीषे) नम्रता से ग्रहण करता हूँ, यहां उत्तम पुरुष के स्थान में मध्यम पुरुष का प्रयोग व्यत्यय से है (इन्द्रं, महि) उस परमैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा को (दैव्यः, श्लोकः) यह दिव्य स्तुति (सिसक्तु) सेवन करें (यः) जो (देवकृतस्य, ब्रह्मणः) ईश्वरकृत वेद का (राजा) प्रकाशक है, और वह परमात्मा (सुशेवम्) सबका उपास्य देव है ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में इस बात का उपदेश किया गया है कि वेदप्रकाशक परमात्मा ही एकमात्र पूजनीय हैं, उसको छोड़ कर ईश्वरत्वेन और किसी की उपासना नहीं करनी चाहिये ।।३।।

स आ नो योनिं सदतु प्रेष्ठो बृहस्पतिर्विश्ववारो यो अस्ति ।
कामो रायः सुवीर्यस्य तं दात्पर्षन्नो अति सश्चतो अरिष्टान् ॥४॥

सः । आ । नः । योनिं । सदतु । प्रेष्ठः । बृहस्पतिः । विश्वऽवारः । यः । अस्ति । कामः । रायः । सुऽवीर्यस्य । तं । दात् । पर्षत् । नः । अति । सश्चतः । अरिष्टान् ॥४॥

पदार्थः—(सः) ईश्वरः (नः) अस्माकम् (योनिम्) हृदये (आसदतु) निवसतु (यः) योहि (प्रेष्ठः) सर्वहितः (बृहस्पतिः) विश्वस्य पतिः (विश्ववारः) विश्वोपास्यः (अस्ति) विद्यते (सुवीर्यस्य) शोभनबलस्य (रायः) स्वैश्वर्यस्य च (कामः) ममाभिलाषो यः (तम्) तमिष्टम् (दात्) दद्यात् तथा च (सश्चतः) उपद्रुतान् (नः) अस्मान् (अरिष्टान्) सुरक्षान्विधाय (अति पर्षत्) रक्षतु सर्वतः ।।४।।

पदार्थ—(सः) वह परमात्मा (नः) हमारे (योनिम्) हृदय में (आ, सदतु) निवास करे (यः) जो परमात्मा (प्रेष्ठः) सबका प्रियतम (बृहस्पतिः) निखिल ब्रह्माण्डों का पति (विश्ववारः) सबका उपास्यदेव (अस्ति) है, (सुवीर्यस्य) हमको जो ब्रह्मचर्यरूपी बल (रायः) और ऐश्वर्य की (कामः) इच्छा है (तम्) उसको (दात्) दे, और (सश्चतः) उपद्रवों में फँसे हुए (नः) हमको (अरिष्टान्) सुरक्षित करके (अति, पर्षत्) शत्रुओं से बचावे ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम उस परमदेव को अपने हृदयमन्दिर में स्थान दो जो सबका एकमात्र उपास्यदेव और इस निखिल ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता है ॥४॥

तमा नो अर्कममृताय जुष्टमिमे धासुरमृतासः पुराजाः ।
शुचिक्रन्दं यजतं पस्त्यानां बृहस्पतिमनर्वाणं हुवेम ॥५॥२१॥

तं । आ । नः । अर्कं । अमृताय । जुष्टं । इमे । धासुः । अमृतासः । पुराऽजाः । शुचिऽक्रन्दं । यजतं । पस्त्यानां । बृहस्पतिं । अनर्वाणं । हुवेम । ॥५॥२१॥

पदार्थः—(बृहस्पतिम्) विश्वेश्वरम् (अनर्वाणम्) इन्द्रियागोचरम् (तं, हुवेम) तं ज्ञानेन प्राप्नुयाम (शुचिक्रन्दम्) शुद्धस्तोत्रम् (अर्कम्) स्वप्रकाशम् (यजतम्) यष्टव्यम् (अमृताय, जुष्टम्) अमृताय हेतवे सेवितम्, यम् (अमृतासः) मुक्तिभाजः (पुराजाः) प्राचीनाः (इमे) इमे देवाः (पस्त्यानाम्, नः) गृहस्थेषु अस्मासु (आधासुः) धारितवन्तः ॥५॥

पदार्थ—(बृहस्पतिम्) सबके स्वामी (अनर्वाणम्) जो इन्द्रिय-अगोचर है (तं हुवेम) उसको हम ज्ञान द्वारा प्राप्त हों (शुचिक्रन्दम्) जिसके पवित्र स्तोत्र हैं (अर्कम्) जो स्वतःप्रकाश है (यजतम्) जो यजनार्ह है (अमृताय, जुष्टम्) जो अमृतमय है जिसको (अमृतासः) मुक्ति सुख के भजनेवाले (पुराजाः) प्राचीन (इमे) इन देवों ने (पस्त्यानाम्, नः) गृहस्थों हम लोगों को (आधासुः) धारण कराया है ।

भावार्थ—जो परमात्मा स्वतःप्रकाश और जन्ममरणादि धर्मरहित है अर्थात् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है उसको हम अपने शुद्ध अन्तःकरण में धारण करें, तात्पर्य यह है कि जब मन मलविक्षेपादि दोषों से रहित हो जाता है तब उसे ब्रह्म की अवगति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति होती है, और ब्रह्मप्राप्ति के अर्थ यहां ज्ञानद्वारा प्राप्ति के हैं, देशान्तर प्राप्ति के नहीं । इस बात को भलीभाँति निम्नलिखित मन्त्र में वर्णन किया गया है ॥५॥

इयमेव ब्रह्मावगतिरधस्तनमन्त्रेण निरूप्यते—

यह ब्रह्मप्राप्ति नीचे के मन्त्र से निरूपण की जाती है—

तं शग्मासो अरुषासो अश्वा बृहस्पतिं सहवाहो वहन्ति ।
सहश्चिद्यस्य नीळवत्सधस्थं नभो न रूपमरुषं वसानाः ॥६॥

तं । शग्मासः । अरुषासः । अश्वाः । बृहस्पतिं । सहऽवाहः । वहन्ति । सहः । चित् । यस्य । नीळऽवत् । सधऽस्थं । नभः । न । रूपं । अरुषं । वसाना ॥६॥

पदार्थः—(तम्) तं बृहस्पतिं परमात्मानम् (सधस्थम्) सर्वसंनिहितम् (नभः) आकाशमिव विभुम् (न, रूपम्) रूपहीनम् (अरुषम्) सर्वज्ञम् (वसानाः) विषयं कुर्वंती (शग्मासः) आनन्दयन्ती (अरुषासः) परमात्मपरायणा (अश्वाः) त्वरितगमना (सहवाहः) परमात्मना सहयोजयन्ती इन्द्रियवृत्तिः (वहन्ति) तं प्रापयति, यः (सहः, चित्) बलरूपः (यस्यनीळवत्) यस्येदं ब्रह्माण्डं नीडवत् कुलायवत् ॥६॥

पदार्थ—(तम्) उस (बृहस्पतिम्) परमात्मा का जो (सधस्थम्) जीव के अत्यन्त संनिहित है (नभः,) और आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है (न, रूपम्) जिसका कोई रूप नहीं है उस (अरुषम्) सर्वव्यापक परमात्मा को (वसानाः) विषय करती हुई (शग्मासः) आनन्द को अनुभव करनेवाली (अरुषासः) परमात्मपरायण (अश्वाः) शीघ्रगतिशील (सहवाहः) परमात्मा से जोड़नेवाली इन्द्रियवृत्तियां (वहन्ति) उस परमात्मा को प्राप्त कराती हैं, जो परमात्मा (सहः, चित्) बलस्वरूप है और (यस्य, नीळवत्) जिसका नीड अर्थात् घोंसले के समान यह ब्रह्माण्ड है ॥

भावार्थ—श्रवण, मनन निदिध्यासनादि साधनों से संस्कृत हुई अन्तःकरण की वृत्तियां उस नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म को प्राप्त कराती हैं जो सर्वव्यापक और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों से रहित है और कोटानुकोटि ब्रह्माण्ड जिसके एकदेश में जीवों के घोंसलों के समान एक प्रकार की तुच्छ सत्ता से स्थिर है, इस मन्त्र में उस भाव को विशाल किया है जिसको **"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"** ॥ ऋ. १०।९०।३॥

इस मन्त्र में वर्णन किया है कि कोटानुकोटि ब्रह्माण्ड उस परमात्मा के एकदेश में क्षुद्र जन्तु के घोंसले के समान स्थिर हैं, अथवा यों कहो कि "युञ्जति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः, रोचन्ते रोचना दिवि" । मं. १ । सू. ६ । १ । जो योगी लोग सर्वव्यापक परमात्मा को योगज सामर्थ्य से अनुभव करते हैं अर्थात् योग की वृत्ति द्वारा उस परमात्मा का मनन करते हैं, वह ब्रह्म के प्रकाश को लाभ करके तेजस्वी और ब्रह्मवर्चस्वी बनते हैं ॥६॥

स हि शुचिः शतपत्रः स शुन्ध्युर्हिरण्यवाशीरिषिरः स्वर्षाः ।
बृहस्पतिः स स्वावेश ऋष्वः पुरू सखिभ्य आसुतिं करिष्ठः ॥७॥

सः । हि । शुचिः । शतऽपत्रः । सः । शुन्ध्युः । हिरण्यऽवाशीः । इषिरः । स्वःऽसाः । बृहस्पतिः । सः । सुऽआवेशः । ऋष्वः । पुरु । सखिऽभ्यः । आऽसुतिं । करिष्ठः ॥७॥

पदार्थः—(सः, हि) स परमात्मा निश्चयं (शुचिः) शुद्धः (शतपत्रः) सर्वशक्तिमान् (सः, शुन्ध्युः) सर्वशोधकः (हिरण्यवाशीः) सुवर्णवाग् (इषिरः) सर्वप्रियः (स्वर्षाः) आनन्ददः (बृहस्पतिः) अखिलब्रह्माण्डशासनः (स्वावेशः) सर्वाधारः (ऋष्वः) दर्शनीयः, एवं भूतः सः (सखिभ्यः) स्वभक्तेभ्यः (पुरु) बहुतरम् (आसुतिम्) ऐश्वर्यम् (करिष्ठः) करोतितराम् ॥७॥

पदार्थ—(सः, हि) वह परमात्मा निश्चय (शुचिः) शुद्ध है (शतपत्रः) सर्वशक्तिमान् है (सः) वह परमात्मा (शुन्ध्युः) सबको शुद्ध करनेवाला है (हिरण्यवाशीः) स्वर्णमयी वाणीवाला है **"वाशीतिवाङ्नामसुपठितं"** । निघण्टौ १, ११ ॥ (इषिरः) सर्वप्रिय (स्वर्षाः) आनन्द का

दाता (बृहस्पतिः) कोटानुकोटि ब्रह्माण्डों का पति (स्वावेशः) सर्वाधार (ऋष्वः) दर्शनीय, इस प्रकार का परमात्मा (सखिभ्यः) अपने भक्तों, जिज्ञासुओं के लिये (पुरु) बहुत (आसुतिम्) ऐश्वर्य (करिष्ठः) करता है ।।७।।

भावार्थ—उक्तगुणसम्पन्न परमात्मा अपने भक्तों को आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीनों तापों को मिटा कर अति ऐश्वर्य प्रदान करता है ।।७।।

देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर्महित्वा ।
दक्षाय्याय दक्षता सखायः करद्ब्रह्मणे सुतरा सुगाधा ॥८॥

देवी इति । देवस्य । रोदसी इति । जनित्री इति । बृहस्पतिं । ववृधतुः । महिऽत्वा । दक्षाय्याय । दक्षत । सखायः । करत् । ब्रह्मणे । सुऽतरा । सुऽगाधा ॥८॥

पदार्थः—(देवस्य) परमात्मनः (बृहस्पतिम्) महिमानम् (रोदसी, देवी) द्यावापृथिव्यौ (ववृधतुः) वर्धयतः, हे जिज्ञासवः ! (महित्वा) तस्य महत्वम् (दक्षाय्याय) यत्सर्वातिरिक्तं तत् (सखायः) मित्राणि ! यूयमपि (दक्षत) वर्धयत (ब्रह्मणे) यो हि वेदं (सुतराम्) सुखेन सागरतारकम् (सुगाधा) सुखेन गाहनीयं (करत् अकरोत्) ।।८।।

पदार्थ—(देवस्य) उक्त देव जो परमात्मा है उसकी (बृहस्पतिम्) महत्ता को (रोदसी, देवी) द्युलोक और पृथवी लोक रूपी दिव्यशक्तियें (ववृधतुः) बढ़ाती हैं। हे जिज्ञासु लोगो ! (महित्वा) उसके महत्त्व को (दक्षाय्याय) जो सर्वोपरि है उसको (सखायः) हे मित्र लोगो ! तुम भी (दक्षत) बढ़ाओ, और (ब्रह्मणे) जिस परमात्मा ने वेद को (सुतरां) इस भवसागर के तरने योग्य (सुगाधा) सुखपूर्वक अवगाहन करने योग्य (करत्) बनाया है ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में द्युलोक और पृथिवी लोक के बृहस्पति परमात्मा को द्योतक वर्णन किया है, अर्थात् पृथिव्यादि लोक उसकी सत्ता को बोधन करते हैं। यहां जनित्री के ये अर्थ हैं कि इसकी आविर्भाव (प्रकट) करते हैं और ब्रह्मशब्द के अर्थ जो यहां सायणाचार्य ने अन्न के किये हैं वह सर्वदा वेदाशय के विरुद्ध हैं क्योंकि इसी सूक्त में ब्रह्मणस्पति शब्द में ब्रह्म के अर्थ वेद के आ चुके हैं, फिर यहां अन्न के अर्थ कैसे ? यूरोप देश निवासी मोक्षमूलर भट्ट, मिस्टर विल्सन, और ग्रिफिथ साहब ने भी इस मन्त्र के अर्थ यही किये हैं कि द्युलोक और पृथिवी लोक ने बृहस्पति को पैदा किया, यह अर्थ वैदिक प्रक्रिया से सर्वथा विरुद्ध है अस्तु ।।

इसका बलपूर्वक खण्डन हम निम्नलिखित मंत्र में करेंगे ।।८।।

इयं वां ब्रह्मणस्पते सुवृक्तिर्ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे अकारि ।
अविष्टं धियो जिगृतं पुरंधीर्जजस्तमर्यो वनुषामरातीः ॥९॥

इयं । वां । ब्रह्मण । पते । सुऽवृक्तिः । ब्रह्म । इन्द्राय । वज्रिणे । अकारि । अविष्टं । धियः । जिगृतं । पुरंऽधीः । जजस्तं । अर्यः । वनुषां । अरातीः ॥९॥

पदार्थः—(ब्रह्मणस्पते) हे सर्वाधिपते ! (वाम्) तव (इयम्) इयं (सुवृक्तिः) दोषरहिता स्तुतिः या (ब्रह्म, इन्द्राय) ऐश्वर्यवते भवते (वज्रिणे) ज्ञानमयाय (अकारि) कृता, सा (अविष्टम्) अस्मान्रक्षतु, तथा (धियः, जिगृतम्, पुरन्धीः) अस्माकम् भावनां स्वीकरोतु तथा (अर्यः) ईश्वरः (वनुषाम्) प्रार्थयमानानाम् नः (अरातीः) शत्रून् (जजस्तम्) अपवर्तयताम् ।।९।।

पदार्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे ईश्वर ! (वां) तुम्हारी (इयम्) यह (सुवृक्तिः) दोषरहित स्तुति जो कि (ब्रह्म, इन्द्राय) सर्वोपरि ऐश्वर्ययुक्त (वज्रिणे) ज्ञानस्वरूप आपके लिये (अकारि) की गयी है वह (अविष्टम्) हमारी रक्षक हो और (धियः, जिगृतं, पुरन्धीः) हमारी सब भावनाओं को स्वीकार करे । (अर्यः) परमात्मा (वनुषाम्) प्रार्थनायुक्त हम लोगों के (अरातीः) शत्रुओं को (जजस्तम्) नाश करें ।।

भावार्थ—इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति शब्द उसी वेदपति परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसका वर्णन इस सूक्त के कई एक मन्त्रों में प्रथम भी आ चुका है ।

ब्रह्मणस्पति के अर्थ वेद के पति हैं अर्थात् आदिसृष्टि में ब्रह्मवेदविद्या का दाता एक मात्र परमात्मा था, इसी अभिप्राय से परमात्मा को (ब्रह्म) वेद का पति कथन किया गया है ।।

यद्यपि ब्रह्मशब्द के अर्थ प्रकृति के भी हैं, ब्रह्म बड़े को भी कहते हैं, इस प्रकार पृथिव्यादि लोक लोकान्तरों का नाम भी ब्रह्म है तथापि मुख्य नाम ब्रह्म परमात्मा का ही है जैसा कि **"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म"** । यजु० अ० ३२।१।। इसमें अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र ब्रह्म ये सब परमात्मा के नाम हैं । एवं **"यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति स्वर्यस्य च केवलं तस्मैज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः"** ।। अथ० १० । ८ । ४ । १ ।। यहां (ज्येष्ठ) सबसे बड़ा ब्रह्म कह कर ब्रह्मशब्द को ब्रह्मवाचक सिद्ध किया है । एवं **"देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म्म ममान्तरम्"** ।। साम० ९ । २१ । ३ ।। इस मन्त्र में ब्रह्म शब्द ईश्वर के लिये आया है, मन्त्र का तात्पर्य यह है कि जो लोग अपनी रक्षा आप नहीं करते, वा यों कहो कि अपनी सेना को आप मारते हैं वा कायरता दिखलाते हैं ऐसे सैनिकों को विद्वान् लोग नष्ट करें और यह प्रार्थना करें कि परमात्मा (वर्म्म) कवच के समान हमारा रक्षक हो, परमात्मा के सहारे से ही सब शुभ कामों की सिद्धि आस्तिक पुरुषों को रखनी चाहिये, केवल अपने उद्योग से नहीं ।

इसी प्रकार का मन्त्र ऋग्वेद मं० ६ सू० ७१ संख्या १९ में है यहां भी **"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्"** यह पाठ है यहां भी सूक्त की समाप्ति में परमात्मा को रक्षक माना गया है, किसी अन्य वस्तु को नहीं ।

जो लोग यह कहा करते हैं कि ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द ईश्वर के अर्थों में नहीं आया उनको उक्त मन्त्र से ज्ञान लाभ करना चाहिये क्योंकि उक्त मन्त्र में ब्रह्म शब्द ईश्वर के अर्थ में स्पष्ट है ।

जिन लोगों ने आज कल वेदों की हिंसा करके उनको निष्कलङ्क बनाने पर कमर बांधी है, उन्होंने उक्त मन्त्र को सामवेद संहिता से उड़ा दिया, क्योंकि उनके परिवार में यह मन्त्र ऋग्वेद में आ चुका ।

पहले तो यह कथन ही सर्वथा मिथ्या है कि यह मन्त्र पूर्णाङ्गतया ऋग्वेद में आ चुका क्योंकि ऋग्वेद में **"ब्रह्म वर्म ममान्तरम्"** इतने पर समाप्त है, और सामवेद में **"शर्मवर्ममान्तरम्"** इतना और है जिसके अर्थ वाक्यभेद से सर्वथा भिन्न हैं अर्थात् **"योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः"** । अथर्व० ३ । ६ । २७ । १ ॥ जब यह अन्य वाक्य के साथ मिलकर आने से छह वार आने पर भी पुनरुक्त नहीं तो फिर भी उक्त सामवेद का मन्त्र क्यों पुनरुक्ति के दोष से दूषित किया जाता है।

अन्य उत्तर यह है कि ऋग्वेद में यह मन्त्र योद्धाओं के प्रकरण में आया है और सामवेद में ईश्वर के प्रकरण में है इस प्रकार प्रकरणभेद से भी अर्थ भिन्न है। अस्तु, इस विषय को हम वेदमर्यादा में बहुत लिख आए हैं। यहां मुख्य प्रसङ्ग यह है कि जो लोग ब्रह्म शब्द के अर्थ वेदों में ईश्वर के नहीं मानते किन्तु स्तोत्र वा गीत के ही मानते हैं उनके मत के निरास के लिये उक्त मन्त्र का उदाहरण दिया गया।

प्रायः यूरोप निवासी विद्वानों का यह विचार है कि ब्रह्म शब्द केवल औपनिषद् समय में आकर सर्वव्यापक ब्रह्म शब्द के अर्थों में लिया गया, पहले नहीं।

इसका समाधान एक प्रकार से तो हम चारों वेदों का एक एक मन्त्र प्रमाण दे कर आए परन्तु विशेषरीति से समाधान यह है कि यदि वैदिक समय में ब्रह्म शब्द का प्रयोग सर्वव्यापक ब्रह्म में नहीं मानो तो **"यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः"** ॥ अथर्व १० । ८ । ४ । १ ॥ में तीनों कालों में एक रस और सब से बड़ा ब्रह्म शब्द का अर्थ क्यों माना जाता? इसी आधार को लेकर उपनिषदों में **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** ॥ तै० २ । १ ॥ **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** ऐ० ३ । १ ॥ **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** ॥ बृ० ३।९।१८॥ **"ब्रह्मैवेदं विश्वं"** ॥ मु० । २ । ११" ॥ **"सर्वंखल्विदं ब्रह्म"** ॥ छा० ३ । १४ । १ ॥ **"तपसाचीयते ब्रह्म"** ॥ मु० १ । १ । ८ ॥ **"यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्"** ॥ मु० ३ । ३ ॥ इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म का निरूपण किया है यह ब्रह्म-निरूपण एकमात्र वेद के आधार पर है, इसी अभिप्रायः से ब्रह्मविद्या वेदमूलक मानी गई है।

केवल उपनिषदों में ही ब्रह्म का निरूपण नहीं किन्तु जो प्रमाण १ प्रथम ऋग्वेद के मं० ६ का दिया गया है उससे स्पष्ट सिद्ध है कि ब्रह्म नाम वेद में भी सर्वोपरि विश्वकर्त्ता जगदीश्वर का है।

इसलिये कतिपय मन्त्रों में ब्रह्मणस्पति आ जाने से यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि जब ब्रह्म का पति कोई और हुआ तो ब्रह्म शब्द ईश्वर के अर्थ नहीं देता? किन्तु उक्त स्थान में यह स्पष्ट है कि यहाँ ब्रह्म नाम वेद का है यों तो **"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः"** ॥ कठ० १।२।१५॥ यहाँ ब्रह्म शब्द ब्राह्मण स्वभाववाले वर्ण के लिये भी आता है। एवं **"तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः ॥"** बृ० । १ । ४ । १५ ॥ यहाँ भी वर्णवाची ब्रह्म शब्द है, परन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि प्रथम ब्रह्म शब्द जात्यादिकों का वाची ही था और बहुत देर बाद ईश्वरवाची समझा गया, अस्तु। यह कल्पना सर्वथा युक्तिहीन और निराधार है।

यदि जातिवाचक भी ब्रह्म शब्द समझा जाय तो आपत्ति यह है कि ब्राह्मण तो उसका अपत्य हुआ पर उससे प्रथम ब्रह्म क्या था? यदि कहो कि वह भी जातिवाचक था तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वह किससे उत्पन्न होने के कारण ब्रह्म कहलाया? यदि कहो कि वह

तो गुणवाचक शब्द है अर्थात् जिसमें बड़प्पन है उसका नाम ब्रह्म है तो फिर ब्राह्मण शब्द गुणवाची क्यों नहीं अर्थात् जिसका (ब्रह्म) वेद वा ईश्वर से सम्बन्ध हो उसको ब्राह्मण कहते हैं जैसा कि 'शतपथब्राह्मण' गोपथब्राह्मण' यहां ब्राह्मण शब्द के अर्थ होते हैं कि 'ब्रह्मण इदं ब्राह्मणम्' जो ब्रह्म से सम्बन्ध रखता हो, यहाँ व्याकरण की रीति से "तस्येदम्" ॥ ४ । ३ । १२० ॥ इस सूत्र से अण् प्रत्यय है, यदि कहो कि "ब्राह्मोऽजातौ ॥" अष्टा० ६ । ४ । १७१ ॥ इस सूत्र से जातिभिन्नार्थ में सर्वत्र टि का लोप हो जाता है तो शतपथब्राह्मण यहाँ क्यों न हुआ । अस्तु, कुछ हो टि का लोप हो वा न हो पर ब्राह्मण शब्द का प्रयोग तो जाति से भिन्नार्थ में भी पाया जाता है जैसा कि 'मण्डूकाः ब्राह्मणाः' ॥ मं० ७ । सू० १०३ ॥ में पाया जाता है । क्या कोई कह सकता है कि यहाँ भी टि का अलुक् जाति मान कर हुआ है, कदापि नहीं ।

एवं सूक्ष्म विवेचना करने से सिद्ध यह हुआ कि ब्रह्म शब्द के मुख्यार्थ ईश्वर और गौणार्थ वेद और प्रकृत्यादि अन्य पदार्थ भी हैं ।

इसी अभिप्राय से गीता में कृष्णजी कहते हैं कि "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" ॥ गी० १४ । ३ ॥ इस प्रकार यहाँ ब्रह्मणस्पति के अर्थ प्रकृति के अधिपति के भी लिये गये ॥

और बात यह है कि इस सूक्त में ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति का समानाधिकरण्य अर्थात् एक अर्थवाची दोनों शब्द है, फिर बृहस्पति को द्युलोक और प्रकृति के पृथिवीलोक कैसे पैदा कर सकता है ?

यदि यह कहा जाय कि जनित्री यह विशेषण द्युलोक और पृथिवीलोक को दिया गया है अर्थात् पृथिवीलोक और द्युलोक दोनों बृहस्पति के पैदा करनेवाले है यह अर्थ लाभ होता है, फिर बृहस्पति को पैदा करने वाले द्युलोक और पृथिवीलोक क्यों न माने जायें ? इसका उत्तर यह है कि "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते" इस मन्त्र में ब्रह्म को अजन्मा मान कर फिर यह कहा कि बहुधा विजायते अर्थात् फिर 'जनीप्रादुर्भावे' का प्रयोग दिया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जनित्री वा जायमान के अर्थ प्रादुर्भावके हैं जिसके सरल भाषा में अर्थ प्रकट होना किये जा सकते हैं । सिद्ध यह हुआ कि द्युलोक और पृथिवीलोक ने परमात्मा के महत्त्व को सिद्ध किया इसी अभिप्राय से अथर्ववेद में कहा है कि "यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्ष-मुतोदरम्" ॥ १०।४।३२॥ अर्थात् पृथिव्यादि लोक उसके ज्ञान के साधन हैं, इस बात को महर्षिव्यास ने "जन्माद्यस्ययतः," इस दूसरे सूत्र में वर्णन किया है कि इस चराचर संसार का का उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय बृहस्पति परमात्मा से होता है उसको ब्रह्म कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ परमात्मानं स्तुवन् सुक्तमुपसंहरति—

अब उक्त बृहस्पति परमात्मा की प्रार्थना द्वारा इस सूक्त का उपसंहार करते हैं ॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१०।२२॥

बृहस्पते । युवं । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति । उत । पार्थिवस्य । धत्तं । रयिं । स्तुवते । कीरये । चित् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥१०॥२२॥

पदार्थः—(बृहस्पते) हे सर्वस्वामिन् ! (यूवम्) भवान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवानस्ति (दिव्यस्य, उत, पार्थिवस्य) द्युलोकजस्य पृथिवीलोकजस्य च (वस्वः) रत्नस्य (ईशाथे, च) ईश्वरो हि, (स्तुवते, कीरये) अतः व्ययार्थं स्वस्तोतृभ्यः (रयिं, धत्तम्) विविध धनं वितरतु (चित्) निश्चयम् (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥१०॥२२॥

॥ इति सप्तनवतितमं सूक्तं द्वाविंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(बृहस्पते) हे सबके स्वामी परमेश्वर ! (युवम्) आप (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यसम्पन्न हैं (च) और (दिव्यस्य, उत, पार्थिवस्य) द्युलोक और पृथ्वी लोक में होनेवाले (वस्वः) रत्नों को (ईशाथे) ईश्वर अर्थात् देनेवाले हैं, इसमें (स्तुवते) स्तुति करनेवाले अपने भक्त को (रयिम्) धन (धत्तम्) दीजिये (चित्) और (यूयम्) आप (स्वस्तिभिः) मङ्गल वाणियों से (सदा) सर्वदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम उस बृहस्पति सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना करो जिसने द्युलोक और पृथिवीलोक के सब ऐश्वर्यों को उत्पन्न किया है, और उसी से सब प्रकार के धन और ऐश्वर्यों की प्रार्थना करते हुये कहो कि हे परमात्मा ! आप मङ्गल वाणियों से हमारी सदैव रक्षा करें ॥ १० ॥

॥ ९७वां सूक्त और २२वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य अष्टनवतितमस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिः ॥
१–६ इन्द्रः । ७ इन्द्राबृहस्पति देवते ॥ छन्दः १, २, ६, ७ निचृत् त्रिष्टुप् । ३ विराट्त्रिष्टुप् । ४, ५, त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथोक्तपरमात्मा सर्वशक्तिमत्त्वेन वर्ण्यते—

अब उक्त परमात्मा सर्वशक्तिरूप से वर्णित किया जाता है—

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् ।
गौराद्वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥१॥

अध्वर्यवः । अरुणं । दुग्धं । अंशुं । जुहोतन । वृषभाय । क्षितीनां । गौरात् । वेदीयान् । अवऽपानं । इन्द्रः । विश्वाहा । इत् । याति । सुतऽसोमं । इच्छन् ॥१॥

पदार्थः—(अध्वर्यवः) हे ऋत्विजः ! यूयम् (क्षितीनां वृषभाय) ब्रह्माण्डस्य सुखयित्रे (अरुणम्) तर्पणपदार्थैः (दुग्धम्) पयसा (अंशुम्) ओषधिखण्डैः (जुहोतन) जुहुत, तथा (वेदीयान्) वेदिगतान् (गौरात्) शुभ्रादपिशुभ्रतरान् पदार्थान् (अवपानम्) पिबत एवं हि (इन्द्रः) ऐश्वर्यशालिविद्वान् (विश्वाहा) सर्वदा (सुतसोमम्, इच्छन्) शोभनशीलम् वाञ्छन् (याति) प्राप्नोति प्रोच्चपदम् ॥१॥

पदार्थ—(अध्वर्यव:) हे ऋत्विग् ! आप लोग (क्षितीनां वृषभाय) जो इन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का स्वामी आनन्द की वृष्टि करनेवाला परमात्मा है, उसकी (जुहोतन) उपासना करें, और (अरुणम्) आह्लादक पदार्थों से तथा (दुग्धम्) स्निग्धद्रव्यों से (अंशुम्) ओषधियों के खण्डों से हवन करें और (वेदीयान्) वेदीगत (गौरात्) शुभ्र पदार्थों का (अवपानम्) पान करें, ऐसा करने से (इन्द्र:) परमैश्वर्यवाला विद्वान् (विश्वाहा) सर्वदा (सतसोमम्, इच्छन्) सुन्दर शील की इच्छा करता हुआ अपने उच्च लक्ष्य को (याति) प्राप्त होता है ।। १ ।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ऋत्विग् लोगो ! आप निखिल संसार के पति परमात्मा की उपासना करो, और सुन्दर सुन्दर पदार्थों से हवन करते हुये अपने स्वभाव को सौम्य बनाने की इच्छा करो, इस मन्त्र में परमात्मा ने सौम्य स्वभाव बनाने का उपदेश किया, अर्थात् जो विद्वान् शील सम्पन्न होता है वही अपने लक्ष्य को प्राप्त होता है अन्य नहीं, इस भाव का यहाँ वर्णन किया गया ।। १ ।।

यद्दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान्पाहि सोमान् ॥२॥

यत् । दधिषे । प्रऽदिवि । चारु । अन्नं । दिवेऽदिवे । पीतिं । इत् । अस्य । वक्षि । उत । हृदा । उत । मनसा । जुषाणः । उशन् । इन्द्र । प्रऽस्थितान् । पाहि । सोमान् ॥२॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे विद्वन् ! (यत्) यतस्त्वम् (दिवे दिवे) प्रतिदिनम् (चारु, अन्नम्) शोभनमन्नं दधासि (प्रदिवि) गतदिनेष्वपि श्रेष्ठमेवाऽधा: (अस्य) सोमस्य (पीतिम् उत्) पानमेव (वक्षि) कामयसे (उत्) तथा (हृदा, उत् मनसा) हृदयेन मनसा च (जुषाण:) परमात्मानं सेवमान: (उशन्) सर्वजनहितमिच्छन् (प्रस्थितान्, सोमान् पाहि) उपस्थितानिमान् सोमप: पाहि रक्ष ।।२।।

पदार्थ—(इन्द्र) हे विद्वन् ! (यत्) जो तुम (दिवे, दिवे) प्रतिदिन (चारु, अन्नम्) श्रेष्ठ अन्न को धारण करते हो । और (प्रदिवि) गतदिनों में भी तुमने श्रेष्ठ अन्न को ही धारण किया और (अस्य) सौम्य स्वभाव बनानेवाले सोम द्रव्य के (पीतिम्, इत्) पान को ही (वक्षि) चाहते हो (उत्) और (हृदा) हृदय से (उत्) और (मनसा) मन से (जुषाण:) परमात्मा का सेवन करते हुए (उशन्) सबकी भलाई की इच्छा करते हुए तुम (प्रस्थितान्, पाहि, सोमान्) इन उपस्थित सोमपा लोगों को अपने उपदेशों द्वारा पवित्र करो ।। २ ।।

भावार्थ—केवल सोम द्रव्य के पीने से ही शील उत्तम स्वभाव नहीं बन सकता इसलिये यह कथन किया है कि हे विद्वन् ! आप सौम्य स्वभाव का उपदेश कर के लोगों में शान्ति फैलावें ।। २ ।।

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्वन्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥३॥

जज्ञानः । सोमं । सहसे । पपाथ । प्र । ते । माता । महिमानं । उवाच । आ । इन्द्र । पप्राथ । उरु । अन्तरिक्षं । युधा । देवेभ्यः । वरिवः । चकर्थ ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे विद्वन् ! (जज्ञानः) उत्पद्यमान एव (सहसे) बलाय (सोमम्) सोमरसम् (पपाथ) पीतवानसि (ते) तव माता (महिमानम्, उवाच) ईश्वरप्रभावं तुभ्यमुपादिशत् (उरु, अन्तरिक्षम्) महदन्तरिक्षम् (आपप्राथ) स्वविद्याबलेन पूरितवानसि (देवेभ्यः) देवप्रकृतिजनेभ्यः (वरिवः) धनाद्यैश्वर्यम् (चकर्थ) उदपत्थाः ॥३॥

पदार्थ—(इन्द्र) हे विद्वन्, (जज्ञानः) तुमने पैदा होते ही (सहसे) बल के लिये (सोमम्) सौम्य स्वभाव बनानेवाले सोमरस का (पपाथ) पान किया और (ते) तुम्हारी माता ने (महिमानम्, उवाच) परमात्मा के महत्त्व का तुम्हारे प्रति उपदेश किया, तुमने (उरु, अन्तरिक्षम्) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष को (आपप्राथ) अपनी विद्याबल से परिपूर्ण किया, तथा (देवेभ्यः) देवप्रकृतिवाले मनुष्यों के लिये (वरिवः) धनरूपी ऐश्वर्य (चकर्थ) उत्पन्न किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में इस बात का उपदेश किया गया है कि जो पुरुष प्रथम माता से शिक्षा उपलब्ध करता है तथा वैदिक संस्कारों द्वारा अपने स्वभाव को सुन्दर बनाता है। वह सर्वोत्तम विद्वान् होकर इस संसार में अपने यश को फैलाता है और वेदानुयायी पुरुषों के ऐश्वर्य को बढ़ाता है ॥

यद्योधया महतो मन्यमानान्त्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान् ।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥४॥

यत् । योधयाः । महतः । मन्यमानान् । साक्षाम । तान् । बाहुऽभिः । शाशदानान् । यत् । वा । नृऽभिः । वृतः । इन्द्रः । अभिऽयुध्याः । तं । त्वया । आजिं । सौश्रवसं । जयेम ॥४४॥

पदार्थः—हे विद्वन्, (महतो, मन्यमानान, योधयाः) ये योद्धार आत्मानः प्रबलान् मन्यन्ते (शाशदानान्) हिंसकान् (तान्) तान् (बाहुभिः) भुजैः (साक्षाम) हन्तुं शक्नुयाम (यत्, वा) तथा वा यः (नृभिः, वृतः) अनेकसैन्यपरिवृतः (अभियुध्याः) मया युध्येत (तम्) तं योद्धारम् (इन्द्र) हे विद्वन् ! (सौश्रवसम्) सुप्रख्यातम् (आजिम्) संग्रामे (त्वया) त्वत्साहाय्येन (जयेम) अभिभवेम ॥४॥

पदार्थ—हे विद्वन् ! (महतो, मन्यमानान्, योधयाः) युद्ध करनेवाले जो बड़े से बड़ा अपने को मानते हैं और (शाशदानान्) बड़े हिंसक हैं (तान्) उनको (बाहुभिः) हाथों से (साक्षाम) हनन करने में हम समर्थ हों, और (यत्, वा) अथवा (नृभिः) मनुष्यों करके (वृतः) आवृत हुआ (इन्द्र) युद्धविद्यावेत्ता विद्वान् (अभियुध्याः) हम से युद्ध करे (तम्) उस (सौश्रसम्) बड़े प्रख्यात को (आजिम्) संग्राम में (त्वया) तुम्हारी सहायता से (जयेम) जीतें ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जो पुरुष न्यायशील होकर अन्यायकारी शत्रुओं को दमन करने का बल मांगते हैं उनको मैं अनन्त बल देता हूं, ताकि वे अन्यायकारी हिंसकों का नाश कर संसार में धर्म और न्याय का राज्य फैलावें ॥ ४ ॥

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥५॥

प्र । इन्द्रस्य । वोचं । प्रथमा । कृतानि । प्र । नूतना । मघऽवा । या । चकार । यदा । इत् । अदेवीः । असहिष्ट । मायाः । अथ । अभवत् । केवलः । सोमः । अस्य ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रस्य) विदुषः (प्रथमा, कृतानि) पूर्वं सम्पादितानि (या) यानि च (नूतना) नूतनानि कर्माणि (मघवा) ऐश्वर्यशाली विद्वान् (प्र, चकार) अकरोत् तानि (प्रवोचम्) वर्णयामि (यदा) यत्रकाले(अदेवीः, मायाः) आसुरीम् प्रकृतिम् (असहिष्ट, इत्) सोढवानयं तदा (केवलः, सोमः) एक एव सौम्यस्वभावः (अस्य, अभवत्) अस्य विदुषोऽभूत् सहायः ।।५।।

पदार्थ—(इन्द्रस्य) विद्वान् के (प्रथमा, कृतानि) पहले किये हुए वीर्यकर्मों को तथा (या) जिन (नूतना) नवीन कर्मों को (मघवा) ऐश्वर्यसम्पन्न विद्वान् ने (प्र, चकार) किया उनको (प्र, वोचम्) वर्णन करते हैं, (यदा) जब इसने (अदेवीः, मायाः,) आसुरी प्रकृति को (असहिष्ट, इत्) दृढ़रूप से सह लिया अर्थात् उसके वशीभूत न हुआ तब (केवलः, सोमः) केवल सोम अर्थात् शील (अस्य, अभवत्) इसका सहायक हुआ ।।५।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे विद्वानो ! जो पुरुष आसुरी माया के बन्धन में नहीं आता उसके बल और यश को सम्पूर्ण संसार वर्णन करता है और उसकी दृढ़ता और परमात्मपरायणता उसको आपत् समय में भी सहायता देती है इसलिये तुम ऐसा व्रत धारण करो कि छल, कपट, दम्भ के कदापि वशीभूत न होओ । इस दृढ़ता के लिये मैं तुम्हारा सहायक होऊँगा ।।५।।

अथ सूक्तसमाप्तौ परमात्मा ऐश्वर्य्यदातृत्वेन वर्ण्यते:—

जिस परमात्मा की कृपा से पूर्वोक्त विद्वान् उक्त ऐश्वर्य को प्राप्त होता है अब सूक्त की समाप्ति में उसका वर्णन करते हैं—

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥६॥

तव । इदं । विश्वं । अभितः । पशव्यं । यत् । पश्यसि । चक्षसा । सूर्यस्य । गवां । असि । गोऽपतिः । एकः । इन्द्रः । भक्षीमहि । ते । प्रऽयतस्य । वस्वः ॥६॥

पदार्थः—हे भगवन् ! (तव, इदं, विश्वम्) तवेदं दृश्यमानं भुवनमखिलम् (अभितः) सर्वतः (पशव्यम्) हितमस्ति यतः (यत्, पश्यसि) त्वमेवास्य प्रकाशकः (चक्षसा) स्वतेजसा (सूर्यस्य) सूर्यस्यापि प्रकाशकश्च (इन्द्र) हे परमात्मन् ! (एकः) केवल एकस्त्वम्(गवाम्, असि) विभूतीनामाधारोऽसि (गोपतिः) विभूतीनामीश्वरोऽसि च (ते) तव (प्रयतस्य) दत्तस्य(वस्वः) धनादेः (भक्षीमहि) वयं भोक्तारो भवेम ।।६।।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (तव, इदम्, विश्वम्) तुम्हारा जो यह संसार है यह (अभित:) सब ओर से (पशव्यम्) प्राणीमात्र का हितकर है, क्योंकि (यत्, पश्यसि) तुम इसके प्रकाशक हो (चक्षसा) और अपने तेज से आप (सूर्यस्य) सूर्य के भी प्रकाशक हैं (इन्द्र) "इन्दतीतीन्द्र:, इदि परमैश्वर्ये" हे परमात्मन् ! तुम (एक:) अकेले ही (गवाम्, असि) सब विभूतियों के आधार हो और (गोपति:) सब विभूतियों के पति हो । (ते) तुम्हारा (प्रयतस्य) दिया हुआ (वस्व:) ऐश्वर्य (भक्षीमहि) हम भोगें ।।६।।

भावार्थ—हे परमात्मन् ! आप सम्पूर्ण विश्व के प्रकाशक हैं और आपका यह संसार प्राणीमात्र के लिये सुखदायक है, जो कुछ हम इसमें दु:खप्रद अर्थात् दु:खदायक देखते हैं वह सब हमारे ही अज्ञान का फल है ।।६।।

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।।७।।२३।।

बृहस्पते । युवं । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति । उत । पार्थिवस्य । धत्तं । रयिं । स्तुवते । कीरये । चित् । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ।।७।।२३।।

पदार्थः—(बृहस्पते) हे सर्वाधिपते ! (च, इन्द्र:) ऐश्वर्यवाँश्च ! (युवम्) त्वम् (दिव्यस्य, वस्व:) द्युलोकगतैश्वर्य्यस्य (उत्, पार्थिवस्य) पृथिवीगतस्य च (ईशाथे) ईश्वरोऽसि (स्तुवते, कीरये) व्ययार्थं प्रार्थयमानाय (रयिं) धनम् (धत्तम्) देहि (इत) तथा च (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभि:) मङ्गलवाग्भि: (सदा) शश्वत् (न:) अस्मान् (पात) रक्षतु ।।७।।२३।।

इति अष्टनवतितमं सूक्तं त्रयोविंशो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(बृहस्पते) हे सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामिन् ! (च) और (इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्त परमात्मन् ! (युवम्) आप (दिव्यस्य, वस्व:) द्युलोक के ऐश्वर्य के (उत, पार्थिवस्य) और पृथिवी के ऐश्वर्य के (ईशाथे) ईश्वर हो, हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि (स्तुवते, कीरये) अपने भक्त के लिये (रयिम्) धन को (धत्तम्) देवें (चित्) और (यूयं) आप (स्वस्तिभि:) मङ्गल वाणियों से (सदा) सर्वदा (न:) हमारी (पात) रक्षा करें ।।७।।

भावार्थ—यहां परमात्मा में जो द्विवचन दिया है वह इन्द्र और बृहस्पति के भिन्न-भिन्न होने के अभिप्राय से नहीं, किन्तु उत्पत्ति और स्थिति इन दो शक्तियों के अभिप्राय से अर्थात् स्वामित्व और प्रकाशकत्व इन दो शक्तियों के अभिप्राय से है, व्यक्तिभेद के अभिप्राय से नहीं, इसी अभिप्राय से आगे जाकर यूयम् यह बहुवचन दिया । तात्पर्य्य यह है कि एक ही परमात्मा को यहाँ बृहस्पति और इन्द्र इन नामों से गुण भेद से वर्णन किया जैसा कि एक ही ब्रह्म का **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** तै० २।१। यहाँ सत्यादि नामों से एक ही वस्तु का ग्रहण है एवं यहाँ भी भिन्न-भिन्न नामों से एक ही ब्रह्म का ग्रहण है, दो का नहीं ।।७।।

।। ९८ सूक्त और २३वां वर्ग समाप्त हुआ ।।

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ।। १–३, ७ विष्णुः । ४–६ इन्द्राविष्णू देवते ।। छन्दः—१, ६ विराट् त्रिष्टुप् । २, ३ त्रिष्टुप् । ४, ५, ७, निचृत् त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

परो मात्रया तन्वा वृधान न ते महित्वमन्वश्नुवन्ति ।
उभे ते विद्म रजसी पृथिव्या विष्णो देव त्वं परमस्य वित्से ॥१॥

परः । मात्रया । तन्वा । वृधान । न । ते । महिऽत्वं । अनु । अश्नुवन्ति । उभे इति । ते । विद्म । रजसी इति । पृथिव्याः । विष्णो इति । देव । त्वं । परमस्य । वित्से ॥१॥

पदार्थः—(मात्रया) प्रकृत्या पञ्चतन्मात्ररूपेण (तन्वा) शरीरेण (वृधानः) वृद्धि प्राप्तम् (ते) तव (महित्वम्) महिमानम् (विष्णो) हे विभो, (न) नैव(अश्नुवन्ति) प्राप्नुवन्ति, हे विभो, (ते) तव (उभे) उभावपि लोकौ (विद्म) जानीमः यौ (पृथिव्याः) पृथिवीतः (रजसी) अन्तरिक्षपर्यन्तौ स्तः (देव) हे दिव्यशक्तिमन्, (त्वम्) त्वमेव (अस्य) अस्य ब्रह्माण्डस्य (परम्) पारम्(वित्से) जानासि नान्यः यतः (परः) सर्वस्मात्परोऽसि ।।१।।

पदार्थ—(मात्रया) प्रकृति के पञ्चतन्मात्रारूप (तन्वा) शरीर से (वृधानः) वृद्धि को प्राप्त (ते) तुम्हारी (महित्वम्) महिमा को हे (विष्णो) विभो । (न) नहीं (अश्नुवन्ति) प्राप्त कर सकते । हे व्यापक परमात्मन् ! (ते) तुम्हारे (उभे) दोनों लोकों को हम (विद्म) जानते हैं (जो पृथिव्याः) पृथिवी से लेकर (रजसी) अन्तरिक्ष तक हैं जो (देव) दिव्य शक्तिमन् परमात्मन् ! (त्वं) तुम ही (अस्य) इस ब्रह्माण्ड के (परं) पार को (वित्से) जानते हो, अन्य नहीं ।।१।।

भावार्थ—जीव केवल प्रत्यक्ष से लोकों को जान सकता है सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का ज्ञाता एकमात्र परमात्मा है, तन्मात्रा कथन करना यहां प्रकृति के सूक्ष्म कार्य्यों का उपलक्षणमात्र है ।

तात्पर्य यह है कि प्रकृति उसके शरीरस्थानी होकर उस परमात्मा के महत्त्व को बढ़ा रही है, या यों कहो कि प्रकृत्यादि सब पदार्थ उस परमात्मा के एक देश में है और वह असीम अर्थात् अवधि रहित है ।।१।।

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप ।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः ।।२॥

न । ते । विष्णो इति । जायमानः । न । जातः । देव । महिम्नः । परं । अन्तं । आप । उत् । अस्तभ्नाः । नाकं । ऋष्वं । बृहन्तं । दाधर्थ । प्राचीं । ककुभं । पृथिव्याः ।।२।।

पदार्थः—(विष्णो) हे भगवन् ! (ते) तव (महिम्नः) महत्वस्य (परम्, अन्तम्) सीमानम् (जायमानः) साम्प्रतिको जनः (जातः) भूतो जनश्च (न) नैव (आप) आप्तवान् (नाकम्) स्वर्गम्(उत्, अस्तभ्ना) धारितवानसी भवतः (महत्वम्, ऋष्वम्)

महिमा दर्शनीयः (बृहन्तम्) सर्वतोऽधिकश्च तथा च (पृथिव्याः) भूमेः (प्राचीं) पूर्वाम् (ककुभम्) दिशाम् (दाधर्थ) दधासि च ॥२॥

पदार्थ—(विष्णो) हे व्यापक परमेश्वर ! (ते) तुम्हारे (महिम्नः) महत्त्व के (परं, अन्तं) सीमा को (जायमानो) वर्त्तमानकाल में (जातः) भूतकाल में भी ऐसा कोई (न) नहीं हुआ जो आपके अन्त को (आप) प्राप्त हो सका । आपने (नाकं) द्युलोक को (उदस्तम्नाः) स्थित रखा है और आपकी (महत्वं, ऋष्वं) महिमा दर्शनीय है तथा (बृहन्तं) सबसे बड़ा है और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक की (प्राचीं, ककुभं) प्राच्यादि दिशाओं को आप (दाधर्थ) धारण किये हुए हैं ॥२॥

भावार्थ—भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में किसी की शक्ति नहीं जो परमात्मा के महत्व को जान सके, इसी कारण उसका नाम अनन्त है जिसको **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** ॥ तै० २ । १ ॥ इस वाक्य ने भी भलीभाँति वर्णन किया है, उसी ब्रह्म का यहां विष्णु नाम से वर्णन है, केवल यहां ही नहीं किन्तु **"य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा" ॥ऋ. मं. १।१५४।४** ॥ में यह कहा है कि जिस एक अद्वैत अर्थात् असहाय परमात्मा ने सत्वरजस्तम इन तीनों गुणों के समुच्चयरूप प्रकृति को धारण किया हुआ है उस व्यापक ब्रह्म का नाम यहां विष्णु है । **"विष्णोर्नु कं वीर्य्याणि प्रवोचं" ॥ ऋ. मं. १ । १५४ । १ ॥ "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" ॥ ऋ. मं. १ । सू. २२ । २० ॥ "इदं विष्णुर्विचक्रमे" ॥ ऋ. १।२२।१७ ॥** इत्यादि शतशः मन्त्रों में उस व्यापक विष्णु के स्वरूप को वर्णन किया है । फिर न जाने वेदों में आध्यात्मिक वाद की आशङ्का करनेवाले किस आधार पर यह कहा करते हैं कि वेदों में एक ईश्वरवाद नहीं ॥२॥

इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुषे दशस्या ।
व्यस्तभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ॥३॥

इराऽवती इतीराऽवती । धेनुमती इति धेनुऽमती । हि । भूतं । सूयवसिनी । इति सुऽयवसिनी मनुषे । दशस्या । वि । अस्तभ्नाः । रोदसी इति । विष्णो इति । एते इति । दाधर्थ । पृथिवीं । अभितः । मयूखैः ॥३॥

पदार्थः—(विष्णो) हे विभो ! (पृथिवीम्, अभितः) पृथिव्याः सर्वतः (मयूखैः) स्वतेजोमयकिरणैः (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (दाधर्थ) धृतवानसि, यौ चोभौ लोकौ (इरावती) ऐश्वर्यसम्पन्नौ(धेनुमती) सर्वमनोरथसाधकौ (सूयवसिनी) सर्वस्मात्सुन्दरौ (मनुषे) मनुष्याय ऐश्वर्यं दातुम् (दशस्या) उत्पादितौ भवता (वि, अस्तभ्नाः) तौ च स्वशक्त्या धारयसि ॥३॥

पदार्थ—(विष्णो) हे व्यापक परमात्मन् ! (पृथिवीमभितः) पृथिवी के चारों ओर से (मयूखैः) अपने तेजरूप किरणों से (रोदसी) द्युलोक और पृथिवी लोक को (दाधर्थ) आपने धारण किया हुआ है जो दोनों लोक (इरावती) ऐश्वर्य्यवाले (धेनुमती) सब प्रकार के मनोरथों को पूर्ण करनेवाले (सूयवसिनी) सर्वोपरि सुन्दर (मनुषे) मनुष्य के लिये ऐश्वर्य (दशस्या) देने के लिये आपने उत्पन्न किये हैं ।

भावार्थ—यहां द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों उपलक्षणमात्र हैं । वास्तव में परमात्मा ने सब लोक लोकान्तरों को ऐश्वर्य्य के लिये उत्पन्न किया है और इस ऐश्वर्य्य के अधिकारी

सत्कर्म्मी पुरुष हैं, जो लोग कर्म्मयोगी हैं उनके लिये द्युलोक तथा पृथिवीलोक के सब मार्ग खुले हुए हैं ।

परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे अधिकारी जनो ! आपके लिये यह विस्तृत ब्रह्माण्डक्षेत्र खुला है । आप इस में कर्म्मयोगद्वारा अव्याहतगति अर्थात् बिना रोक-टोक के सर्वत्र विचरें ॥३॥

उरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकं जनयन्ता सूर्यमुषासमग्निम् ।
दासस्य चिद्वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुर्नरा पृतनाज्येषु ॥४॥

उरुं । यज्ञाय । चक्रथुः । ऊं इति । लोकं । जनयन्ता । सूर्यं । उषसं । अग्निं । दासस्य । चित् । वृषऽशिप्रस्य । मायाः । जघ्नथुः । नरा । पृतनाज्येषु । ॥४॥

पदार्थः—(उरुम्) इमं विस्तृतम् (लोकम्) भुवनमीश्वरः (यज्ञाय) यज्ञं कर्तुम् (चक्रथुः) कृतवान् स एव च (सूर्यं, उषासम् अग्निम्) उषोविशिष्टमग्निरूपसूर्यं (जनयन्ता) अररचत्, भवान् (पृतनाज्येषु) युद्धेषु (दासस्य)छद्मवतः (वृषशिप्रस्य)यो हि दम्भेन साधकस्तस्य (मायाः) कपटम् (जघ्नथुः) नाशयतु(नरा) हे नेतर्भगवन् ॥४॥

पदार्थ—(उरुं) इस विस्तृत (लोक) लोक को परमात्मा ने (यज्ञाय) यज्ञ के लिये (चक्रथुः) उत्पन्न किया है और उसीने (सूर्य्यम् उषसमग्नि) उषा काल की ज्योतिवाले अग्निरूप सूर्य्य को रचा है आप (पृतनाज्येषु) युद्धों में (**दासस्य**) कपटी लोगों को जो (वृषशिप्रस्य) दम्भ से काम लेते हैं उनके (माया) कपट को (जघ्नथुः) नाश करें (नरा) नरा शब्द यहां नेता के अभिप्राय से आया है द्विवचन यहां व्यत्यय से अविवक्षित है ॥

भावार्थ—परमात्मा प्रार्थनाकर्त्ताओं के द्वारा इसको प्रकट करते हैं कि न्यायाभिलाषी पुरुषो ! तुम मायावी पुरुषों की माया के नाश करने के लिये प्रार्थना रूपी भाव को उत्पन्न करो फिर यह सत्कर्म्म स्वयं प्रबल हो करके फल देगा ॥४॥

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम् ।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान् ॥५॥

इन्द्राविष्णू इति । दृंहिताः । शंबरस्य । नव । पुरः । नवतिं । च । श्नथिष्टं । शतं । वर्चिनः । सहस्रं । च । साकं । हथः । अप्रति । असुरस्य । वीरान् ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्राविष्णू) हे न्यायशक्तिमन् ! व्यापकशक्तिमँश्च परमात्मन् ! भवान् (दृंहिताः) सर्वत्र वृद्धिमाप्नुवानः (शम्बरस्य) मेघवत्प्रसृतस्य शत्रोः (नव, नवतिम्) नवनवतिम् तथा (वर्चिनः) मायाविनस्तस्य (शतम्) शतसंख्याकानि (च) च पुनः (सहस्रम्) सहस्रसंख्याकानि (पुरः) दुर्गाणि (श्नथिष्टम्) ध्वंसयतु, तथा (साकम्) शत्रूनपि युगपदेव नाशयत (अप्रत्यसुरस्य) तस्य च अप्रतिद्वन्दिनः (वीरान्) सैनिकान् (हथः) हिनस्तु ॥५॥

पदार्थ—(इन्द्राविष्णु) हे न्याय और वज्ररूप शक्तिवाले परमात्मन्! आप (दृंहिताः) दृढ़ से दृढ़ (शम्बरस्य) मेघ के समान फैले हुए शत्रु के (नवनवतिं) निन्यानवे (च) और उस (वर्चिनः) मायावी पुरुष के (शतं) सैकड़ों (च) और (सहस्रं) हजारों (पुरीः) दुर्गों को (श्नथिष्टं) नाश करें तथा (साकं) शीघ्र ही (अप्रत्यसुरस्य) उसके उभरने से प्रथम ही उसके (वीरान्) सैनिकों को (हथः) हनन करो।

भावार्थ—मायावी शत्रु को दमन करने के लिये न्यायशील पुरुषों को परमात्मा उपदेश करते हैं कि तुम लोग अन्यायकारी शत्रुओं के सैकड़ों हजारों दुर्गों से मत डरो क्योंकि (माया) अन्याय से जीतने की इच्छा करनेवाला असुर स्वयं अपने पाप से आप मारा जाता है और उसके लिये आकाश से वज्रपात होता है जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि **"प्र वर्तय दिवो अश्मानमिन्द्र"** ॥ मं. ७।१०४ मं, १९ ॥ परमात्मा! तुम अन्यायकारी मायावी के लिये आकाश से वज्रपात करो। इस प्रकार न्याय की रक्षा के लिये वीर पुरुषों के प्रति यहाँ परमात्मा का उपदेश है॥ ५॥

इयं मनीषा बृहती बृहन्तोरुक्रमा तवसा वर्धयन्ती।
ररे वां स्तोमं विदथेषु विष्णो पिन्वतमिषो वृजनेष्विन्द्र ॥६॥

इयं। मनीषा। बृहती। बृहन्ता। उरुऽक्रमा। तवसा। वर्धयन्ती। ररे। वां। स्तोमं। विदथेषु। विष्णो इति। पिन्वतं। इषः। वृजनेषु। इन्द्र ॥६॥

पदार्थः—(बृहन्ता, उरुक्रमा) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्! (इयम्, मनीषा) इयं बुद्धिः (बृहती) या न्यायरक्षणाय पर्याप्तास्ति (तवसा) बलं दत्त्वा (वर्धयन्ती) पोषयन्ती अतः (विष्णो) परमात्मन्! (वां) तुभ्यम् (स्तोमम्) इमांस्तुतिम् (ररे) करोमि येन (विदथेषु) क्रतुषु (वृजनेषु) संग्रामेषु च (इन्द्र) हे परमात्मन्! (इषः) ऐश्वर्यम् (पिन्वतम्) वर्धयतु ॥६॥

पदार्थ—(बृहन्तोरुक्रमा) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्, (इयं) यह (मनीषा) बुद्धि (बृहती) जो न्याय की रक्षा के लिये सबसे बड़ी है (तवसा) बल देकर (वर्धयन्ती) बढ़ाती हैं इसलिये (विष्णो) हे परमात्मन्! (वां) आपकी यह (स्तोमं) स्तुति हम (ररे) करते हैं ताकि (विदथेषु) यज्ञों और (वृजनेषु) युद्धों में (इषः) हमारे ऐश्वर्य्य को आप (पिन्वतं) बढाएँ॥

भावार्थ—जो ऐश्वर्य के बढ़ानेवाली इस वाणी को सेवन करते हैं अर्थात् (ब्रह्मयज्ञ) ईश्वरोपासना (और वीरयज्ञ) अन्याय के दमन करने के लिये वीरता करना इस प्रकार भक्ति भाव और वीर भाव इन दोनों का अनुष्ठान करते हैं वे सब प्रकार की विपत्तियों को नाश कर सकते हैं॥ ६॥

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम्।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

वषट्। ते। विष्णो इति। आसः। आ। कृणोमि। तत्। मे। जुषस्व। शिपिऽविष्ट। हव्यं। वर्धन्तु। त्वा। सुऽस्तुतयः। गिरः। मे। यूयं। पात। स्वस्तिऽभिः। सदा। नः ॥७॥

पदार्थः—(शिपिविष्ट) हे तेजोमय परमात्मन्! (हव्यम्) मम प्रार्थना (जुषस्व) स्वीकुरु या (वषट्) नम्रतया कृताः (विष्णो) हे विभो! (ते) तव (आस) समक्षं

ताः प्रार्थनाः (आ, कृणोमि) करोमि तथा (मे) मम (गिरः) स्तुतिवाचः (सुष्टुतयः) सुयशसः (त्वाम्) तव यशः (वर्धन्तु) वर्धयन्तु (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) स्वस्तिवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥७॥

॥ इति नवनवतितमं सूक्तं चतुर्विंशो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(शिपिविष्ट) हे तेजोमय परमात्मन्, आप (हव्यं) हमारी प्रार्थनाओं को (जुषस्व) स्वीकार करें जो (वषट्) बड़ी नम्रतापूर्वक की गई हैं (विष्णो) हे व्यापक परमात्मन्! (ते) तुम्हारे (आस) समक्ष वे प्रार्थनाएँ (आ, कृणोमि) हैं और (मे) मेरी (गिरः) ये वाणियें (सुष्टुतयः) जिनमें भले प्रकार से आपका वर्णन किया गया है (त्वां) आपके यश को (वर्धन्तु) बढ़ाएँ और (यूयं) आप (सदा) सदैव (स्वस्तिभिः) मङ्गल कार्यों से (पात) हमारी रक्षा करें ॥

भावार्थ—शिपिनाम यहाँ तेजोरूप किरणों का है **"शिपयो रश्मयः" ॥ निरु. ५।८॥** अर्थात् ज्योतिःस्वरूप परमात्मा हमारी प्रार्थनाओं को स्वीकार करे और हमको सदैव उन्नति के मार्ग में ले जाये । यहाँ पहले (त्वां) एकवचन आकर भी (यूयं) फिर आदरार्थ बहुवचन है ॥७॥

॥ ९९ सूक्त और २४वां वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ सप्तर्चस्य शततमस्य सूक्तस्य—

१–७ वसिष्ठ ऋषिः ॥ विष्णुर्देवता ॥ छन्दः १, २, ५–७, निचृत् त्रिष्टुप् । ३ विराट् त्रिष्टुप् । ४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥ धैवतः स्वरः ॥

अथ परमात्मना सुमतिरुपदिश्यतेः—

अब परमात्मा सुमति अर्थात् शुभ नीति का उपदेश करते हैं—

नू मर्तो दयते सनिष्यन्यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।
प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमाविवासात् ॥१॥

नु । मर्तः । दयते । सनिष्यन् । यः । विष्णवे । उरुऽगायाय । दाशत् ।
प्र । यः । सत्राचा । मनसा । यजाते । एतावन्तं । नर्यं । आऽविवासात् ॥१॥

पदार्थः—(यः, मर्तः) यो जनः (उरुगायाय) अतिभजनीयाय (विष्णवे) व्यापकायेश्वराय (सनिष्यन्)कामयमानो (दाशत्) प्रमाणं करोति तमेव, (नु) शीघ्रम् स नरः (दयते) प्राप्नोति यश्च (सत्राचा मनसा) शुद्ध मनसा (यजाते) तं समर्चेत् (एतावन्तम्, नर्यम्) सर्वप्रणेतारं सः (आविवासात्) प्राप्नोत्येव ॥१॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (उरुगायाय) अत्यन्त भजनीय (विष्णवे) व्यापक परमात्मा की (सनिष्यन्) प्राप्ति के लिये इच्छा (दाशत्) करते हैं (नु) शीघ्र ही वे मनुष्य उसको (दयते) प्राप्त होते हैं । और जो (सत्राचा) शुद्ध मन से (यजाते) उस परमात्मा की उपासना करता है

वह (एतावन्तं, नर्य्यं) उक्त परमात्मा का जो सब प्राणिमात्र का हित करनेवाला है (आविवासात्) अवश्यमेव प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—परमात्मप्राप्ति के लिये सबसे प्रथम जिज्ञासा अर्थात् प्रबल इच्छा उत्पन्न होनी चाहिये । तदनन्तर जो पुरुष निष्कपट भाव से परमात्मपरायण होता है, उस पुरुष को परमात्मा का साक्षात्कार अर्थात् यथार्थज्ञान अवश्यमेव होता है ॥ १ ॥

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः ।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥२॥

त्वं । विष्णो इति । सुऽमतिं । विश्वऽजन्यां । अप्रऽयुतां । एवऽयावः । मतिं । दाः । पर्चः । यथा । नः । सुवितस्य । भूरेः । अश्वऽवतः । पुरुऽचन्द्रस्य । रायः ॥२॥

पदार्थः—(एवयावः) हे सर्वप्रद ! (विष्णो) व्यापक, (त्वम्) भवान् मह्यं (विश्वजन्याम्) विश्वजनहिताम् (अप्रयुताम्) दोषरहिताम् (सुमतिम्) नीतिं (दाः) दद्याः तथा (पुरुश्चन्द्रस्य) सर्वविधैश्वर्यस्य (रायः) साधनोभूतं धनम् (भूरेः, अश्वावतः) अनन्तशक्तिमत् (सुवितस्य) सुविद्यया लभ्यम् (यथा) येन विधिना प्राप्येत तथैव बुद्धिम् (नः) अस्मभ्यं देहि ॥२॥

पदार्थ—(एवयावः) हे सर्वकामनाप्रद (विष्णो) व्यापक परमेश्वर ! (त्वं) आप हमें (विश्वजन्यां) सब संसार का हित करनेवाली (अप्रयुताम्) दोषरहित (सुमतिं) नीति (दाः) दें। और (पुरुश्चन्द्रस्य) सब प्रकार के ऐश्वर्यों का (रायः) साधन जो धन है और (भूरेः, अश्वावतः) जिसमें अनेक प्रकार की शक्तियें हैं और जो (सुवितस्य) सुविधा से प्राप्त हो सकता है (यथा) जिस प्रकार (पर्चः) उसकी प्राप्ति हो वैसी (नः) हमको आप बुद्धि दें ॥

भावार्थ—शुभ नीति और सुनीति उसका नाम है जिससे संसार भर का कल्याण हो। इस मन्त्र में परमात्मा ने इस नीति के उत्पन्न करने के लिये जिज्ञासु द्वारा प्रार्थना कथन करके उपदेश किया है। वास्तव में शुभ नीति ही धर्म्म, देश और जाति की उन्नति का सर्वोपरि साधन है ॥ ३ ॥

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा ।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान्त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ॥३॥

त्रिः । देवः । पृथिवीं । एषः । एतां । वि । चक्रमे । शतऽअर्चसं । महिऽत्वा । प्र । विष्णुः । अस्तु । तवसः । तवीयान् । त्वेषं । हि । अस्य । स्थविरस्य । नाम ॥३॥

पदार्थः—(देवः) दिव्यशक्तिः परमात्मा (एताम्) इमाम् (पृथिवीम्) भुवम् (त्रिः) त्रेधा (विचक्रमे) रचयामास (शतर्चसम्) यस्यां शतधा ज्वालाः (महित्वा) याऽतिविस्तृता (अस्य, स्थविरस्य, विष्णुः, नाम) अस्य प्राचो नाम विष्णुरिति यतः (तवसः, तवीयान्) अयं ते स्वामी यद्वा व्यापकः ॥३॥

पदार्थ—(देव:) दिव्यशक्तियुक्त उक्त परमात्मा (एतां) इस (पृथिवीं) पृथिवी को (त्रि:) तीन प्रकार से (विचक्रमे) रचता है (शतर्चसं) जिस पृथिवी में सैकड़ों प्रकार की (अर्चिः) ज्वालायें हैं (महित्वा) जिसका बहुत विस्तार है और इस (स्थविरस्य) प्राचीन पुरुष का नाम इसीलिये (विष्णु:) विष्णु है क्योंकि (तवस:) यह तेरा स्वामी है इसलिये इसका नाम विष्णु है अथवा यह सर्वव्यापक होने से सर्वस्वामी है इसलिये इसका नाम विष्णु है ?

भावार्थ—तीन प्रकार से पृथिवी को रचने के अर्थ ये हैं कि प्रकृति के सत्वादि गुणोंवाले परमाणुओं को परमात्मा ने तीन प्रकार से रखा, तामस-भाववाले परमाणु, पृथिवी पाषाणादिरूप से; राजस नक्षत्रादिरूप से और दिव्य अर्थात् द्युलोकस्थ पदार्थों को सात्विक भाव से, ये तीन प्रकार की गतिये हैं इसी का नाम त्रेधा निघदे पदं है इसी भाव को **"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्"** ।। मं. १।२२।१७ ।। में वर्णन किया है, जो कई एक लोग इसके अर्थ ये करते हैं कि विष्णु ने वामनावतार को धारण करके तीन पैर से पृथिवी को नापा इसका उत्तर यह है कि इसी विष्णुसूक्त में "तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" ।। मं. १।२२।२०।। में इस पद को चक्षु की निराकार ज्योति के समान निराकार माना है ।

अन्य युक्ति यह है कि विष्णु का स्वरूपपद निराकार होने से एक कथन किया है, तीन संख्या केवल प्रकृतिरूपी पद में मानी है विष्णु के पद में नहीं फिर निराकार विष्णु का देह धर कर साकार पद कैसे ?

सबसे प्रबल प्रमाण इस विषय में यह है कि इसी प्रसङ्ग में सूक्त ९९वें के दूसरे मन्त्र में यह कथन किया है कि **"न ते विष्णो जायमानो न जातो देवमहिम्नः परमन्तमाप"** हे देव, तुम्हारी महिमा के अन्त को कोई नहीं पा सकता क्योंकि तुमने ही लोक लोकान्तरों को धारण किया हुआ है, तो फिर जब वह सर्वाधिष्ठान अर्थात् सब भुवनों का आश्रय है तो उसके पैरों को अन्य वस्तुएँ कैसे आश्रय दे सकती हैं ।। ३ ।।

अथेश्वरः स्वयमेव विक्रमिरची समानार्थत्वेन कथयति—

अब ईश्वर स्वयं कथन करते हैं कि विचक्रमे के अर्थ निर्म्माण अर्थात् रचने के हैं—

वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ।।४।।

वि । चक्रमे । पृथिवीं । एषः । एतां । क्षेत्राय । विष्णुः । मनुषे । दशस्यन् । ध्रुवासः । अस्य । कीरयः । जनासः । उरुऽक्षितिं । सुऽजनिमा । चकार ।।४।।

पदार्थः—(विष्णु:) व्यापक ईश्वर: (मनुषे, क्षेत्राय, दशस्यन्) मनुष्याय क्षेत्रं दित्सन् (पृथिवीं, एताम्, विचक्रमे)इमां भुवं कृतवान्, यत: (अस्य) अस्य परमात्मन: (कीरय:) स्तोतार: (जनास:) भक्ता: (ध्रुवास:) दृढा अभवन् यत: (उरुक्षितिम्) विस्तृतां पृथिवीं (सुजनिमा) सर्वाङ्गशोभनां (चकार) कृतवान् ।।४।।

पदार्थ—(विष्णु:) व्यापक परमेश्वर ने (मनुषे) मनुष्य के (क्षेत्राय) अभ्युदय (दशस्यन्) देने के लिये (पृथिवीम्, एतां) इस पृथिवी को (विचक्रमे) रचा जिससे (अस्य) इस परमात्मा के कीर्त्तन करनेवाले (जनास:) भक्त लोग (ध्रुवास:) दृढ़ हो गए क्योंकि (उरुक्षितिं) इस विस्तृत

क्षेत्ररूप पृथिवी को (सुजनिमा) सुन्दर प्रादुर्भाव वाले ब्रह्माण्डपति परमात्मा ने (चकार) रचा है।

भावार्थ—जिस पृथिवी में (सुजनिमा) सुन्दर आविर्भाववाले प्राणिजात हैं उनका कर्ता जो परमात्मा है उसने इस सम्पूर्ण विश्व को रचा है। विष्णु के अर्थ यहां **"यज्ञो वै विष्णुः"** ।। श. प. ।। **"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे"** ।। यजु० ३१.७ ।। इत्यादि प्रमाणों से व्यापक परमात्मा के हैं। यही बात विष्णु सूक्तों में सर्वत्र पायी जाती है। इस भाव को वेद ने अन्यत्र भी वर्णन किया है कि **"द्यावाभूमि जनयन्देव एकः"** ।। यजु० ।। एक परमात्मा ने सब लोक लोकान्तरों को रचा है ।।४।।

अथाधोलिखितमन्त्रे वेदो भगवान् विष्णुमीश्वरवाच्यं वर्णयति—

अब निम्नलिखित मन्त्र में वेद स्वयं विष्णु के अर्थ ईश्वर के करते हैं—

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान्।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ।।५।।

प्र । तत् । ते । अद्य । शिपिऽविष्ट । नाम । अर्यः । शंसामि । वयुनानि । विद्वान् । तं । त्वा । गृणामि । तवसं । अतव्यान् । क्षयन्तं । अस्य । रजसः । पराके ।।५।।

पदार्थः—(शिपिविष्ट) शिपिभीरश्मिभिर्विष्ट इति **'शिपिविष्टः'** हे तेजोमय ! (यत्) यतः (ते) तव (अर्यः, नाम) अर्य इति नामास्ति (तम्, त्वा) तादृशं, त्वाम् (गृणामि) स्तौमि (तवसं)स्तवनीयम् प्रवृद्धम् (रजसः) रजोगुणयुक्ते (पराके) ब्रह्माण्डे (अतव्यान्) निरन्तरगमनशीलेषु विविधलोकेषु (क्षयन्तम्) निवससि (वयुनानि) सर्वज्ञानानि (विद्वान्) जानासि (प्रशंसामि, अद्य) अतो भवन्तं स्तौमि ।।५।।

पदार्थ—(शिपिविष्ट) हे तेजोमय परमात्मन् **"शिपयो रश्मयः"** ।। निरु० ५।८ ।। (यत्) जिसलिये (ते) तुम्हारा (अर्यः) अर्य यह नाम है। **"ऋच्छति गच्छति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यर्य्यः"** जो सर्वव्यापक हो उसको अर्य कहते हैं (तं, त्वा) ऐसे तुमको (गृणामि) मैं ग्रहण करता हूं तुम (तवसं) सर्वोपरि वृद्धियुक्त हो (अस्य) इस (रजसः) रजोगुणयुक्त ब्रह्माण्ड के (पराके) मध्य में (अतव्यान्) निरन्तर गमन करनेवाले लोक लोकान्तरों में भी आप (क्षयन्तं) निवास कर रहे हैं और सब प्रकार के (वयुनानि) ज्ञानों के (विद्वान्) आप जाननेवाले हैं इसीलिये मैं आपकी (प्रशंसामि) प्रशंसा करता हूं ।।

भावार्थ—विष्णु, अर्य्य, व्यापक ये तीनों एक ही पदार्थ के नाम हैं। विष्णु को इस मन्त्र में अर्य्य कहा है और अर्य्य परमात्मा का मुख्य नाम है। इस विषय में प्रमाण यह है कि **"राष्ट्री। अर्यः। नियुत्त्वान्। इनइन इतिचत्वारीश्वरनामानि ।।"** निघं ३। २२ ।। राष्ट्री, अर्य्य, नियुत्त्वान्, इनइन ये चारों ईश्वर के नाम हैं। अस्तु।

जो लोग **"इदं विष्णुर्विचक्रमे"** इत्यादि मन्त्रों में विष्णु शब्द के अर्थ सूर्य्य किया करते हैं उसको इस मन्त्र के अर्थ से शिक्षा लेनी चाहिये क्योंकि उक्त मन्त्र में विष्णु का अर्थ अर्थात् व्यापक ईश्वर कथन किया है इससे स्पष्ट है कि विष्णु शब्द के अर्थ व्यापक ईश्वर के ही हैं, किसी अन्य जड़ वा अल्पज्ञ वस्तु के नहीं ।।५।।

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि ।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥६॥

कि । इत् । ते । विष्णो इति । परिऽचक्ष्यं । भूत् । प्र । यत् । ववक्षे । शिपिऽविष्टः । अस्मि । मा । वर्पः । अस्मत् । अप । गूहः । एतत् । यत् । अन्यऽरूपः । संऽइथे । बभूथ ॥६॥

पदार्थः—(विष्णो) हे विभो ! (किं, ते) किं तव रूपम् (परिचक्ष्यं, भूत्) कथनीयमस्ति(यद्, ववक्षे, शिपिविष्टः, अस्मि)यत् त्वं स्वयमवोचत् अहं तेजोमयोऽस्मि, (यत् अन्यरूपः, समिथे, बभूथ) यच्च अन्यरूपवान् संग्रामे भवसि (एतत्) इदम् (वर्पः, अस्मत्, मा, अपगूहः) रूपं मत्तो नान्तर्धापय ।।६।।

पदार्थ—(विष्णो) हे व्यापक परमेश्वर ! (कि ते) क्या तुम्हारा वह रूप कथन करने योग्य है जिसको तुम स्वयं (शिपिविष्टः अस्मि) कि मैं तेजोमय हूं यह अपनी वेदवाणी में कथन करते हो, अर्थात् वह स्वयं सिद्ध है किसी के कथन की अपेक्षा नहीं रखता । और (यत्) जो (अन्यरूपः) दूसरा रूप जो (समिथे) संग्राम में (बभूथ) होता है (एतत्, वर्पः) इस रूप को (अस्मत्) हमसे (मा) मत (अपगूहः) छिपा ।

भावार्थ—परमात्मा का **'स्वप्रकाशतेजोमयरूप'** सृष्टि की रचना और पालने से सबको प्रसिद्ध है, अर्थात् उसकी विचित्र रचना से प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी पुरुष जानता है कि यह विविध रचना किसी सर्वज्ञ तेजोमय परमात्मा से बिना कदापि नहीं हो सकती ।

दूसरी ओर जो उसका **'मन्युमयरूप'** है अर्थात् दुष्टों को दमन करनेवाला ओज है, वह शीघ्र सबकी समझ में नहीं आता इसलिये इस मन्त्र में यह बतलाया गया है कि जिज्ञासु जन इसके भी समझने का यत्न करें ।

(बभूथ) क्रिया यहां भूतकाल की बोधक नहीं किन्तु वैदिक व्याकरण के नियम से तीनों कालों को बोधन करती है, अर्थात् परमात्मा तीनों कालों में रुद्ररूप से दुष्टों का दमन करते हैं ।

और उस रूप के वर्णन करने का प्रकरण यहां इसलिये बतलाया है कि आगे सातवें अध्याय में उस रूप का विशेष रूप से वर्णन करना है ।

कई एक लोग इन दो रूपों के ये अर्थ करते है कि एक विष्णु का न देखने योग्य और न सुनने योग्य रूप है, अर्थात् ऐसा अश्लील लज्जाकर है जिसका भले आदमी नाम लेने से भी लज्जा करते हैं ।

या यों कहो कि शेप नाम उनके मत में मनुष्य के प्रजा उत्पादक इन्द्रिय का है । उस जैसे मुखवाले को **'शिपिविष्टः'** कहते हैं इसलिये उसके देखने का यहां निषेध किया है । यह अर्थ सायणाचार्य्य, महीधरादि सबने किये हैं, जिनकी विशेष समीक्षा करने से ग्रन्थ बढ़ता है इसलिये इतना ही कहते हैं कि यह उनकी अत्यन्त भूल है, क्योंकि निरु० ५।८ में शेप के अर्थ स्वयं निरुक्तकार ने किये हैं कि 'शेप' नाम प्रकाश का है । प्रकाश से आविष्ट का नाम **'शिपिविष्ट'** है ।

हमें यहां इनके ऐसे घृणित रूप मानने का उतना शोक नहीं जितना प्रोफेसर मैक्समूलर, विलसन, ग्रिफिथ और सर रमेशचन्द्रदत्त के ऐसे लज्जाकर अर्थों की ज्यों की त्यों नकल कर देने

का है । ये लोग यदि इस मन्त्र के भाव पर तनिक भी ध्यान देते तो ऐसे घृणित अर्थ कदापि न करते ।

और जो यह कहा जाता है कि निरुक्त के कर्त्ता ने स्वयं यहां लज्जाजनक अर्थ किये हैं और यह कहा है कि विष्णु की हँसी उड़ाने के लिये दूसरा लज्जा प्रधान नाम रखा है यह कथन उन लोगों का है जो निरुक्तकार के आशय को न समझ कर अन्यथा टीका टिप्पणी करते हैं, अस्तु ॥

मुख्य बात यह है कि **'शिपिविष्ट'** नाम ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का है, क्योंकि **'शिपि'** नाम ज्योति का स्वयं निरुक्तकार ने माना है, यह हम अनेक स्थलों में दर्शा आये हैं ॥६॥

वर्षट्ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

वषट् । ते । विष्णो इति । आसः । आ । कृणोमि । तत् । मे । जुषस्व । शिपिऽविष्ट । हव्यं । वर्धन्तु । त्वा । सुऽस्तुतयः । गिरः । मे । यूयं । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥७॥

पदार्थः—(शिपिविष्ट) हे तेजोमय परमात्मन् ! (तत्, मे हव्यम्) भवान् मह्यमीदृक् विश्वासं प्रकटयतु येन शाश्वत् भवद्वशवर्त्ती स्याम् (जुषस्व) मम भक्तिं च सेवताम् (विष्णो) हे विभो ! (ते, वषट्, आस) समक्षमहं श्रद्धां (कृणोमि) प्रकटयामि (सुष्टुतयः) मम शोभनाः स्तुतयः (त्वा, वर्धन्तु) ते यशो वर्धयन्तु (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) कल्याणवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥७॥

इति शततमं सूक्तं षष्ठोऽध्यायः पञ्चविंशो वर्गश्च समाप्तः ।

पदार्थ—(शिपिविष्ट) हे ज्योतिःस्वरूप परमात्मन् ! (तन्मे हव्यं) आप हमको ऐसा विश्वास दें जिससे हम सदैव आपके वशवर्ती बने रहें और आप हमारी भक्ति को (जुषस्व) सेवन करें, (आस) आपके समक्ष हम (वषट्) श्रद्धा (कृणोमि) प्रकट करते हैं (मे) हमारी (गिरः, सुष्टुतयः) प्रार्थनारूप वाणियें (वर्धन्तु) आपके यश को फैलावें (यूयं) आप (स्वस्तिभिः) मङ्गलमय वाणियों से (पात) हमारी सदैव रक्षा करें ।

भावार्थ—इस छठें अध्याय के अन्त में प्रकाशरूप सर्वव्यापक परमात्मा से यह प्रार्थना की गई है कि आप हमको अत्यन्त उन्नतिशील बनायें और सदैव हमारी रक्षा करें ।

जो लोग विष्णु के अर्थ सूर्य्य वा देहधारी विष्णुदेवता के किया करते हैं उनको इन सूक्तों से यह ज्ञान लाभ करना चाहिये कि यहां तो उस विष्णु का वर्णन है जिसके आदि और अन्त का कोई कार्य्य-पदार्थ पा ही नहीं सकता फिर यहां उस सूर्य्य की क्या कथा ? जिसको **"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** ॥ ऋ मं. १० । ९० । ३ ॥ यह वेदमन्त्र स्वयं कार्य्य रूप से कथन करता है । इतना ही नहीं यहां तो यहां तक वर्णन किया है कि **"न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप"** ॥ ऋ. ७ । सू. ९९ । मं. २ ॥ तुम्हारी महिमा को भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों कालों में उत्पन्न होनेवाला जन्तु तुम्हारे अन्त को कदापि नहीं पा सकता और वह महिमा अर्थात् महत्त्व **"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः"** ॥ ऋ. मं. १० । सू. ९० । ३ ॥ इस वेदमन्त्र में वर्णित है फिर यहां किसी देहधारी का ग्रहण कैसे ?

इसी प्रकार **"इदं विष्णुर्विचक्रमे"** ॥ ऋ. १।२२।१७॥ **"विष्णोः कर्म्माणि पश्यत"** ॥ मन्त्र १९ ॥ **"तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः"** मन्त्र २० ॥ इत्यादि व्यापक विष्णु परमात्मा के वर्णन करनेवाले सब मन्त्रों का तात्पर्य्य साकार ईश्वरवादियों ने अवतार वा इस भौतिक सूर्य्य के वर्णन में बतलाया है, सो ठीक नहीं, क्योंकि विष्णु के अर्थ सर्वत्रैव व्यापक परमात्मा के हैं, प्रमाण इसमें ये हैं **"विष्णुर्यज्ञः"** ॥ शत. ६ । ५ । २ । ११ ॥ **"तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे"** ॥ ऋ. मं. १० । सू. ९० । ९ ॥ **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः"** ॥ ऋ. १० । ९० । १६ ॥ जब उक्त प्रमाणों में यज्ञ और विष्णु के एक ही अर्थ हैं अर्थात् यज्ञ वह जिससे वेद उत्पन्न हुए **"एतस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेवैतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"** ॥ बृ० २ । ४ । १० ॥ यहां वेदों का कर्त्ता यजनरूप यज्ञ नहीं किन्तु **"इज्यते सर्वैः पूज्यत इति यज्ञः परमात्मा"** इस अर्थ से कि जो सबका उपासनीय एकमात्र देव हो उसका नाम यहां यज्ञ है, एवं तात्पर्य यह निकला कि यज्ञ, विष्णु, ब्रह्म, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति ये सब नामएक निराकार परमात्मा के हैं तो फिर विष्णु से साकार का ग्रहण कैसे ?

"सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्" ॥ यजु. ४० । ६ ॥ **"न ते विष्णो जायमानो न जातः"** ॥ **"को अद्धा वेद क इह प्र वोचत्"** मं. १० । सू. १२९ । ६ ॥ **"न तस्य प्रतिमास्ति** ॥ यजु० ३२ ।३ ॥ **"नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं"** ॥ यजु० ३२ । २ ॥ इत्यादि शतशः प्रमाण जिसको अकाय अर्थात् निराकार वर्णन करते हैं, उस परमात्मा का यहां विष्णु नाम से निरूपण किया है। विष्णु शब्द अपने स्वार्थ से अर्थात् जब इसके धातु से इसके अर्थ इस प्रकार निकलते हैं कि **"विष्लृ व्याप्तौ, विषेः किञ्च"** ॥ उ. ३ । ३८ ॥ इस सूत्र से 'नु' प्रत्यय करने से विष्णु शब्द सिद्ध होता है **"वेवेष्टि इति विष्णुः"** इसी प्रकार व्यापक परमात्मा के अर्थ ही सिद्ध होते हैं, इसी अर्थ को वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदान्तसूत्र एक स्वर से प्रतिपादन करते हैं कि ईश्वर अजन्मा है अर्थात् निराकार है, अक्षर अविनाशी है, जैसे कि **"कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च । सहोवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गिब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्"** ॥ बृ. ३ । ८ । ८ ॥ **"आकाशे तदोतञ्च प्रोतञ्च"** ॥ बृ. ३ । ८ । ४ ॥ **"ओमित्येतदक्षरम्"** मां० १ ॥ **"ओमित्येतदक्षरम्"** । छा. १ । १ । १ ॥ **"अचक्षुष्कमश्रोत्रमवाग मनः"** । बृ० ३ । ८ । ८ ॥ **"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"** ॥ श्वे. ३ । १९ ॥ **"ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्"** ॥ ऋ. २ । ३ । २१ । ३९ ॥ **"परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते"** ॥ प्र. ४ । १० ॥ **"अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते"** ॥ मु. १ । १ । ५ ॥ **"येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्"** ॥ मु. १ । २ । १३ ॥ इत्यादि ।

ब्राह्मण और उपनिषद् के वाक्यों में यह वर्णन किया है कि जो इस चराचर जगत् का आधार परमात्मा है वह आकाश में भी ओतप्रोत है अर्थात् आकाश उससे स्थूल है, वह एकमात्र अक्षर है और चक्षु श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय तथा हस्तपादादि कर्मेन्द्रियों से रहित होकर भी सर्वज्ञाता है ॥

"अक्षरमम्बरान्तधृतेः" ॥ ब्र. सू. १ । ३ । १० ॥ में उस अक्षर को लोक लोकान्तरों का आधार वर्णन किया है।

इतना ही नहीं किन्तु उसको इन्द्रियगोचर अर्थात् मन वाणी का सर्वथा अविषय माना है, इस विषय में प्रमाण ये हैं कि **"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"** । कठ. ६ । १२ ॥ **"यत्तदद्रेश्यमग्राह्य"** । मु० १ । १ । ६ ॥ **"न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा**

कर्म्मणा वा" ॥ मु० ३ । १ । ८ ॥ **"य इत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः"** ॥ ऋ० मं. १ । १६४ । मं. २६ ॥ जो इस इन्द्रियगोचर को जानते हैं वे ही अमृतपद को पाते हैं ।

उक्त वेद तथा उपनिषदों के भाव को ब्रह्मसूत्र में यों वर्णन किया है कि **"तदव्यक्तमाह हि"** ॥ ब्र. सू. ३ । २ । २३ ॥ उसको इस प्रकार वेद अव्यक्त कहता है अर्थात् सूक्ष्मरूप से वर्णन करता है ॥

कई एक लोग इसमें यह शङ्का करते हैं कि जब वह अक्षर सर्वथा इन्द्रियागोचर अर्थात् किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं तो उसका ध्यान किस प्रकार हो सकता है, उनके प्रश्न का सार यह है कि निराकार पदार्थ ध्यान का विषय नहीं हो सकता ?

इसका उत्तर यह है कि ध्यान में दो पदार्थ होते हैं एक (ध्याता) अर्थात् ध्यान करनेवाला और दूसरा ध्येय जिसका ध्यान किया जाता है जब ध्यान करनेवाला स्वयं निराकार होकर भी ध्यान कर सकता है अर्थात् उसे ध्यान करने के लिये किसी स्थूल पदार्थ की आवश्यकता नहीं पड़ती तो फिर निराकार ध्यान का विषय क्यों नहीं ?

यदि यह कहा जाय कि ध्यान में कोई न कोई आकार आना चाहिये तब ध्यान होगा, तो उत्तर यह है कि आकार के अर्थ यहां विशेषरूपता के हैं अर्थात् एक प्रकार की अद्भुत सत्ता के हैं । दृष्टान्त के लिये देखो जब किसी जीव को किसी भी आनन्द का अनुभव हो चाहे वह आनन्द विद्या आनन्द हो वा विषयानन्द हो अथवा ब्रह्मानन्द हो इन तीन प्रकार के आनन्दों के ध्यान में आने के लिये किसी आकार की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु एक विलक्षण सत्ता की आवश्यकता पड़ती है । इसी प्रकार ईश्वर के ध्यान में भी एक प्रकार की विलक्षण सत्ता की आवश्यकता है किसी विशेष रूप की नहीं, इसी अभिप्राय से उपनिषदों में कहा है कि **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्** ॥ क० । २ । २३ ॥ **"ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:"** ॥ मु. ३ । १.८ ॥ जिस पुरुष को परमात्मा अपने ध्यान का पात्र समझता है उस पुरुष के ज्ञानगोचर होकर उसको प्राप्त होता है अर्थात् उसके ध्यान का विषय हो जाता है । दूसरे प्रमाण के यह अर्थ है ज्ञान के प्रभाव से जिस पुरुष का अन्त:करण शुद्ध हो गया है वह ज्ञानी पुरुष उस (निष्कल) अर्थात् निरञ्जन पुरुष का ध्यान कर सकता है । यदि निराकार पदार्थ ध्यान का विषय न होता तो उपनिषदों के कर्त्ता ऋषि लोग उस पुरुष को (निष्कल) कह कर फिर ध्यान का विषय न कहते किन्तु उसी (निष्कल) अर्थात् निराकार को यहां ध्यान का विषय माना है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ईश्वर ध्यान के लिये साकार वस्तु की आवश्यकता नहीं ।

इसी अभिप्राय से जहां जहां वेदों में ईश्वर योग का निरूपण है वहां सर्वत्रैव निराकार परमात्मा के साथ योग वर्णन किया गया है, साकार के साथ नहीं जैसा कि **"युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः"** ॥ ऋ० मं. १ । सू० ६ । १ ॥

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः" ॥ ऋ० ५ । ८१ । १ ॥ इत्यादि मन्त्रों से जहां चित्त का परमात्मा में स्थिर करना लिखा है वहां किसी साकार वस्तु के आधार पर चित्त की स्थिति नहीं की जाती किन्तु इस स्थावर जङ्गमात्मक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का जो एक मात्र आत्मा परमात्मा देव है उसी में चित्त की स्थिति की जाती है इसी का नाम **ईश्वरयोग** है ।

चित्त की स्थिरता के लिये योग कई एक प्रकार के हैं जैसे **कर्म्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग, ईश्वरयोग** । **'कर्म्मयोग'** उसका नाम है कि जब पुरुष फल की अभिलाषा छोड़कर कर्म्म में

लग जाता है वह कर्म्म आत्म सुधार का हो, अथवा देश सुधार का हो, जब उससे भिन्न योगी को अर्थात् कर्म के साथ जुड़नेवाले पुरुष को अन्य कोई भी वस्तु उससे प्रिय अथवा कल्याणदायक प्रतीत न हो और न वह पुरुष उस कर्म्म के करने में कोई आत्मपरिश्रम वा कष्ट समझे किन्तु यह समझे कि यह मेरा परम कर्त्तव्य है । अथवा यों कहो कि कर्म्म से भिन्न वह अपना जीवन न समझे । वस्तुतः बात भी यही है कि जीना नाम ही कर्म्म का है, क्योंकि जीने के अर्थ प्राण धारण करना है और प्राण के अर्थ (चेष्टा) अर्थात् कर्म्म करना है इस प्रकार कर्म्मयोग के अर्थ यावदायुष अर्थात् अपने समस्त जीवन पर्य्यन्त कर्म्म करने के हैं । इसी अभिप्राय से वेद ने आज्ञा दी है कि **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः"** ।। यजु० ४० । २ ।। कर्म्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे ।

इसी प्रकार ज्ञानयोग भी मनुष्य के लिये परम कर्त्तव्य है । यद्यपि ज्ञान में कर्त्तव्य नहीं किन्तु जानना है तथापि यह कर्म्म के बिना पङ्गु के समान है । जिस प्रकार पांच ज्ञानेन्द्रियों के अविकल अर्थात् यथायोग्य होने पर भी पङ्गु कर्म्मेन्द्रियरूपी पादों से रहित पुरुष चलने-फिरने में असमर्थ होता है एवं कर्म्मरहित पुरुषज्ञानी हो कर भी अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्रकार के फलों से वञ्चित रह जाता है । इसलिये कर्म्मयोग ज्ञानयोग का साधन है ।

ज्ञानयोग और विद्यायोग यह एकही पदार्थ के दो नाम हैं जो पुरुष विद्या में जुड़ जाता है अर्थात् चित्तवृत्ति को सब ओर से हटा कर एक मात्र विद्या को ही अपना लक्ष्य समझता है उसको 'ज्ञानयोगी' कहते हैं ।

ध्यानयोग इससे भिन्न है वह प्रायः ईश्वर विषय में ही व्यवहार किया जाता है अर्थात् जब पुरुष सत्कर्म्मी और ज्ञानी बनकर ईश्वर को अपना लक्ष्य बनाता है तो उस अवस्था का नाम ध्यानयोग है । ध्यानयोग और ईश्वरयोग यह दोनों एकार्थवाची शब्द हैं । **"ध्यानाच्च"** ।। ब्र० सू० ४ । १ । ८ ।। इस सूत्र में इसका भलिभाँति निरूपण किया गया है कि ईश्वर में ध्यान लगाने से चित्तवृत्ति स्थिर होती है । इसी का वर्णन योग में इस प्रकार किया है **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** ।। यो० १ । २ ।। चित्तवृत्ति के रोक लेने का नाम 'योग' है ।

प्रकृत यह है कि ईश्वरयोग तभी हो सकता है जब पुरुष एक मात्र परमात्मसत्ता में चित्त को लगा देता है । उस समय उस पुरुष को अपने आत्मवत् परमात्मसत्ता प्रतीत होती है अर्थात् सर्वव्यापक विष्णु, परमात्मा उसे अपने आत्मा में अन्तरात्मरूप से प्रतीत होने लगता है । उस अन्तरात्मा का वर्णन अन्तर्यामी ब्राह्मण में स्पष्ट है, उसी अन्तर्य्यामी का नाम यहां विष्णु, व बृहस्पति है । विष्णु और बृहस्पति यह एक अर्थवाची शब्द है अर्थात् ये दोनों शब्द सर्वव्यापक आत्मशक्ति के निरूपक हैं, किसी व्यक्ति विशेष के नहीं ।

इस ध्यानयोग को **वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता,** रूप से चार प्रकार का कथन किया गया है ।

ध्यानावस्था में प्रथम नाना प्रकार की तर्क उत्पन्न होती है कोई कहता है कि निराकार में ध्यान कैसे लग सकता है ? और कोई निराकार की सत्ता को ही स्वीकार नहीं करता अर्थात् जिसका आकार ही नही वह वस्तु ही नहीं यह भी संशय उत्पन्न होने लगता है । इस प्रकार तर्करूपमल निर्मलचित्तवृत्ति में समलजल के समान अति तेजोरूप पदार्थ को भी प्रतिविम्बित नहीं होने देता ।

यद्यपि **"तर्काऽप्रतिष्ठानात्"** ब्र. सू. २।१।११ ।। में तर्क की प्रतिष्ठा नहीं मानी गई अर्थात् उक्त सूत्र में महर्षि व्यास ने तर्क की निन्दा की है कि तर्क की कहीं भी स्थिति नहीं

होती। आज एक बात को एक बुद्धिमान् एक प्रकार से स्थापन करता है कल कोई उससे बुद्धिमान् आ जाता है तो वह उसको और प्रकार से कहता है अर्थात् एक से एक बुद्धिमान् संसार में पड़ा है, यदि बुद्धि पर निर्भर कर के धर्म्म का निर्णय किया जाय तो अति कठिन हो जायगा। इस प्रकार तर्क की प्रतिष्ठा नहीं मानी जा सकती।

तथापि ऋषि लोगों ने भी तर्क को स्वीकार किया है और यह कहा है कि **"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"** मन्त्रों के अर्थों को जो लोग समाधि द्वारा अनुसन्धान करें वह ऋषि कहलाते हैं। जब इस प्रकार के योगी ऋषि न रहे तो वैदिक लोगों ने विचार किया कि अब क्या किया जाय। अब वेद के अर्थ का निश्चय कैसे किया जाय कि अमुक अर्थ ठीक है अमुक नहीं तो कहते हैं कि उनको तर्क ऋषि मिला अर्थात् जिस बात का निर्णय तर्क=युक्ति कर दे वही बात सत्य समझनी चाहिये अन्य नहीं। इस सिद्धान्त के साथ **"तर्काऽप्रतिष्ठानात्"** इस व्यास जी के कथन का विरोध आता है। केवल व्यासजी के कथन के साथही उक्त सिद्धान्त का विरोध नहीं किन्तु तर्क के साथ भी विरोध है कि जब प्रत्येक निर्णय तर्क पर रक्खा जाय तो फिर वेद प्रमाण को कौन मानेगा? और उस तर्क का यदि और तर्क से खण्डन हो जाय तो भी उसे कौन मानेगा? इसलिये कोई व्यवस्था होनी चाहिये? और वह व्यवस्था यह है कि **"वेदशास्त्राविरोधिना यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः"** ॥ मनु. १२।१०६ ॥ जो वेद शास्त्र के अनुकूल तर्क से धर्म्म का निर्णय करता है वह धर्म्म को जानता है अन्य नहीं।

अब शङ्का यह होती है कि यह कैसे निर्णय किया जाय कि यह तर्क वेद शास्त्र का विरोधी है और यह नहीं?

इसका उत्तर यह है कि इस बात का निर्णय तो स्वयं वेद भगवान् कर देते हैं कि **"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः"** ॥ ऋ. मं. । १० । सू० १२९ । ६ ॥ कौन ठीक ठीक जान सकता है कि यह सृष्टि किस वस्तु से बनी और क्यों इस प्रकार विचित्र है अर्थात् किसने इसकी विविध प्रकार से रचना की?

यह तर्क है कि ठीक ठीक कोई भी नहीं जान सकता कि सृष्टि किसने किस वस्तु से किस प्रकार उत्पन्न की?

इसका उत्तर स्वयं वेद ने आगे के मन्त्र में दिया है कि **"योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्"** जो इसका स्वामी इस महदाकाश में परिपूर्ण हो रहा है वह स्वयं जानता है। यह वेदानुकूल तर्क का स्वरूप है।

हाँ यदि कोई इसमें यह कहे कि वह क्यों जानता है? और यदि जानता है तो उस जाननेवाले का सिर कितना बड़ा है? क्योंकि इतने बड़े **"ब्रह्माण्ड"** के जाननेवाले के लिये सिर भी बड़ा होना चाहिये, इस प्रकार को तर्क का नाम वेदशास्त्रविरोधी तर्क है, वा यों कहो कि **'कुतर्क'** हैं।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि **'वितर्कयोग'** की आज्ञा तो वेद स्वयं देता है कि पुरुष पहले तर्क करके वस्तु का निर्णय करे पर कुतर्क न करे, प्रसङ्ग प्राप्त यह बात है कि ध्यान की प्रथम अवस्था का नाम **'वितर्कयोग'** है अर्थात् उसमें नाना प्रकार की तर्क बनी रहती है। ध्यान की इस प्रथम अवस्था से आगे ध्यान का नाम **'विचारयोग'** है जिसमें परमात्मा के गुणों का विचार किया जाता है कि परमात्मा इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में व्यापक है। जिस प्रकार विद्युच्छक्ति स्थूल वस्तुओं में व्यापक है वा जैसे जीवात्मा की शक्ति इस शरीररूप ब्रह्माण्ड में व्यापक है, इस प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक है इस विचार का नाम **'आनन्दयोग'** है।

जब पुरुष का चित्त बाह्यविषयों से हटकर अन्तरमुख होकर विचारयोग में सिद्धि प्राप्त कर लेता है तो उसे एक प्रकार का आनन्द आने लगता है, इसलिये उक्त ध्यानयोग की तीसरी अवस्था का नाम 'आनन्दयोग' है, इस आनन्द से आगे चतुर्थ अवस्था का नाम अास्मितायोग है अर्थात् इस अवस्था में पुरुष परमात्मा में अपनी चित्तवृत्तिका ऐसा योग कर देता है कि जिससे उसे परमात्मा का और अपना भेदभाव प्रतीत नहीं होता।

वा यों कहो कि उस समय परमात्मारूपी अगाध सागर में वह इस प्रकार निमग्न हो जाता है कि उसे आनन्द ही आनन्द भाव होता है आनन्द से भिन्न उस समय उसकी दृष्टि में कोई और सत्ता नहीं रहती अर्थात् उस समय ब्रह्म के भावों को वह इस प्रकार अनुभव करता है कि ब्रह्म से भिन्न उस समय वह किसी वस्तु को अनुभव नहीं करता इसी अवस्था को "ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः" । ब्र. सू. ४-४-५ ॥ इसमें यों वर्णन किया है कि उस अवस्था में परब्रह्म को प्राप्त होकर जीव सत्य सङ्कल्पादि धर्म्मों को धारण करता है। जिस प्रकार ब्रह्म सत्यसङ्कल्प है उसी प्रकार ब्रह्म के सत्य कामादि धर्म उसे साक्षात् प्रतीत होने लगते हैं, उस ब्रह्म का आनन्द उसे आत्मानन्द के समान भान होता है।

युक्ति इस में यह है कि जिस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध से आत्मगत आनन्दादि गुण प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार अस्मिता योग से उपासक को ब्रह्मानन्द अपना ही आनन्द प्रतीत होता है। इसी आनन्द को प्राप्त होकर उपासक को किसी अन्य प्राप्य वस्तु की इच्छा नहीं रहती। इसी अवस्था निरूपण उपनिषदों में नदी समुद्र के दृष्टान्त से किया है कि जिस प्रकार नदी महासागर को प्राप्त होकर इस प्रकार महत्व को धारण कर लेती है कि उसमें और महासागर में कोई भेद-भाव प्रतीत नहीं होता। वास्तव में नदी का क्षुद्र भाव और समुद्र का महान् भाव उस समय एकत्व को धारण किये हुये प्रतीत होता है। इसी भाव को "पुरुष एवेद ॐ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ यजु० ३१ । २ ॥ इत्यादि मन्त्रों में वर्णन किया कि यह जो कुछ चराचर जगत् है यह सब ईश्वराश्रित है, इसी अवस्था का नाम अद्वैतावस्था है इसी को महर्षि व्यास ने "अविभागेन तु दृष्टत्वात्" ॥ ब्र. सू. ४ । ४ । ४ ॥ इत्यादि सूत्रों में निरूपण किया है कि उस ब्रह्म में उपासक अविभागावस्था को प्राप्त होकर अर्थात् एकत्व योग को प्राप्त होकर स्थिर होता है इस अवस्था को ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन किया है कि—

"अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ ऋ. १० । १२९ । २ ॥ प्रलय काल में ब्रह्म अपनी प्रकृति व जीव रूप शक्ति को अपने भीतर लय कर लेता है अर्थात् उस समय उनकी कोई भिन्न सत्ता प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार अस्मिता योग में उपासक की भिन्न सत्ता प्रतीत नहीं होती। अस्मितायोग, समाधि, ब्रह्मभाव ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। इसी अवस्था को "तत्त्वमसि" "अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य निरूपण करते हैं। इस अवस्था को प्राप्त होकर योगी अपने में अपार सत्ता को अनुभव करता है। उस अपार सत्ता के सहारे उसे अपने में किञ्चिन्मात्र भी दुर्बलता प्रतीत नहीं होती। इसी ईश्वर योग के उच्च शिखर पर आरूढ़ होकर श्रीकृष्णजी ने गीता में यह कहा है कि "पश्य मे योगमैश्वरम्" मेरे ईश्वर विषयक योग को अनुभव करो। इस अवस्था में उपासक दृढ़ता के साथ यह कह सकता है कि "मैं ईश्वर का ध्यान करता हूं वा मैं उसको जानता हूं", इसका प्रतिपादक वेद का यह मन्त्र है "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसःपरस्तात् तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" ॥ यजु. ३१ । १८ ॥

जो अन्धेरे से प्रकाश के समान अविद्या से परे है जिसकी अखण्डनीय सत्ता है और सबसे बड़ा अर्थात् विष्णु-व्यापक रूप से सब में व्यापक हो रहा है उस पूर्ण पुरुष को जानता हूं। यह **ध्यान योग** की चौथी अवस्था है इसको **अस्मिता योग** भी कहते हैं।

इस विषय को वेद इस प्रकार वर्णन करता है **"योगाय योक्तारम्"** ॥ यजु. ३० । १४ ॥ **"सह योगं भजन्तु मे"** ॥ अथर्व. का. १९ । ८ । २ ॥ **"योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे"** ॥ अथर्व १९ । २४ । ७ ॥ **"सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्"** ॥ यजु. १२ । ६७ ॥

"युञ्जेवाचं शतपदीम्" ॥ सा. उ. ९ । २ । ७ ॥ कि परमात्मा आध्यात्मिक विद्याके लिये योगी जनों को उत्पन्न करता है और जीवों की प्रार्थना में अभ्युदयादि सुखों के साथ योगानन्दादि सुखों की प्रार्थनायें भी पाई जाती हैं। इतना ही नहीं किन्तु ऋग्वेद और यजुर्वेद में तो योग विद्या का विधान भी भलीभाँति पाया जाता है जैसे कि **"सीरा युञ्जन्ति कवयः"** विद्वान् लोग सुषुम्नादि नाड़ियों द्वारा योग करते हैं और योगविद्या विषय में ऋग्वेद के दो मन्त्र हम प्रथम प्रमाण दे आये हैं। इस प्रकार व्यापक परमात्मा में चित्त स्थिर करने का नाम योग है और वह व्यापक परमात्मा यहां विष्णु नाम से निरूपण किया गया। **"यो ववेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः"** जो परमात्मा इस चराचर ब्रह्माण्ड को (व्याप्य) एक देश में स्थिर करके अधिकरणरूप से विराजमान है, उसका नाम यहां **'विष्णु'** है।

इस अन्तरात्मा को अन्तर्यामी ब्राह्मण में विशेष रूप से वर्णन किया गया है। उसी का नाम यहां विष्णु वा बृहस्पति है। विष्णु, बृहस्पति, अन्तर्यामी ये सब सर्वव्यापक आत्मशक्ति के नाम हैं, किसी व्यक्ति विशेष के नहीं ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धं ऋक्संहिताभाष्ये
पञ्चमाष्टके षष्ठोऽध्यायः
समाप्तः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथ षडर्चस्य एकोत्तरशततमस्य सूक्तस्य—

१–६ वसिष्ठः कुमारो वाग्नेयऋषिः ।। पर्जन्यो देवता ।। छन्दः—१, ६ त्रिष्टुप् । २, ४, ५ विराट्त्रिष्टुप् ।। ३ निचृत्त्रिष्टुप् ।। धैवतः स्वरः ।।

अथ प्रसङ्गसङ्गत्या परमात्मैश्वर्यवर्धिका प्रावृट् वर्ण्यते:—

अब प्रसङ्गसङ्गति से ईश्वर की ऐश्वर्यवर्धक वर्षाऋतु का वर्णन करते हैं—

तिस्रो वाचः प्र वद ज्योतिरग्रा या एतद्दुह्रे मधुदोघमूधः ।
स वत्सं कृण्वन्गर्भमोषधीनां सद्यो जातो वृषभो रोरवीति ॥१॥

तिस्रः । वाचः । प्र । वद । ज्योतिःऽअग्राः । याः । एतत् । दुह्रे । मधुऽदोघम् । ऊधः । सः । वत्सम् । कृण्वन् । गर्भम् । ओषधीनाम् । सद्यः । जातः । वृषभः । रोरवीति ॥१॥

पदार्थः—हे भगवन् ! (तिस्रः, वाचः) ज्ञानप्रदकर्मप्रदोपासनाप्रदात्मकं वाक्त्रयं (प्रवद) उपदिश । (याः) या वाचः (ज्योतिः, अग्राः) उत्कर्षातिशयेन राजमानाः (एतत् ऊधः) एतन्नभोमण्डलात्मकस्तनमण्डलात् (मधुदोघम्) अमृतस्वरूपा ओषधीः (दुह्रे) दुहन्ति च तथा—(सः) स पर्जन्यः (वत्सं, कृण्वन्) विद्युतमेव वत्सं कुर्वन् तथा च (औषधीनाम्, गर्भम्) नानाविधौषधिषु गर्भं धारयन् (सद्यः, जातः) तदानीमेवोत्पद्यमानः (वृषभः) वर्षणशीलो मेघः (रोरवीति) अभीक्ष्णं शब्दायते ।।१।।

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (तिस्रः, वाचः) ज्ञानप्रद, कर्मप्रद, उपासनाप्रद इन तीनों वाणियों को (प्रवद) कहिये (याः) जो वाणियें (ज्योतिः, अग्राः) अपने प्रकाश से सर्वोपरि हैं, और (एतत्, ऊधः) नभोमण्डलरूपी इस स्तनमण्डल से (मधुदोघम्) अमृतरूपी औषधियों को (दुहे) दुहती हैं, और (सः) वह पर्जन्य (वत्सं, कृण्वन्) विद्युत् को वत्स बनाता हुआ और (ओषधीनां, गर्भम्) नाना प्रकार की ओषधियों में गर्भ धारण करता हुआ (सद्यो, जातः) तत्काल उत्पन्न हुआ (वृषभः) "वर्षणाद्वृषभः" मेघ (रोरवीति) अत्यन्त शब्द करता है ।।१।।

भावार्थ—इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलङ्कार से परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि विद्युत शक्ति को वत्स और आकाशस्थ मेघ मण्डल को ऊधस्थानी बनाकर ऋत्विजों को ऋचारूपी हस्तों द्वारा दोग्धा बनाया है । तात्पर्य यह है कि वर्षाऋतु में ऋत्विजों को उद्गाता आदिकों के उच्चस्वरों से वेद मन्त्रों को गायन करना चाहिये ताकि वृष्टि सुखप्रद और समय सुखप्रद प्रतीत हो ।।१।।

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां यो विश्वस्य जगतो देव ईशे ।
स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत्त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्य १ स्मे ॥२॥

यः । वर्धनः । ओषधीनाम् । यः । अपाम् । यः । विश्वस्य । जगतः । देवः । ईशे । सः । त्रिऽधातु । शरणम् । शर्म । यंसत् । त्रिऽवर्तु । ज्योतिः । सुऽअभिष्टि । अस्मे इति ॥२॥

पदार्थः—(यः) यः परमात्मा (ओषधीनाम्) सकलाओषधीः (यः) यश्च (अपाम्) जलानि (वर्धनः) वर्धयति (यः, देवः) यश्चदिव्यात्मा (विश्वस्य, जगतः, ईशे) निखिले जगति दिव्यैश्वर्येण व्याप्नोति (सः) स ईश्वरः (त्रिधातु शरणम्) विचित्रागारेषु (शर्म) सुखम् (यंसत्) दत्तात्, तथा च (त्रिवर्तु) त्रिविधेष्वपि ऋतुभिन्नकालेषु (अस्मे) अस्मभ्यम् (ज्योतिः, सु, अभिष्टि) स्वैश्वर्येण सह मनोरथं ददातु ॥२॥

पदार्थ—(यः) जो ईश्वर (ओषधीनाम्) सम्पूर्ण ओषधियों को (यः) और जो (अपाम्) जलों को (वर्धनः) बढ़ाता है (यः, देवः) और जो दिव्य ईश्वर (विश्वस्य, जगतः, ईशे) सकल जगत् को ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाला है (सः) सो ईश्वर (त्रिधातु, शरणम्) विचित्र गृहों में (शर्म) सुख को (अस्मे) हमको (यंसत्) दे। और (त्रिवर्तु) तीनों ऋतुओं में (स्वभिष्टि, ज्योतिः) सुन्दर अभीष्ट ऐश्वर्य को दे ॥२॥

भावार्थ—जो परमात्मा उक्त वर्षादि ऋतुओं में ओषधियों को बढ़ाता है और जो सब ओषधियों में रसों का आविष्कार करनेवाला है, वह परमात्मा इस त्रिधातु शरीर में सुख दे और सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कराये ॥२॥

अथ पर्जन्यं धेनुरूपेण वर्णयतिः—

अब पर्जन्य को धेनुरूप से वर्णन करते हैं—

स्तरीरु त्वद्भवति सूत उ त्वद्यथावशं तन्वं चक्र एषः ।
पितुः पयः प्रति गृभ्णाति माता तेन पिता वर्धते तेन पुत्रः ॥३॥

स्तरीः । ऊँ इति । त्वत् । भवति । सूते । ऊँ इति । त्वत् । यथाऽवशम् । तन्वम् । चक्रे । एषः । पितुः । पयः । प्रति । गृभ्णाति । माता । तेन । पिता । वर्धते । तेन । पुत्रः ॥३॥

पदार्थः—(त्वत्) एको मेघः (स्तरीः) नवप्रसूता गौरिव (उ, भवति) निश्चितं भवति तथा (सूते) वर्षत्यपि (त्वत्) अन्यः (एषः) असौ मेघः (यथावशम्) यथाकामम् (तन्वम्) स्वशरीरम् (चक्रे) रचयति च (पितुः) पितुरिव दिवः (माता, पयः, प्रतिगृभ्णाति) मातेव पृथ्वी जलमादत्ते (तेन) तेन जलादानेन (पिता, वर्धते) द्यौः, प्रकाशते (तेन) तेनैव हेतुना (पुत्रः) प्राणिसंघ एव पुत्रोऽपि समेधते ॥३॥

पदार्थ—(त्वत्) एक तो मेघ (स्तरीः) नवप्रसूता धेनु के समान (उ) निश्चय करके (भवति) होता है और (सूते) जल को वर्षता है (त्वत्) अन्य (एषः) यह (यथाऽवशम्)

स्वेच्छापूर्वक (तन्वम्) शरीर को (चक्रे) बना लेता है (पितुः) पितारूप द्युलोक से (माता, पयः प्रति, गृभ्णाति) मातारूप पृथिवी जल को ग्रहण करती है (तेन) और तिससे (पिता, वर्धते) द्युलोक वृद्धि को प्राप्त होता है (तेन) और तिससे (पुत्रः) प्राणिसंघरूप पुत्र भी बढ़ता है ॥३॥

भावार्थ—वर्षाऋतु में मेघ नवप्रसूता गौ के समान अपने दुग्धरूपी पयःपुञ्ज से संसार को परिपूर्ण कर देता है, वा यों कहो कि द्यु पिता और पृथिवी मातास्थानी बनकर वर्षाऋतु में नाना प्रकार की सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं और जो यहाँ पितास्थानी द्युलोक का बढ़ना कथन किया गया है वह उसके ऐश्वर्य के भाव से है, कुछ आकार वृद्धि के अभिप्राय से नहीं ॥३॥

यस्मिन्विश्वा॑नि भुव॑नानि त॒स्थुस्ति॒स्रो द्याव॑स्त्रे॒धा स॒स्रुराप॑ः ।
त्रय॒ः कोशा॑स उप॒सेच॑नासो॒ मध्व॑ः श्चोतन्त्य॒भितो॑ विर॒प्शम् ॥४॥

यस्मि॑न् । विश्वा॑नि । भुव॑नानि । त॒स्थुः । ति॒स्रः । द्याव॑ः । त्रे॒धा । स॒स्रुः । आप॑ः । त्रय॑ः । कोशा॑सः । उप॒ऽसेच॑नासः । मध्व॑ः । श्चो॒त॒न्ति । अ॒भित॑ः । वि॒ऽर॒प्शम् ॥४॥

पदार्थः—(यस्मिन्) यत्रेश्वरे (विश्वानि, भुवनानि) सकललोकाः (तस्थुः) संतिष्ठन्ते (तिस्रः, द्यावः) यत्र च भूर्भुवःस्वरात्मकलोकत्रयं तिष्ठति (त्रेधा, सस्रुः, आपः) यत्र च कर्माणि संचितप्रारब्धक्रियमाणभेदेन त्रिविधमार्गेण गतिं लभन्ते (त्रयः, कोशासः) यत्र त्रिसंख्याकाः कोशाः सन्ति (उपसेचनासः) ते हि उपसेक्तारः सन्ति, स एवेश्वरः (मध्वः, श्चोतन्ति, अभितः, विरप्शम्) सर्वत आनन्दमभिवर्षति ॥४॥

पदार्थ—(यस्मिन्) जिस परमात्मा में (विश्वानि, भुवनानि) सम्पूर्ण भुवन (तस्थुः) स्थिर हैं (तिस्रो, द्यावः) जिसमें भूर्भुवः स्वः ये तीनों लोक स्थिर हैं (त्रेधा, सस्रुः आपः) "आप्यते प्राप्यत इति अपः कर्म" तीन अप इति कर्मनामसु पठितं ॥ निघण्टौ २ । १ ॥ तस्यायमित्यापः" जिसमें तीन प्रकार से तीन कर्म गति करते हैं, अर्थात् संचित, प्रारब्ध, और क्रियमाण (त्रयः, कोशासः) जिसमें तीन कोश हैं, वह कोश कैसे हैं (उपसेचनासः) उपसिञ्चन करनेवाले हैं, वह परमात्मा (मध्वः श्चोतन्ति अभितः, विरप्शम्) सब प्रकार से आनन्द की वृष्टि करते हैं ॥४॥

भावार्थ—जिस परमात्मा में अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीनों कोशोंवाले अनन्त जीव निवास करते हैं और निखिल ब्रह्माण्ड उसी में स्थिर हैं, उसी परमात्मा की सत्ता से जीव संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्मों की वृष्टि करता है। वह परमात्मा मेघ के समान आनन्दों की वृष्टि करता है, इस मन्त्र में रूपकालङ्कार से परमात्मा को मेघवत् वृष्टिकर्ता वर्णन किया गया है ॥४॥

इ॒दं वच॑ः प॒र्जन्या॑य स्व॒राजे॑ हृ॒दो अ॒स्त्वन्त॑रं॒ तज्जु॑जोषत् ।
म॒यो॒भुवो॑ वृ॒ष्टय॑ः सन्त्व॒स्मे सु॑पिप्प॒ला ओष॑धीर्दे॒वगो॑पाः ॥५॥

इ॒दम् । वच॑ः । प॒र्जन्या॑य । स्व॒ऽराजे॑ । हृ॒दः । अ॒स्तु॒ । अन्त॑रम् । तत् । जु॒जो॒ष॒त् । म॒यः॒ऽभुव॑ः । वृ॒ष्टय॑ः । स॒न्तु॒ । अ॒स्मेऽइति॑ । सु॒ऽपि॒प्प॒लाः । ओष॑धीः । दे॒वऽगो॑पाः ॥५॥

पदार्थः—हे परमात्मन् ! (अस्मे) अस्मभ्यम् (मयः, भुवः, वृष्टयः सन्तु) वृष्टय आन्दवर्षणशीला भवन्तु (सुपिप्पलाः, ओषधीः) मनोज्ञफलशालिन्य ओषधयश्च सन्तु (देवगोपाः) तासां प्रयोक्तारश्च तज्ज्ञ विद्वांसो भवेयुः (इदं, वचः) इयं मदुक्ता वाग् (पर्जन्याय, स्वराजे) यः प्रजासु मेघ इव तृप्तिमभिजनयति तस्मै राज्ञे निवेदनीया ततस्तस्य पुरोवक्ष्यमाणं प्रार्थनीयम् (हृदः अस्तु अन्तरम्) इयं मत्प्रार्थनाविषयकवाग्-भवद्हृद्गता भवत्विति (तत्, जुजोषत्) तां वाणीं सेवेत भवानिति च ॥५॥

पदार्थ—हे परमात्मन् ! (अस्मे) हमारे लिये (मयः, भुवः, वृष्टयः, सन्तु) वृष्टियें आनन्द के बरसानेवाली हों। (सुपिप्पलाः,) और सुन्दर फलोंवाली औषधियें हों (देवगोपाः) और उनके विद्वान् लोग प्रयोग करनेवाले हों (इदं, वचः) यह वाणी (पर्जन्याय, स्वराजे) स्वतन्त्र राजा जो प्रजा के ऊपर पर्जन्य की तरह वृष्टि करनेवाला हो उसके प्रति कथन करनी चाहिये, (हृदः, अस्तु, अन्तरम्) तुम्हारे हृदयगत यह वाणी हो (तत् जुजोषत्) और इस को सेवन करो ॥५॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे उद्गातादि लोगो ! तुम लोग अपने सम्राट् के हृदय में इस बात को बलपूर्वक भर दो कि जिस प्रकार वृष्टिकर्त्ता मेघ हम पर वृष्टि करके नाना प्रकार की ओषधियें उत्पन्न करते हैं और जिस प्रकार परमात्मा इस संसार में आनन्द की वृष्टि करता है इसी प्रकार हे राजन् ! आप अपनी प्रजा के लिये न्यायनियम से सुख की वृष्टिकर्ता हों ॥५॥

स रे॑तो॒धा वृ॑ष॒भः शश्व॑तीनां॒ तस्मि॑न्ना॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ।
तन्म॑ ऋ॒तं पा॑तु श॒तशा॑रदाय यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः ॥६॥

सः । रे॒तः॒ऽधाः । वृ॒ष॒भः । शश्व॑तीनाम् । तस्मि॑न् । आ॒त्मा । जग॑तः । त॒स्थुष॑: । च॒ । तत् । मा॒ । ऋ॒तम् । पा॒तु॒ । श॒तऽशा॑रदाय । यू॒यम् । पा॒त॒ । स्व॒स्तिऽभि॑: । सदा॑ । न॒: ॥६॥

पदार्थः—(सः) स परमात्मा (रेतोधाः) प्रकृतिरूपबीजस्य धाता तथा (शश्वतीनाम्) अनन्तासु प्रजासु (वृषभः) वर्षिता सुखानाम् (तस्मिन्) तस्मिन्नेव परमात्मनि (जगतः, तस्थुषश्च) स्थावरा जङ्गमाश्च जीवा वर्तन्ते (तत्) स ईश्वरः (शतशारदाय) वर्षशतपर्यन्तम् (मा) मम (ऋतम्) सत्यम् (पातु) रक्षतु, हे परमात्मन्, (यूयम्) भवान् (स्वस्तिभिः) मङ्गलवाग्भिः (सदा) शश्वत् (नः) अस्मान् (पात) रक्षतु ॥६॥

॥ इति एकोत्तरशततमं सूक्तं प्रथमो वर्गश्च समाप्तः ॥

पदार्थ—(सः) वह परमात्मा (रेतोधाः) प्रकृतिरूप बीज के धारण करनेवाला है (शश्वतीनाम्) अनन्त प्रजाओं में (वृषभः) वर्षिता (निरु. १, ८) ॥ सुख की वृष्टि करनेवाला है (तस्मिन्) उसी परमात्मा में (जगतः, तस्थुषः, च) स्थावर और जङ्गम संसार के सब जीव विराजमान हैं (तत्) वह ब्रह्म (शतशारदाय) सैकड़ों वर्षों तक (मा) हमारी (ऋतम्) सच्चाई की (पातु) रक्षा करे, हे परमात्मन् (यूयम्) आप (स्वस्तिभः) मङ्गल कार्यों द्वारा (सदा) सदैव (नः) हमारी (पात) रक्षा करें ॥६॥

जिस परमात्मा में चराचर सब जीव निवास करते हैं और जो प्रकृतिरूपी बीज को धारण किये हुये हैं अर्थात् जिससे तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति और जीवरूप प्रकृति सदा भिन्न होकर विराजमान हैं, उसी एकमात्र परमात्मा से अपने सदाचार और सत्यता की प्रार्थना करनी चाहिये ॥६॥

॥ १०१ सूक्त और पहला वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ द्व्युत्तरशततमस्य तृचस्य सूक्तस्य—

१—३ वसिष्ठः कुमारो वाग्नेय ऋषिः ॥ पर्जन्यो देवता ॥
छन्दः—१ याजुषी विराट् त्रिष्टुप् । २, ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥
धैवतः स्वरः ॥

अथ श्लेषेण परमात्मा मेघश्च वर्ण्यते—

अब श्लेषालङ्कार से परमात्मा और मेघ का वर्णन करते हैं—

पर्जन्याय प्र गायत दिवस्पुत्राय मीळ्हुषे ।
स नो यवसमिच्छतु ॥१॥

पर्जन्याय । प्र । गायत । दिवः । पुत्राय । मीळ्हुषे । सः । नः । यवसम् । इच्छतु ॥१॥

पदार्थः—भो ऋत्विजः ! यूयम् (पर्जन्याय) तृप्तिजनकं परमात्मानं स्तोतुम् (प्र, गायत) ब्रह्म गायत (सः, नः, यवसम्, इच्छतु) स हीश्वरोऽस्मभ्यमैश्वर्यं ददातु यः (दिवः, पुत्राय) द्युलोकस्थजनान् नरकादुद्धरति तथा (मीळहुषे) तेषामानन्दाय भवति ॥१॥

पदार्थ—हे ऋत्विग् लोगो ! तुम (पर्जन्याय) तृप्तिजनक जो परमात्मा है उसका (प्र, गायत) गायन करो (सः, नः, यवसम्, इच्छतु) वह हमारे लिये ऐश्वर्य देवे जो (दिवः, पुत्राय) द्युस्थजनों को नरक से बचाता और (मीळहुषे) आनन्द को वर्षाता है ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम तृप्तिजनक वस्तुओं का वर्णन करो जिससे तुम में ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये उद्योग उत्पन्न हो ॥१॥

यो गर्भमोषधीनां गवां कृणोत्यर्वताम् पर्जन्यः पुरुषीणाम् ॥२॥

यः । गर्भम् । ओषधीनाम् । गवाम् । कृणोति । अर्वताम् । पर्जन्यः । पुरुषीणाम् ॥२॥

पदार्थः—(यः) य ईश्वरः (ओषधीनाम् गर्भम्) ओषधीनामुत्पत्तिस्थानमस्ति तथा च (अर्वताम् गवां, कृणोति) गमनशीलविद्युदादिपदार्थान् रचयति तथा (पुरुषीणाम्, पर्जन्यः) मनुष्यबुद्धीनां तर्प्ताऽस्ति ॥२॥

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (ओषधीनाम्, गर्भम्) ओषधियों का उत्पत्तिस्थान है और (अर्वताम्, गवाम्, कृणोति) गमनशील विद्युदादि पदार्थों को रचता है तथा (पुरुषीणाम्, पर्जन्यः) जो मनुष्यों की बुद्धियों का तृप्तिजनक है ।।२।।

भावार्थ—जिस सर्वतृप्तिकारक परमात्मा ने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों को रच कर ओषधियों को उत्पन्न किया और जिसने मनुष्यों की बुद्धि की तृप्ति करने के लिये अपने अनन्त ज्ञान को मनुष्यों के लिये दिया, उसकी उपासना प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिये ।।२।।

तस्मा इदास्ये हविर्जुहोता मधुमत्तमम् । इळां नः संयतं करत् ।।३।।

तस्मै । इत् । आस्ये । हविः । जुहोत । मधुमत्ऽतमम् । इळाम् । नः । संऽयतम् । करत् ।।३।।

पदार्थः—(आस्ये) तस्मिन् सर्वातिरिक्ते परमात्मनि (मधुमत्तमं) नितान्त-तृप्तिकारकम् (हविः) हव्यम् (जुहोत) जुहुत तथा च (तस्मै, इत्) तमेव प्रार्थयध्वम् यतः सः (नः) अस्मभ्यम् (इळां संयतम्) सकलमैश्वर्यं (करत्) ददातु ।।३।।

।। इति द्व्युत्तरशततमं सूक्तं द्वितीयो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(आस्ये) उस सर्वोपरि मुख्य परमात्मा में (मधुमत्तमं) अतिशय आह्लाद करनेवाले (हविः) हवि को (जुहोत) हवन करो और (तस्मै, इत्) उसी के लिये ही प्रार्थना करो कि वह (नः) हमको (इळां, संयतं) परिपूर्ण ऐश्वर्य (करत्) दें ।।३।।

भावार्थ—एक मात्र वही परमात्मा ऐश्वर्यों के लिये प्रार्थनीय है, अन्य नहीं ।।३।।

।। १०२ सूक्त और दूसरा वर्ग समाप्त हुआ ।।

अथ त्र्युत्तरशततमस्य दशर्चस्य सूक्तस्य–

१–१० वसिष्ठ ऋषिः ।। मण्डूका देवताः ।। छन्दः–१ आर्षी अनुष्टुप् । २, ६, ८, १० आर्षी त्रिष्टुप् । ३, ४ निचृत्त्रिष्टुप् । ५, ९ विराट्त्रिष्टुप् ।। स्वरः–गान्धारः । २, १० धैवतः ।।

सम्प्रति श्लेषालङ्कारेण ब्राह्मणानां वेदव्रतं प्रावृषिजैः प्रावृण्मण्डनं च वर्ण्यते–

अब श्लेषालङ्कार से ब्राह्मणों का वेदव्रत और प्रावृषेण्यों का प्रावृट् को विभूषित करना कथन करते हैं—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥१॥

संवत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रतऽचारिणः । वाचम् । पर्जन्यऽजिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥१॥

पदार्थः—(ब्राह्मणः) ब्रह्म वेदस्तत्सम्बन्धिनः (व्रतचारिणः) व्रतशीलाः (संवत्सरं शशयानाः) संवत्सरं यावत् सुस्थिता भवन्तः (पर्जन्यजिन्विताम्) तर्पकेण परमात्मना संबद्धां (वाचम्) वाणीं (प्रावादिषुः) वदितुं प्राक्रमिषत (मण्डूकाः) कथंभूतास्ते मण्डयन्तीति मण्डूका वेदानां मण्डयितारः ।।१।।

पदार्थ—(ब्राह्मणाः) "ब्रह्मण इमे ब्राह्मणाः" ब्रह्म वेद के साथ सम्बन्ध रखनेवाले (व्रतचारिणः) व्रती (संवत्सरं, शशयानाः) एक वर्ष के अनन्तर (पर्जन्यजिन्विताम्) तृप्तिकारक परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाली (वाचम्) वाणी को (प्रावादिषुः) बोलने लगे (मण्डूकाः) 'वेदानां मण्डयितारः' वेदों को मण्डन करनेवाले "मण्डयन्तीति मण्डूकाः" ।।१।।

भावार्थ—वृष्टिकाल में वेदपाठ का व्रत करनेवाले ब्राह्मण वेदपाठ का व्रत करते हैं और उस समय में प्रायः उन सूक्तों को पढ़ते हैं जो तृप्तिजनक हैं, दूसरे पक्ष में इस मन्त्र का यह भी अर्थ है कि वर्षा ऋतु में मण्डन करनेवाले जीव वर्षा ऋतु में ऐसी ध्वनि करते हैं मानों एक वर्ष के अनन्तर उन्होंने अपने मौनव्रत को उपार्जन करके इसी ऋतु में बोलना प्रारम्भ किया है । तात्पर्य यह है कि इस मन्त्र में परमात्मा ने यह उपदेश किया है कि जिस प्रकार क्षुद्र जन्तु भी वर्षा काल में आह्लादजनक ध्वनि करते हैं अथवा यों कहो कि परमात्मा के यश को गायन करते हैं एवं हे वेदज्ञ लोगो ! तुम भी वेद का गायन करो मालूम होता है कि श्रावणी का उत्सव जो भारतवर्ष में प्रायः वैदिक सर्वत्र मनाते हैं यह वेदपाठ से ईश्वर के महत्त्व गायन का उत्सव था ।।१।।

दिव्या आपो अभि यदेनमायन्दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम् ।
गवामह न मायुर्वत्सिनीनां मण्डूकानां वग्नुरत्रा समेति ॥२॥

दिव्याः । आपः । अभि । यत् । एनम् । आयन् । दृतिम् । न । शुष्कम् । सरसी इति । शयानम् । गवाम् । अह । न । मायुः । वत्सिनीनाम् । मण्डूकानाम् । वग्नुः । अत्र । सं । एति ॥२॥

पदार्थः—(अत्र) अस्मिन् वर्षाकाले (मण्डूकानाम्) तस्य मण्डनकर्तॄणां जन्तूनाम् (वग्नुः) शब्दः (समेति) सम्यक् संचित्य प्रकाशते (न) यथा (वत्सिनीनाम्) प्रमारूपवृत्तिभिः सह वर्तमानानां (गवाम्) इन्द्रियाणाम् (मायुः) ज्ञानं यथार्थं भवति (न) यथा च (दृतिं, शुष्कम्) शुष्कं जलपात्रं जलं प्राप्य पुनरपि आर्द्रं भवति तथैव (दिव्याः आपः यत्, एनम्) द्युलोकजा आपो यदा (अभि) सर्वतो मण्डूकगणं (सरसी, शयानम्) शुष्कसरसि स्वपन्तम् (आयन्) प्राप्नुवन्ति तदा सोऽपि पात्रवत् आर्द्रतां याति ॥२॥

पदार्थ—(अत्र) इस वर्षाकाल में (मण्डूकानाम्) वर्षाकाल को मण्डन करनेवाले जीवों का (वग्नुः) शब्द (समेति) भलीभाँति से वर्षा ऋतु को सुशोभित करता है (न) जैसे कि (वत्सिनीनाम्) प्रमारूपवृत्तियों के साथ (गवाम्) मिली हुई इन्द्रियों का (मायुः) ज्ञान यथार्थ होता है, (न) जिस प्रकार (दृतिम्, शुष्कम्) सूखा हुआ जलस्थान फिर हरा-भरा हो जाता है इसी प्रकार (दिव्याः, आपः, यत्, एनम्) द्युलोक में होनेवाले जल जब (अभि) चारों ओर से इस मण्डूगण को (सरसी, शयानम्) सूखे तालाब में सोते हुये को (आयन्) प्राप्त होते हैं तो यह भी उस पात्र के समान फिर पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है ॥२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह बोधन किया है कि वर्षाकाल के साथ मेंढकादि जीवों का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा इन्द्रियों का इन्द्रियों की वृत्तियों के साथ । जैसे इन्द्रियों की यथार्थ ज्ञानरूप प्रमाआदि वृत्तियें इन्द्रियों को मण्डन करती हैं इसी प्रकार ये वर्षाऋतु को मण्डन करते हैं ।

दूसरी बात इस मन्त्र से यह स्पष्ट होती है कि मण्डूकादिकों का जन्म मैथुनी सृष्टि के समान मैथुन से नहीं होता, किन्तु प्रकृतिरूप बीज से ही वे फिर उत्पन्न हो जाते हैं इससे अमैथुनी सृष्टि होने का नियम भी परमात्मा ने इस मन्त्र में दर्शा दिया ।

जो लोग यह कहा करते हैं कि वेदों में कोई अपूर्वता नहीं उसमें तो मेंढक और मत्स्यों का बोलना आदिक भी लिखा है उनको ऐसे सूक्त ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिये । इन वर्षाऋतु के सूक्तों ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि जिस उत्तमता के साथ वर्षाऋतु का वर्णन वेद में है वैसा आज तक किसी कवि ने नहीं किया, अर्थात् जो प्राकृत नियमों की अपूर्वता, ईश्वरीयज्ञान वेद कर सकता है उसको जीव का तुच्छ ज्ञान कैसे कर सकता है, जीव का ज्ञान तो केवल वेदों से एक जल के बिन्दु के समान एक अंश को लेकर वर्णन करता है ।

जो लोग यह कहा करते हैं कि ऋग्वेद सिन्धु नदी अर्थात् अटक के आस पास बना, उनको इस सूक्त से यह शिक्षा लेनी चाहिये कि इसमें तो उन देशों का वर्णन पाया जाता है जिनमें घोर वृष्टि होती है और सिन्धुनदी के तट पर तो वर्षाऋतु ही नहीं होती । कभी-कभी

आगन्तुक वृष्टि होती है । अस्तु ऐसे निर्मूल आक्षेपों की वेदों में क्या कथा ? इनमें तो लोक लोकान्तरों के सब पदार्थों का वर्णन पाया जाता है फिर एकदेशी होने का आक्षेप निर्मूल नहीं तो क्या ? ।।२।।

यदीमेनाँ उशतो अभ्यवर्षीत्तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम् ।
अख्खलीकृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति ।। ३।।

यत् । ईम् । एनान् । उशतः । अभि । अवर्षीत् । तृष्याऽवतः । प्रावृषि । आऽगतायाम् । अख्खलीकृत्य । पितरम् । न । पुत्रः । अन्यः । अन्यम् । उप । वदन्तम् । एति ।।३।।

पदार्थः—(यत्, ईम्) यदा हि (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आगते सति (तृष्यावतः, उशतः, एनान्) तृषया जलमिच्छून्-जलजन्तून् (अभि, अवर्षीत्) मेघो वर्षति सिञ्चति, तदा (अख्खलीकृत्य) मनोहरशब्दं कृत्वा (पितरम्, न पुत्रः) पुत्रः पित्रान्तिकमिव (अन्यः, अन्यम्, उपवदन्तम्, एति) एको द्वितीयान्तिकं शब्दायमानं गच्छति ।।३।।

पदार्थ—(यत्, ईम्) जब (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाऋतु के आने पर (तृष्यावतः, उशतः, एनान्) तृषा से जल को चाहनेवाले इन जन्तुओं पर (अभि, अवर्षीत्) वृष्टि होती है तब (अख्खलीकृत्य) सुन्दर शब्दों को करते हुये (पितरम्, न, पुत्रः) जैसे पुत्र पिता के पास जाता है वैसे ही (अन्यः, अन्यम्, उपवदन्तम्, एति) शब्द करते हुये दूसरे के पास जाते हैं ।।३।।

भावार्थ—वर्षाऋतु में जीव ऐसे आनन्द से विचरते हैं और अपने भावों को अपनी चेष्टा तथा वाणियों से बोधन करते हुये पुत्रों के समान अपने वृद्ध पितरों के पास जाते हैं । इस मन्त्र में स्वभावोक्ति अलङ्कार से वर्षा के जीवों की चेष्टा का वर्णन किया है और इसमें यह भी शिक्षा दी है कि जैसे क्षुद्र जन्तु भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भाव को प्रकट करते हैं इस प्रकार तुम भी अपने वृद्धों के पास जाकर अपने भावों को प्रकट करो ।।३।।

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्रसर्गे यदमन्दिषाताम् ।
मण्डूको यदभिवृष्टः कनिष्कन्पृश्निः संपृङ्क्ते हरितेन वाचम् ।।४।।

अन्यः । अन्यम् । अनु । गृभ्णाति । एनोः । अपाम् । प्रऽसर्गे । यत् । अमन्दिषाताम् । मण्डूकः । यत् । अभिऽवृष्टः । कनिष्कन् । पृश्निः । सम्ऽपृङ्क्ते । हरितेन । वाचम् ।।४।।

पदार्थः—(यत्) यदा (अपाम्, प्रसर्गे) वृष्टिर्भवति तदा (एनोः) अनयोर्मध्यात् (अन्यः मण्डूकः) एको जलजन्तुः (अन्यम्, अनुगृभ्णाति) द्वितीयमुपेत्योपविशति, तथा (अमन्दिषाताम्) उभावपि सञ्जातहर्षौ भवतः (यत्) यदा च (अभिवृष्टः) अभिसिक्तो भवति तदा (पृश्निः कनिष्कन्) कश्चित्पृश्निवर्ण उत्प्लवमानः (हरितेन, वाचं, सम्पृङ्क्ते) केनचिद्धरितवर्णेन स्व वाचं संयोजयति ।।४।।

पदार्थ—(यत्) जब अपाम्, प्रसर्गे) वृष्टि होती है तब (एनोः) इनमें से (अन्यः, मण्डूकः) एक जलजन्तु (अन्यम्, अनुगृभ्णाति) दूसरे के समीप जाकर बैठता है और (अमन्दिषाताम्) दोनों हर्षित होते हैं तथा (यत्) जब (अभिवृष्टः) यह अभिषिक्त होता है तब यह (पृश्निः; कनिष्कन्) चित्रवर्णवाला कूदता हुआ (हरितेन, वाचम्, सम्पृङ्क्ते) दूसरे स्फूर्तिवाले के साथ वाणी को संयोजित करता है ।।४।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम प्रकृति सिद्ध वर्षा आदि ऋतुओं में नूतन नूतन भावों को ग्रहण करनेवाले जल-जन्तुओं से शिक्षा लाभ करो कि वे जिस प्रकार हर्षित होकर उद्योगी बनते हैं इसी प्रकार तुम भी उद्योगी बनो ।।४।।

यदे॑षाम॒न्यो अ॒न्यस्य॒ वाचं॑ शा॒क्तस्ये॑व॒ वद॑ति॒ शिक्ष॑माणः ।
सर्वं॒ तदे॑षां स॒मृधे॑व॒ पर्व॒ यत्सु॒वाचो॒ वद॑थ॒नाध्य॒प्सु ॥५॥३॥

यत् । ए॒षाम् । अ॒न्यः । अ॒न्यस्य॑ । वाच॑म् । शा॒क्तस्य॑ऽइव । वद॑ति । शिक्ष॑माणः । सर्व॑म् । तत् । ए॒षाम् । स॒मृधा॑ऽइव । पर्व॑ । यत् । सु॒ऽवाचः॑ । वद॑थन । अधि॑ । अ॒प्ऽसु ॥५॥३॥

पदार्थः—(यत्) यस्मात् (अन्यः, शिक्षमाणः) इतरो लभ्यमानशिक्षः (शाक्तस्य, इव) शक्तिमतः शिक्षितस्येवान्यस्य जलजन्तोर्वचः संगृह्य ब्रवीति तथा (तत्, एषाम्) तदैतेषामेतद्ध्वनीन् (सर्वं, समृधा, इव, पर्व) प्रफुल्लिता विकलाङ्गा भवन्तः (अधिः अप्सु) जलमध्ये (यत्, सुवाचः) यानि सुन्दरवचांसि तानि (वदथन) वदत ।।५।।

पदार्थ—(यत्) जो कि (अन्यः, शिक्षमाणः) एक शिक्षा पानेवाला जलजन्तु (शाक्तस्य, इव) शक्तिमान् अर्थात् शिक्षा को पाये हुए की तरह दूसरे जलजन्तु के शब्द को सीख कर बोलता है वैसे ही (तत्, एषाम्) तब इनके शब्दों को (सर्वं, समृधा, इव, पर्व) सम्पूर्ण अविकल अङ्गोंवाले होकर (अधि, अप्सु) जलों के मध्य में (यत्, सुवाचः) जो सुन्दर वाणी है उसको (वदथन) बोलो ।।५।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जलजन्तु भी एक दूसरे की चेष्टा से शिक्षालाभ करते हैं और एक ही प्रकार की भाषा सीखते हैं इस प्रकार तुम भी परस्पर शिक्षालाभ करते हुए एक प्रकार की भाषा से भाषण करो ।।५।।

उक्त वचस एकत्वमधस्तेन मन्त्रेण सम्यग् निरूप्यते—

उक्त वाणी के एकत्व को निम्नलिखित मन्त्र से भलीभाँति वर्णन करते हैं—

गोमा॑युरेको॑ अ॒जमा॑युरेकः॒ पृश्नि॑रेको॒ हरि॑त॒ एक॑ एषाम् ।
स॒मा॒नं नाम॒ बिभ्र॑तो॒ विरू॑पाः पुरु॒त्रा वाचं॑ पिपिशु॒र्वद॑न्तः ॥६॥

गोऽमा॑युः । एकः॑ । अ॒जऽमा॑युः । एकः॑ । पृश्निः॑ । एकः॑ । हरि॑तः । एकः॑ । ए॒षाम् । स॒मा॒नम् । नाम॑ । बिभ्र॑तः । विऽरू॑पाः । पु॒रु॒ऽत्रा । वाच॑म् । पि॒पि॒शुः॒ । वद॑न्तः ॥६॥

पदार्थः—(एषाम्) एषां जलजन्तूनां मध्ये (एकः, गोमायुः) कश्चित् गौरिव शब्दं करोति तथा (एकः, अजमायुः) कश्चिदजवन्नदति (पृश्निः, एकः) कश्चित्तेषु पृश्निवर्णः (एकः. हरितः) कश्चिद्धरितवर्णः तथा (पुरुत्रा, विरूपाः) विविधवर्णा विविधाकृतय एते (समानं, नाम, बिभ्रतः) एकमेव नाम धारयन्तः (वाचं, वदन्तः) समानामेव वाचं ब्रुवन्तः (पिपिशुः) आविर्भवन्ति ।।६।।

पदार्थ—(एषाम्) इन जलजन्तुओं में (एकः, गोमायः) एक तो गौ के समान स्वर से बोलता है और (एकः, अजमायुः) दूसरा कोई अजा के समान स्वरवाला है, और (पृश्निः, एकः) कोई कोई विचित्र वर्णवाला और (एकः, हरितः) कोई हरित वर्ण का है, तथा (पुरुत्रा) बहुत से भेदवाले छोटे-बड़े (विरूपाः) अनेक रूपवाले होकर भी (समानं, नाम, बिभ्रतः) एक नाम को धारण करते हुए (वाचम्, वदन्तः) और एक ही वाणी को बोलते हुए (पिपिशुः) प्रकट होते हैं ।।६।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि जिस प्रकार जन्तु भी स्वर भेद, आकार भेद और वर्णभेद रखते हुए जातिभेद और वाणीभेद नहीं रखते इस प्रकार हे मनुष्यो ! तुमको प्राकृत जन्तुओं से शिक्षा लेकर भी वाणी का एकत्व और जाति का एकत्व दृढ़ करना चाहिये जो पुरुष वाणी के एकत्व को और जाति के एकत्व को दृढ़ नहीं रख सकता वह अपने मनुष्यत्व को भी नहीं रख सकता ।।६।।

एतदेव प्रकारान्तरेण कथ्यते—

इस भाव को अब प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं—

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ।।७।।

ब्राह्मणासः । अतिऽरात्रे । न । सोमे । सरः । न । पूर्णम् । अभितः । वदन्तः । संवत्सरस्य । तत् । अहरिति । परि । स्थ । यत् । मण्डूकाः । प्रावृषीणम् । बभूव ।।७।।

पदार्थः—(यत्, मण्डूकाः) यस्मान्मण्डूका अपि संवत्सरस्य, तदहः) संवत्सरोपरान्ते आगच्छति दिने (प्रावृषीणम्, बभूव) यत्र दिने हि प्रथमवृष्टिर्भवति तत्र (पूर्णम्, सरः, न, अभितः वदन्तः) सरः पूर्णत्वकामा अभितो वदन्तः (परि, स्थ) इतस्ततउपविशन्ति अत एव (ब्रह्मणासः) भो ब्रह्मणाः ! यूयमपि (अतिरात्रे) ब्राह्ममुहूर्त्ते (सोमे, न) सौम्यबुद्धिकारककाले वेदध्वनिना परमात्मानं स्तुवन् वृष्टि-महोत्सवं विधत्त ।।७।।

पदार्थ—(यत्, मण्डूकाः) जो कि मण्डूक भी (संवतसरस्य, तत्, अहः) वर्ष के उपरान्त होनेवाले दिन में (प्रावृषीणम्, बभूव) जिस दिन कि नई वर्षा होती है (पूर्णं, सरः, न, अभितः, वदन्तः) पूर्ण सर की कामना से चारों ओर बोलते हुए (परि, स्थ) इधर उधर स्थित होते हैं इसी प्रकार (ब्राह्मणासः) हे ब्राह्मणो ! तुम भी (अतिरात्रे) रात्रि के अनन्तर ब्राह्ममुहूर्त्त में (सोमे, न) जिस समय सौम्यबुद्धि होती है उस समय वेदध्वनि से परमेश्वर के यज्ञ को वर्णन करते हुए वर्षाऋतु के उत्सव को मनाओ ।।७।।

भावार्थ—उक्त मन्त्र में परमात्मा ने वर्षाकाल में वैदिकोत्सव के मनाने का उपदेश किया है कि हे मनुष्यो ! तुम वर्षाऋतु में प्रकृति के विचित्र दृश्य को देख कर वैदिक सूक्तों से उपासना करो और सोमादि यज्ञों द्वारा ब्रह्मोत्सवों को मनाओ । विचित्र बात है कि जिस जाति के धर्मपुस्तक में यह उपदेश था उस जाति में इस भाव को छोड़कर अन्य सब प्रकार के उत्सव वर्षाऋतु में मनाये जाते हैं किन्तु वैदिकोत्सव कोई नहीं मनाया जाता इससे हानिप्रद बात और क्या हो सकती है ॥७॥

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न के चित् ॥८॥

ब्राह्मणासः । सोमिनः । वाचम् । अक्रत । ब्रह्म । कृण्वन्तः । परिवत्सरीणम् । अध्वर्यवः । घर्मिणः । सिस्विदानाः । आविः । भवन्ति । गुह्याः । न । के । चित् ॥८॥

पदार्थः—(सोमिनः, ब्राह्मणासः) सौम्यचित्ता ब्राह्मणाः (परिवत्सरीणम्) संवत्सरान्ते (ब्रह्म, कृण्वन्तः) ब्रह्मयशः प्रकाशयन्तः (वाचम्, अक्रत) वेदमुच्चारयेयुः (केचित्, गुह्या, अध्वर्यवः) केचिदेकाकिनो व्रतं धारयन्तः (घर्मिणः, सिस्विदानाः) घर्मेण स्विन्नशरीरा अपि (न, आविर्भवन्ति) बहिर्भूताः पराङ्मुखा न भवन्ति ॥८॥

पदार्थ—(सोमिनः, ब्राह्मणासः) सौम्यचित्तवाले ब्राह्मण (परिवत्सरीणम्) वर्ष के उपरान्त (ब्रह्म, कृण्वन्तः) ब्रह्म के यश को प्रकाशित करते हुये (वाचम्, अक्रत) वेदवाणी का उच्चारण करते हैं (केचित्, गुह्याः, अध्वर्यवः) कोई एकान्त स्थल में बैठे व्रत करते हुये ब्राह्मण (घर्मिणः सिस्विदानाः) उष्णता से सिक्तशरीर होकर भी (न, आविर्भवन्ति) बहिर्भूत नहीं होते ॥८॥

भावार्थ—वेदव्रती ब्राह्मण ब्रह्म के यश को गायन करने के लिये एकान्त स्थान में बैठें और वे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहते हुये तितिक्षु और तपस्वी बन कर अपने व्रत को पूरण करें ॥८॥

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्र मिनन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ॥९॥

देवऽहितिम् । जुगुपुः । द्वादशस्य । ऋतुम् । नरः । न । प्र । मिनन्ति । एते । संवत्सरे । प्रावृषि । आऽगतायाम् । तप्ताः । घर्माः । अश्नुवते । विऽसर्गम् ॥९॥

पदार्थः—(एते, नरः) इमे पूर्वोक्त ब्राह्मणाः (देवहितिम्, द्वादशस्य, ऋतुम्) ईश्वरविहितवर्षोपरान्तभाविनीं प्रावृषम् (जुगुपुः) रक्षन्तु (न, प्रमिनन्ति) तां विफलत्वं माऽजीगमन् (संवत्सरे) वर्षान्ते (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आगते (तप्ताः, घर्माः) तपस्विनः तितिक्षवश्च ब्राह्मणाः (विसर्गम्, अश्नुवते) व्रतं धारयन्ति ॥९॥

पदार्थ—(एते, नरः) यह पूर्वोक्त ब्राह्मण (देवहितिं, द्वादशस्य, ऋतुम्) परमेश्वर से विधान की गयी द्वादश मास में होनेवाली ऋतु की (जुगुपुः) रक्षा करें (न, प्रमिनन्ति) व्यर्थ न

जाने देवें (संवत्सरे) वर्ष के उपरान्त (प्रावृषि, आगतायाम्) वर्षाकाल आने पर (तप्ताः, घर्माः) तपस्वी और तितिक्षु ब्राह्मण (निसर्गम्, अश्नुवते) व्रत धारण करते हैं ।।

भावार्थ—वर्षाकाल में ब्राह्मण लोग तप करें अर्थात् संयमी बनकर वेदपाठ करें । यहाँ व्रत से उसी व्रत का विधान है जिसका "अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि" ।। यजु. १।५ ।। इत्यादि मन्त्रों से वर्णन किया गया है । इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि वैदिक समय में ईश्वरार्चन केवल वैदिक सूक्तों के द्वारा ही किया जाता था अर्थात् जो सूक्त ईश्वर के यश को वर्णन करते हैं उनके पढ़ने का नाम ही उस समय ईश्वरार्चन था । जो ईश्वर के प्रतिनिधि बनाकर इस समय में मृण्मय देव पूजे जाते हैं मालूम होता है उस समय भारतवर्ष में यह प्रथा न थी, हाँ इतना अवश्य हुआ कि जिन जिन ऋतुओं में वैदिक यज्ञ होते थे वा प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर वर्षादि ऋतुओं में वैदिक उत्सव किये जाते थे उनके स्थान में अब अन्य प्रकार के उत्सव और पूजन होने लग पड़े, इस बात का प्रमाण निम्नलिखित मन्त्र में दिया जाता है ।।९।।

गोमायुरदादजमायुरदात्पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि ।
गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्त आयुः ।।१०।।

गोऽमायुः । अदात् । अजऽमायुः । अदात् । पृश्निः । अदात् । हरितः । नः । वसूनि । गवाम् । मण्डूकाः । ददतः । शतानि । सहस्रऽसावे । प्र । तिरन्ते । आयुः ।।१०।।

पदार्थः—(गोमायुः) गम्भीरशब्दाः प्रावृषेण्या (अजमायुः) प्राकृतशब्दवन्तश्च (पृश्निः) अनेकरूपाः हरितः) हरितवर्णाश्च ऐते स्वरचनया (नः) अस्मभ्यं (अदात्) शिक्षां ददतु (गवां, मण्डूकाः) स्वशिक्षया विद्याविषयकचमत्कृतिं वर्धयन्तो जीवाः (शतानि, ददतः) अनेकविधाः शिक्षाः ददतु तथा चेश्वरः (वसूनि) ऐश्वर्यम् (आयुः) जीवनकालं च(प्र, तिरन्ते) वितरतु तथा (सहस्रसावे) सहस्रविधौषधोत्पादके वर्षाकाले परमात्मा तत्तज्जीवसकाशात् तां तां शिक्षां ददतु ।।१०।।

।। इति त्र्युत्तरशततमं सूक्तं चतुर्थो वर्गश्च समाप्तः ।।

पदार्थ—(गोमायुः) सुन्दर शब्दोंवाले वर्षाकालोद्भव जन्तु और (अजमायुः) प्रकृत्यनुसारी शब्दोंवाले (पृश्निः) विचित्र वर्णोंवाले (हरितः) हरित वर्णोंवाले ये सब अपनी रचना से (नः) हमको (अदात्) शिक्षा देवें (गवां, मण्डूकाः) अपनी शिक्षाद्वारा विद्यारूपी चमत्कार को बढ़ाने वाले जीव (शतानि, ददतः) सैकड़ों प्रकार की हमको शिक्षा देवें और परमात्मा (वसूनि) ऐश्वर्य और (आयुः) आयु को (प्र, तिरन्ते) बढ़ावें और (सहस्रसावे) सहस्राणि सहस्रप्रकारकाणि औषधानि सूयन्तेऽस्मिन्निति 'सहस्रसावः' वर्षाकालः श्रावणमासो वा' अनन्तप्रकार की औषधियें जिसमें उत्पन्न होती हैं उस वर्षाकाल वा श्रावणामास को 'सहस्रसाव' कहते हैं उस काल में परमात्मा हमको उक्तप्रकार के जीवों से अनन्तप्रकार की शिक्षा लाभ कराये और हमारे ऐश्वर्य और आयु को बढ़ाये ।।१०।।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो ! तुम वर्षाकाल से अनन्त प्रकार की शिक्षा का लाभ करो और अपने ऐश्वर्य और आयु की वृद्धि की प्रार्थना करो, यद्यपि केवल प्रार्थना से ऐश्वर्य और आयु की वृद्धि नहीं होती तथापि जिसके हृदय में आयुर्वृद्धि और

ऐश्वर्यवृद्धि का भाव उत्पन्न होता है वह उसकी प्राप्ति के लिये यत्न अवश्य करता है इस नियम के अनुसार परमात्मा ने जीवों को प्रार्थना का उपदेश प्रधानरूप से दिया है, अस्तु ।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वर्षाऋतु का वर्णन इस सूक्त से भलीभाँति किया गया है और वर्षाऋतु का मण्डन करनेवाले मण्डूकादि जीवों की रचना से शिक्षालाभ का उपदेश इस सूक्त का तात्पर्य है ।

जो लोग यह कहा करते हैं कि वेद में ऐसे भी सूक्त हैं जिनके मण्डूक देवता हैं उनको यह समझ लेना चाहिये कि मण्डूक देवता होना कोई निन्दा की बात नहीं, वेदों के महत्त्व की बात है, क्योंकि जब देवता शब्द के अर्थ यह हैं कि दीव्यतीति देवः जो प्रकाश करें तो क्या मण्डूक किसी विद्या का प्रकाश नहीं करते, यदि न करते तो बाईग्रालोजी विद्या में मण्डूकादि जन्तुओं की आवश्यकता क्यों पड़ती ? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परमात्मा ने सब विद्याओं का मूलभूत बीज वेद में पहले से ही रख दिया है ।

दूसरी बात यह है कि यदि वेद में वर्षाऋतु का वर्णन न होता तो कवि लोग कहाँ से इसका वर्णन करते, सच तो यह है कि जिस सौन्दर्य के साथ इस सूक्त में वर्षाऋतु का वर्णन किया है उस सौन्दर्य्य के साथ आदिकवि बाल्मीकि भी वर्षाऋतु को वर्णन नहीं कर सके, इससे वेदों का महत्त्व और क्या हो सकता है कि सबसे उत्तम साहित्य और सर्वोपरि पदार्थविद्या का वर्णन वेद के अनेक सूक्तों में पाया जाता है ॥१०॥

॥ १०३ सूक्त और चौथा वर्ग समाप्त हुआ ॥

अथ पञ्चविंशत्यृचस्य चतुरुत्तरशततमस्य सूक्तस्य–

१–२५ वसिष्ठऋषिः ॥ देवताः १–७, १५, २५ इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ । ८, १६, १९–२२, २४ इन्द्रः । ९, १२, १३ सोमः । १०, १४ अग्निः । ११ देवाः । १७–ग्रावाणः । १८ मरुतः । २३[१] वसिष्ठः । २३[२] पृथिव्यन्तरिक्षे ॥ छन्दः–१, ४, ६, ७ विराड्जगती । २ आर्षीजगती । ३, ५, १८, २१ निचृज्जगती । ८, १०, ११, १३-१४, १५, १७ निचृत्त्रिष्टुप् । ९ आर्षीत्रिष्टुप् । १२, १६ विराट् त्रिष्टुप् १९, २०, २२ त्रिष्टुप् । २३ आर्चीभुरिग्जगती । २४ याजुषी विराट्-त्रिष्टुप् । २५ पादनिचृदनुष्टुप् ॥ स्वरः–१, ७, १८, २१, २३ निषादः । ८–१७, १९, २०, २२, २४–धैवतः ॥ २५ गान्धारः ॥

सम्प्रति मण्डलान्तिमसूक्ते परमात्मनो दण्डन्यायौ रक्षोघ्नसूक्तेन वर्ण्येते:–

अब इस मण्डल की समाप्ति करते हुए परमात्मा के दण्ड और न्याय रक्षोघ्नसूक्त द्वारा वर्णन करते हैं—

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः ।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्रिणः ॥१॥

इन्द्रासोमा । तपतम् । रक्षः । उब्जतम् । नि । अर्पयतम् । वृषणा । तमःऽवृधः । परा । शृणीतम् । अचितः । नि । ओषतम् । हतम् । नुदेथाम् । नि । शिशीतम् । अत्रिणः ॥१॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे दण्डन्यायात्मकशक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! भवान् (रक्षः) राक्षसान् (तपतम्) तापयतु (उब्जतम्) मारयतु (न्यर्पयतम्) अधोगतिं प्रापयतु (वृषणा) हे कामनावर्षणशील परमात्मन् ! (तमोवृधः) मायया वर्द्धमानान् (परा, शृणीत) परितो हिनस्तु (अचितः) दुर्बुद्धीन् (न्योषतम्) भस्मसात् करोतु (हतम्) नाशयतु (नुदेथाम्) अपिनयतु (अत्रिणः) अदत्तभक्षणशीलान् (निशिशीतम्) नश्यतु तनूकरोतु ॥१॥

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे दण्ड और न्यायरूप शक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! आप (रक्षः) **'रक्ष्यते यस्मात्तद्रक्षः'** जिन अनाचारियों से न्यायनियमानुसार रक्षा की आवश्यकता पड़े उनका नाम यहां राक्षस है । राक्षसों को (तपतम्) तपाओ, दमन करो (उब्जतम्) मारो (न्यर्पयतम्) नीचता को प्राप्त करो (वृषणा) हे कामनाओं की वर्षा करनेवाले परमात्मा ! (तमोवृधः) जो माया से बढ़नेवाले हैं उनको (पराशृणीत) चारों तरफ से नाश करो (अचितः) जो ऐसे जड़ हैं, जो समझाने से भी नहीं समझते उनको (न्योषतम्) भस्मीभूत कर डालो (हतम्) नाश करो (नुदेथाम्) दूर करो (अत्रिणः) जो अन्याय से भक्षण करनेवाले हैं उनको (निशिशीतम्) घटाओ ॥१॥

भावार्थ—हे परमात्मन् ! जो राक्षसी वृत्ति से प्रजा में अनाचार फैलाते हैं आप उनका नाश करें, यहाँ राक्षस कोई जातिविशेष नहीं किन्तु जिनसे प्रजा में शान्ति और न्यायनियम का भङ्ग होता है उन्हीं का नाम राक्षस है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा ने जीवों की प्रार्थना द्वारा इस बात को प्रकट किया है कि दुष्ट दस्युओं के नाश करने का भाव आप अपने हृदय में उत्पन्न किया करें, जब आपके शुद्ध हृदय से आपके हृदय में यह प्रबल प्रवाह उत्पन्न होगा तो पापपङ्क-रूपी दस्युदल उसमें अवश्य वह जायगा।

वा यों कहो कि इस सूक्त में परमात्मा ने शील से अनाचार के दूर करने का उपदेश किया, जो लोग सुशीलतादि दिव्यगुणसम्पन्न हैं वही **'देवता'** और जो लोग सुशीलतारहित केवल अन्याय से अपनी प्राणयात्रा करते हैं अर्थात् **'असुषु रमन्ते येते असुराः'** जो लोग केवल प्राणों की रक्षा ही में रत हों उनका नाम यहां **'असुर'** है यही अर्थ सर्वत्र समझ लेना चाहिये ।।१।।

इन्द्रासोमा सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒घं तपु॒र्यय॑स्तु च॒रुर॑ग्नि॒वाँ इ॑व ।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ।।२।।

इन्द्रा॑सोमा । सम् । अ॒घऽशं॑सम् । अ॒भि । अ॒घम् । तपुः॑ । य॒य॒स्तु॒ । च॒रुः । अ॒ग्नि॒वान्ऽइ॑व । ब्र॒ह्म॒ऽद्विषे॑ । क्र॒व्य॒ऽअदे॑ । घो॒रऽच॑क्षसे । द्वेषः॑ । ध॒त्त॒म् । अ॒न॒वा॒यम् । कि॒मी॒दिने॑ ।।२।।

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे पूर्वोक्तशक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! (अघशंसम्) अघस्य विरुद्धकर्मणः शंसं प्रशंसितारम् (सम्, अघम्) सपापम् (अभि) अभिभवतु (तपुः) सतां संतापकः (ययस्तु) दूरं गच्छतु परिक्षीयतां यथा (चरुः, अग्निवान्, इव) हविरग्निना संयोजितं भस्मसात् संभवति तथावत् (ब्रह्मद्विषे) वेदानां दूषयितरि (क्रव्यादे) हिंसके (घोरचक्षसे) भीमदर्शने (किमीदिने) किमनेनेति प्रतिकार्ये सन्दिहाने (अनवायम्) निरन्तरम् (द्वेषः) द्वेषभावम् (धत्तम्) उत्पादयतु ।।२।।

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे दण्ड और न्यायरूप शक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! (अघशंसम्) जो पापमार्ग को अच्छा बतलाता है अथवा ईश्वराज्ञाविरुद्ध कामों की प्रशंसा करता है (सम्, अघं) जो पापयुक्त है उसका (अभि) निरादर करो (तपुः) जो दूसरों को दुःख देनेवाले हैं वह (ययस्तु) परिक्षीण हो जायँ जैसे कि (चरुः, अग्निवान्, इव) चरु सामग्री अग्नि पर भस्मीभूत हो जाती है। (ब्रह्मद्विषे) जो वेद के द्वेषी हैं (क्रव्यादे) तथा जो हिंसक हैं (घोरचक्षसे) जो क्रूर प्रकृतिवाले हैं (किमीदिने) हर एक बात में शक करनेवाले हैं उनमें (अनवायम्, द्वेषो, धत्तम्) हमारा निरन्तर द्वेषभाव उत्पन्न कराइये ।।२।।

भावार्थ—जो लोग वेदद्वेषी और अघायु पुरुषों के दमन करने का भाव नहीं रखते वह परमात्मा की आज्ञा को यथावत् पालन नहीं कर सकते, इसलिये परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे पुरुषो ! तुम पापात्मा धर्मानुष्ठानविहीन धर्मद्वेषी पुरुषों से सदैव ग्लानि करो और जो केवल कुतर्कपरायण होकर अहर्निश धर्मनिन्दा में तत्पर रहते हैं उनको भी द्वेषबुद्धि से अपने से दूर करो।

तात्पर्य यह है कि वैदिक लोगों को चाहिये कि वे सत्कर्मों और धर्मरत पुरुषों का सम्मान करें, औरों का नहीं ।।२।।

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम् ।
यथा नातः पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥

इन्द्रासोमा । दुःऽकृतः । वव्रे । अन्तः । अनारम्भणे । तमसि । प्र । विध्यतं । यथा । न । अतः । पुनः । एकः । चन । उत्ऽअयत् । तत् । वां । अस्तु । सहसे । मन्युऽमत् । शवः ॥३॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे न्यायशील परमात्मन् ! (दुष्कृतः) वेदविरुद्धमाचरतः क्रूरान् (वव्रे) विविधदुःखावृते (अनारम्भणे) अवलम्बनरहिते (तमसि, अन्तः) प्रचण्डनरकमध्ये (प्र, विध्यतम्) प्रवेश्य तथा ताडयतु (यथा) येन हि (अतः) अतो यातनातः (एकश्चन, पुनः, न,) एकोऽपि भूयो न (उदयत्) दुष्कर्मसु वृद्धिं प्राप्नुयात्, तथा (तत्) तत्प्रसिद्धम् (ताम्) भवतः (मन्युमत्, शवः) सहमन्युना दुष्कर्मापनयन-समर्थेन तेजसा बलम् (सहसे, अस्तु) रक्षसां नाशाय भवतु ॥३॥

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे उक्तशक्तिद्वयप्रधान परमात्मन् ! (दुष्कृतः) जो वेदविरुद्ध कर्म करनेवाले दुराचारी हैं उनको (वव्रे) महादुःखों से आवृत (अनारम्भणे) जिसमें कोई आलम्बन नहीं है ऐसे (तमसि, अन्तः) घोर नरक में (प्र, विध्यतम्) प्रविष्ट कर ऐसा ताड़न कीजिये (यथा) जिससे कि (अतः) इस यातना से (एकश्चन, पुनः, न, उदयत्) फिर एक भी दुष्कर्म न करे तथा (तत्) वह प्रसिद्ध (वाम्) आपका (मन्युमत्, शवः) मन्युयुक्त बल (सहसे, अस्तु) राक्षसों के नाश करनेवाला हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा के मन्यु का वर्णन किया है जैसा कि अन्यत्र भी कहा है कि 'मन्युरसि मन्युं मयि धेहि' कि आप मन्युस्वरूप हैं मुझे भी मन्यु प्रदान करें मन्यु के अर्थ यहाँ परमात्मा की दमनरूप शक्ति के हैं । जैसा कि 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' । कठ. ६।२। हे परमात्मन् ! आपकी दमनरूप शक्ति से वज्र उठाये हुये के समान भय प्रतीत होता है । इसमें सन्देह नहीं कि दुष्टों के दमन के लिये परमात्मा भयरूप है, इसी अभिप्राय से कहा है कि 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः' उसके दमनरूप शक्ति के नियम में आकर सब सूर्य चन्द्रादि भ्रमण करते हैं, इस भाव को इस सूक्त में वर्णन किया है ॥ ३ ॥

अथ पूर्वोक्तमेव प्रकारान्तरेण वर्ण्यते—

अब इस भाव को प्रकारान्तर से वर्णन करते हैं—

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम् ।
उत्तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥४॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतं । दिवः । वधं । सं । पृथिव्याः । अघऽशंसाय । तर्हणं । उत् । तक्षतं । स्वर्यं । पर्वतेभ्यः । येन । रक्षः । ववृधानं । निऽजूर्वथः । ॥४॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारिन् ! (अघशंसाय) वेदविरुद्धकर्मसेविने (दिवः) (द्युलोकात्) तथा (पृथिव्याः) भुवः (तर्हणम् वधम्) शितानि शस्त्राणि (सं, वर्तयतम्) उत्पादयतु (पर्वतेभ्यः) आकाशे मेघेभ्यो विद्युतमिव (स्वर्यम्,

(उत्तक्षतम्) उत्तापकानि शस्त्राण्युत्पादयतु (येन) यतः (वावृधानम्) उद्वृद्धाः (रक्षः) राक्षसाः (निजूर्वथः) नश्यन्तु ।।४।।

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारिन् परमात्मन् ! (अघशंसाय) जो वेदविरुद्ध कर्मों की प्रशंसा तथा आचरण करता है उस राक्षस के लिये (दिवः) द्युलोक से तथा (पृथिव्याः) पृथिवी से (तर्हणम्, वधम्) अतितीक्ष्ण शस्त्रों को (सं, वर्तयतम्) उत्पन्न करिये (पर्वतेभ्यः) तथा आकाश में मेघों से बिजली के समान (स्वर्यम्, उत्तक्षतम्) उत्तापकशस्त्रों को उत्पन्न करिये (येन) जिससे (वावृधानम्) बढ़े हुये (रक्षः) राक्षस (निजूर्वथः) नष्ट हो जायँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मेघों से बिजली उत्पन्न होकर पृथिवीतल पर गिरती है इस प्रकार अन्यायकारी शत्रुओं के लिये परमात्मा अनेकविध शस्त्र-अस्त्रों को उत्पन्न करके उनका हनन करता है ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः ।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतं । दिवः । परि । अग्निऽतप्तेभिः । युवं । अश्महन्मऽभिः । तपुःऽवधेभिः । अजरेभिः । अत्रिणः । नि । पर्शाने । विध्यतं । यन्तु । निऽस्वरम् ॥५॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारिन् भगवन् ! (युवम्) भवान् (अग्नितप्तेभिः) अग्निसंसर्गाद्दन्दह्यमानैः (तपुर्वधेभिः) तापनाशकैः (अजरेभिः) अच्छेद्यैः (अश्महन्मभिः) इत्थंभूतैर्वज्रैः (दिवस्परि) अन्तरिक्षात् (वर्तयतम्) शत्रूनाच्छादयतु, तथा (अत्रिणः) अन्यायेन भक्षणशीलान् (पर्शाने) उभयोः पार्श्वयोरावृत्य (निविध्यतम्) इत्थं ताडयतु येन (निस्वरम् यन्तु) तूष्णीं पलायन्ताम् ।।५।।

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे न्यायकारी परमात्मन् ! (युवम्) आप (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपाये हुये (तपुर्वधेभिः) तापों के नाशनेवाले (अजरेभिः) जो कि बड़े दृढ़ हैं ऐसे (अश्महन्मभिः) वज्रों से (दिवस्परि) अन्तरिक्षस्थल से (वर्तयतम्) शत्रुओं को आच्छादन करो और (अत्रिणः) अन्याय से भक्षण करनेवालों को (पर्शाने) दोनों ओर से घेर कर (निविध्यतम्) ऐसी ताड़ना करो जिससे कि (निस्वरम्) शब्दहीन होकर (यन्तु) भाग जायें ॥ ५ ॥

भावार्थ—भाव यह है कि अन्यायकारी दुष्टों के दमन करने को परमात्मा अनेक प्रकार कथन करते हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना ।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीव जिन्वतम् ॥६॥

इन्द्रासोमा । परि । वां । भूतु । विश्वतः । इयं । मतिः । कक्ष्या । अश्वाऽइव । वाजिना । यां । वां । होत्रां । परिऽहिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि । नृपती । इवेति । नृपतीऽइव । जिन्वतम् ॥६॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे भगवन् ! (इयं, मतिः) अनया मत्प्रार्थनया (वाम्) भवान् (विश्वतः) सर्वान् शत्रून् (परिभूतु) वशमानीय सुमार्गाय प्रेरयतु यथा (कक्ष्या)

उभयकक्षबन्धनी रज्जुः (वाजिना, अश्वा, इव) अतिबलानश्वान्वशीकरोति तद्वत् (यां वाचम्) यया वाचा (वाम्) भवन्तम् (मेधया) स्वबुद्धचा (परिहिनोमि) प्रेरयामि (इमा, ब्रह्माणि) सेयं स्तुतिरूपा वाणी (नृपती, इव) प्रजावाक् राजानमिव (जिन्वतम्) भवते रोचताम् ॥६॥

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे परमात्मा, (इयं, मतिः) इस मेरी प्रार्थना से (वाम्) आप (विश्वतः) सब शत्रुओं को (परिभूतु) वश में लाकर सुमार्ग की ओर प्रेरणा करें, जिस प्रकार (कक्ष्या) कक्षबन्धनी रज्जु (वाजिना, अश्वा, इव) बलयुक्त अश्वों को वश में लाकर इष्ट मार्ग में ले आने के योग्य बनाती है (यां वाचम्) जिस वाणी से (वां) आप को (मेधया) अपनी बुद्धि के अनुसार मैं (परिहिनोमि) प्रेरित करता हूँ (इमा, ब्रह्माणि) यह स्तुतिरूप वाणी (नृपति, इव) जिस प्रकार राजभक्त प्रजा की वाणी राजा को प्रसन्न करती है उसी प्रकार (जिन्वतम्) आपको प्रसन्न करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र में 'इमा ब्रह्माणि' के अर्थ वैदिक वाणियों के हैं, जिस प्रकार वेद की वाणियें नृपति राजा को कर्म में और अपने स्वधर्म में प्रेरणा करती हैं वा यों कहो कि जिस प्रकार प्रजा की प्रार्थनायें राजा को दुष्टदमन के लिये उद्यत करती हैं इसी प्रकार आप हमारी प्रार्थनाओं से दुष्ट दस्युओं का दमन करके प्रजा में शान्ति का राज्य फैलावें ॥ ६ ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः ।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो नः कदा चिदभिदासति द्रुहा ॥७॥

प्रति । स्मरेथां । तुजयत्ऽभिः । एवैः । हतं । द्रुहः । रक्षसः । भंगुरऽवतः । इन्द्रासोमा । दुःऽकृते । मा । सुऽगं । भूत् । यः । नः । कदा । चित् । अभिऽदासति । द्रुहा ॥७॥

पदार्थः—(इन्द्रासोमा) हे दण्डशक्तिसौम्यस्वभावोभयप्रधान परमात्मन् ! भवान् (दुष्कृते) निषिद्धकर्माण्याचरते (मा, सुगम् भूत्) सुखदो मा भूत्, तथा यः (नः) सत्कर्म कुर्वतामस्माकं कर्मणि (कदाचित्) कदापि (द्रुहा) दुष्टतया (अभिदासति) अन्तरायो भवति (भङ्गुरावतः) ये च क्रूरास्तथा (द्रुहाः) दुष्कर्माणः (रक्षसः) राक्षसाः सन्ति तान् (तुजयद्भिः) पीडयद्भिः (एवैः) शस्त्रैः (हतम्) नाशयतु, भवानेतां मत्प्रार्थनाम् (प्रतिस्मरेथाम्) अङ्गीकरोतु ॥७॥

पदार्थ—(इन्द्रासोमा) हे विद्युच्छक्तिप्रधान और सौम्यस्वभावप्रधान अर्थात् दण्डशक्ति और सौम्यस्वभावप्रधान परमात्मन् ! आप (दुष्कृते) दुष्कर्मी पुरुष के लिये (मा, सुगम्, भूत्) सुखकारी मत हों और जो (नः) हम सदाचारी पुरुषों के काम में (कदाचित्) कभी (द्रुहा) दुष्टता से (अभिदासति) बाधा डालता है (भङ्गुरावतः) जो क्रूर तथा (द्रुहः) दुष्ट कर्म करनेवाले जो (रक्षसः) राक्षस हैं उनको (तुजयद्भिः) जो कि अति पीड़ा देनेवाले हैं (एवैः) ऐसी शक्तियों से (हतम्) नाश करें, आप इस प्रार्थना को (प्रति स्मरेथाम्) स्वीकार करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—दुष्टाचारी अन्यायकारियों के प्रति दण्ड देने का विधान इस मन्त्र में किया गया है । तात्पर्य यह है कि जो पुरुष क्रूरप्रकृति हैं वह यथायोग्य दण्ड के अधिकारी होते हैं, क्षमा के नहीं ॥ ७ ॥

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः ।
आप इव काशिना सङ्गृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता ॥८॥

यः । मा । पाकेन । मनसा । चरन्तं । अभिऽचष्टे । अनृतेभिः । वचःऽभिः । आपःऽइव । काशिना । संऽगृभीताः । असन् । अस्तु । असतः । इन्द्र । वक्ता । ॥८॥

पदार्थः—(इन्द्रः) हे विद्युच्छक्तिधारिन् परमात्मन् ! (पाकेन) शुद्धेन (मनसा) चेतसा (चरन्तम्) आचरन्तम् (मा) माम् (यः) यो दुर्जनः (अनृतेभिः, वचोभिः) अयथार्थवाग्भिः (अभिचष्टे) दूषयति, सः (काशिना, संगृभीताः) मुष्टिना गृहीतानि (आपः, इव) जलानीव (असन्, अस्तु) अविद्यमानो भवतु, यतो हि सः (असतः, वक्ता) असत्यवाद्यस्तीति ॥८॥

पदार्थ—(इन्द्रः) हे विद्युदशक्तिप्रधान परमात्मन् ! (पाकेन) शुद्ध (मनसा) मनसे (चरन्तम्) आचरण करते हुए (मा) मुझको (यः) जो (अनृतेभि,, वचोभिः) झूठ बोल कर (अभिचष्टे) दूषित करता है वह (काशिना, संगृभीताः) मुट्ठी भरे हुए (आपः, इव) जल के समान (असन्, अस्तु) असत् हो जाय क्योंकि वह (असतः, वक्ता) झूठ का बोलनेवाला है ॥८॥

भावार्थ—इस मन्त्र में शुद्ध मन से आचरण करने की अत्यन्त प्रशंसा की है कि जो पुरुष कायिक, वाचिक और मानस तीनों प्रकार से शुद्धभाव और सत्यवादी रहते हैं उनके सामने कोई असत्यवादी ठहर नहीं सकता, तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपनी सच्चाई पर सदा दृढ़ रहना चाहिये ॥ ८ ॥

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः ।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे ॥९॥

ये । पाकऽशंसं । विऽहरन्ते । एवैः । ये । वा । भद्रं । दूषयन्ति । स्वधाभिः । अहये । वा । तान् । प्रऽददातु । सोमः । आ । वा । दधातु । निःऽऋतेः । उपऽस्थे ॥९॥

पदार्थः—(ये, पाकशंसं, विहरन्ते) ये दुष्टाः सद्धर्मप्रशंसकं दूषयन्ति (एवैः, येवा) यद्वा ये चेत्थं भूतैरेवासत्याचरणैः (स्वधाभिः) स्वसाहसैः (भद्रम्) सुकर्माणम् (दूषयन्ति) दुष्टं कारयन्ति (तान्) तान्दुष्टान् (सोमः) परमात्मा (अहये) हिंसकाय (प्रददातु) समर्पयतु वा यद्वा (निर्ऋतेः, उपस्थे) असत्यवादिसमक्षे (आदधातु) स्थापयतु ॥९॥

पदार्थ—(ये, पाकशंसं, विहरन्ते) जो राक्षस अर्थात् अन्यायकारी लोग सच्चे धर्म की प्रशंसा करनेवाले पुरुष को आक्षिप्त-दूषित करते हैं (एवैः) ऐसे ही कामों से (ये, वा) जो पुरुष (स्वधाभिः) अपने साहसरूपबल से (भद्रम्) भद्र पुरुष को (दूषयन्ति) दूषित करते हैं (तान्) उनको (सोमः) परमात्मा (अहये) हिंसकों को (प्रददातु) दे (वा) यद्वा (निर्ऋतेः, उपस्थे) असत्यवादियों की संगति में (आदधातु) रक्खे ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो लोग अपने साहस से सद्धर्मपरायण पुरुषों को दूषित करते हैं उनको परमात्मा हिंसकों के वशीभूत करता है अथवा पापात्मा पुरुषों के मध्य में फेंक देता है, जिससे वे स्वयं पापी बन कर अपने कर्मों से आप ही नष्ट-भ्रष्ट हो जायें। तात्पर्य इस मन्त्र का यह है कि परमात्मा उसे दण्ड देने के अभिप्राय से पापात्पा पुरुषों के वशीभूत करता है ताकि वे दण्ड भोग कर स्वयं शुद्ध हो जायें। परमात्मा को सबका सुधार करना अपेक्षित है, नाश करना इस अभिप्राय से कहा गया कि परमात्मा उसके कुकर्म और कुवृत्तिओं का नाश करता है, आत्मनाश नहीं ॥ ९ ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम् ।
रिपुः स्तेनः स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥१०॥६॥

यः । नः । रसं । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । यः । अश्वानां । यः । गवां । यः । तनूनां । रिपुः । स्तेनः । स्तेयऽकृत् । दभ्रं । एतु । नि । सः । हीयतां । तन्वा । तना । च ॥१०॥

पदार्थः—(अग्ने) हे तेजःस्वरूप परमात्मन् । (यः) यो राक्षसः (नः) अस्माकम् (पित्वः) अन्नस्य (रसम्) रसं तत्रत्यं सारम् (दिप्सति) विनाशयिषति (यः) यश्च (अश्वानाम्) वाजिनाम् (यः, गवाम्) यश्च गवाम् (यः, तनूनाम्) यश्चास्माकं शरीराणां रसं दिप्सति (रिपुः)स शत्रुः (स्तेनः) चौरः (स्तेयकृत्) गूढवृत्या हानिकरः (दभ्रम्) (एतु) नाशं गच्छतु (सः)सदुष्टः (तन्वा) स्वशरीरेण तथा (तना) दुःसन्तानेन सह (निहीयताम्) प्रणश्यतु ॥१०॥

पदार्थ—(अग्ने) हे तेजःस्वरूप परमात्मन् ! (यः) जो राक्षस (नः) हमारे (पित्वः) अन्न के (रसम्) रसको (दिप्सति) नष्ट करना चाहता है और (यः) जो (अश्वानाम्) घोड़ों के तथा (यः, गवाम्) जो गौओं के तथा (यः तनूनाम्) जो हमारे शरीर के रस अर्थात् बल को नष्ट करना चाहता है वह (रिपुः) अहिताभिलाषी (स्तेनः) चोर तथा (स्तेयकृत्) छिप कर हानि करनेवाला (दभ्रम्, एतु) नाश को प्राप्त हो (सः) और वह दुष्ट (तन्वा) अपने शरीर से तथा (तना) दुष्कर्मी सन्तानों से (नि, हीयताम्) नष्ट हो जाय ॥ १० ॥

भावार्थ—हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आप ऐसे राक्षसों को सदैव नाश को प्राप्त करें जो धर्मचारी पुरुषों के बल वीर्य और ऐश्वर्य को छिप कर वा किसी कुनीति से नाश करते हैं ॥ १० ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः ।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो नो दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥११॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः । अधः । अस्तु । विश्वाः । प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । नः । दिवा । दिप्सति । यः । च । नक्तम् ॥११॥

पदार्थः—(सः) स दुराचारी (तन्वा) शरीरेण (तना) सन्तानेन च (परः, अस्तु) हीयताम् (च) तथा (तिस्रः, पृथिवीः) लोकत्रयादपि (अधः, अस्तु) नीचैः

पततु (देवाः) हे भगवन् ! (अस्य, यशः) अस्य दुष्कर्मणः (यशः) कीर्त्तिः विश्वाः, परि शुष्यतु) सर्वथा नश्यतु (यः) यो राक्षसः (नः) सत्कर्मणोऽस्मान् (दिवा) समक्षम् (नक्तम्) अप्रत्यक्षं यो (दिप्सति) तापयति हानौ तत्परो भवति स नीचैः पतत्विति ॥११॥

पदार्थ—(सः) वह अन्यायकारी पुरुष (तन्वा) शरीर से (तना) सन्तानों से (परः, अस्तु) हीन हो जाय (च) और (तिस्रः पृथिवीः) तीनों लोकों से (अधः, अस्तु) नीचे हो जाय और (देवाः) हे भगवन् ! (अस्य, यशः) इसका यश (विश्वाः, प्रतिशुष्यतु) सब प्रकार से नष्ट हो जाय (यः) जो राक्षस (नः) सदाचारी हम लोगों को (दिवा) प्रत्यक्ष (नक्तम्) तथा अप्रत्यक्ष में (दिप्सति) हानि पहुँचाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो लोग सदाचारी लोगों को दुःख पहुँचाते हैं वे तीनों लोकों से अर्थात् भूत, भविष्यत् वर्तमान तीनों काल के सुखों से वञ्चित हो जाते हैं । वा यों कहो कि भूतकाल में उनका ऐतिहासिक यश नष्ट हो जाता है और वर्तमान काल में अशान्ति उत्पन्न होकर उनके शान्त्यादि सुख नाश को प्राप्त हो जाते हैं और भविष्य में उनका अभ्युदय नहीं होता, इस प्रकार वे तीनों लोकों से परे हो जाते हैं अर्थात् वञ्चित रहते हैं ॥ ११ ॥

वस्तुतोऽत्र कः सत्यवादी कश्चासत्यवादीति निर्णीयते—

वास्तव में कौन सत्यवादी और असत्यवादी है अब इसका निर्णय करते हैं—

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥१२॥

सुऽविज्ञानं । चिकितुषे । जनाय । सत् । च । असत् । च । वचसी इति । पस्पृधाते इति । तयोः । यत् । सत्यं । यतरत् । ऋजीयः । तत् । इत् । सोमः । अवति । हन्ति । असत् ॥१२॥

पदार्थः—(सत्, च) यत्सत्यम् (असत्, च) यच्चासत्यम् (वचसी) उभे अपि वचसी (पस्पृधाते) मिथो विरुद्धे उच्येते ते वचसी (चिकितुषे, जनाय) विद्वान्नरः (सुविज्ञानम्) सुखेन विजानीते (तयोः, यत्, सत्यम्) तयोर्मध्ये यद्यथार्थमस्ति, तथा (यतरत्) यच्च (ऋजीयः) सरलतया) ज्ञायते (तत्, इत्) तदेव (सोमः) परमात्मा (अवति) रक्षति (असत् हन्ति) कपटगदितं च निर्मुञ्चति ॥१२॥

पदार्थ—(सत्, च) जो सच्चे तथा (असत् च) जो झूठे (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर विरुद्ध कहे जाते हैं उनको (चिकितुषे, जनाय) विद्वान् लोग (सुविज्ञानम्) सहज ही में समझ सकते हैं (तयोः, यत् सत्यम्) उन दोनों में जो सत्य है तथा (यतरत्) जो (ऋजीयः) सरल अर्थात् सीधे स्वभाव से कहा गया है (तत्, इत्) उसी को (सोमः) परमात्मा (अवति) रक्षा करता है और (असत्, हन्ति) जो कपट भाव से कहा गया झूठा वचन है उसको त्याग करता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि अपनी ओर से वे देव और असुर दोनों ही सत्यवादी बन सकते हैं अर्थात् देवता कहेगा कि मैं सत्यवादी हूं और असुर कहेगा कि मैं सत्यवादी हूं परन्तु ये बात वास्तव में ठीक नहीं क्यों कि विद्वान् इसका निर्णय कर सकता है कि अमुक सत्यवादी

और अमुक असत्यवादी है । सत्य भी दो प्रकार का होता है जैसा कि "ऋतञ्च सत्यञ्चाभी-द्धात्तपसोऽध्यजायत" ।। ऋग् १० । १९० । १ ।।

इस मन्त्र में वर्णन किया है अर्थात् वाणी के सत्य को ऋत् कहते हैं और भाविक सत्य को अर्थात् वस्तुगत सत्य को सत्य कहते हैं । देवता वे लोग कहलाते हैं जो वाणीगत सत्य तथा वस्तुगत सत्य के बोलने और माननेवाले होते हैं अर्थात् सत्यवादी और सत्यमानी लोगों का नाम वैदिक परिभाषा में देव और सदाचारी है, इनसे विपरीत असत्यवादी और असत्यमानी लोगों का नाम असुर और राक्षस है ।

और यह बात असुर इस नाम से भी स्वयं प्रकट होती है क्योंकि 'असुषुरमन्त इत्यसुरः' जो प्राणमय कोश वा अन्नमयकोशात्मक शरीर को ही आत्मा मानते हैं वे असुर हैं । इसी अभिप्राय से 'असुर्या नाम ते लोकाः' । यजुः ४०।३। इस मन्त्र में असुरों के आत्मीय लोगों को 'असुर्याः' कहा, इस परिभाषा के अनुसार प्रकृति, पुरुष और परमात्मा की जो भिन्न भिन्न सत्ता नहीं मानते वे भी एक प्रकार के असुर ही हैं । भाव यह है कि इस मन्त्र में देव और राक्षस का निर्णय स्वयं परमात्मा ने किया है ।। १२ ।।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

न । वै । ऊं इति । सोमः । वृजिनं । हिनोति । न । क्षत्रियं । मिथुया । धारयन्तं । हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्त । उभौ । इन्द्रस्य । प्रऽसितौ । शयाते इति ॥१३॥

पदार्थः—(सोमः) परमात्मा (वृजिनम्) पापिनम् (न, वा, उ) तथा न (हिनोति) दण्डयति तथा (मिथुया, धारयन्तम्) मिथ्या साहसिनम् (क्षत्रियम्) राजन्यमपि तथा न दण्डयति यथा यावत् (रक्षः, हन्ति) राक्षसान् हिनस्ति (असत्, वदन्तम् हन्ति) असत्यवादिनं च हन्ति (उभौ) द्वावपि पूर्वोक्तौ (इन्द्रस्य, प्रसितौ) ऐश्वर्यवतः परमात्मनो बन्धने (शयाते) अवरुद्धय दुःखं भुङ्क्तः ।।१३।।

पदार्थ—(सोमः) परमात्मा (वृजिनम्) पापी को (न, वा, उ) उतना नहीं (हिनोति) दण्ड देता है तथा (मिथुया, धारयन्तम् क्षत्रियम्) व्यर्थसाहस रखनेवाले क्षत्रिय को भी उतना नहीं दण्ड देता जितना कि (रक्षः, हन्ति) राक्षसों को (तथा असत्, वदन्तम् हन्ति) झूठ बोलने-वाले को नष्ट करता है (उभौ) ये दोनों (इन्द्रस्य, प्रसितौ) इन्द्र उस ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मा के बन्धन में (शयाते) बँधकर दुःख पाते हैं ।।१३।।

भावार्थ—पापी पुरुष पाप से पश्चात्ताप करने पर अथवा ईश्वर के सम्बन्ध में सन्ध्यावन्द-नादि कर्मों के समय पर न करने से प्रत्यवायरूपी दोषों से मुक्त भी हो सकता है एवम् साहसी क्षत्रिय प्रजारक्षा के भाव से छोड़ा जा सकता है, पर राक्षस = अन्यायकारी, असत्यवादी = मिथ्याभाव प्रचार करनेवाला और मिथ्या आचार करनेवाला पाप से कदापि निर्मुक्त नहीं हो सकता ।

तात्पर्य यह है कि परमात्मा में दया और न्याय दोनों है । दया केवल उन्हीं पर करता है जो दया के पात्र हैं वा यों कहो कि जिनके पाप आत्मा वा परमात्मा सम्बन्धी हैं । और जो लोग

दूसरों की वञ्चना करते हैं वे अन्याय करते हैं उनको परमात्मा कदापि क्षमा नहीं करता अर्थात् यथायोग्य दण्ड देता है, इस प्रकार परमात्मा न्यायशील है ॥१३॥

अथ जीवः शपथरूपेणेश्वराग्रे अनन्यभक्तिं कथयति—

जब जीव के शपथरूप से ईश्वर के आगे अनन्य भक्ति का कथन किया जाता है—

यदि॑ वा॒हमनृ॑तदेव॒ आस॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने।
किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रो॑घ॒वाच॑स्ते निर्ऋ॒थं स॑चन्ताम् ॥१४॥

यदि॑ । वा॒ । अ॒हं । अनृ॑तऽदे॑वः । आस॑ । मोघं॑ । वा॒ । दे॒वान् । अ॒पि॒ऽऊ॒हे । अ॒ग्ने॒ । किं । अ॒स्मभ्यं॑ । जा॒तऽवे॒दः॒ । हृ॒णी॒षे॒ । द्रो॒घ॒ऽवा॒चः॑ । ते॒ । निः॒ऽऋ॒थं । स॒च॒न्ता॒म् ॥१४॥

पदार्थः—(यदि, वा, अहम्) यदि चेत् अहम् (अनृतदेवः) मिथ्यादेवानामभिमन्ता (आस) अस्मि यद्वा (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (मोघम्) मिथ्या (वा) एव (देवान्) देवताः (अपि, ऊहे) कल्पयामि तदाऽहं नूनयमराध्यस्मि अन्यथा (किम्, अस्मभ्यम्) मदर्थं कुतः (जातवेदः) हे जातानां वेदितः! (हृणीषे) क्रुध्यसि (द्रोघवाचः) मिथ्यावादिनः (ते) तव (निः ऋथम्) दण्डम् (सचन्ताम्) सेवन्ताम् ॥१४॥

पदार्थ—(यदि वा) यदि मैं (अनृतदेवः) झूठे देवों के माननेवाला (आस) हूँ अथवा (अग्नि) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (मोघं) वा मिथ्या (देवान्) देवताओं की (अप्यूहे) कल्पना करता हूँ तभी निस्सन्देह अपराधी हूँ। जब ऐसा नहीं तो (किमस्मभ्यं) हमको क्यों (जातवेदः) हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप (हृणीषे) हमारे विपरीत हैं (द्रोघवाचः) मिथ्यावादी और मिथ्या देवताओं के पूजनेवाले (ते) तुम्हारे (निर्ऋथं) दण्ड को (सचन्ताम्) सेवन करें।

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रार्थना के भाव से मिथ्या देवों की उपासना का निषेध किया है अर्थात् ईश्वर से भिन्न किसी अन्य देव की उपासना का यहाँ बलपूर्वक निषेध किया है, और जो लोग भिन्न-भिन्न देवताओं के पुजारी हैं उनको राक्षस वा ईश्वर के दण्ड के पात्र बतलाया है।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर को छोड़ कर अन्य किसी की पूजा ईश्वरत्वेन कदापि नहीं करनी चाहिए, इस भाव का उपदेश इस मन्त्र में किया है ॥४॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥१५॥७॥

अ॒द्य । मु॒री॒य॒ । यदि॑ । या॒तु॒ऽधानः॑ । अस्मि॑ । यदि॑ । वा॒ । आयुः॑ । त॒तप॑ । पुरु॑षस्य । अधः॑ । सः । वी॒रैः॑ । द॒शऽभिः॑ । वि । यू॒याः॒ । यः । मा॒ । मोघं॑ । यातु॑ऽधान । इति॑ । आह॑ ॥१५॥७॥

पदार्थः—(अद्य) अस्मिन्नेव दिने (मुरीय) मृत्यु प्राप्नुयाम् (यदि) चेदहम् (यातुधानः अस्मि) दण्डार्हो भवेयम् तदा, (यदि, वा) अथवा (पूरुषस्य) मनुजस्य (आयुः, ततप) आयुरपि तपेयम् (अध) तदा (वीरैः, दशभिः) उपलक्षणमेतत् सर्वैः

कुटुम्बिजनैः सह (वियूयाः) वियुक्तो भवेत् (यः) यो मिथ्यावादी (मा) माम् (मोघम्) मिथ्यैव (यातुधानेति) त्वं यातुधानोऽसीति (आह) ब्रवीति सः ॥१५॥

पदार्थ—(अद्य) आज ही (मुरीय) मृत्यु को प्राप्त होऊँ (यदि) यदि मैं (यातुधानः) दण्ड का (अस्मि) भागी होऊँ (यदि वा) अथवा (पूरुषस्य) पुरुष की (आयुः, ततप) आयु को तपानेवाला होऊँ (अध) तब (वीरैः दशभिः) दशवीर सन्तान से (वियूयाः)वियुक्त वह पुरुष हो (यः) जो (मोघं) वृथा ही (यातुधानेति) यातुधान ऐसा (आह) कहता है।

भावार्थ—इस मन्त्र से पूर्व के मन्त्र में मिथ्या देवों के पुजारियों को (यातुधाना) राक्षस वा दण्ड के भागी कथन किया गया है उसी प्रकरण में वेदानुयायी आस्तिक पुरुष शपथ खाकर कहता है कि यदि मैं भी ऐसा हूँ तो मेरा जीना सर्वथा निष्फल है, इससे मर जाना भला है। इस मन्त्र में परमात्मा ने इस बात की शिक्षा दी है कि जो पुरुष संसार का उपकार नहीं करता और सच्चे विश्वास से संसार में आस्तिक भाव का प्रचार नहीं करता उसका जीना पृथ्वी के लिए एकमात्र भार है, उससे कोई लौकिक वा पारलौकिक उपकार नहीं।

इसी भाव को भगवान् कृष्ण गीता में यों कहते हैं **"अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ, स जीवति"**। हे अर्ज्जुन जो पापमय आयु व्यतीत करता है और केवल अपने इन्द्रिय के ही भोगों में रत है उसका जीवन सर्वथा निष्फल है। मालूम होता है वेद के उक्त (मोघ) शब्द से ही गीता में "मोघं पार्थ स जीवति" यह वाक्य लिया गया है कहीं अन्यत्र से नहीं। विशेष ध्यान रखने योग्य वेद की यह अपूर्व्वता अर्थात् अनूठापन है कि इसमें अपनी पवित्रता के लिए जीव शपथें खाता है, और विधर्म्मी लोगों के धर्म्मपुस्तकों में अपनी सफाई के लिए ईश्वर भी शपथें खाकर विश्वास दिलाया करता है ॥१५॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥१६॥

यः। मा। अयातुं। यातुऽधान। इति। आह। यः। वा। रक्षाः। शुचिः। अस्मि। इति। आह। इन्द्रः। तं। हन्तु। महता। वधेन। विश्वस्य। जन्तोः। अधमः। पदीष्ट ॥१६॥

पदार्थः—(यः) यो दुष्टः (मा) माम् (अयातुम्) अदण्ड्यम् (यातुधानेति) यातुधानोऽसीति (आह) कथयति (वा) यद्वा (यः, रक्षाः) राक्षसः (शुचिः) अपवित्रः (अस्मि, इति, आह) अस्मीति कथयति (तम्) तादृशं राक्षसं (इन्द्रः) परमात्मा (महता, वधेन) महता दिव्येन शस्त्रेण (हन्तु) हिनस्तु (विश्वस्य, जन्तोः) सर्वेभ्यो जन्तुभ्यः (अधमः) नीचः सन् (पदीष्ट) नश्यतु सः ॥१६॥

पदार्थ—(यः) जो राक्षस (मा) मुझको (अयातुं, यातुधानेत्याह) राक्षस कहता है और (यः) जो (रक्षाः) राक्षस होकर (शुचिरस्मि) मैं पवित्र हूँ! (इत्याह) ऐसा कहता है (इन्द्रः) परमात्मा (तं) उस साधु को असाधु कहनेवाले को और अपने आपको असाधु होकर साधु कहनेवाले को (महता, वधेन) तीक्ष्ण शस्त्र से (विश्वस्य) संसार के ऐसे (जन्तोः) जो (अधमः) अधम है परमात्मा (पदीष्ट) नाश करे ॥१६॥

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे जीवो! तुम में से जो पुरुष सदाचारियों को मिथ्या ही दूषित करते हैं और स्वयं दम्भी बनकर सदाचारी सत्यवादी और सत्यमानी बनते हैं, न्यायकारी राजाओं का काम है कि ऐसे पुरुषों को यथायोग्य दण्ड दें ॥१६॥

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहा तन्वं१ गूहमाना ।
वव्राँ अनन्ताँ अव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥१७॥

प्र । या । जिगाति । खर्गलाऽइव । नक्तं । अप । द्रुहा । तन्वं । गूहमाना । वव्रान् । अनन्तान् । अव । सा । पदीष्ट । ग्रावाणः । घ्नन्तु । रक्षसः । उपब्दैः । ॥१७॥

पदार्थः—(या) या रक्षोवृत्तिं दधाना स्त्री (जिगाति) नक्तं दिवं पर्यटति (खर्गलेव) उलूकीव (तन्वम्) स्वदेहम् (गूहमाना) पिदधती या सा (वव्रान्, अनन्तान्) अनेका अधोगतीः (अव, सा, पदीष्ट) अवाङ्मुखी सती गच्छतु ताम् (ग्रावाणः) वज्रं (उपब्दैः) शब्दायमानं सत् (घ्नन्तु) हन्तु, यतः सा (रक्षसः) रक्षसः सम्बन्धिन्यस्ति ॥१७॥

पदार्थ—(या) जो कोई राक्षसी वृत्तिवाली स्त्री (जिगाति) रात-दिन भ्रमण करती है (खर्गलेव) निशाचार जीवों के समान (तन्वं) अपने शरीर को (गूहमाना) छिपाए रहती है, वह (वव्रान्, अनन्तान्) अनन्त अधोगतियों को (अव, सा, पदीष्ट) प्राप्त हो और (ग्रावाणः) वज्र उसको (उपब्दैः) शब्दायमान होकर (घ्नन्तु) नाश करें, क्योंकि (रक्षसः) वह भी राक्षसों से सम्बन्ध रखती है ॥१७॥

भावार्थ—इस मन्त्र में राजधानी की रक्षा के लिए इस बात का उपदेश किया गया है जो स्त्री गुप्तचरी होकर रात को विचरती है और अपना भेद किसी को नहीं देती अथवा स्त्रियों के आचरण बिगाड़ने के लिए ऐसा रूप धारण करती है उसको भी राक्षसों की श्रेणी में गिनना चाहिए, उसको राजा यथायोग्य दण्ड दे ॥१७॥

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वि१च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन ।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥१८॥

वि । तिष्ठध्वं । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सं । पिनष्टन । वयः । ये । भूत्वी । पतयन्ति । नक्तऽभिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥१८॥

पदार्थः—(मरुतः) हे ज्ञानयोगिनः, कर्मयोगिनश्च पुरुषाः ! यूयम् (विक्षु) प्रजासु (वितिष्ठध्वम्) विशेषतया वर्तध्वम् (रक्षसः) राक्षसान् ग्रहीतुम् (इच्छत) कामयध्वम् (गृभायत, सं, पिनष्टन) ग्रहीत्वा संमर्दयत (ये) ये राक्षसाः (वयः, भूत्वी) पक्षिणइव आकाश आगत्य (नक्तभिः) रात्रौ (पतयन्ति) पतित्वा विघ्नन्ति (ये, वा) ये च (देवे, अध्वरे) दिव्ये यज्ञे (रिपः) हिंसां (दधिरे) धारयन्ति ॥१८॥

पदार्थ—(मरुतः) हे ज्ञानयोगी तथा कर्म्मयोगी पुरुषो ! आप (विक्षु) प्रजाओं में (वितिष्ठध्वं) विशेषरूप से स्थिर हों और (रक्षसः) राक्षसों के पकड़ने की (इच्छत) इच्छा करें और (गृभायत) पकड़ कर (सं, पिनष्टन) भलीभाँति नाश करें (ये) जो राक्षस (वयः) पक्षियों के (भूत्वी) समान बनकर (नक्तभिः) रात में (पतयन्ति) गमन करते हैं और (ये, वा) जो (देवे) देवताओं के (अध्वरे) यज्ञ में (रिपः) हिंसा को (दधिरे) धारण करते हैं उनको आप नष्ट करें ।

भावार्थ—परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी पुरुषो ! आप लोग आकाश मार्ग में जाकर प्रजा को पीड़ा देनेवाले अन्तरायकारी राक्षसों को क्रियाकौशल द्वारा विमानादि यान बनाकर नाश करें ।

इस मन्त्र में परमात्मा ने प्रजा की रक्षा के लिए पुरुषों को सम्बोधन करके अन्यायकारी राक्षसों के हनन का उपदेश किया है ।।१८।।

अथ परमात्मा प्रार्थनां कर्तुमुपदिशति—

अब प्रजा को परमात्मा यह आदेश करता है कि तुम ऐसी प्रार्थना करो—

प्र व॑र्तय दि॒वो अश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि ।
प्रा॒क्ताद॑पा॒क्ताद॑ध॒राद्दु॒दक्ता॒द॒भि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन ॥१९॥

प्र । व॒र्तय । दि॒वः । अश्मा॑नं । इ॒न्द्र॒ । सोम॑ऽशितं । म॒घ॒ऽव॒न् । सं । शि॒शा॒धि॒ । प्राक्ता॑त् । अपा॑क्तात् । अ॒ध॒रात् । उद॑क्तात् । अ॒भि । ज॒हि॒ । र॒क्षसः॑ । पर्व॑तेन ।।१९।।

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (सोमशितम्) विद्वद्भिर्निर्मितम् (अश्मानम्) वज्रम् (दिवः) द्युलोकात् (प्र, वर्तय) क्षिप रक्षो नाशयितुम् (मघवन्) हे ऐश्वर्यशालि-परमात्मन् ! (सं, शिशाधि) स्वस्तोतॄन् सम्यग्रक्ष (प्राक्तात्) पूर्वस्याः (अपाक्तात्) पश्चिमतः (अधरात्) दक्षिणतः (उदक्तात्) उत्तरतः (अभि) सर्वतोऽपि (रक्षसः) राक्षसान् (पर्वतेन) वज्रेण (जहि) नाशय ।।१९।।

पदार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! द्युलोक से राक्षसों के मारने के लिए (अश्मानम्) वज्र को (प्रवर्तय) फेंके जो (सोमशितम्) विज्ञानी विद्वानों से बनाया गया हो (मघवन्) हे ऐश्वर्य्यसम्पन्न परमात्मन् ! न्यायशील साधु पुरुषों की (सं शिशाधि) भलीभाँति रक्षा करें और (प्राक्तात्) पूर्व दिशा से (अपाक्तात्) पश्चिम से (अधरात्) दक्षिण से (उदक्तात्) उत्तर से (रक्षसः) अन्यायकारी राक्षसों को (पर्वतेन) वज्र से (जहि) मारें ।

भावार्थ—पर्वत के अर्थ यहाँ उस शस्त्र के हैं जिसमें पोरी के समान बहुत से पर्व पड़ते हों । निघण्टु में पर्वत मेघप्रकरण में भी पढ़ा गया है ।

जो लोग पर्वत के अर्थ पहाड़ के समझ लेते हैं वह अत्यन्त भूल करते हैं । हाँ वैदिक समय के बहुत पीछे पर्वत के अर्थ लौकिक भाषा में पहाड़ के भी बन गए । अस्तु—

यहाँ प्रकरण शस्त्र का है, इसलिए इसके अर्थ शस्त्र के होने चाहियें, अन्य नहीं ।।१९।।

एत॑ उ॒ त्ये प॑तयन्ति॒ श्वया॑तव॒ इन्द्रं॑ दिप्सन्ति दि॒प्सवोऽदा॑भ्यम् ।
शिशी॑ते श॒क्रः पिशु॑नेभ्यो व॒धं नू॒नं सृ॑जद॒शनिं॑ यातु॒मद्भ्यः॑ ॥२०॥८॥

ए॒ते । ऊँ इति॑ । त्ये । प॒तय॒न्ति॒ । श्वऽया॑तवः । इन्द्र॑म् । दि॒प्सन्ति॒ । दि॒प्सवः॑ । अदा॑भ्यं । शिशी॑ते । श॒क्रः । पिशु॑नेभ्यः । व॒धं । नू॒नं । सृ॒जत् । अ॒शनिं॑ । या॒तु॒मत्ऽभ्यः॑ ।।२०।८।।

पदार्थः—(दिप्सवः) ये हिंसकाः (अदाभ्यम्) अहिंसनीयं (इन्द्रम्) परमात्मानमपि (दिप्सन्ति) स्वाज्ञानेनोपघ्नन्ति (श्वयातवः) ये श्ववृत्तयः (पतयन्ति) स्वं परं च पातयन्ति (त्ये) ते (उ) निश्चयम् (एते) एतावन्तो दुष्टाः (शिशीते) तीक्ष्णेन (अशनिं सृजत्) परमात्मनिर्मितास्त्रेण हन्यन्ते (यातुमद्भ्यः) दण्डनीयेभ्यः (पिशुनेभ्यः) कपटिभ्यः (नूनम्, वधम्) निश्चयहननार्थं यतते परमात्मा ॥२०॥

पदार्थ—(दिप्सवः) जो हिंसक (अदाभ्यम्) अहिंसनीय (इन्द्रम्) परमात्मा को भी (दिप्सन्ति) अपने अज्ञान से हनन करते हैं (श्वयातवः) जो श्वानों की सी वृत्तिवाले (पतयन्ति) स्वयं गिरते हैं और औरों को गिराते हैं (त्ये) ऐसे (उ) निश्चय (एते) इन सब दुष्टों के लिए (शिशीते) परमात्मा तीक्ष्ण (अशनि) शस्त्रों को (सृजत्) रचता है (यातुमद्भ्यः) दुराचारी (पिशुनेभ्यः) कपटियों को (नूनम्, वधम्) निश्चय मारता है ॥२०॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ये सब कथन किया है कि दुष्टाचारी अन्यायकारी प्रजा को दुःख देते हैं उन्हीं के लिए परमात्मा ने तीक्ष्ण शस्त्रों को रचा, तात्पर्य यह है कि परमात्मा उपद्रवी और दुष्टाचारियों को दमन करके संसार में शान्ति का राज्य फैलाना चाहता है ॥२०॥

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याऽविवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एति रक्षसः ॥२१॥

इन्द्रः। यातूनां। अभवत्। पराऽशरः। हविःऽमथीनां। अभि। आऽविवासतां। अभि। इत्। ऊं इति। शक्रः। परशुः। यथा। वनं। पात्राऽइव। भिन्दन्। सतः। एति। रक्षसः ॥२१॥

पदार्थः—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवानीश्वरः (हविर्मथीनाम्) ये सत्कर्मात्मकयज्ञेषु विघ्नकर्तारः (अभि, आविवासताम्) जिघांसयाऽभिमुखमायातारः (यातूनाम्) राक्षसाः सन्ति तेषाम् (पराशरः) नाशकोऽस्ति। (शक्रः) शक्तिमान्परमात्मा (परशुः, यथा, वनं) यथा व्रश्चनो वनं छिनत्ति (पात्रा, इव भिन्दन्) यथा मुन्द्गरो मृन्मयपात्राणि चूर्णयति तथैव (अभि, इत्, उ) अभितो निश्चयेन (रक्षसः) राक्षसान्हन्तुम् (सतः, एति) उद्यतः संस्तिष्ठति ॥२१॥

पदार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली परमात्मा (हविर्मथीनाम्) जो सत्कर्मरूपी यज्ञों में विघ्न करनेवाले हैं तथा (अभि, आविवासताम्) हानि करने की इच्छा से जो सम्मुख आनेवाले (यातूनाम) राक्षस हैं उनका (पराशरः) नाशक है। (शक्रः) परमात्मा (परशुः यथा, वनम्) परशु जैसे बन को (पात्रा, इव, भिन्दन्) और मुन्द्गर जैसे मृन्मय पात्र को तोड़ता है उसी प्रकार (अभि, इत्, उ) निश्चय करके चारों ओर से (रक्षसः) राक्षसों को मारने में (सतः, एति) उद्यत रहता है ॥२१॥

भावार्थ—परमात्मा असत्कर्मी राक्षसों के मारने के लिये सदैव वज्र उठाये उद्यत रहता है, इसी अभिप्राय से उपनिषद् में कहा है कि 'महद्भयं वज्रमुद्यतमिव' परमात्मा वज्र उठाये पुरुष के समान अत्यन्त भयरूप है।

यद्यपि परमात्मा शान्तिमय, सर्वप्रिय और सर्वव्यापक है जिसमें निराकार और क्रोधरहित होने से वज्र का उठाना असम्भव है तथापि उसके न्याय नियम ऐसे बने हुये हैं कि उसकी

अनन्तशक्तियें दण्डनीय दुष्टाचारी राक्षसों के लिये सदैव वज्र उठाये रहती हैं, इसी अभिप्राय से मुद्गरादि सदैव काम करते हैं, कुछ परमात्मा के हाथों से नहीं ॥२१॥

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥२२॥

उलूकऽयातुं । शुशुलूकऽयातुं जहि । श्वऽयातं । उत । कोकऽयातुं । सुपर्णऽयातुं । उत । गृध्रऽयातुं । दृषदाऽइव । प्र । मृण । रक्षः । इन्द्र ॥२२॥

पदार्थः—(उलूकयातुम्) दीर्घसमुदायं निर्माय विद्यमानाः तथा (शुशुलूकयातुम्) लघुसमुदायवन्तञ्च ये दस्यवो न्याय्यमाचरन्तमभिघ्नन्ति (श्वयातुम्) ये हि बलवदादायापसरणे दक्षाः (कोकयातुम्) ये कोकवत् विभक्ता भूत्वाऽभिहन्तारः (सुपर्णयातुम्) निरपराधजनस्य तापकाः (गृध्रयातुम्) चक्रवर्त्तिनोबुभूषवः न्यायचारिणां तापकाः तान्सर्वान् (इन्द्र) हे भगवन् ! (जहि) नाशय (दृषदा, इव) शिलयेव शस्त्रेण (प्र, मृण) पिनष्टु (रक्ष) सतः पालय ॥२२॥

पदार्थ—(उलूकयातुम्) जो बड़ा समुदाय बनाकर तथा (शुशुलूकयातुम्) छोटे छोटे समुदाय बनाकर न्यायकारियों पर अभिघात करते हैं (श्वयातुम्) जो गमनशील हैं तथा जो (कोकयातुम्) विभक्त होकर अभिघात करते हैं (सुपर्णयातुम्) तथा जो निरपराधों को सताते हैं और जो (गृध्रयातुम्) चक्रवर्ती होने की इच्छा से न्यायकारियों का दमन करना चाहते हैं कि उनको (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमात्मन् ! (जहि) अत्यन्त नष्ट करो (दृषदा, इव) तथा शिला के समान शस्त्रों से (प्र मृण) पेषण करो और (रक्ष) न्यायकारियों को बचाओ ॥२२॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमात्मा ने अन्यायकारि मायावी और नानाप्रकार से न्यायकारियों पर आघात करनेवाले दुष्टों से बचने के लिये प्रार्थना का उपदेश किया है, यद्यपि प्रार्थना केवल वाणीमात्र से सफल नहीं होती तथापि जब हार्दिक भाव से प्रार्थना की जाती है तो उससे उद्योग उत्पन्न होकर मनुष्य अवश्यमेव कृतकार्य होता है ॥२२॥

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना ।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥२३॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातुऽमावतां । अप । उच्छतु । मिथुना । या । किमीदिना । पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षं । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥२३॥

पदार्थः—(या, किमीदिना) ये प्रतिपरमात्मवाक्ये संशयं कुर्वाणाः (यातुमावताम्, मिथुना) राक्षसानां द्वन्द्वानि च ते (अपोच्छतु) अपसरन्त्वस्मत् (मा, नः रक्षः, अभिनट्) ईदृशो राक्षसा न मामभिक्रामन्तु (पृथिवी) भूमिः (पार्थिवात्, अंहसः) पार्थिवपापात् (नः, पातु)अस्मान् पुनातु (दिव्यात्) द्युभवपदार्थात् (अन्तरिक्षम्) द्यौः (अस्मान्, पातु) नो रक्षतु ॥२३॥

पदार्थ—(या, किमीदिना) जो **"किमिदम् किमिदम् इति वादिनः"** ईश्वर के ज्ञान में संशय करनेवाले अर्थात् ये क्या है ये क्या है ऐसा संशय उत्पन्न करनेवाले और (यातुमावतां,

मिथुना) राक्षसों के यूथ = जत्थे (अपोच्छतु) वे हमसे दूर हो जायँ (मा, नः, रक्षः, अभिनट्) ऐसे राक्षस हम पर आक्रमण न करें, और (पृथिवी) भूमि (पार्थिवात्, अंहसः) पार्थिव पदार्थों की अपवित्रता से (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे (दिव्यात्) द्युभव पदार्थों से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्, पातु) हमारी रक्षा करे ॥२३॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक तीनों प्रकार के तापों से हम सर्वथा वर्जित रहें, अर्थात् पार्थिव शरीर में कोई आधिभौतिक ताप न हो और अन्तरिक्ष से हमें कोई आधिभौतिक ताप न व्यापे और मानस तापों के मूलभूत अन्यायकारी राक्षसों का विध्वंस होने से हमें कोई मानस ताप न व्याप्त हो, और जो पृथिवी तथा अन्तरिक्ष से रक्षा का कथन है वह तापनिवृत्ति के अभिप्राय से औपचारिक है, मुख्य नहीं ॥२३॥

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् ।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥२४॥

इन्द्र । जहि । पुमांसं । यातुऽधानं । उत । स्त्रियं । मायया । शाशदानां । विऽग्रीवासः । मूरऽदेवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यं । उत्ऽचरन्तम् । ॥२४॥

पदार्थः—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यशालिन् ! (पुमांसं, यातुधानं, जहि) न्यायमनाचरन्तं राक्षसं नाशय (उत) तथा (मायया) वञ्चनया (शाशदानाम्, स्त्रियम्) या वैदिकधर्मं विकरोति ताम् (जहि) दण्डय (मूरदेवाः) ये हिंसनक्रियया क्रीडन्तः (विग्रीवासः, ऋदन्तु) ग्रीवारहिता निबुद्धयः सन्तो गच्छन्तु तथा ते ते सर्वे (उच्चरन्तम्, सूर्यं, मा, दृशन्) ज्ञानमयसूर्यस्य प्रकाशं मा द्राक्षुः ॥२४॥

पदार्थ—(इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न परमात्मन् ! (पुमांसं यातुधानं, जहि) अन्यायकारी दण्डनीय राक्षस को आप नष्ट करें (उत) और (मायया) वञ्चना करके (शाशदानाम्, स्त्रियम्) वैदिक धर्म को हानि पहुँचाती है ऐसी स्त्री को (जहि) नष्ट करो (मूरदेवाः) हिंसारूपी क्रिया से क्रीड़ा करनेवाले (विग्रीवास, ऋदन्तु) ज्ञानेन्द्रियरहित हो जायँ ताकि (ते) वे सब (उच्चरन्तम्, सूर्यम् मा दृशन्) ज्ञानरूप सूर्य के प्रकाश को न देख सकें ॥२४॥

भावार्थ—इस मन्त्र में यह कथन किया है कि जो लोग मायावी और हिंसक होते हैं वे शनैः शनैः ज्ञानरहित होकर ऐसी मुग्धावस्था को प्राप्त हो जाते हैं कि फिर उनको सत्य और झूठ का विवेक नहीं रहता । परमात्मन् ! ऐसे दुराचारियों को आप ऐसी मोहमयी निशा में सुलायें कि वह संसार में जागृति को प्राप्त होकर न्यायकारी सदाचारियों को दुःख न दें ॥२५॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥२५॥९॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतं । रक्षःऽभ्यः । वधं । अस्यतं । अशनिं । यातुमत्ऽभ्यः ॥२५॥९॥

पदार्थः—(इन्द्रः, च, सोम, च) हे विद्युदैश्वर्योभयशक्तिप्रधान परमात्मन् ! (प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व) भवान् मह्यमुपदिशतु विशेषेण च बोधयतु यतोऽहम् (जागृतम्)

भवज्जागृत्या प्रबुद्धःसन् (रक्षोभ्य, वधम्) राक्षसान् हिंसानि (अस्यतम्, अशनिम्, यातुमद्भ्यः) दण्डनीयराक्षसेभ्यश्च वज्रं प्रहरेयम् ॥२५॥

पदार्थ—(इन्द्रः, च, सोम, च) हे विद्युच्छक्तिप्रधान तथा ऐश्वर्यप्रधान परमात्मन् ! (प्रतिचक्ष्व, विचक्ष्व) आप उपदेश करें तथा विविधरूप से उपदेश करें ताकि हम (जागृतम्) आपकी जागृति से उद्बुद्ध होकर (रक्षोभ्यः, वधम्) राक्षसों को मारें और (अस्यतम्, अशनिम्, यातुमद्भ्यः) दण्डनीय राक्षसों के लिये वज्रप्रहार करें ॥२५॥

भावार्थ—यह रक्षोघ्न सूक्त है जिसके अर्थ ये हैं कि जिसमें राक्षसों का हनन होय उसका नाम 'रक्षोघ्न' है । वास्तव में इस सूक्त में अन्यायकारी राक्षसों के हनन के लिए अनन्त प्रकार कथन किये गये हैं और वेदानुयायी आस्तिकों के वैदिक यज्ञ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए रक्षा के अनेकशः उपाय वर्णन किये हैं, जिनको पढ़ कर और जिनके अनुष्ठान से पुरुष वास्तव में आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीनों तापों से रहित हो सकता है। सच तो यह है कि आजकल वेदाभिमानिनी आर्यजाति अपने सङ्कटों की निवृत्ति के लिए अनेक प्रकार के सङ्कटमोचनों का पाठ करती है, यदि वह रक्षोघ्नादि सच्चे सङ्कटमोचन सूक्तों का पाठ और अनुष्ठान करे तो इसके सङ्कट निवृत्त होने में तनिक भी सन्देह नहीं ।

जो कई एक लोग यह शङ्का करते हैं कि वेदों का उच्चोद्देश्य तो यह है कि **"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्"** ॥ यजु० ३६।१८ ॥ प्राणिमात्र को मित्रता की दृष्टि से देखो तो फिर ऐसे शान्तिधर्मप्रधान वेदों में राक्षसों के हनन करनेवाले सूक्तों का क्या प्रसङ्ग ? इसका उत्तर यह है कि वेद सब धर्मों का निरूपण करता है, वस्तुतः वेद की शिक्षा का फल संसार में शान्ति का प्रचार करना है परन्तु जब कोई इस शान्तिरूपी यज्ञ में आकर विघ्न डाले तो उसकी निवृत्ति के लिए वेद में वीरधर्म का भी उपदेश है । परन्तु यह धर्म वैदिक लोगों के मत में मुख्यस्थानी नहीं किन्तु शरीर में बाहु के समान रक्षास्थानी है । इसी अभिप्राय से वेद में कहा है कि **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"** ॥ यजु० ३१।११ ॥ ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता विद्वान् इस विराट् में मुख के समान हैं, इस प्रकार शान्तिप्रधान ब्रह्मविद्या ही वेदों का मुख्योद्देश्य है ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे ऋक्संहिताभाष्ये पञ्चमेऽष्टके
सप्तमं मण्डलं सप्तमोऽध्यायश्च
समाप्तः ॥

चतुरुत्तरशततमं सूक्तं षष्ठोऽनुवाको नवमो वर्गश्च समाप्तः ॥२५॥

उपसंहार

वेदों में जहाँ 'अश्विनौ' यह शब्द आता है, सायणादि भाष्यकार वहाँ प्राय: सर्वत्रैव अश्विनी कुमार दो देवों का ग्रहण करते हैं और तात्पर्य्य इसका यों बतलाते हैं कि त्वष्टा एक देव था उसकी सरण्यू और त्रिशिरा दो सन्तानें हुईं। सरण्यू पुत्री को उसने विवस्वान् के साथ विवाह दिया। सरण्यू से एक यम दूसरी यमी दो बहिन-भाई उत्पन्न हुए।

सरण्यू एक समय इन दोनों सन्तानों को एक देवाङ्गना के पास छोड़कर स्वयं उत्तरकुरु देशों में अश्विनी अर्थात् घोड़ी जा बनी और इधर विवस्वान् उसी देव स्त्री को सरण्यू ही समझता रहा। जब एक दिन उसको यह ज्ञान हो गया कि यह स्त्री वास्तव में सरण्यू नहीं, सरण्यू तो अश्विनी का रूप धारण करके उत्तरकुरु देशों में चली गयी तो, विवस्वान् भी उसके वियोग में वहाँ चला गया और तब सरण्यू ने उस अश्विनी अर्थात् घोड़ी के रूप में उस अश्वरूप विवस्वान् के वीर्य्य को नाक से सूंघा, इस कारण से अश्विनीकुमारों का 'नासत्या' नाम पड़ा अर्थात् उस घोड़ी-रूप स्त्री से उत्पन्न होने के कारण उनका नाम 'अश्विनौ' पड़ा। वास्तव में **दस्रौ, अश्विनौ, नाऽसत्यौ** ये तीनों नाम एक अर्थ के वाचक हैं। सत्यवादी विद्वानों का नाम **'नाऽसत्यौ'** और दुष्टों के नाशक विद्वानों का नाम **'दस्रौ'** है, सर्वविद्या में व्याप्तिवाले विद्वानों का नाम **'अश्विनौ'** है। इस प्रकार ये तीनों नाम विद्वानों के थे जो अज्ञान के कारण घोड़े और घोड़ी की सन्तान के बन गये।

कारण इसका यह है कि जब लोगों ने वेद के निरुक्तादि अङ्गों का अभ्यास करना छोड़ दिया तो ऐसी कथाएँ लोगों में प्रचलित हो गयीं कि अश्विनीकुमार घोड़ी से उत्पन्न हुए थे। यह मिथ्या विचार न केवल सायणादि भाष्यकारों का ही है किन्तु योरोपीयन्स ग्रिफथ, विलसन् और मैक्समूलर का भी है, ग्रिफथ साहब यह लिखते हैं कि अश्विनौ वास्तव में घोड़ी की सन्तान होने के कारण यह नाम पड़ा। केवल मैक्समूलर साहब कहीं-कहीं अश्विनौ के अर्थ दिन-रात के जोड़े के भी करते हैं। बहुत क्या! सार यह है कि उक्त साहब लोगों ने भी यह विचार सायणादि भाष्यकारों से ही लिये हैं, उनके स्वतन्त्र विचार नहीं। जहाँ कहीं वह स्वतन्त्र विचार करते हैं वहाँ उनके मत में न कोई आदि सृष्टि में सरण्यू स्त्री थी, और न कोई विवस्वान् नाम का पुरुषविशेष था, किन्तु विवस्वान् काल और काल की घटनाओं का नाम यम-यमी था। इसको अलङ्काररूप से वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि आदि सृष्टि में आर्य्यों में सपिण्ड में विवाह का निषेध था, इस बात का उल्लेख ग्रिफथ साहब ने किया है। अस्तु। भारतीय पौराणिक सन्तान ने तो इनको वास्तव में देवता समझ लिया है, अर्थात् उन्होंने यों वर्णन किया है कि सूर्य्य भगवान् के तेज को जब उनकी स्त्री न सह सकी तो उसने घोड़ी का रूप धारण कर लिया और उससे उत्पन्न हुए वेदों के देवता अश्विनीकुमार हैं, पर इस कथा की जड़ वेद में तो क्या किसी अन्य ग्रन्थ में भी नहीं पाई जाती, मालूम यह होता है कि अश्विनी अथवा अश्विनौ इन शब्दों के समझने में घोर प्रमाद हो गया, अर्थात् अश्विनी के

अर्थ अश्व की स्त्री अश्विनी समझा गया। वास्तव में **अशू = व्याप्तौ** धातु से अश्विनी शब्द बना है जिसके अर्थ शीघ्र व्याप्त होनेवाली शक्ति के हैं, विद्याशक्ति, राजशक्ति, कलाकौशल की शक्ति, सूर्य्य-चन्द्रमा की शक्ति, ये सब शक्तियें शीघ्र ही फैल जाती हैं, इसलिए इनको अश्विनौ कहा गया है, इसी अभिप्राय से निरुक्तकार ने अश्विनौ के अर्थ राजशक्ति, विद्युच्छक्ति, सूर्य्य-चन्द्रमा रूप शक्तियों के लिए हैं, किसी देव-विशेष के नहीं।

'नासत्यौ' के अर्थ सत्यवादी विद्वानों के हैं, वह इस प्रकार कि **न असत्यः नासत्यः** न हो असत्य जिनमें उनको **'नासत्यौ'** कहते हैं, और वेद में नासत्या इसलिए आता है कि **औ** को **आ** हो जाता है अर्थात् नासत्यौ के स्थान में नासत्या हो जाता है। यह एक वैदिक व्याकरण का नियम है। एवं **अश्विनौ** के स्थान में **'अश्विना'** हो जाता है। यही नियम **'दस्रौ'** को **'दस्रा'** बना देता है। सार यह है कि ये तीनों नाम विद्वानों के थे जो सत्वगुणादिभेद से तीन प्रकार के हो गए। जिनमें सत्वगुण की प्रधानता पाई जाती है उनका नाम **नासत्या,** और जिनमें रजोगुण की प्रधानता पाई जाती उनका नाम **अश्विनौ,** एवं जिनमें तमोगुण की प्रधानता पाई जाय उनका नाम **दस्रा** था। प्रकृति में भी यही नियम पाया जाता है कि पहिले प्रकृति सात्विक भाव में रहती है, और मध्य में राजस भाव में और अन्त में तामस भाव में आकर प्रलय हो जाती है। वेद में इसी प्रकार ये तीनों गुणप्रधान नाम हैं। मनुष्य की भी प्रकृतिनियम से यही अवस्था है अर्थात् बालकपन में सत्वप्रधानता से राग, द्वेष का अभाव रहता है, युवा में शत्रु मित्र के साथ रागद्वेष के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, अन्त में मोह बढ़ कर वृद्धावस्था केवल तमोगुण का धाम बन जाती है, इसलिए शास्त्र ने संयमी बनने का यम-नियमों द्वारा उपदेश किया है, अस्तु।

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि उक्त अश्विनौ आदि नाम गुणप्रधान हैं। जिन गुणों को सम्पादन करके प्रत्येक मनुष्य अश्विनीकुमार बन सकता था परन्तु जब से ये घोड़े-घोड़ी की सन्तान समझे गए तब से इनके रूपों को धारण करना मनुष्य की शक्ति से बाहर हो गया, अस्तु।

खोज इस बात की करनी है कि **अश्विनौ** बनाने का अर्थात् घोड़ी की सन्तान बना देने का पहले पहल किस महापुरुष ने यत्न किया। हमारे विचार में जब पौराणिक कथाओं की रचना का समय भारत भवसागर में लहरें मारने लगा तब से यह भाव उत्पन्न हो गया कि अश्विनीकुमार, आश्विनेय अर्थात् अश्विनी घोड़ी के पुत्र हैं फिर अमरकोषादि अवैदिक कोषों ने इस विचार को और भी पुष्ट कर दिया, जो यह लिख दिया कि **"नासत्यौ, अश्विनौ, दस्रौ"** ये तीनों जोड़े अर्थात् षट्क छहों देवता घोड़े-घोड़ी की सन्तान हैं। वास्तव में बात यह थी कि युग्मशक्ति के अभिप्राय से, दो-दो शक्तियों के नाम रख कर वेद में वर्णन किया था जैसा कि पीछे छहों दर्शनों में भी वह क्रम रखा गया अर्थात् न्याय-वैशेषिक एक युग्म, सांख्य-योग दूसरा जोड़ा, तीसरा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, अर्थात् एक-एक विषय में मिलनेवालों की परस्पर सङ्गति है एवं अध्यापकोपदेशक इन दो शक्तिसम्पन्न पुरुषों का नाम **अश्विनौ,** न्यायकारी और न्यायनियन्ता का नाम **नासत्यौ,** सेनापति और सेनाधीश अर्थात् सम्राट् का नाम **दस्रौ,** इस प्रकार शक्तिसम्पन्न पुरुषों के उक्त नाम थे। जो

अश्विनौ दिन-रात वा स्त्री-पुरुष के वाचक भी माने जाते हैं यह भी प्रकार है अर्थात् वहाँ भी दो-दो शक्तियों के अभिप्राय से भिन्न-भिन्न नाम हैं, कहीं-कहीं दो प्रकार की वायुओं का नाम भी अश्विनौ है ।

अश्विनी = घोड़ी के पुत्रों का नाम अश्विनीकुमार है यह सर्वथा वेदबाह्य लोगों की कल्पना है ।

एवं विश्वामित्र और वसिष्ठ की रागद्वेषभरी लड़ाई की कथा बना कर वेदों से उसको सिद्ध करने लगे जैसा कि—

"न सायकस्य चिकिते जनासो लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः ।
नावाजिनं वाजिना हासयन्ति न गर्दभं पुरो अश्वान्नयन्ति" ।।
—ऋ. मं. ३ । ५३ । २३ ।।

इस मन्त्र के सायणाचार्य्य ने ये अर्थ किये हैं कि एक समय विश्वामित्र को वसिष्ठ के चेले बाँध कर ले चले उस समय विश्वामित्र ने यह कहा कि तुम मुझे समझते नहीं ? मैं कौन हूँ (सायकस्य) मेरे मन्त्रवेत्ता होने के प्रभाव को तुम (न, चिकिते) नहीं जानते (लोधं) मुझ लुब्ध को (पशु मन्यमानाः) पशुवत् समझ कर लिये जाते हो । इस कथा का यहाँ बीज भी नहीं । वास्तव में बात यह है कि जिस समय लोग पौराणिक कथाओं से मनोलालना और तनुपालना किया करते थे उसी समय में सायणादि भाष्य वेदों पर किये गये । उससे प्रथम वेदों में कथायें नहीं मानी जाती थीं । वेदों में केवल स्वतःसिद्ध आचार, व्यवहार के सुधारक ईश्वरदत्त उपदेश थे जो कि किसी टीका टिप्पणी की भी आवश्यकता नहीं रखते थे । इसी कारण वैदिक समय में वेदों पर कोई भाष्य नहीं बनाया गया ।

जो यह कहा जाता है कि पौराणिक कथा कथानक वेदों के आधार पर बने हैं यह बात सर्वथा निर्मूल है क्योंकि यदि ऐसा होता तो राम, कृष्ण, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर इनकी कथाओं का बीज भी वेद में मिलना चाहिए था परन्तु नाम मात्र भी उक्त कथाओं का वेद में नहीं पाया जाता, अस्तु ।

मुख्य बात यह है कि विश्वामित्रादि नाम वेद में यौगिक हैं । जैसा **विश्वेदेवा** जो सबके देव हों उनको **विश्वेदेवा** कहते हैं । एवं सर्वमित्र का नाम **विश्वामित्र** है, **"मित्रे चर्षौ"** इस सूत्र से यहाँ पूर्व के पद को दीर्घ हो जाता है, इस प्रकार **विश्वामित्र** शब्द की सिद्धि है । प्रकृत यह है कि **'लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः'** इस वाक्य के ये अर्थ नहीं कि कोई विश्वामित्र को बांध कर ले जा रहा था किन्तु अर्थ यह है कि (लोधं) क्षुद्र पशु को नयन्ति ले जाते हैं । मन्त्र का तात्पर्य्य यह है कि मन्दमति पुरुष भी घोड़े के बदले क्षुद्र पशु वा गर्दभ को नहीं लेता । जो पुरुष आत्मशक्तियों को देकर अनुत्तम वस्तुओं को खरीदते हैं वे मन्दमति हैं । यहाँ घोड़ा और लोध ये दोनों दृष्टान्त हैं और जिसके लिए ये दृष्टान्त दिये गये हैं वह वस्तु आत्मतत्व है । इस प्रकार उक्त सूक्त का शिक्षा में तात्पर्य्य है, किसी कथा कहानी में नहीं । और जो अन्यत्र विश्वामित्र का नाम आया है वह भी विश्वेदेवा के समान गुणप्रधान है अर्थात् जो कोई भी सब प्राणीमात्र का हित चाहे उसी को विश्वामित्र कहते हैं । विश्वामित्र सर्वप्रिय पुरुष की एक प्रकार की पदवी है । वेद में वसिष्ठ नाम भी अनेक स्थलों में आता है, इसके अर्थ उत्तमगुणविशिष्ट विद्वान् के हैं ।

इसकी जन्मदात्री विद्यामाता को माना गया है, अर्थात् विद्या द्वारा इसका जन्म होता है, विद्या के सर्वप्रिय होने से अथवा यों कहो कि सर्वविद्याप्रिय पुरुषों के हृदय में बस जानेवाली होने से इसका नाम '**उर्वशी**' भी है।

इस गुणप्रधान नाम का वर्णन ऋग्वेद के ७ मण्डल सूक्त ३१ मं. ११ में है कि उर्वशी से वसिष्ठ पैदा हुआ वहाँ—

"उरुषु व्यवहारेषु अश्नुते व्याप्नोति या सोर्वशी विद्या।"

हर एक व्यवहारों में जो व्याप्त हो वा यों कहो कि प्रत्येक व्यवहार की जिससे सिद्धि हो उसे 'उर्वशी' कहते हैं, इस प्रकार उर्वशी यहाँ विद्या का नाम है। यह हमारी ही कल्पना से विद्या का नाम नहीं किन्तु निघण्टु ४, २, में वाणी के नामों में सरस्वती शब्द पढ़ा है, वाणी विद्या, सरस्वती, उर्वशी यह सब एकार्थवाची शब्द हैं। इस प्रकार विद्यारूपी माता के गोद में पले हुए पुरुष का नाम वसिष्ठ था, जो अवैदिक समय में उर्वशी वेश्या का पुत्र समझा गया।

यह हम पूर्व ही कथन कर आये हैं कि **"अतिशयेन वसतीति वसिष्ठः"**। अर्थात् जो विद्या में अत्यन्त रत हो अथवा यों कहो कि जिसको सबसे प्रथम विद्या माता ने दीक्षा दी हो उस पुरुष का नाम '**वसिष्ठ**' है यह नाम वेद में बहुत स्थलों में आता है आधुनिक टीकाकार जिसको विश्वामित्र के साथ कलह करनेवाला बतलाते हैं उस वसिष्ठ का वेदों में नाम तक नहीं। प्रमाण यह है कि **"लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः"** ॥ ऋ. मं. ३, ५६, २३ ॥ में यहाँ विश्वामित्र का झगड़ा वसिष्ठ से सिद्ध किया जाता है परन्तु स्मरण रहे कि इस प्रकरण में वसिष्ठ का नाम तक भी नहीं।

इस प्रकार विश्वामित्र शब्द भी वेद में है पर उसके अर्थ ये हैं कि जो सम्पूर्ण संसार का मित्र हो उसको विश्वामित्र कहते हैं। मित्र शब्द के पूरे होने से पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है, अस्तु—

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि इस प्रकार केवल नाम के आ जाने से वेदों से कथा कहानी सिद्ध की जाती हैं, वास्तव में वेदों में कोई कथा कहानी नहीं।

जिस प्रकार श्री रामचन्द्रजी के गुरु वसिष्ठ और ऋषि विश्वामित्र की कथा का वेदों में गन्ध नहीं, एवं मनु की उत्पत्ति जो यम-यमी की विमाता एक देवाङ्गना से बतलायी जाती है वह भी सर्वथा निर्मूल है। कहा यह जाता है कि—

"त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥"

—ऋग् १०। १७। १ ॥

जब त्वष्टा देवता ने अपनी पुत्री सरण्यू का विवाह किया तब सब भुवनों के लोग इकट्ठे हुए पश्चात् जब उससे यम और यमी दो सन्तानें उत्पन्न हुईं तो वह ननाश = चली गयी। इस मन्त्र से यह कथा निकाली जाती है कि सरण्यू नामवाली एक स्त्री थी जिसका विवाह विवस्वान् = सूर्य से हुआ, उससे यम यमी दोनों उत्पन्न हुए जो भाई-बहिन थे, जिनका विशेष वर्णन मं० १० सू० १० में है, इसके अर्थ आधुनिक टीकाकार सभी भाई-बहिन के विवाहविषयक करते हैं, और योरोपियन्स

प्रोफेसर मैक्ससूलर, विलसन्, ग्रिफिथ, सर रमेशचन्द्रदत्त वेदविषय के आजकल के सब अनुसन्धानकर्ताओं ने इस कथा को लिखा है।

प्रोफेसर मैक्समूलर के मत में यम यमी कोई मानवी सृष्टि के पुरुष न थे किन्तु दिन का नाम यम और रात्री का नाम यमी है और इन्हीं दोनों के विवाहविषयक यहाँ वार्तालाप है। इस कल्पना में दोष यह है कि जब यम और यमी दोनों दिन और रात हुए तो फिर सरण्यू इस नामवाली इनकी माता कौन थी ? इस प्रश्न का उत्तर इस कल्पना में कुछ नहीं।

कई एक भारतीय लेखकों ने भी इस कथा को अलङ्कार बनाकर यम-यमी को दिन-रात सिद्ध किया है, इनके मत में भी कथा सर्वथा निरर्थक-सी ही प्रतीत होती है, क्योंकि न कभी दिन-रात को विवाह की इच्छा हुई और न कोई इनके विवाह के निषेध से अपूर्वभाव ही उत्पन्न होता है।

कई एक लोग यह भी कहते हैं कि यमी कोई ब्रह्मवादिनी थी। यमी ने न कोई ब्रह्मविषय कथन किया और न उसके ये अर्थ ही हो सकते हैं कि जो ब्रह्म का कथन करे वह यमी कहलाये क्योंकि यमी के अर्थ यम से सम्बन्ध रखनेवाली के हैं। इसमें **"पुंयोगादाख्यायाम्"** इस सूत्र से ङीष् हुआ है, वह सम्बन्ध भ्रातृभगिनीरूप हो अथवा समानकाल में उत्पन्न होनेवाला कालिकसम्बन्ध हो, अस्तु सरण्यू क्या है इसवा विचार करना सबसे मुख्य है **"सरण्यूः सरणात्"** ।। नि. १२, १० ।। जो गतिशील हो उसको **'सरण्यू'** कहते हैं इस प्रकार सरण्यू के अर्थ यहां प्रकृति के हैं, और वेदों में इतिहास मानने वालों ने यह मान लिया कि यम-यमी की माता चली गयी थी इसलिए उसका नाम सरण्यू हुआ, पर शङ्का तो यह है कि उसके जाने से प्रथम भी उसका नाम सरण्यू ही था ऐसा क्यों ! और चले जाने को बोधन करनेवाला भी ठीक-ठीक कोई शब्द नहीं पाया जाता, किन्तु केवल मन्त्र में **'ननाश'** यह शब्द है जो **"णश अदर्शने"** धातु से बना है, जिसके अर्थ अदर्शन के हैं, वस्तुतः तात्पर्य यह मालूम होता है कि यम, यमी और सरण्यू यह कोई मानुषी सृष्टि के स्त्री या पुरुष न थे क्योंकि इस कथा से यम-यमी को स्त्री पुरुष सिद्ध करनेवाले भी यह स्पष्ट रीति से मानते हैं कि जब सरण्यू उत्तरकुरु देशों को चली गयी तब विवस्वान् से उस स्त्री में जिसको वह यम-यमी की माता बना गयी थी उससे मनु उत्पन्न हुआ, जब ऐसा है तो फिर सरण्यू के विवाह में मनुष्य कहाँ से आ गये ? क्योंकि ये सब तो मनु से हुए।

इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने से ज्ञात होता है कि निरुक्त की निरुक्ति के अनुसार गतिशील प्रकृति है और उसकी गोद में यम = व्रत और यमी = वृद्धि दोनों पलते हैं। जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में संयम और वृद्धि दोनों ही एक अधिकरण में निवास करते हैं अथवा यों कहो कि एक प्रकृति के गर्भरूपी शय्या में शयन करते हैं इसलिए यम-यमी को भाई बहिन कहा गया है, वास्तव में यम-यमी कोई पुरुष विशेष न थे ।।

पुष्ट प्रमाण इस विषय में यह है कि **"प्रजापतिर्वै मनुः ।।"** शतपथ० कां० ६ । ६ । १।। मनु नाम प्रजापति का है अर्थात् जो प्रजा को पहिले पहिल उत्पन्न करे उसको मनु कहते हैं, इस कथन के अनुसार मानव जीव मनु के पश्चात् ही

माने जा सकते हैं, प्रथम कदापि नहीं फिर 'यम-यमी' मानव सृष्टि के भाई-बहिन कैसे ?

जिन लोगों ने 'यम-यमी' को मानवी सृष्टि का प्रथम जोड़ा मान करके यह सिद्ध किया है कि जिस प्रकार **आदम हव्वा** का विचार ईसाई तथा मुसलमानों में है कि पहले पहल एकही जोड़े से सृष्टि उत्पन्न हुई वही विचार वैदिक आर्यजाति में भी था, यह कल्पना पूर्वोक्त शतपथ के प्रमाण से सर्वथा निर्मूल हो जाती है क्योंकि यम-यमी का जोड़ा भी यदि माना जाय तब भी मानवी सृष्टि से प्रथम था।

अन्य प्रबल युक्ति यह है कि आज तक सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में वैदिक पीरियड से लेकर आज तक कहीं भी यम-यमी के जोड़े से सृष्टि के उत्पन्न होने का कथन नहीं पाया जाता।

जिस प्रकार घोड़ा-घोड़ी के सन्तान का नाम "अश्विनौ" और भाई-बहिन के जोड़े का नाम यम और यमी यह दोनों कलङ्क मिथ्या ही वेदों पर लगाये गये. एवम् तीसरा पैस्मिज़म का कलङ्क वेदों के माथे मढ़ा जाता है।

कई लोग कहते हैं कि वेदों में भूत और प्रेतों से डरना और शारीरिक व्याधियों से डरना, प्रत्येक जल-जन्तु से अपने कल्याण की प्रार्थना करना इत्यादि अनेक वाद भरे पड़े हैं।

यह कथन उनका इसलिए निर्मूल है कि—

"मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्" —यजु० अ. ३६। मं. ८॥
इत्यादि मन्त्रों में सर्वभूतप्रियता वेदों में न पाई जाती यदि वेद में प्रत्येक से डरना पाया जाता। क्योंकि डरनेवाला पुरुष सबके साथ मित्रता की दृष्टि कदापि नहीं रख सकता।

अन्य युक्ति यह है कि डरना अनैश्वर्य का चिह्न है और वैदिक पीरियड में आर्यों का पूर्ण अभ्युदय था फिर डरने और पैस्मिज़म की क्या कथा ?

जो यह कहा जाता है कि वैदिक समय में केवल गो, अश्व अन्न, अजादि-सम्पन्न आर्य लोग थे, अन्य इनके पास कुछ भी न था, इसका उत्तर यह है कि जो ऐसा मानते हैं उन लोगों ने स्यात् वेद का अध्ययन समझ कर नहीं किया वा यों कहो कि उनको वेदार्थ का सम्यक् ज्ञान ही नहीं ? क्योंकि वेदों में तो ऐश्वर्य और रत्नों की इतनी भरमार है कि स्यात् ही संसार भर में किसी अन्य ग्रन्थ में इतनी हो। ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र देखो इसमें **"रत्नधातमम्"** यह कथन करके आर्यजाति को रत्नाकर अर्थात् रत्नों की खानि होना सिद्ध किया है, इतना ही नहीं किन्तु—

"मो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्" ॥ —मं. ७। सू. ८९। मं. १॥"

हे परमात्मन्, मैं मिट्टी के घर में न रहूँ, यह कथन इस बात को सिद्ध करता है मिट्टी के घरों से भिन्न-प्रकार के घर जिज्ञासु की बुद्धि में थे। वा यों कहो कि ईश्वर ने स्वयं जब यह प्रार्थना बतलायी कि तुम मिट्टी के ग्रहों को छोड़कर अन्य प्रकार के गृह मांगो तो स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक पीरियड में मिट्टी

के गृह निवास के लिए पर्याप्त नहीं समझे जाते थे, किन्तु सुवर्ण और रत्नजटित गृहों का भाव उस समय विद्यमान था। फिर वैदिक समय में पैस्मिज़म अर्थात् दारिद्र्य कैसे ?

जो यह कहते हैं कि मिट्टी से भिन्न तो ईंटों के घर भी हो सकते हैं फिर मन्त्र सुवर्ण के गृहों का सूचक कैसे ? उनको इस बात का स्मरण रखना चाहिये कि ईंटें भी एक प्रकार की मिट्टी ही हैं अर्थात् मिट्टी मृद् पाषाण सभी सम्मिलित हैं। उक्त मन्त्र का तात्पर्य मिट्टी से भिन्न धातु का है, इसी अभिप्राय से सब टीकाकारों ने इसके ये अर्थ किये हैं कि हे परमात्मन्, हमको सुवर्णमय गृह दो।

यदि यह कहा जाय कि सुवर्णमय गृहों का होना ही असम्भव है तो उत्तर यह है कि सुवर्णमय के अर्थ अधिक सुवर्णवाले गृह के हैं क्योंकि यहाँ **"मयट् प्रत्यय"** लगाकर जो सुवर्णमय शब्द बना है वह मयट् प्रत्यय प्राचुर्य अर्थात् अधिकता के लिये आया है केवल सुवर्ण रचित के लिये नहीं। जिस देश के ऐश्वर्य के विषय में हम यहाँ विचार कर रहे हैं उस देश में अब तक भी सुवर्णमय मन्दिर हैं, अमृतसर के दरबार साहब का मंदिर सुवर्णमय है एवं काशी, वृन्दावन और गिरिनार गिरि इत्यादि सहस्रों स्थान भारत में अब तक विद्यमान हैं जिनको (हिरण्य) सुवर्ण की ज्योति देदीप्यमान कर रही है तो फिर वैदिक समय में दारिद्र्य कैसे ?

वेद में केवल एक ही मन्त्र का प्रमाण नहीं किन्तु सैकड़ों मन्त्र ऐसे हैं जिनमें सुवर्ण का वर्णन है और रत्नों का नाम तो ऋग्वेद में सहस्रों मन्त्रों में स्पष्ट रीति से आया है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए वैदिक समय के ऐश्वर्य की चर्चा को छोड़कर महाभारत के समय में भारतवर्ष के ऐश्वर्य का विचार करें तब भी इस भारत सागर को ऐश्वर्य की लहरों से परिपूर्ण पाते हैं। क्या महाभारत के ज्ञाता कभी इस बात को भूल सकते हैं कि जब महाराज युधिष्ठिर अर्थात् साक्षात् धर्मराज के राज्य शासन में द्रौपदी जी सहस्रों साधु ब्राह्मणों को सुवर्ण के पात्रों में भोजन कराया करती थीं जिसको देखकर दुर्योधन न सह सका और उसने दावानल बनकर इस विशाल आर्यजाति-रूप वन का दाह किया। अस्तु, इस अप्रकृत शोकानलज्वाला को जलाकर जलने से क्या लाभ ?

मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वैदिक समय में आर्यों के पास केवल गो, अश्व, महिषी रूप ही धन न था, किन्तु सब प्रकार के ऐश्वर्य उस समय में थे। प्रमाण के लिए देखो—

"ईशानासो ये दधते स्वर्णो गोभिरश्वेभिर्हिरण्यैः ॥

—ऋ. मं. ७ सू. ९० मं. ६ ॥

ऐश्वर्यसम्पन्न वे समझे जाते हैं जो लोग सुवर्ण और इससे भिन्न अनेक प्रकार के अन्न, धन और बहुमूल्य रत्न तथा गौ अश्वादि अन्य पशुधन के भी स्वामी होते हैं। यहाँ सब प्रकार के धन का वर्णन कर दिया इसी अभिप्राय से कई एक अन्य भारतीय लेखकों ने यह लिखा है कि—

वैदिक समय में भारतवर्ष में शालानिर्म्माण अर्थात् घरों के बनाने की विद्या पाई जाती थी और गृहों का निर्म्माण बड़े-बड़े ऐश्वर्य्यशाली पदार्थ लगा कर किया जाता था।

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि वैदिक समय में पैस्मिज़म अर्थात् दरिद्रता का गन्ध भी न था।

इसी प्रकार अस्त्र-शस्त्र विषय में भी वैदिकविद्या प्रसिद्ध थी अर्थात् जिनसे अपनी रक्षा और परपक्ष का भेदन फेंक कर किया जाय उनका नाम **'अस्त्र'** था अर्थात् अस्त्र नाम फेंकनेवाले शस्त्र का था। वे कई एक प्रकार के होते थे जिनका नाम अग्निवाण, धूम्रवाण, वज्र, तथा अश्मा भी था। इसका उपदेश परमात्मा ने वेद में भली-भाँति किया है जैसा कि—

"प्रवर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र"

॥ ऋ० ७ सू० १०४ मं० १९ ॥

हे परमात्मन्! आप (असुरों) अन्यायकारी दुष्टों के लिए आकाश से वज्रपात करें, इसी प्रकार दुष्टदमन दण्ड का नाम अस्त्र था।

इनसे भिन्न जो सम्मुख आनेवाले शत्रुओं के हनन का साधन धनुर्विद्यावेत्ता लोग उपयोग में लाते थे उनको धनुष वा वाण भी कहते थे जिनके अर्थ घोर शब्द करनेवाले के थे। इन शस्त्रों के वेत्ताओं को **'धन्वी'** कहा जाता था।

इनका वर्णन वैदिक समय से लेकर अनवरतरूप से चला आता है और इन शस्त्र-अस्त्रों का प्रयोग करनेवाले अपनी रक्षा के साधन भी जानते थे, कायकवच और वर्म भी उस समय उपयोग में लाये जाते थे। प्रमाण के लिए देखो—

"कवचिने च नमो वर्म्मिणे च" ॥ यजु० अ० १६। मं० ३५॥ इत्यादि अनेक प्रमाण पाये जाते हैं, जिनमें कवच, वर्म का नाम स्पष्ट है।

क्षत्रिय को वर्मा इसी अभिप्राय से कहते थे कि वह वर्म को धारण करके अपनी और प्रजा की रक्षा करता था, इस प्रकार वेदों में सब विद्याओं के बीज हैं, इतना ही नहीं किन्तु अनेक प्रकार के अनर्घ रत्न वेदों में भरे पड़े हैं जिनको निकाल कर श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी ने खान में पड़ी हुई मणि को निकालनेवाले जौहरी के समान चमकृत बनाकर बहुमूल्य बना दिया।

जो लोग यह कहा करते हैं कि स्वामी दयानन्द के भाष्य में खेंचतान है और वह प्राचीन ग्रन्थों से विरुद्ध है उनको यह समझ लेना चाहिए कि—

(१) वेदार्थ को निर्णय करनेवाला सबसे पुराना निघण्टु और निरुक्त है। इन दोनों ग्रन्थों के प्रमाण जितने स्वामी दयानन्द के भाष्य में पाये जाते हैं उतने और किसी भाष्यकार ने आज तक उद्धृत नहीं किये।

(२) इसी प्रकार वेदार्थ को व्याकरण से जितना स्वामी दयानन्द ने पुष्ट किया है उतना अन्य किसी ने भी नहीं। वा यों कहो कि वेद के विषय में यौगिकार्थ की शैली अर्थात् व्युत्पत्ति करके अर्थ करने का प्रकार जितना महर्षि दयानन्दजी के भाष्य में है इतना अन्य किसी भाष्य में नहीं।

(३) शतपथादि प्राचीन वेद व्याख्यानों से जितना काम स्वामी दयानन्दजी ने लिया है उतना अन्य किसी भाष्य में नहीं देखा गया।

(४) ईश्वरीय पुस्तक के ईश्वरज्ञानानुसारी अर्थ जितने अच्छे ऋषि दयानन्द की शैली में हैं, इतने अच्छे अर्थ अन्य किसी भाष्यकार ने नहीं किये फिर न जाने उनको लोग ऐसे ही क्यों दूषित करते हैं?

जो यह कहा जाता है कि स्वामी दयानन्द ने नमः के अर्थ अन्न और द्विवचन का एकवचन और एकवचन का द्विवचन एवं षष्ठी के स्थान में पञ्चमी और पञ्चमी के स्थान में षष्ठी कर दी है, इसका उत्तर यह है कि **"नमस्वान"** यह पद बहुत मन्त्रों में आता है यहाँ नमस्वान के अर्थ अन्नवाले के हैं अर्थात् नमः और वान् मिलकर नमस्वान् बना। एवं

"यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" ।। ऋ. ७. ९६. ६. ।।

यहाँ सायणाचार्य ने एकवचन के स्थान में बहुवचन और **"गृणीषे"** यहाँ मध्यम पुरुष के स्थान में उत्तम पुरुष माना है। एवं ७ सू. ६६ में गृणीषे के अर्थ स्तुवे किये हैं, अर्थात् यहाँ भी मध्यम पुरुष के अर्थ उत्तम पुरुष के कर दिये, वा यों कहो कि तू के अर्थ मैं और मैं के अर्थ तू इस प्रकार सर्वत्र **"व्यत्ययो बहुलम्"** ।।३।१।८५।। से काम लिया है, अर्थात् वेद में लौकिक संस्कृत व्याकरण के नियम बहुधा बदल जाते हैं, तो फिर यदि महर्षि स्वामी दयानन्द ने ऐसा किया तो क्या अनुचित किया ?

और बात भी ठीक है कि अब यह लौकिक व्याकरण तीन वा चार सहस्र वर्ष से प्रथम किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकता तो वेद के लौकिक व्याकरणानुसार अर्थ करने से कैसे ठीक हो सकते हैं क्योंकि वेद इससे लाखों वर्ष प्रथम का है वा यों कहो कि आदि सृष्टि का है। इसी कारण जहां लोक में **अस्ति** प्रयोग होता है वहां वेद में **असति** भी होता है। प्रमाण के लिए पढ़ो—ऋग्वेद के १०वें मण्डल के अन्त का मन्त्र, इसी प्रकार—

"तेन पुरुषो असत्" ।। यजु. २। ३३ ।।

यहाँ भवेत् के अर्थ में लेट् का प्रयोग हुआ है। बहुत क्या वेद में लेट् लकार ही अधिक माना गया है, जिसके प्रयोग लोक में नहीं आते। अस्तु।

इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं कि पाणिनीय व्याकरण का वेद में सर्वथा अनुपयोग है किन्तु तात्पर्य यह है कि स्वरवैदिकी प्रक्रिया को छोड़कर व्याकरण के अन्य स्थल वेद में बहुधा उपयोगी नहीं।

जो लोग यह कहते हैं कि वेद में स्वर का कोई काम ही नहीं यह तो किसी ने पीछे से लगा दिये, वे लोग वैदिक सम्प्रदाय के ज्ञान से सर्वथा वञ्चित हैं। क्योंकि स्वरों के भेद से मन्त्रों के अर्थों में भी भेद हो जाता है जैसे कि **"सहस्रशीर्षा"** इस मन्त्र के स्वरों से चारों वेदों में अर्थ का भेद स्पष्ट है अर्थात् सामवेद के स्वरों का और प्रकार है, ऋग् का और; इसी प्रकार का स्वरभेद अर्थभेद का कारण है।

इसी अभिप्राय से महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने यह लिखा है कि—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।"

—महाभाष्य पस्पशाह्निक० ।।

जो मन्त्र स्वर वा वर्ण से हीन है उसका प्रयोग मिथ्या है क्योंकि वह अपने अर्थ को नहीं कह सकता और वह वज्ररूप होकर यजमान को मारता है अर्थात् ऐसा पापजनक काम यजमान को कदापि नहीं कराना चाहिए जैसा कि

मूर्ख राक्षसों ने अपने यज्ञ में "इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व" यहाँ उनको अन्तोदात्त करना चाहिए था तहाँ पूर्वपद-प्रकृति स्वर कर दिया जिससे अर्थ सर्वथा उलटा हो गया, अस्तु ।

यह तो भला वैदिक प्रक्रिया है पर लोक में भी तनिक से स्वर के भेद से अर्थ का अनर्थ हो जाता है जैसा कि एक समय एक भिक्षुक यह कहता था कि "बाबू अन्धा है" यहां बाबू में अनुदात्त श्रुति सुनकर बाबू ने कहा कि अरे क्या कहता है ? बाबू क्यों अन्धा है, अन्धा तो तू है ? फिर उस अन्धे भिक्षुक ने यह उत्तर दिया कि महाराज मैं तो यह कहता हूँ कि बाबू३ अन्धा है" अर्थात् बू में उदात्त का पूरा उच्चारण किया तो अर्थ यह निकला कि हे बाबू मैं अन्धा हूँ, कुछ दो ।

जब लोक में भी स्वर के तनिक से भेद से इतना भेद हो जाता है कि देदीप्यमान नेत्रोंवाला बाबू निपट अन्धा समझा जाता है तो इससे अन्य अनर्थ क्या हो सकता है ?

इस प्रकार जिन लोगों ने वेद से स्वर उड़ा दिये उन्होंने वेद में अन्धा करने का सामान उत्पन्न कर दिया ।।

~~क्या यों कहो कि~~ "अन्धेषु काणो राजा" इस नियम के अनुसार यह समझ लिया कि आजकल के समय वेदविषय में सब लोग अन्धे के समान हैं और उनमें कुछ न कुछ जाननेवाला तो अवश्यमेव वेदज्ञ है, यह समझकर सारे सामवेद के स्वर उड़ाकर उसे रुण्डमुण्ड कर दिया । ऐसा करने पर भी वेदानुयायियों ने तनिक भी ननु नच न की, करते भी कैसे जब कि किसी को यह भी ज्ञात नहीं कि वेद में १ एक का अङ्क लिखकर उसके ऊपर नीचे स्वर दिया जाता है वह क्यों ? एवम् २ दो लिखकर उसके ऊपर नीचे स्वर दिया जाता है, इसी प्रकार ३ तीन का अङ्क लिखकर उसके ऊपर नीचे स्वर दिया जाता है इस भेद को भी स्वरविद्यावेत्ता विद्वान् ही जानते हैं । जिन बिचारों ने अभी नया-नया वेदज्ञ होने का दम भरा हो वे क्या जानें कि स्वरों का क्या महत्त्व है ?

यहाँ वेदार्थ के जिज्ञासुओं को यह भी ज्ञात रहे कि जहाँ मूलमन्त्र में ह्रस्व होता है वहां पदपाठ में दीर्घ भी हो जाता और जहाँ मूल मन्त्र में दीर्घ होता है वहाँ पदपाठ में ह्रस्व भी हो जाता है जैसा है कि "इयं देव पुरोहितिः" यहाँ मूल मन्त्र में ह्रस्व है और पदपाठ में इस प्रकार है "इयं देवा पुरःहितिः" इसी कारण अर्थ का भी भेद हो जाता है अर्थात् देव पुरोहिति शब्द में समास होने से और अर्थ निकलता है और समास न होने से और । और यदि यह कहा जाय कि वेद में समास होने से अन्तोदात्त नहीं होना चाहिए तो उत्तर यह है कि "व्यत्ययो बहुलम्" इससे यहाँ स्वर का व्यत्यय है और स्वर का व्यत्यय भाष्यकारादि सब लोगों ने माना है ।

जो कई एक अल्पश्रुत यह कहते हैं कि इस मन्त्र में महर्षि दयानन्द ने समास नहीं माना इसका उत्तर यह है कि जिस मन्त्र की व्याख्या स्वामीजी ने की है वह

अन्य है अर्थात् वह मं. ७ और सूक्त ६० का है और यह सूक्त ६१ का है इसलिए भिन्नार्थ करने में कोई दोष नहीं।

जो लोग कुतर्क और कुबुद्धि से लोगों को इस सन्देह में डाला करते हैं कि इस भाष्य में एकवचन के अर्थ बहुवचन और बहुवचन के अर्थ एकवचन किये हैं, एवं षष्ठी के अर्थ पञ्चमी और पञ्चमी के अर्थ षष्ठी इस प्रकार मनमाने अर्थ किये हैं इसका उत्तर यह है कि द्विवचन के अर्थ एकवचन भी होते हैं और एकवचन के अर्थ द्विवचन भी, एवं एकवचन के अर्थ बहुवचन यह वैदिक व्याकरण की शैली है। प्रमाण के लिए देखो मं. ७ सू. ९०. मं. १ सायणाचार्य ने **वां** के अर्थ तुभ्यं एकवचन के किये हैं, एवं मं० ७ सू० ७२ मं० १ युवां इसको सम्बोधन बनाया है जो लोक में **युवां** कहीं भी सम्बोधन नहीं होता इसी प्रकार मं० ७ सू. ६६ मं. ७ में **"गृणीषे"** इस मध्यम पुरुष के अर्थ **स्तुवे** के किये हैं यह सब **"व्यत्ययो बहुलम्"** इस वैदिक सूत्र से सिद्ध हो जाता है, जैसा कि हम पीछे भी लिख आये हैं, इसी प्रकार हमने वैदिक व्याकरण के अनुसार सब अर्थ किये हैं, हाँ इतना भेद अवश्य है जहाँ सायणाचार्यादिकों ने अश्लील अर्थ किये हैं जिनको बुद्धि नहीं मानती, वा यों कहो कि जिन अर्थों में तर्क ऋषि साक्षी नहीं देता, वहाँ वेद से वेद का प्रमाण देकर अर्थात् वेदार्थ से वेद का मण्डन करके अद्भुत अर्थ किए हैं।

जैसा कि **"अप गूह एतद् यदन्यरूपः समिथे बभूथ"** ।। ऋ. मं. ७ सू १०० मं. ६ ।। इसके अर्थ सायणाचार्य ने ऐसे बुरे किये हैं—कि जिनका खण्डन वेद बलपूर्वक अन्यत्र करता है कि—

"मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः ।। ऋ. मं. ७. सू. २१. मं. ५ ।।

इन्द्रियारामी वा इन्द्रियों के पुजारी अर्थात् लिङ्गादि अङ्गों की पूजा करनेवाले मेरी सच्चाई को नहीं पा सकते। फिर इससे विरुद्ध **"शिपिविष्टा"** के अर्थ घृणित अर्थात् लज्जाजनक इन्द्रिय के समान मुखवाला विष्णु है यह अर्थ कैसे हो सकते हैं? जो सायणाचार्य ने उक्त मन्त्र के किये हैं।

इस स्थल में विष्णु को **"अर्य"** भी कथन किया गया है जिससे विष्णु न्यायकारी परमात्मा सिद्ध हो गया फिर निन्दित मुख की क्या कथा? इस प्रकरण में यह लिखना भी अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है कि जिन लोगों ने वेद और वेदाङ्गों के स्वप्न में भी दर्शन नहीं किये वे लोग आजकल वेदों के साहित्य पर लेखनी उठाकर उनको दूषित करते हैं।

कोई कहता है कि वेदों में मेंडकों के उपाख्यान हैं, कोई कहता है कि अश्व के मांसभक्षण का वेद में अपूर्व विधान है, बहुत क्या जिन्होंने कभी दर्शन का दर्शन भी नहीं किया वे लोग भी यह लिख बैठते हैं कि **"नासदासिन्नोसदासीत्तदानीम्"** ऋ. मं. १० सू. ११ मं. १ ।। इसमें असत् कार्य्यवाद का कथन है। वे भले आदमी यह भी नहीं समझते कि असत् कार्यवाद किसको कहते हैं? यदि इस मन्त्र का सायण भी पढ़ लेते तब भी उनको कुछ ज्ञान हो जाता। वास्तव में बात यह है कि इसमें सद्रूप प्रकृति का वर्णन किया है और असत् उसे केवल सूक्ष्म रूप के अभिप्राय से कहा है। इसकी पूरी-पूरी व्याख्या **"असदितिचेन्नप्रतिषेधमात्रत्वात्"** व्या. सू.

२-१-७ ।। में की है कि असत् कथन करने का तात्पर्य असत्कार्यवाद का नहीं किन्तु स्थूल रूप के निषेध का है, अस्तु ।

इस सूक्ष्म विचार से ग्रन्थ सूक्ष्म होता जाता है इसलिये यदि इस सूक्ष्म विचार को छोड़कर दर्शनशास्त्र का साधारण ज्ञान भी लक्ष्य रक्खा जाय तो सांख्य, योग, वेदान्त ये तीनों दर्शन सत्कार्यवादी कहलाते हैं फिर वेद में असत्कार्य-वाद की क्या कथा ? मुख्य प्रसङ्ग यह है कि वेद और वेदार्थ के दूषित करने-वाले आज-कल वे हैं जो केवल नाममात्र के पण्डित हैं अन्यथा ईश्वरीय ज्ञान को दूषित कौन कर सकता है ? अस्तु ।

प्रकृत यह है कि वेदों के भावों के समझने के लिए प्राचीन ऋषि मुनियों की प्रज्ञा से कुछ न कुछ साहाय्य अवश्य लेना चाहिए, अन्यथा आजकल के परतन्त्र प्रज्ञ पुरुष उन्हें कदापि समझ नहीं सकते, इसलिए वेदों के परिष्कार और अलङ्कार केवल अक्षरार्थ की रीति से किसी की समझ में नहीं आ सकते । प्रमाण के लिए देखो—

"पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः । भक्षीमहि प्रजामिषम्"

—ऋ. मं. ७ सू. ९६ मं. ६ ।।

कि मैं सरस्वत के स्तन को पान करता हूँ जो विश्व को दिखलानेवाला है, क्या कोई कह सकता है कि वह कौन सरस्वत है ? कोई इसे मेघ बतलाता है कोई सरस्वती को नदी मानकर उसका स्तनपान कराना बतलाता है, यदि यह पूछा जाय कि नदी और मेघ के भी स्तन होते हैं तो उत्तर यही मिलेगा कि यह केवल अलङ्कार है परन्तु परीक्षक लोग जब इसका सूक्ष्म विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि अलङ्कार वही कहलाता है जिसमें कोई विचित्र भाव हो और किसी अंश में रूपकादि भावों को भी लिये हुए हो जैसा कि **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"** इत्यादि वेद वाक्यों में विराट् की शरीर मानकर उसमें मुखादि अवयवों का रूपक बांधा गया है ।।

इस प्रकार का रूपकालङ्कार तभी बन सकता है जब **"सरतीति सरो ज्ञानं तद्विद्यतेऽस्येति सरस्वान् तस्य सरस्वतः"** कि सर नाम ज्ञान का है वह जिसमें विद्यमान हो उसका नाम शक्तिरूप से सरवस्ती विद्या और शक्तिमद्रूप से ज्ञानाधि-करण परमात्मा ये दो ही अर्थ अलङ्कार से बनते हैं, अन्य नहीं परन्तु इस सूक्त में प्रकरण सरस्वती का है अर्थात् यह सरस्वती सूक्त है, इसलिए यहां अर्थ सरस्वती का है **"व्यत्ययोबहुलम्"** इस सूत्र से यहां पुलिङ्ग निर्देश है, अब मन्त्र के अर्थ यह हुए कि जो पुरुष सरस्वती ब्रह्मविद्या के ज्ञानरूप स्तन को पीता है वह विश्वद्रष्टा अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानी हो जाता है फिर वह विश्व के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को भोगता है ।

"एवं मण्डयन्तीति मण्डूकाः" वेद के मण्डन करनेवाले विचित्र विद्वानों का नाम मण्डूक था और **"मण्डूकस्य भावः कर्म वा माण्डूक्यम्"** इस प्रकार उक्त विद्वानों के अनुसन्धान का नास माण्डूक्य था और उस अनुसन्धान को लिये हुए जो ब्रह्मज्ञान का साधन हो उसका नाम माण्डूक्योपनिषद् हुआ । इस प्रकार ब्रह्म वेद का अनुसन्धान करके ऋषियों ने माण्डूक्योपनिषद् का निर्माण किया अर्थात् वेद के प्रणवादि भावों का इस उपनिषद् में भली-भाँति मण्डन किया, वह इस प्रकार कि ओ३म् यह अक्षर अपनी ध्वनि से वेद का मण्डन करता हुआ अपनी

विश्वव्यापिनी ब्रह्मविद्या के द्वारा तीनों लोकों को स्वान्तर्गत कर लेता है अर्थात् विश्व, प्राज्ञादि यह ब्रह्म के सब नाम इस ओंकार नाम में आ जाते हैं, या यों कहो कि तीनपाद अमृतरूप ब्रह्म है और उसके एक देश में प्रकृति एक अंशमात्र है। संहिता में इसको चतुष्पाद् ब्रह्म कहा है इस भाव को वर्णन करनेवाला मन्त्र यह है कि —

"एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः,
पा दोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

—ऋ. मं. १०. सू. ९० मं. ३

उसके एक देश में सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर हैं और वह अमृत पुरुष सर्वत्रैव परिपूर्ण हो रहा है, इसी मन्त्र के भाव को वेद के मण्डन करनेवाले मण्डूक ऋषि ने माण्डूक्योपनिषद् में वर्णन किया कि सर्वाधिकरण प्रणवशब्दवाच्य परमात्मा ही तीन पाद रूप अमृत है। प्रकृतिरूपी मात्रा अन्य है अर्थात् ईश्वरविषय में व्यवहार के योग्य नहीं, वा यों कहो कि ईश्वररूप उपासना में उसका कोई उपयोग नहीं, अस्तु।

प्रकृत यह है कि माण्डूक्योपनिषद् में ऋषि का तात्पर्य इस चराचर जगत् को ब्रह्माश्रित निरूपण करने में था जो समयान्तर में आकर मिथ्यावाद के निरूपण में उपयुक्त हुआ अर्थात् इसी उपनिषद् के सहारे पर माण्डूक्यकारिकायें बनीं जिन में यहाँ तक लिखा गया कि—

"घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि" ।।

—माडूक्यकारिका। अद्वैत प्र० ४ ।।

जैसे घटादि पदार्थों के टूट-फूट जाने से घटाकाश महाकाश हो जाता है इसी प्रकार मायारूप उपाधि के मिटने से जीव भी ब्रह्मरूप हो जाता है। यह भाव लिया गया और यह भाव इस उपनिषद् के इस वचन से निकाला है कि **"अयमात्मा ब्रह्म"** यह जीवरूपी आत्मा ब्रह्म है परन्तु यहाँ यह स्मरण रहे कि जीव को ब्रह्म बनाने का यह भाव इस वाक्य से कदापि नहीं निकल सकता क्योंकि यह पूरा श्लोक यों है—

"सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्" —मा० २ ।।

कि उक्त ओंकार ब्रह्म है और सर्वत्र व्यापक होने से ब्रह्मरूप आत्मा है वह यह आत्मा चतुष्पात् अर्थात् एक प्रकृतिरूपी मात्रा और तीन ओ३म्। इस प्रकार चतुष्पात् उस ओंकार को वर्णन किया है, कुछ जीवरूप आत्मा का पहले प्रकरण आ जाता तो निस्सन्देह **अयमात्म ब्रह्म** के ये अर्थ होते कि यह जीव ब्रह्म है, पर पूर्व प्रकृत ओंकार है जीव नहीं। जिस प्रकार (१) **अयमात्मा ब्रह्म** ।। मा० २ ।। इस वाक्य के अन्यथा अर्थ करके जीव को ब्रह्म सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार (२) **"तत्त्वमसि"** ।। छा० ६। ८। ७ ।। के वह ब्रह्म तू है ये अर्थ किये गये। इसी प्रकार (३) **"अहं ब्रह्मास्मि"** ।। के मैं ब्रह्म हूँ। (४) **"प्रज्ञानं ब्रह्म"** ।। ऐतरेय ५। ३ ।। अर्थात् ब्रह्म ज्ञानरूप है। इसके भी जीव को ब्रह्म बनाने के अर्थ किये गये ।।

ये चारों उपनिषदों के वाक्य हैं। पर जीव को ब्रह्म माननेवाले नवीन वेदान्ती इनको वेदवाक्य वा महावाक्य भी कहते हैं। इनके ठीक-ठीक पद पदार्थ तो हम वेदान्त आर्य्यभाष्य व उपनिषदार्य्य भाष्य में कर आये हैं।

यहाँ इतना विशेष दर्शाते हैं कि **"तत्त्वमसि"** ।। छा० । ६-८-७ ।। इसके अर्थ जो यह कर लिए जाते हैं कि हे जीव, तू साक्षात् ब्रह्म है, ये अर्थ अनुभव तथा शास्त्र से सर्वथा विरुद्ध हैं, क्योंकि जिस ब्रह्म ने सम्पूर्ण विश्व को रचा है वह क्षुद्र जीव कैसे हो सकता है। **"शब्दविशेषात्"** ।। ब्र० सू० १।२।५।। **"सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्"** ।। ब्र० सू० १।२।८ ।। इत्यादि वेदान्तसूत्रों में जिसके विषय में यह है कि ब्रह्म के लिए वेद में शब्द भी विशेष हैं, अर्थात् ईश, अर्य्य, विष्णु, ब्रह्म, इत्यादि शब्द जगत्कर्त्ता के लिये आते हैं, और जीव, प्राणी, भूत, इत्यादि शब्द इस प्राणधारी क्षुद्र जीव के लिये आते हैं इससे जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

दूसरे सूत्र के ये अर्थ हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से जीव के शरीर के सुख-दु:ख का भोक्ता नहीं, और जीव स्वकर्मों के फलों का भोक्ता है, इस प्रकार दोनों का भेद स्पष्ट है फिर जीव ब्रह्म कैसे ?

इस बात को हम प्रस्तावना में विस्तारपूर्वक लिख आए हैं। यहाँ इस बात का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है कि **"तत्त्वमसि"** इसके अर्थ ब्रह्म बनने के कैसे होते हैं। स्वामी शङ्कराचार्य्य के मत में (तत्) पूर्वोक्त ब्रह्म (त्वं) तू है ये अर्थ होते हैं, और स्वामी रामानुज के मत में (तत्) शब्दवाच्य ब्रह्म की विभूति होने से जीव को भी (तत् त्वं) अर्थात् ब्रह्म कहा जा सकता है इसका नाम विशिष्टाऽद्वैत है, अर्थात् जीव भी एक प्रकार से ब्रह्म की विभूति होने से उसका अंश ही है उससे भिन्न नहीं—

और तीसरे द्वैतवादिओं के मत में (तत्) से उस जीव का ग्रहण है जिसका पहले निरूपण आचुका है जिसको व्रत रखा कर अणुमात्र सत्ता बतलाई है, फिर यह कहा है कि **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं"** यह सब इसी अणुप्रमाण आत्मा का प्रभाव है। इस आत्मसत्ता को बोधन करने के लिए नौ वेर **"तत्त्वमसि"** यह वाक्य आता है, इसका नाम अभ्यास है, अर्थात् बलपूर्वक बोधन करके दिखलाया है। यह व्यवस्था **"तत्त्वमसि"** के अर्थों में आज तक चली आई है।

जो कोई एक लोग **"मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"** यों निकालते हैं कि **"तत्त्वमसि"** यह लट् लकार के मध्यम पुरुष का एक वचन नहीं किन्तु यह लेट् लकार का रूप है जिसके अर्थ वे यों करते हैं कि तू ब्रह्मनिष्ठ हो जा। पहले तो यह बात सर्वथा मिथ्या है कि यह लट् लकार का रूप ही नहीं, यदि ऐसा होता तो **"त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वा त्वमसि"** एवं **"पितृहा वै त्वमसि"** **"मातृहा वै त्वमसि"** **"भ्रातृहा वै त्वमसि"** **"स्वसृहा वै त्वमसि"** **"आचार्य्यहा वै त्वमसि"** **"ब्रह्महा वै त्वमसि"** ।। छा० ७ । १५ । २ । यहाँ भी लेट् का रूप होना चाहिए था पर किसी की शक्ति नहीं कि इसे लेट् का रूप कह सके क्योंकि इसके साथ अहमस्मि यह वर्त्तमान काल का प्रयोग है। यह सिद्धबोधक वाक्य है प्रेरणा वा विधिवचन नहीं और **"पितृहा वै त्वमसि"** इत्यादिकों में लेट् लकार माना जाय तो अर्थ ये होंगे कि तुम पिता मातादिकों के मारनेवाले बनो, फिर न जाने व्याकरणविषय के अल्पश्रुतों

को यह कहाँ से सूझ जाती है कि व्याकरण का सर्वथा दुरुपयोग करके अपने मनमाने अर्थ सिद्ध करें।

इन्होंने लेट् लकार इस प्रकार सिद्ध किया है कि अस् इस सत्ताबोधक धातु से लेट् लकार किया और लेट् लकार के स्थान में शप् हुआ है। शप् का लुक् हो जाने से और **"लेटोऽडाटौ"** ।। अष्टा० ३।४।९४ ।। छन्द मानकर इस सूत्र से आट् वा अट् का आगम न होने के कारण लेट् का प्रयोग असि बना।

इस प्रकार भी लेट् का रूप **असि** कदापि नहीं बन सकता क्योंकि अट् वा आट् का आगम हो जाने से अससि असासि ऐसा रूप बनेगा, यदि कहें कि **"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते"** इस भाष्यवचन का सहारा लेकर अट् आट् का निषेध हो जायगा तब भी काम नहीं बनता क्योंकि **"तत्त्वमसि"** यह उपनिषद् का वाक्य है और भाष्यकार का उक्त वचन केवल छन्द अर्थात् वेद में ही लगता है अन्यत्र नहीं, जो यह कहा जाता है कि वेद दो प्रकार का है एक मुख्य वेद दूसरा गौण वेद इस प्रकार ब्राह्मण भी गौण वेद है अर्थात् छन्द है। यह कथन सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है क्योंकि यदि ब्राह्मण छन्द होता तो व्याकरण के सूत्रनिर्माता पाणिनि मुनि छन्द और ब्राह्मण का इस प्रकार भेद न वर्णन करते कि—

'द्वितीया ब्राह्मणे' ।। अष्टा० २ । ३ । ६० ।।
"चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" ।। अष्टा० २ । ३ । ६२ ।।
"षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा" ।। अष्टा० १ । ४ । ९ ।।
"तृतीया चहोश्छन्दसि" ।। अष्टा० २ । ३ । ३ ।।
"द्व्यचश्छन्दसि" ।। अष्टा० ४ । ३ । १५० ।।
"अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि" ।। अष्टा० ८ । २ । ७० ।।
"छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" ।। अष्टा० ४ । २ । ६६ ।।
इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट सिद्ध है कि वेद अर्थात् छन्द से ब्राह्मण भिन्न है।

और **"छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्"** ।। ऋ. मं. १० सूक्त ९० मन्त्र ९ ।। यहाँ छन्द की उत्पत्ति ईश्वर से मानी है, ब्राह्मण ग्रन्थों की नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों की उत्पत्ति याज्ञवल्क्यादि ऋषियों से सर्वत्र प्रसिद्ध है।

अन्य प्रबल युक्ति यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जनकादिकों की गाथाएँ प्रसिद्ध हैं, और वेद में जनक का नाम तक नहीं। अन्य पुष्ट प्रमाण यह है कि व्याकरणप्रणेता ऋषि लोग यह मानते हैं कि पाँचवाँ लकार अर्थात् लेट् लकार केवल छन्द में ही आता है, अन्यत्र नहीं। इस नियम के अनुसार जो लोग छान्दोग्य उपनिषद् को छन्द मानते हैं उनको चाहिए कि छान्दोग्य में एक स्थान में भी लेट् लकार का प्रयोग दिखलाएँ। यदि यह कहा जाय कि **"तत्त्वमसि"** यही लेट् लकार का प्रयोग है तो उत्तर यह है कि यह बात तो अभी विवादास्पद है कि **"तत्त्वमसि"** लेट् लकार का प्रयोग कैसे?

बहुत क्या उपनिषदों को गौण वेद माननेवाला उद्दालकादि नवीन समय के ऋषियों की जो कथाएँ कठादि उपनिषदों में आती हैं उनका क्या समाधान कर सकता है?

जो यह कहा जाता है कि जो ग्रन्थ "ब्रह्मवेद" के साथ सम्बन्ध रखे उसका नाम ब्राह्मण ग्रन्थ है तो वह सम्बन्ध क्या? अवयवावयविभाव? अथवा व्याख्येय-

व्याख्यानभाव ? यदि प्रथम सम्बन्ध माना जाये तो वेद के अध्याय और अष्टकों के समान उपनिषद् ग्रन्थ भी वेद मानने पड़ेंगे फिर उनमें गौण वेदत्व कैसे ?

यदि वेद व्याख्येय अर्थात् मूल हैं उनकी व्याख्याओं का नाम ब्राह्मण ग्रन्थ है तो स्पष्ट रीति से सिद्ध हो गया कि ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं किन्तु वेदों के व्याख्यान हैं ।

बहुत लिखने से ग्रन्थ बढ़ता है । मुख्य प्रसङ्ग यह है कि मण्डूक्य ऋषि के बनाये हुए माण्डूक्य उपनिषद् का वाक्य **"अयमात्मा ब्रह्म"** है । इस प्रसङ्ग में वेद ब्राह्मण का भेद निरूपण किया गया और यह भी स्पष्ट दिखला दिया गया कि उपनिषदें वेद नहीं जिनके **"तत्त्वमस्यादि"** पूर्वोक्त वाक्य हैं ।

कुछ हो, एक प्रकार से उपनिषद्विद्यावेत्ता बेदान्तियों के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने वेद के मण्डूकादि सूक्तों को पढ़कर ब्रह्म विद्या का आविष्कार किया और आजकल के श्रद्धाविहीन लोग उन्हीं वेदों से प्राकृतवाद, मेंडकवाद, भूतवाद, अश्लीलतावाद, जादूटोनावाद इत्यादि अनेक वादों की भरमार करते हुए वेद भगवान् को कलङ्कित करते हैं ।

मुख्य प्रसङ्ग ये है कि मण्डूकादि ऋषियों ने वेदों को पढ़कर माण्डूक्योपनिषद् में ऐसे-ऐसे दर्शन विषयक तत्त्वों का आविष्कार किया जिनको तात्त्विक रूप से विचार करते हुए द्वैताद्वैतवादी इस दार्शनिक ह्रद में निमग्न होकर अपने आपको सर्वाङ्गशीतल बनाते हैं, पर आजकल के क्षुद्राशय मण्डूकादि सूक्तों को पढ़कर इस विद्या का आविष्कार करते हैं कि मेंडकों के टें-टें करने से भिन्न और वेदों में दार्शनिक तत्त्व नहीं, परन्तु आस्तिक ऋषियों ने वेदों को सर्वोपरि तत्त्व समझ कर उनके आधार पर उपनिषद् और दर्शन ग्रन्थों को बनाया । इस प्रकार वेदों के उच्च अर्थ थे जिनको न समझ कर अल्पश्रुत लोगों ने उन्हें प्राकृत भावों में लगा दिया । इसी कारण किसी को वेदों में **भूत प्रेत सूझने लगे ।** किसी को **मण्डूक देवता** देखकर वेदों की निन्दा में कटिबद्ध होना पड़ा । किसी ने **"लोधं नयन्ति पशुमन्यमानाः"** के अर्थ विश्वामित्र को चुरा ले जाने के किये । किसी ने **यमयमी सूक्त से** भाई बहिन आदि का जोड़ा **आदम हव्वा** के समान सिद्ध किया, इस अनर्थ को देखकर भी आर्यजाति ने अपनी महामोहमयी निद्रा से आँख न खोली ।

इस अवस्था में आर्यसमाज का कर्त्तव्य तो यह था कि वह वेदों के अपूर्व अर्थ करके उक्त निद्रा से जागृति उत्पन्न करता पर आर्यसमाज भी **"व्यापारैर्बहुकार्य-भारगुरुभिः"** इस उक्ति के अनुसार अर्थात् बहुधन्दी बनकर वेदार्थ के उद्धार करने में तत्पर न रहा ।

इससे भिन्न आर्यधर्माभिमानिनी हिन्दूजाति की यह दशा है कि जिनके धर्म में **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** यह माना जाता था वहाँ अब धर्मशास्त्र का वाक्य यह बन गया कि जो पन्थ की निन्दा करे वह नास्तिक है, अर्थात् वेदों की निन्दा चाहे भरपेट करे पर उस पन्थ की निन्दा न करे जो पन्थ अज्ञान वा दुराग्रह से अपनाया गया है, अस्तु ।

आर्यधर्माभिमानी हिन्दू भाइयो ! जब आप काशीपुरी के सरस्वती फाटक से प्रविष्ट होकर विश्वनाथ के ज्ञानवापी फाटक को जाते हैं तो क्या रास्ते में यह **शिलालेख** में लिखा हुआ नहीं पाते कि **"आर्यधर्मेतराणां प्रवेशो निषिद्धः"** कि आर्य धर्म को न माननेवाले लोग इन मन्दिरों में नहीं जा सकते, तनिक तो सोचो कि वह आर्यधर्म क्या है ? वह आर्यधर्म वह है जो अर्य्य परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखता है अर्थात् **"अर्यस्य परमात्मनोऽयमार्यः"** जो परमात्मा ने आपको वेद द्वारा स्वयं दिया है उसका नाम आर्यधर्म है, इसी अभिप्राय से लिखा है कि **"विश्वान्यर्य आ भर"** ।। ऋ. मं. १० सू. १९१ ।। इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध है कि 'अर्य्य परमात्मा' उसके धर्म्म का नाम 'आर्य्य धर्म्म' है ।

यदि आप ऐश्वर्यसम्पन्न होना चाहते हैं और परमात्मदेव की दया का एकमात्र पात्र बनना चाहते हैं तो आपका परम कर्त्तव्य है कि आप वेदों की रक्षा करें ।

धन्य आप के पूर्वज थे जिन्होंने विपत्ति में कण तक चुनकर जीवनयात्रा की पर वेदों पर कलङ्क का टीका नहीं लगने दिया और यह कहा कि **"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्"** ।। वैशेषिक १ । ३ ।। धर्मपथ को बनाने के लिए मुख्य प्रमाण वेद हैं, आज उन महर्षियों की सन्तानों में ऐसे-ऐसे कृतघ्न उत्पन्न होते हैं जो यह कहते हैं कि वेदों में क्या है, उनके तो मेंडक देवता हैं, उनमें तो घोड़े को मारकर याज्ञिकों के प्रति बाँट देना लिखा है और उन वेदों में जादू-टोने लिखे हैं, इन मिथ्या कलङ्कों को मिटाने के लिये हमने इस मण्डल में संक्षेपतः मण्डूकादि सूक्तों के उत्तर दिये हैं ।

विशेष रीति से हम दशममण्डल की भूमिका में सब कलङ्कों को मार्जन करके वेद भगवान् के निष्कलङ्क मुख को दर्शायेंगे ।।

इति श्रीमदार्यमुनिनोपनिबद्धे ऋक्संहिताभाष्ये सप्तमे मण्डले
उपसंहारः समाप्तः ।।